Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाकवि कालिदास

तृतीय खण्ड

(सांस्कृतिक अवदान)

R
8२
३६२·३

डॉ० प्रभुदयालु अग्निहोत्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

113486

ग्रन्थ के इस तृतीय खण्ड में कालिदास की समाज और राज्यविषयक धारणा का उनकी रचनाओं में पाये जाने वाले उल्लेखों के आधार पर विवेचन किया गया है। राजा और राज्य से सम्बन्धित उनकी मान्यतायें, प्रजा का सम्मान, सेना संगठन, युद्ध कला, न्याय व्यवस्था, कर विधान, राजनय, राजा प्रजा का पारस्परिक सम्बन्ध आदि सभी बातें उनकी रचनाओं में मिलती हैं। मनु-प्रतिपादित वर्णव्यवस्था, आश्रम पद्धति और विद्यापीठ-प्रतिष्ठा, संस्कार, यज्ञानुष्ठान, चारित्रिक आदर्श, जैसी सभी सामाजिक बातों का चित्रण उन्होंने किया है। पुरुष और नारी के शारीरिक सौन्दर्य, वेषालंकार, आनन्द प्रमोद, उत्सव, संगीत, नृत्य, वाद्य अभिनय आदि में कुछ भी उनकी दृष्टि से नहीं बचा। एक नगर के समान समग्र भारत को एकच्छत्र के नीचे सुगठित देखने की कामना से प्रेरित इस महाकवि ने सम्पूर्ण देश के जनपदों, पर्वतों, नदियों, समुद्रों, लता-वृक्षों, पशुपक्षियों आदि के प्रति असीम अनुराग व्यक्त करते हुए उनका व्यापक परिचय भी दिया है।

गुप्त कालिक भारत का यह प्रामाणिक दस्तावेज है।

मूल्य रु० ७००-००

I.S.B.N : 81-86339-56-6

I.S.B.N : 81-86339-57-4 (3 Vol. Set.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1134

R
83
362.3

पुस्तकालय

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या............ आगत संख्या............ 113486

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३०वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

E4 JUN 2004

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

113486

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाकवि कालिदास

तृतीय खण्ड

(सांस्कृतिक अवदान)

113486

पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

लेखक

डॉ० प्रभुदयालु अग्निहोत्री

113486

BOOK EASTERN EBL LINKERS

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

दिल्ली :: भारत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशक :
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
५८२५, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर
दिल्ली-११०००७

© लेखक

R
83
362.3

प्रथम संस्करण १९९७

मूल्य रु० : 700

I.S.B.N : 81-86339-56-6
I.S.B.N : 81-86339-57-4 (3 Vol. Set.)

अक्षरयोजक तथा मुद्रक :
यूनीक प्रिंट मीडिया
८/२५-ए, विजय नगर, दिल्ली-११०००९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तावना

वाल्मीकि और व्यास के पश्चात् कालिदास का नाम भारत के सांस्कृतिक निर्माताओं में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वैदिक परम्परानुगत और मनुप्रतिपादित वर्णाश्रम व्यवस्था के वह कट्टर प्रतिपादक थे। बौद्धों और जैनों की मान्यताओं का प्रभाव वह समाज पर देख चुके थे। बलात् थोपी हुई अनावश्यक भिक्षु और श्रमण-महत्ता के समाज पर पड़ने वाले कुप्रभाव को उन्होंने देखा था। विहारों में भिक्षु-भिक्षुणियों के मध्य फैले अनैतिक सम्बन्धों ने सारे बौद्ध संगठन को ही छिन्न-भिन्न करके रख दिया था। आर्हतों की कृच्छ्र साधना और उसे दिये जाने वाले ऐकान्तिक महत्त्व ने गृहस्थों को धार्मिक क्षेत्र में हाशिये पर डाल दिया था। वर्ण व्यवस्था और आश्रम पद्धति को चरमरा देने का परिणाम अश्रद्धा, अनास्था, उच्छृंखलता और अनैतिकता के रूप में सामने आया था। अन्य भी अनेकों धार्मिक सम्प्रदाय कृच्छ्र जीवन और कठोर तप का प्रतिपादन कर रहे थे। सामाजिक संगठन के प्रति एकांगी दृष्टि रखने के कारण ये समतुलित जीवन पद्धति पर, जिसका अनुसरण अब तक भारत करता आया था, हावी हो रहे थे। दूसरी ओर अशोक की दुर्बल राजनीति ने जहाँ एक ओर सारा राज कोष खाली कर दिया था, वहीं सामरिक दृष्टि से भारत को दुर्बल कर डाला था। शुङ्गवंशीय सम्राटों ने कुछ समय तक उसे बाँधे अवश्य रखा किन्तु पुष्यमित्र अग्निमित्र और वसुमित्र के पश्चात् देश अनेक जनपदों में बिखर गया। फलतः विदेशी आक्रान्ताओं की दृष्टि फिर भारत पर पड़ने लगी। यह समुद्र गुप्त का महान् व्यक्तित्व ही था जिसने फिर से देश को एक सूत्र में आबद्ध कर खड़ा किया। उसके तथा उसके वंशजों के राज्यकाल में भारत ने न केवल पुरानी गरिमा को फिर प्राप्त किया, प्रत्युत एकच्छत्र के नीचे लाकर उसे सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुँचाया। गुप्त राजाओं की सैन्य शक्ति और मनुप्रणीत राजनीति के कारण देश कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय, शिक्षा, कला, साहित्यादि सभी में फला फूला। यह भारतीय इतिहास का स्वर्णिम काल था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिदास सच्चे अर्थ में वैदिक परम्परा के उपासक महान् कवि और कलाकार थे—कवि, विशुद्ध कवि। उन्हें जो कुछ कहना था, कला के माध्यम से कहा। बिना किसी धर्म, मत या सम्प्रदाय का नाम लिये और बिना किसी की आलोचना किये उन्होने विशुद्ध कवि के समान अपनी बात दृढ़ता के साथ कही और भारत का सम्पूर्ण सांस्कृतिक चित्र या यों कहिये कि अपनी कल्पना के भारत का सही सांस्कृतिक स्वरूप प्रस्तुत करते हुए उन्होंने प्रच्छन्न रूप से भी किसी परति उँगली नहीं उठायी।

प्रस्तुत खण्ड में उनकी कृतियों के आधार पर भारत के भौगोलिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक अर्थात् धार्मिक, शैक्षणिक और सामाजिक स्वरूप का निरूपण उनकी कृतियों के उद्धरणों के साथ किया गया है। भारत के पर्वतों, नदियों, समुद्रों, वनों, वृक्षों, लता-वल्लरियों, पशुओं-पक्षियों उपजने वाले खाद्य-फलों आदि की प्रामाणिक जानकारी इसमें मिलेगी। राज्य व्यवस्था, राजा के आदर्श, जनपद संगठन, सैन्य-व्यवस्था, युद्धकला, न्याय प्रणाली और राजनीति के साथ तत्कालीन सामाजिक जीवन-षोडश संस्कार, शिक्षा प्रणाली विद्यातीर्थ, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रम तथा जीवन पद्धति के अन्य महत्त्वपूर्ण अंग, सभी पर इस खण्ड में विचार किया गया है। कालिदास स्वस्थ संयम, और स्वस्थ भोग के पक्षधर थे। इसलिए उन्होंने बौद्धों और जैनों की अपेक्षा गृहस्थाश्रम पर कहीं अधिक जोर दिया है। मनु के समान वह भी इस आश्रम को सारी समाज व्यवस्था की रीढ मानते थे। उनकी सम्पूर्ण कृतियों को पढ़कर व्यास के समान उनके विषय में भी यही कहा जा सकता है—"यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्"।

ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में महाकवि के अत्यन्त विवादास्पद काल, स्थान और कृतियों से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के विस्तृत विवेचन और द्वितीय खण्ड में उनके साहित्य के शास्त्रीय मूल्यांकन, और प्रस्तुत खण्ड के सांस्कृतिक अवदान की व्याख्या के साथ यह अध्ययन शृंखला सम्पूर्ण होती है। बारह सौ से भी अधिक पृष्ठों के तीनों खण्डों की पाण्डुलिपि तैयार करने में मेरे शिष्य डॉ० रघुवीर प्रसाद गोस्वामी ने जिस लगन व निष्ठा के साथ सहायता की है उसकी कृतज्ञता स्वरूप मैं परमेश्वर से उनकी विद्या यशोवृद्धि के लिए प्रार्थना ही कर सकता हूँ। यदि दुर्दैव से ईस्टर्न बुक लिंकर्स के स्वामी श्री शामलाल मल्होत्रा लम्बी बीमारी से ग्रस्त न हो गये होते तो यह कृति काफी पहले पाठकों के हाथों में पहुँच गयी होती। फिर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी कठिन पारिवारिक परिस्थितियों के बीच उनके दोनों सुयोग्य पुत्रों ने जिस प्रकार इस सारस्वती इष्टि की पूर्णता में योगदान किया उसके लिए वे निश्चित ही साधुवाद के अधिकारी हैं।

अन्त में मैं अपने प्रमादवश हुई तथ्य सम्बन्धी भूलों और मुद्रण की त्रुटियों के लिये विद्वद्वरों और सुधी पाठकों से क्षमा याचना करता हूँ।

८-५-९६ विनयावनत
ई-२/७३, महावीर नगर —प्रभुदयालु अग्निहोत्री
भोपाल-४६२०१६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय सूची

पृष्ठ संख्या

१. देवता :— १-४५

इन्द्र-ऋग्वेदीय स्वरूप-पौराणिक स्वरूप-कालिदास का इन्द्र-इन्द्र की परिषद्-इन्द्र और देवकार्य-स्वार्थी इन्द्र ।

ब्रह्मा-विष्णु-विष्णु का पौराणिक स्वरूप-पुरुषोत्तम विष्णु-शेषशायी विष्णु-विष्णु के विविध रूप-अवतारी विष्णु ।

शिव-ईश्वर शिव-अष्टमूर्ति शिव-स्थाणु शिव-योगी शिव-कामी शिव-स्कन्द का जन्म-देवसेनानी स्कन्द-पार्वती पुत्र स्कन्द-कुमार स्कन्द ।

कालिदास का आस्तिक्य दर्शन ।

२. आश्रम :— ४५-६२

गुरुकुल परम्परा-गुरु और पुरोहित-आश्रम का आन्तरिक वातावरण-दिलीप और वसिष्ठाश्रम-दुष्यन्त और कण्वाश्रम-तपस्वी कन्याएँ-आश्रमों का महत्त्व-समाज के संरक्षक आश्रम-आश्रमों की प्रतिष्ठा-शान्तवातावरण-तापसों का सम्मान-मारीच आश्रम-तापस और नृपति-कालिदास और आश्रम व्यवस्था ।

३. यज्ञ संस्था :— ६२-७८

वैदिक यज्ञ परम्परा-यज्ञ और इन्द्र-यज्ञ और देवता-यज्ञ और राक्षस-यज्ञ और रघुवंशीय राजा-यज्ञ और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पशुबलि-श्रोत्रिय-सप्तसाम और विष्णु-हिमालय और यज्ञ-ब्रह्म और यज्ञ-ब्रह्म-क्षत्र संयोग।

४. संस्कार :— ७८-१२८

जीवन का विभाजन-पुत्रोत्पत्ति का महत्त्व-गर्भावस्था-जातकर्म और नामकरण-चड़ाकर्म-उपनयन-गोदान-विवाह-रघुवंश में संस्कार-भरत और आयुष् के संस्कार।

विवाह मङ्गल-विवाह के प्रकार-पार्वती की पाणिपीडन विधि-कालिदास की आदर्श विधि-स्वयंवर पद्धति-दुहितृ शुल्क-गान्धर्व विवाह।

राज्याभिषेक संस्कार-बन्दिमोक्ष

तृतीय आश्रम-मुनिचर्या-रघु का वानप्रस्थ-वैखानस जीवन-अज की अन्तिम स्थिति-संस्कारों पर श्रद्धा-अन्त्येष्टि संस्कार-तपश्चर्या-तप का उद्देश्य-तप का स्वरूप-तप का फल-शाप सामर्थ्य-कुछ तपस्वी और उनकी साधना-तपोविघ्न और विघ्नकर्ता राक्षस-शम्बुक का वध-पार्वती की तपश्चर्या-अपुत्रता-पितृऋण से मुक्ति-तपोविषयक मान्यताएँ।

५. धार्मिक विश्वास— १२८-१७६

पुत्र और पिण्डदान-पुत्र जन्मोत्सव-कन्या के प्रति ममत्व-कन्या की स्थिति शुभाशुभ शकुन-बाहुस्पन्दन-वायु की अनुकूलता-आकाशवाणी-शकुन विद्या-अपशकुन-आकाशभाषी गन्धर्व-शाप और वर-शाप से विमुक्ति-कामधेनु का शाप-लक्ष्मण और शाप-वरदान-माया-अधिदेवता की कल्पना-कुश और नाग-शकुन्तला और शाप-मरणोत्तर निवाप-आस्था और विश्वास।

कालिदास और नारी-शूद्र।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६.कालिदास की भारत यात्रा :— १७६-१९२

दक्षिण भारत-मध्यदेश-अमरकण्टक से दशपुर तक—ब्रह्मावर्त से अलका तक-अङ्गराज-अनूपराज-शूरसेन नरेश-कलिङ्गराज-उरगपुर नरेश-उत्तरकोसल नरेश।

पौरस्थ जनपद-सुह्म-बङ्ग-कलिङ्ग-पाण्ड्य-अपरान्त-पारसीक राज्य-हूणराज्य-कम्बोज-पर्वतीयगण उत्सव सङ्केत-कामरूप-प्राग्ज्योतिष।

७. राज्य-व्यवस्था :— १९२-२४८

मनुप्रतिपादित मार्ग-एकच्छत्र राज्य-लोक कल्याण की भावना-राजा और शस्त्रविद्या-आर्तरक्षा-राजा की दिनचर्या और तप-दण्ड प्रयोग-विजय यात्रा की तैयारी-राजा के कर्त्तव्य और आदर्श-आदर्श शासक अतिथि-मन्त्री और सचिव-वंशानुगत राजपद-राजबलि-धर्म विवाद और न्याय-पुलिस व्यवस्था-युद्ध-प्रसंग-रघु-महेन्द्र युद्ध-अज-राजन्यगण युद्ध-रघुदिग्विजय युद्ध राम-रावण युद्ध।

कालिदास कालीन शासन व्यवस्था।

मृगया-मृगचर्म धारण की प्रथा-मृगया दोष-मृगया के गुण-मृगया की तैयारी-आखेट पशु।

मद्यपान।

८. विविध कलाएँ:— २४८-३००

वास्तुकला—शिल्पिजन-प्रासाद-हर्म्य—सौध-वेश्म-गर्भवेश्म-धाम-गवाक्ष-वातायन-दीर्घिका-सोपान-जलयन्त्र-स्तम्भ-कृत्रिम अद्रि-राजपथ-विपणि-मन्दुरा-वासयष्टि-उपकार्या-प्राग्द्वार-उपवन- क्रीड़ाशैल।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्रकला-चित्रशाला-आलेख्यकार-प्रणय और आलेख्य-चित्र का प्रभाव-चित्र की पार्श्वभूमि-आलेख्यों की लोकप्रियता-काव्य और चित्र ।

संगीत-नृत्य और वादनकला-संगीत का महत्त्व-षड्ज संवादिनी केका-हंसरूत-मायूरीमार्जना-कोकिलगीत-भ्रमरस्वन संगीत-वारिमृदङ्गवाद्य-गीत और गीति-उद्गान-मूर्च्छना-ध्रुवा गीति-नान्दी गीत-विविध गीतियाँ-मयूरनृत्य-आचार्य भरत की परम्परा-आतोद्य-वीणादि-तत्वाद्य-अवनद्धवाद्य-दुन्दुभि-भेरी-सुशिरवाद्य-तूर्य-मङ्गल तूर्य

९. कालिदासीय काव्य के पञ्चमकार :— ३००-३४७

मृग-मयूर-मधुकर-मराल-मीन ।

१०. काव्य सहचर पक्षी :— ३४७-३६२

कामदूत कोकिल-आदर्श प्रेमी चक्रवाक-चकोर-सारस-क्रौञ्च-कुररी-कादम्ब-कारण्डव-वलाका-सुपर्ण-गृध्र-शुक-सारिका-पारावत-हारीत ।

११. वन्य एवं ग्राम्य पशु :— ३६२-३९७

सिंह-गज-अश्व-वराह-महिष-वृष-गवय-शरभ-कपि-वक्र-गोधा-विडाल-मूषक-शिवा-ऋक्ष-सर्प ।

१२. वृक्ष और लता वल्लरी :— ३९७-४४८

अतिमुक्त-अशोक-असन-अक्षोट-अर्जुन-अर्क-आम्र-इङ्गुदी-इक्षु-उदुम्बर-एला-अगुरू-कालागुरु-ककुभ-कदम्ब-कदली-कन्दली-कमल-कलम-कल्हार-कर्णिकार-कालीयक-काश-किंशुक-कीचक-कुंकुम-कुन्द-कुटज-कुमुद-कुरबक-कुसम्भ-केतकी-केशर-कोविदार-कल्पतरू-खर्जूर-चन्दन-जम्बू-चिञ्चा-तित्तिणी-ताली-तमाल-ताम्बूली-तिलक-नमेरू-देवदारू-नलिनी नारिकेल-निचुल-नीप-पलाश-पाटल-पुन्नाग-पूगा-प्रियङ्गु-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रियाल-बन्धूक-बिम्बा-भूर्ज-पारिजात-मन्दार-मधूक-मल्लिका-मालिका-मालती-माधवी-मुस्ता-भद्रमुस्त-लवङ्ग-लवली-लोध्र-वंश-वकुल-वानीर-वेतस-वेत्र-सरल-सर्ज-शमी-सप्तच्छद-शाल्मलि-शिरीष-सिन्धुवार-शल्लकी-यूथिका ।

उपसंहार ४४९

परिशिष्ट

शब्दानुक्रमणिका ।

श्लोकानुक्रमणिका ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृतीय खण्ड

कालिदास युगीन समाज और संस्कृति

देवता

इन्द्र का ऋग्वेदीय स्वरूप

पीछे यह बात कई बार कही जा चुकी है कि कालिदास जिस युग में काव्य रचना कर रहे थे, वह युग पौराणिक संस्कृति के उत्कर्ष का था। यद्यपि वैदिक मान्यताओं और विश्वासों के प्रति परम श्रद्धा का भाव स्थिर था तो भी व्यवहार में उनके उपवृंहित स्वरूप की ही प्रतिष्ठा थी। यह जनधर्म था और कालिदास में उसे बड़े सम्मान और श्रद्धा के साथ अभिव्यक्ति मिली। उनके द्वारा वर्णित देवताओं के स्वरूप और कार्यों में यह बात स्पष्ट देखी जा सकती है। ये सारे देवता अपनी मूल दिव्य आसन्दी से नीचे उतरकर ऐसे उपवृंहित मानवीय रूप में मिलते हैं कि यदि उनके नाम के साथ प्रयुक्त वैदिक कालीन विशेषणों को हटा दिया जाय तो उनके दोनों रूपों में एकत्व स्थापित करना कठिन हो जायगा। पहले इन्द्र को ही लें जो ऋग्वेद का सर्वाधिक शक्तिशाली वीर देवता है। वह हाथ में वज्र लिए रहता है। इसी वज्र से वृत्र का वध करता है और पर्वतों के ऊपर निरुद्ध जल को मुक्त रूप से नदियों में प्रवाहित होने के लिए छोड़ देता है— अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्रवक्षणा अभिनत् पर्वतानाम्। ऋग०१-३२। इन्द्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य जो उसे व्यक्तित्व प्रदान करता है, यही है और इस बात को ऋग्वेद ने शताधिक बार दोहराया है। और वृत्र अन्य कोई नहीं, पर्वतों के ऊपर और उनकी घाटियों में सोता मेघ है—

अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्यवज्रमधिसानौ जघान्।१-३२

तथा—

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्॥ वही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृतीय खण्ड

कालिदास युगीन समाज और संस्कृति

देवता

इन्द्र का ऋग्वेदीय स्वरूप

पीछे यह बात कई बार कही जा चुकी है कि कालिदास जिस युग में काव्य रचना कर रहे थे, वह युग पौराणिक संस्कृति के उत्कर्ष का था। यद्यपि वैदिक मान्यताओं और विश्वासों के प्रति परम श्रद्धा का भाव स्थिर था तो भी व्यवहार में उनके उपवृंहित स्वरूप की ही प्रतिष्ठा थी। यह जनधर्म था और कालिदास में उसे बड़े सम्मान और श्रद्धा के साथ अभिव्यक्ति मिली। उनके द्वारा वर्णित देवताओं के स्वरूप और कार्यों में यह बात स्पष्ट देखी जा सकती है। ये सारे देवता अपनी मूल दिव्य आसन्दी से नीचे उतरकर ऐसे उपवृंहित मानवीय रूप में मिलते हैं कि यदि उनके नाम के साथ प्रयुक्त वैदिक कालीन विशेषणों को हटा दिया जाय तो उनके दोनों रूपों में एकत्व स्थापित करना कठिन हो जायगा। पहले इन्द्र को ही लें जो ऋग्वेद का सर्वाधिक शक्तिशाली वीर देवता है। वह हाथ में वज्र लिए रहता है। इसी वज्र से वृत्र का वध करता है और पर्वतों के ऊपर निरुद्ध जल को मुक्त रूप से नदियों में प्रवाहित होने के लिए छोड़ देता है— अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्रवक्षणा अभिनत् पर्वतानाम्। ऋग०१-३२। इन्द्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य जो उसे व्यक्तित्व प्रदान करता है, यही है और इस बात को ऋग्वेद ने शताधिक बार दोहराया है। और वृत्र अन्य कोई नहीं, पर्वतों के ऊपर और उनकी घाटियों में सोता मेघ है—

अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्यवज्रमधिसानौ जघान्।१-३२

तथा—

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्॥ वही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह कभी न ठहरने वाले, कभी विश्राम न करने वाले जलों के बीच पड़ा हुआ है । आगे कहा है—

दासपत्नी रहिगोपा अतिष्ठन् निरुद्धा आपः पणिनेवगावः ।

अपां विलमपिहितं यदा सीद् वृत्रं जघवाँ अपतद् ववार । वही

अहि अर्थात् वृत्र के अधीन और उसके द्वारा रक्षित जल जो पर्वतों की गुफाओं या घाटियों में इस प्रकार निरुद्ध थे जैसे पणि के द्वारा गायें । उन जलों को इन्द्र ने उनका बिल (मार्ग) खोलकर मुक्त कर दिया । यहाँ पर्वत बादल हैं और उनमें जलों को निरुद्ध करने वाली शक्ति वृत्र या अहि जिसका वध इन्द्र करता है— "अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणम् ।" इन्द्र सूर्य या उसकी ऊष्मा है । वज्र उसका शस्त्र है, जो विद्युत् है । अतः इन्द्र वज्रबाहु है । इसीलिए कहा है—अहन् वृत्रंव्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन ।ऋग् १-३८-५ । अनेक बार वज्रबाहु शब्द उसके विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है । वृत्र के अतिरिक्त उसे वल, शम्वर और नमुचि नामक असुरों को मारने का श्रेय प्राप्त है और निन्यानवे असुर पुरों को नष्ट करने का गौरव भी—

अरन्धयोऽतिथिग्वाय शम्वरम् । ऋग् १-१०३-८

यदा वधीर्हि पुरः शम्बरस्य । वही १-५१-१

निवर्हयो नमुचिं नाम मायिनम् । १-५३-७

वैदिक इन्द्र की प्रायः सभी विशेषताएँ इन ऋचाओं में व्यक्त हुई हैं—

(१) योहत्वाऽहिममरिणात् सप्तसिन्धून्गा उदाजदपधा वलस्य वही, १-१ २-३

(२) यः शम्वरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत् । वही, १-१२-३

(३) यः सप्तसप्तिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत् सर्तवे सप्तसिन्धून् । वही १२

(४) यः सोमपानिचितो वज्रवाहुर्यो वज्रहस्तः सजनास इन्द्रः । ऋग् २-१२-१३

(५) नव च यन्नवतिं च स्रवन्तीः श्येनो न भीतो अतरो रजांसि । वही १-३२-१४

(६) वृषायमाणोऽवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिवत् सुतस्य । वही ३

इन ऋचाओं में इन्द्र की निम्नलिखित विशेषताएँ देखी जा सकती हैं- (१) इन्द्र यज्ञों में सोम का पान करता है । उसी के मद में वीर कार्यों का सम्पादन करता है । (२) वह बड़ी लम्बी यात्राएँ करता है और ९९ (प्रतीक) नदियों को श्येन के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समान पार कर जाता है। (३) वह हाथ में वज्रधारण करता है (४) उसने ढूँढकर वृत्रादि असुरों का वध किया और पर्वतों पर जमे जल को सप्तसिन्धुओं में प्रवाहित किया (५) सप्तसप्ति, वृषभ और तुविष्मान् (वृद्धिमान या बलवान्) है। इन्द्र के तीनों विशेषण सूर्य पर भी समान रूप से लागू होते हैं। इनके साथ इन्द्र के कुछ अन्य वैशिष्ट्य भी ऋग्वेद में मिलते हैं। ये आगे चलकर पौराणिक उर्वरभूमि में अत्यधिक पल्लवित और फलित हुए। यथा—

(१) यः पृथिवीं व्यथमानामंहत् यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्। ऋग् २-१२-२

(२) येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि। वही ४

(३) यं स्मापृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेममाहु र्नैषो अस्तीत्येनम्। वही ५

(४) शचीपतिः इन्द्रो विद्वाँ अपारयत्। ऋग् ४-३-१७

(५) उतास्माहि त्वामाहु रिन्मघवान शचीपते। वही ४-३१-७

(६) माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो। वही १०-३३-३

(७) पिवात्रा सोममेवा शतक्रतो। वही १०-११२-६

अर्थात् इन्द्र ने काँपती हिलती पृथ्वी को स्थिर किया और इधर उधर चलते हुए पक्ष युक्त पर्वतों को अपने-अपने स्थान पर स्थापित किया। उसने इन समस्त भुवनों को दृढ़ता प्रदान की। फिर भी लोग पूछते हैं कि इन्द्र कहाँ है। कुछ कहते हैं कि इन्द्र है ही नहीं। इन्द्र के अनस्तित्व की चर्चा ऋग्वेद में अन्यत्र भी मिलती है।—"नेन्द्रो अस्तीतिनेम उत्व आह-८-१००-३१ "

ऊपर इन्द्र को शचीपति कहा है किन्तु यहाँ, शची का अर्थ है कर्म पालक। सायण ने इसका अर्थ 'कर्मणां पालकः' किया है। शचीपति के ही अर्थ में उसे कई बार शचीवः भी कहा है और वहाँ भी उसका अर्थ कर्मवान् या शक्तिमान् ही है। शचीवः विशेषण अग्नि के लिए भी आया है—"तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो शचीवः-३-२१-४। अर्थात् हे सततगामी शक्तिमन् अग्ने !" तुम्हारे लिए घृत की आहुतियाँ दी जाती हैं। शची शब्द ऋग्वेद में दर्जनों बार आया है, किन्तु सदा कर्म - मुख्यतः यज्ञ कर्म के और शक्ति के अर्थ में। इसी प्रकार एक अन्य विशेषण है शतक्रतु जिसका अर्थ है बहुकर्मा। हे बहुकर्मन् इन्द्र ! आधियाँ तुम्हारे स्तोता को नष्ट न करें। तुम इस सोम का पान करो। यहाँ भी शतक्रतु का अर्थ बहुकर्मा ही है। शतशब्द बहुत का प्रतीक है। ऋग्वेद में जहाँ-जहाँ क्रतु-शब्द आया है, वहाँ उसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ श्रेष्ठ कर्म—मुख्यत: यज्ञकर्म ही है। ध्यान देने की बात है कि वेदों में इन्द्र कहीं भी शत यज्ञ -सम्पादक नहीं है। उसे सोमयागों में सादर बुलाया जाता है और सर्वप्रथम सोम अर्पित किया जाता है। यज्ञ उसके लिए होते हैं, वह यजमान नहीं है। इन्द्र को शतक्रतु कहने के अनेक कारण हो सकते हैं। ऋग्वेद में इन्द्र के प्रसंग में निन्यानवे और सौ संख्याओं का प्रयोग बार बार हुआ है। उसने ९९ दुर्गों का दलन किया—'त्वं पुरोनवतिं दम्भयोनव। १-५४-६। अपने दुर्जय रथ के चक्र से ९९ किले तोड़ता है—नवतिं नव श्रुतो निचक्रेण रथ्या दुष्पदा वृणक् १०-५३-९। भिनत् पुरो नवति मिन्द्र पूरवे। १—१३०-७। अर्थात् हे इन्द्र तुमने पुरु दिवोदास के लिए नब्बे दुर्ग तोड़ दिए। यहाँ केवल ९० संख्या दी है किन्तु अन्यत्र यह संख्या ९९ भी है— "दिवोदासाय नवतिं च नवेन्द्र: पुरो व्यैरच्छम्वरस्य। २-१९-६। ये ९९ पुर शम्वर के हैं जिन्हें इन्द्र ने नष्ट किया था। अन्यत्र यह संख्या पूरी सौ मिलती है—

अध्वर्यवो य: शतं शम्वरस्य पुरो विभेदाश्मनेव पूर्वी:। २-१४-६

अर्थात् हे अध्वर्यु लोगो! इन्द्र ने अपने अश्मा (वज्र) से शम्वर से सौ पुरो को भेद डाला। यहाँ अश्मावज्र है।"

इन्द्र का पौराणिक स्वरूप—

इन्द्र सम्बन्धी ऋचाओं में षष्ठि सहस्र शत और नवनवति संख्याएँ उस की वीरता के प्रदर्शन के सम्बन्ध में बार-बार आयी हैं— विशेषत: शत और नव नवति। इन ऋचाओं में उपलब्ध इन्द्र के वर्णनों से एक बार स्पष्ट होती है कि मूलरूप से इन्द्र सूर्य का ही एक रूप था। यों भी वैदिक देवताओं में सविता, इन्द्र, वरुण, विष्णु आदि मूलत: सूर्य ही है- उसी के विशिष्ट रूप वाद में इन्होंने स्वतन्त्ररूप ग्रहण किया किन्तु फिर भी वे विशिष्ट दैवी शक्ति ही बने रहे। आगे चलकर जब इन्होंने पृथ्वी के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित किया और वैदिक रूपकों से विकसित मानवसदृश किन्तु दिव्य रूप के साथ पृथ्वी पर भी विचरण करने लगे तो उनके मूल विशेषणों ने नया अर्थ ग्रहण किया। उदाहाणार्थ क्रतु सोमयाग का वाचक वन गया और शतक्रतु इन्द्र सौ क्रतुओं का अनुष्ठान कर दिव्यपद प्राप्त करने वाला देवराट्। पृथ्वी पर वर्तमान महान् सम्राटों से भी बड़ा होने के लिए जिन जिन बातों की आवश्यकता समझी गई वे सब उसके साथ जोड़ दी गयीं यथा—द्युलोक में अवस्थिति, शतक्रतुवत्ता और शची (इन्द्राणी) का पतित्वं अब शची को भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महारानियों के समान जीवित प्राणी मान लिया गया। उसकी सभा में रम्भा, उर्वशी आदि नर्तकियों को प्रतिष्ठित कर दिया गया क्यों कि राजदरबारों में नर्तकियाँ रहती थीं। सम्राटों के समान उसे दिव्य रथ, ऐरावत गज और उच्चैःश्रवा अश्व दे दिया गया। जयन्त नाम के पुत्र की कल्पना की गयी। धीरे धीरे वह अतिमानव दिव्य सम्राट् बन गया। पार्थिव सम्राट् का दैवी प्रतिरूप। यह सब वैदिक युग के अन्तिम और पौराणिक युग के प्रथम चरण में हुआ और जब वैदिक रूपकों के आधार पर गढ़ी गयी ग्रामीण मान्यताओं ने व्यापक जन-- स्वीकृति प्राप्त कर ली और पौराणिक मान्यताओं ने प्रवुद्ध वर्ग तक में पूरी तरह जड़ जमा ली तो इन्द्र के व्यक्तित्व में और अपकर्ष हुआ और वृत्रहन्ता, सप्तसिन्धुओं तथा नवनवति सरिताओं को जल से भर देने वाला वज्रबाहु इन्द्र केवल पृथ्वी पर बौद्ध मार का प्रतिरूप बन कर रह गया। असुरों और राक्षसों का प्रतिरोध करने में असमर्थ अपनी सत्ता को बचाये रखने के लिए ब्रह्मा, विष्णु और शिव के समक्ष गिड़गिड़ाने वाला बड़े दैत्यराटों से लुटा, पिटा, अपमानित केवल महान् तपस्वियों और धर्मात्मा नृपों के विरुद्ध घृणित षड्यन्त्रों में लगा हुआ। उसके वैदिक विशेषणों ने अपना अर्थ खो दिया। पर्वतों के शिखर पर जमे बादलों को पिघला कर बरसाने और इस प्रकार उन पर उड़ते मेघों को जो पर्वतों को पंछी के समान उड़ता सा आभासित करते थे, रिक्त कर देने के कारण उसे गोत्रभित्, पक्षच्छिद् आदि विशेषणों से भूषित करते थे अब सचमुच इस मान्यता के आधार यह मान गये कि पहले पर्वत उड़ा करते थे किन्तु इन्द्र ने उनके पंख कतर दिये। यह वैदिक आलंकारिक वर्णनों की भोंड़ी व्याख्या थी जिसे पुराणों ने उपवृंहण नाम देकर भोली जनता को अज्ञान-विमोहित कर दिया। कालिदास को दायरूप में ये ही मान्यतायें मिली थीं और उन्हीं को उनके काव्य में वाणी मिली।

कालिदास का इन्द्र

कालिदास का इन्द्र रहता तो द्युलोक में है किन्तु पृथ्वी पर उसका आवागमन निरन्तर बना रहता है। वह संकट की घड़ी में पृथ्वी से राजाओं को सहायता के लिए बुलाता है। विक्रमोर्वशीय में मेनका कहती है—

उवट्ठिदसम्पराओ महिन्दोवि मज्झमलोआदो सवहुमानं आणाविअ तं एव्व तं विवुधनिविजआप्त सेणामुहे णिओजेदि। (अंक १)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पराय उपस्थित होने पर महेन्द्र भी पुरुरवा को मध्यम लोक से बुला कर देवविजय के लिए उन्हें सेनानी नियुक्त करते हैं । और सम्पराय आये दिन चलते रहते थे । लोक द्रो भागों में विभक्त था । सुर और दैत्य । दैत्यों का काम सुरों और सुर पक्षपातियों को पीड़ित करना । मर्त्य जन यातो सुरपक्षपाती या दैत्यों के सहायक । इसी लिये केशी दानव के द्वारा उर्वशी के पकड़ लिए जाने पर अप्सरायें चिल्लाती हैं—अज्जा पस्तिाअध परित्ताअध । जो सुर पक्षयादि जस्स अम्बर अले गई अत्थि । व्क्रिमो० १ । मजे की बात यह कि इन्द्र के सहायक राजा भी इन्द्र के समान अम्बर तल में उड़ते हैं और सो भी अपने सामान्यरथ और अश्वों के सहारे । सम्भव है, इन्द्र के प्रभाव से उनके मित्र राजाओं को यह शक्ति प्राप्त हो जाती हो क्योंकि पुरुरवा रथ में उड़ कर हेमकूट शिखर पर पहुँच जाता है और कहता है- त्रिलोक रक्षी महिमाहि वज्रिणः (विक्रमो० १-६) । दुष्यन्त भी इन्द्र की सहायता कर द्युलोक से इन्द्र के सारथि मातलि के साथ रथारूढ़ होकर आकाश मार्ग से पृथ्वी पर लौटता है । इन्द्र उसका उपकृत है और उसकी विशेष सत्क्रिया करता है (शाकु. ७-१) फिर भी दुष्यन्त उस सत्क्रिया से स्वयं को बड़ा गौरवान्तित अनुभव करता है—सखलु मनोरथानामप्यभूमिर्विसर्जनावसरसत्कारः ममहि दिवैकसां समक्षं मर्धासनोपवेशितस्य—

अन्तर्गत- प्रार्थनमन्तिकस्थं जयन्तमुद्वीक्ष्य कृतस्मितेन ।

आमृष्ट- वक्षो हरिचन्दनाङ्का मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा ।

शाकु. ७-२

इन्द्र अपने पुत्र के द्वारा भी अभिलषित मन्दार माला दुष्यन्त को अपने हाथों से पहनाता है । और मातलि जब उसके शौर्य की प्रशंसा करता हुआ उसे सर्वथा इसके योग्य बतलाता है तो वह कहता है—

सिद्ध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपियन्नियोज्याः ।

संभावना गुणमवेहि तमीश्वराणाम् ।। वही ७-४

इन्द्र और उसका पुत्र जयन्त तथा इन्द्रपत्नी पौलोमी लोगों के आदर्श बन गये थे । मारीच शकुन्तला को आशीष देते हुए कहते है—

आखण्डलसमोभर्ता जयन्त- प्रतिमः सुतः ।

आशीरन्या न ते योग्या पौलोमी- सदृशी भव । वही ७-२८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्द्र के शौर्य पर अप्सराओं को इतना विश्वास है कि मूर्च्छा दूर होते ही जब उर्वशी पूछती है "किं पहावदसिणा महिन्देण अब्भुवपत्तणम्हि ।" तो उसकी सखी चित्र लेखा उत्तर देती है—"णमहिन्देण महिन्द सरिसाणुभावेण राएसिणा" । यह इस बात को सिद्ध करता है कि महेन्द्र प्रभावदर्शी है और साथ ही पुरुरवा और दुष्यन्त जैसे सम्राटों का आदर्श भी । गन्धर्व उसकी प्रशंसा इन्द्र के सन्दर्भ में करते हैं—

"महेन्द्रोपकार- पर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान्"— विक्रमो. १-१५१ चित्ररथ से पता चलता है कि महेन्द्र के पास गन्धर्व-सेना भी थी और वह दैत्यों के विरुद्ध युद्ध करती थी "केशिना हृतामुर्वशीं नारदादुपश्रुत्याहरणार्थमस्याः शतक्रतुनागन्धर्व सेना समादिष्टा" वही । नारायण ने अपने उरु से उर्वशी को उत्पन्न कर उसे इन्द्र को प्रदान कर दिया था । इन्द्र का प्रताप इतना था कि उसके नाम से उसके पक्षधर विजयी बन जाते थे । पुरुरवा कहता है—ननु वज्रिण एव वीर्य मेतद् विजयन्ते द्विषदो यदस्य पक्ष्याः । वही १-१७

इन्द्र की परिषद्

इन्द्र की अपनी देवपरिषद् है जिसमें नृत्य, संगीत और नाट्य के आयोजन होते रहते हैं । सरस्वती देवी द्वारा लिखित और भरतमुनि द्वारा निर्देशित 'लक्ष्मी स्वयंवर' नाटक में भूलकर देने के कारण जब भरत उसे शाप देकर दिव्य लोक से वहिष्कृत कर देते हैं तो महेन्द्र उसे क्षमा करते हुए पुरुरवा के साथ रहने की अनुमति दे देता है—"तत्तावत्त्वं पुरुरवसं यथा काममुपतिष्ठस्व यावत् स परिदृष्ट सन्तानोभवति" । इन्द्र तो परिदृष्ट-सन्तान है ही । उसके लोक में भी भू लोकवत् प्रसवक्रिया चलती है । पौलोमी की सन्तान था जयन्त, यद्यपि पौराणिक मान्यता थी कि देवों के सन्तान नहीं होती । इन्द्र को पुनः पुनः भू-सम्राट की सहायता की आवश्यकता होती है । उन की सहायता के बिना वह असुरों को पराजित नहीं कर पाता । इसी लिए वह संन्यास के लिए उद्यत पुरुरवा से अपने संदेशहर नारद के मुख से कहलाता है—

नारदः— राजन् श्रूयतां महेन्द्र- सन्देशः ।

राजा :— अवहितोऽस्मि

नारदः— प्रभावदर्शी मघवा वनगमनाय कृतबुद्धिं भवन्तमनुशास्ति ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजाः— किमाज्ञापयति ?

नारदः— त्रिकाल- दर्शिभिरादिष्टः सुरासुर-संमर्दो भावी। भवांश्च सायुंगीनः सहायः। तेन न त्वया शस्त्रन्यासः कर्तव्यः। इयञ्चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्म चारिणी भवत्वति।

राजाः— परमनुगृहीतोऽस्मि परमेश्वरेण।

नारदः— त्वत्कार्य वासवः कुर्यात्त्वं च तस्येष्टकार्य- कृत्।

सूर्यः समेधयत्यग्निमग्निः सूर्यं स्वतेजसा ॥ वही ४-२०

यह संवाद इन्द्र की स्थिति पर पूरा प्रकाश डालता है। पुरुरवा के लिए वह "भगवान् पाकशासनः" है। पुत्र को पाकर वह स्वयं को इन्द्र के समान धन्य मानता है—

अद्याहं पुत्रिणामग्र्यः सत्पुत्रेणामुना तव।

पौलोमी- संभवेनेव जयन्तेन पुरन्दरः ॥ विक्र.मो. ५-१४

इन्द्र द्वारा पर्वतों के पंख कतरने की ओर विक्रमोर्वशीय में भी संकेत है—

गिरिरिव गतिमानपक्ष- सादादभिनव- पुष्पित- कर्णिकारयष्टिः ॥ ३-३

इसी प्रकार उसके अहल्या- कामुक होने की भी बात विदूषक के मुख से कहलायी गयी है "विदू—भोः। अहल्ला कामु अस्य इन्दस्य वज्जं सचिवो उव्वसी कामुअस्स भवदो विअहम्।" विक्रमो० २। इस कथा का मूल इन्द्र द्वारा वर्षा से अहल्य (ऊषर) भूमि को उर्वरित करने में है। इसी लिए शतपथ में इन्द्र को "अहल्यायै जारः"कहा है

इन्द्र के पार्थिव सम्बन्ध

पृथ्वी के बड़े चक्रवर्तियों के साथ इन्द्र की घनिष्ठ मैत्री है। ये ही इन्द्र के विरोधियों का दमन करते हैं। पुरूरवा का बाण दैत्यों को लेकर क्षीरसागर में फेंक देता है—

अदः सुरेन्द्रस्य कृतापराधान् प्रक्षिप्य दैत्यांल्लवणाम्बु- राशौ।

वायव्य मस्त्रं शरधिं पुनस्ते महोरगः श्वभ्रमिव प्रविष्टम् १-१९ ॥विक्रमो.

देवगुरु इन्द्र के पक्षपाती जनों को अपराजिता विद्या सिखा कर दैत्यों से अपराजेय बना देते हैं। चित्र लेखा कहती है—इदंअवदा देवगुरुणा अवराभणाम सिहा बंधण विज्झं उव दिसंतेण तिदसपडिवक्खस्स अलंघणिज्जा कदम्ह"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विक्रमो० २ ।वह स्वयं कुलिश हस्त है और पुरुषान्तर विद् भी । फिर भी उसकी दैत्य जन्य पीडा का अन्त नहीं होता, यह आश्चर्य की बात है । सुरयुवतियाँ सदा दैत्यों से त्रस्त ही रहतीं और उसके आश्रय की प्रतीक्षा करती हैं—

आशंसन्ते सुरयुक्तयो वद्धवैरा हि दैत्यैरस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे— शाकु० २-१६ पार्थिव सम्राट् पृथ्वी पर इन्द्र का कार्य सम्पन्न कर उसे निश्चिन्त बनाये रखते हैं । उसे वज्र के प्रयोग की आवश्यकता ही नहीं होती । वज्र उसकी शोभामात्र बनकर रह गया था । मारीच अपनी पत्नी आदिति से कहते हैं ।

पुत्रस्यमे रणशिरस्ययमग्रयायी
दुष्यन्त इत्यभिहितो भुवनस्यभर्ता ।
चापेन यस्य विनिवर्तित- कर्मजातं
तत् कोटिमत् कुलिशमाभरणं मघोनः । शाकु. ७-२४

कुलिश का प्रहार करता हुआ इन्द्र काव्यसाहित्य में उपलब्ध नहीं है । हाँ, यह मान्यता अवश्य है कि उसने अपने कुलिश से पर्वतों के पंख काटे थे जिससे वे एक स्थान पर टिक गये, अन्यथा वे उड़ा करते थे । कालिदास ने इस ओर निर्देश भी किया है—

गिरिरिव गतिमानपक्षसादाद् । विक्रमो. ३-३ तथा रघु. १३-७

पार्वती का ज्येष्ठ भ्राता मैनाक पक्षच्छेद के भय से समुद्र में जाकर छिप गया था और कुलिश प्रहार की पीड़ा से बच गया था । कुमार० में कहा है मैनाक को लक्ष्यकर—

क्रुद्धेऽपि पक्षच्छिदि वृत्रशत्राववेदनाज्ञं कुलिश- क्षतानाम् । कुमार.१-२०

यह वैदिक प्रतीक था । वर्षाकाल में जब पर्वतों पर मेघ मँडराते हैं तो ऐसा लगता है जैसे पर्वत ही उड़ रहे हैं । फिर इन्द्र जब जल बरसाकर मेघों को रिक्त कर देता है तो कहा जाता है कि इन्द्र ने पर्वत के पंख काट दिये । यह बात को अलंकृत शैली से कहने का ढंग था जिसे वाद में यथार्थ मान लिया गया । इसी प्रकार की कल्पना इन्द्र धनुष् के सम्बन्ध में है । वर्षा के पश्चात् तीसरे प्रहर सूर्य-किरणों के प्रभाव से मेघों में तिरछी वहुवर्णी रेखा बन जाती है वह भी वृष्टि के प्रेरक इन्द्र का धनुष मान ली गयी है । मेघदूत में कवि ने कहा—

वल्मीकाग्रात् प्रभवति धनुष्खण्डमारवण्डलस्य ।

मेघ ०१-१५, २.१२ तथा रघु. १२-५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह भी अलंकृत वाक्सरणि थी जो पीछे तथ्य बना दी गयी।

इन्द्र और देवकार्य

इन्द्र देवराट् है। देवों की रक्षा करना उसका कर्तव्य है किन्तु हम कभी उसे दैत्यों से लड़ते नहीं पाते। सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में हमें कहीं देव- दानव युद्ध का वर्णन नहीं मिलता, केवल उसके उल्लेख प्राप्त होते हैं। कहीं भी रणक्षेत्र में उतरते उसके दर्शन नहीं होते। न कभी उसे ऐरावत का स्फालन करते या उच्चैः श्रवाकी सवारी करते पाते हैं। उसके लिए युद्ध पार्थिव सम्राट लड़ते हैं और जव वे इसमें अक्षम होते हैं तो वह त्रिदेवों में से किसी एक की शरण में जाता है। कभी कभी देवता लोग स्वयं को असहाय पाकर उसे महान् देव के पास ले जाते हैं। संस्कृत साहित्य में हम इन्द्र- सहित दिक्पालों तथा उसके साथी महान् आदित्यादि देवों को दैत्यों के द्वारा लुण्ठित और बन्दीभूत पाते हैं। इन्द्र के साथ वे त्रिदेवों में से किसी एक के समक्ष रक्षार्थ गिड़गिड़ाते है। तारकासुरसे पीड़ित होकर व्रह्मा के पास और रावण से त्रस्त होकर विष्णु के पास गए।

तुरासाहं पुरोधाय धाम स्वायंभुवं ययुः। कुमार. २-१

ब्रह्मा ने इन्द्र, कुवेर, यम, वरुण, आदित्यों मरुतों, रुद्रों आदि को हतश्रीक देखकर कहा

प्रशमादर्चिषामेतदनुगीर्ण- सुरायुधम्।

वृत्रस्य हन्तुः कुलिशं कुण्ठितश्रीवद्दृश्यते॥ कुमार.२-२०

रघुवंश में हम उसे विष्णु के समक्ष रक्षार्थ अवनत देखते हैं।

तस्मिन्नवसरे देवाः पौलस्त्योपप्लुता हरिम्।

अभिजग्मुर्निदाघार्ताश्छाया- वृक्षमिवाध्वगाः॥ रघु. ११-५

और विष्णु कहते हैं—

जाने वो रक्षसाक्रान्तावनुभावपराक्रमौ॥ वही ३८

स्वयं इन्द्र को हम राक्षसों का प्रतिरोध करते कभी कहीं नहीं पाते। वह सीधे सीधे अपने कष्ट की अभिव्यक्ति भी नहीं करता। वृहस्पति से अपनी बात कहलाता है—

गुरुं नेत्रसहस्रेण नोदयामास वासवः। कुमार. २-२९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाचस्पतिरूवाचेदं प्राञ्जलिर्जलजासनम्।। वही ३०

इन्द्र भला तारक से क्या लड़ता ? उसका अपना अश्व ही उससे छिन गया था—

उच्चै रुच्चैःश्रवास्तेन हयरत्नमहारि च। वही ४७

वह दूसरे के अंस पर शस्त्र रख कर प्रहार करता है। तारक के प्रसंग में वहकन्दर्प का आश्रय लेता है और कूट चातुर्य के द्वारा उसे अपना साधन बनाता है—

तत्र निश्चित्य कन्दर्प मगमत् पाकशासनः। वही २-६३

उसे फुसलाता हुआ वह कहता है—

सर्वं सखे त्वय्युपपन्नमेतदुभे ममास्त्रे कटिशं भवांश्च।

वज्रं तपोवीर्यमहत्सु कुण्ठं त्वं सर्वतोगामि च साधकं च।

कुमार. ३-१२

और तब वह कन्दर्प पर साराभार डाल कर निश्चिन्त वैठ जाता है। और जब वही कन्दर्प शिव के द्वारा भस्मसात् कर दिया जाता है तो इन्द्र उसकी वेदना-ग्रस्त पत्नी को धैर्य का एक शब्द भी कहने नहीं आता। वह काम को शिव की क्रोधाग्नि में झोंक कर तटस्थ हो जाता है। हाँ जब फल माँगने का अवसर आता है तो वह अग्रिम पंक्ति में खड़ा दिखायी देता है। विष्णु जब अवतार ग्रहण करते हैं तो वह अपने अनुयायी देवों के साथ अंश रूप में उनका अनुगमन करता है।

पुरुहूत- प्रभृतयः सुरकार्योद्यतं सुराः।

अंशैरनुययु र्विष्णुम्।। रघु. १०-४९

विष्णु उसके कार्य को अपना कार्य मानते हैं—

इन्द्र और अध्वर—कार्येषु चैककार्यत्वादभ्यर्थ्योऽस्मि न वज्रिणा। वही ४०

अध्वरों में उसे सादर बुलाया जाता है और वह भी अन्य देवों से पूर्व। इसीलिए उसका एक नाम पुरुहूत भी है। पुरुहूतध्वज पर्याप्त ऊँचा होता था। अध्वरों और इन्द्रमह के अवसर इन्द्रध्वज का उत्थापन राजा लोग करते थे। प्रजा इसमें उत्साह के साथ भाग लेती थी। कालिकापुराण के ८७ वें अध्याय में इसका विशद वर्णन है। वहाँ इसे शक्रोत्थान ध्वजोत्सव नाम दिया है। कहा है—

अथातः श्रृणु राजेन्द्र शक्रोत्थानं ध्वजोत्सवम्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रवौ हरिस्थे द्वादश्यां श्रवणेन विडौजसम्।

आराधयेन्नृपः सम्यक् सर्वविघ्नोपशान्तये।। का. पु. ८७-१,२

कालिदास ने पुराण की ही शब्दावली का अनुसरण करते हुए रघु के विषय में कहा है कि प्रजा जन अपने नयनों को ऊँचा उठाकर रघु के नवाभ्युत्थान (राज्यप्राप्ति) को इस प्रकार देख रहे थे जैसे वे नवोत्थान के समय पुरुहूत के ध्वज को देखते हैं।

पुरुहूतध्वजस्येव तस्योन्नयन- पङ्क्तयः।

नवाभ्युत्थान- दर्शिन्यो ननन्दुः सप्रजाः प्रजाः। रघु ४-३

इन्दुमती -स्वयंवर के प्रसंग में कालिदास ने मगधेश्वर को सातत्य के साथ अध्वरों का सम्पादक और इसके निमित्त इन्द्र को आहूत करने वाला बतलाया है। यहाँ तब कि प्रायः मगध में बने रहने के कारण उसकी पत्नी शची के अलक मन्दार पुष्पों से शून्य रहने लगे थे। पति के प्रवासी होने पर भला वह केशों का श्रंगार कैसे कर सकती थी?

क्रिया- प्रबन्धादयमध्वराणामजस्त्रमाहूत- सहस्त्रनेत्रः।

शच्याश्चिरं पाण्डुकपोललम्बान् मन्दार- शून्यानलकांश्चकार।

रघु.६-२३

कालिदास ने केवल एक स्थान पर इन्द्र की वज्र-मुमुक्षा का उल्लेख किया है। त्र्यम्वक के विरुद्ध किन्तु यहाँ भी वह 'वज्रपाणि' ही बना रह गया। शिव की एक दृष्टि ने ही उसे जड़ीकृत बना दिया। यह सन्दर्भ पौराणिक है—

जड़ीकृतस्त्र्यम्बक- वीक्षणेन वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः।। वही २-४२

स्वार्थी इन्द्र

कालिदास में हम एक ही बार इन्द्र को युद्ध करते पाते हैं और वह भी किसी देवकार्य के लिए नहीं, केवल स्वार्थ के लिए अपने ही वलिप्रदाता के विरुद्ध। इन्द्र पद सौ निर्विघ्न क्रतु सम्पादित कर लेने या तपश्चरण द्वारा उतना ही पुण्य अर्जित कर लेने पर मिलता है, यह पौराणिक मान्यता थी। जब कोई अन्य व्यक्ति शतक्रतु की उपाधि प्राप्त कर लेता तो वह इन्द्र- पद का भागी बन जाता, यद्यपि सम्पूर्ण पौराणिक इतिहास में किसी दूसरे व्यक्ति के 'इन्द्र' बन जाने का उल्लेख नहीं है। वह तपस्वी को तपोभ्रष्ट कर और बली को छल-वल द्वारा अपने मार्ग से हटा देता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहा। हरिश्चन्द्र हो कि नहुष, विश्वामित्र हो कि रघु- वह किसी को एक सीमा से ऊपर उठते सहन नहीं करता। इन्द्र का वेदोत्तर रूप भोगी, लोलुप और मत्सरी व्यक्ति का है। दिलीप एकोनशत क्रतु सम्पन्न करने के पश्चात् ज्यों ही शततम क्रतु के लिए यज्ञाश्व छोड़ते हैं और पुत्र रघु को उसकी रक्षा के लिये नियुक्त करते हैं कि इन्द्र का आसन डोलने लगता है। कालिदास कहते हैं—

नियुज्य तं होम-तुरङ्ग- रक्षणे धनुर्धरं राजसुतैरनुद्रुतम्।

अपूर्णमेकेन शतक्रतूपमः शतं क्रतूनामपविघ्नमाप सः। रघु. २-३८

और शक्र चोर के समान अदृश्य होकर उस अश्व को चुराकर सगर के साथ किये अपने घृणित आचरण की पुनरावृत्ति करता है। किन्तु रघु जब नन्दिनी के प्रभाव से अदृश्य को भी देखने की क्षमता पा लेता है तो देखता है कि 'पर्वत पक्षशातन' इन्द्र उसके अश्व को अपने रथ की रस्सियों से बाँध कर लिए जा रहा है।

धनुर्भृतामग्रत एव रक्षिणां जहार शक्रः किल गूढ- विग्रहः।वही ३९

और तब वह इन्द्र को सम्वोधित कर कहता है कि आप तो देवेन्द्र हैं। यज्ञाहुति का अंश सर्व प्रथम आप को ही प्राप्त होता है। आपको तो यज्ञद्वेषियों से यज्ञों की रक्षा करनी चाहिए। फिर आप मेरे यज्ञ में दीक्षित पिता की यज्ञ क्रिया में विघ्न क्यों डाल रहे हैं।

मखांशभाजां प्रथमो मनीषिभिस्त्वमेव देवेन्द्र सदा निगद्यसे।

अजस्र- दीक्षा- प्रयतस्य मद्गुरोः क्रिया- विघाताय कथं प्रवर्तसे॥ वही ४४

त्रिलोकनाथेन सदा मखद्विषस्त्वया नियम्या खलु दिव्य- चक्षुषा॥ वही ४५

तब इन्द्र जो उत्तर देता है वह कितना क्षुद्रतापूर्ण है। किसी देव को वह शोभा नहीं देता। वह कहता है—यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः।

जगत्प्रकाशं तदशेषमिज्यया भवद्- गुरु र्लङ्घयितुं ममोद्यतः।

हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्र्यम्वक एव नापरः।

तथा विदुर्मां मुनयः शतक्रतुं द्वितीयगामी नहिशब्द एष नः॥

अतोऽयमश्वः कपिलानुकारिणा पितुस्त्वदीयस्य मया ऽपहारितः। वही ४८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिर युद्ध तो होना ही था। रघु ने इन्द्र के वक्ष पर वाण मारा और इन्द्र ने उसकी भुजाओं के बीच। रघु ने इन्द्र की भुजा को विद्ध किया और एक वाण से उसके अशनिध्वज को काट दिया। इन्द्र ने धनुष के स्थान पर स्फुरत्प्रभामण्डल वज्र उठाकर उससे रघु के वक्ष पर प्रहार किया। रघु अचेत हो गया। इस पर इन्द्र ने प्रसन्न होकर रघु की लाज रखने के लिए उसे वर देककर विदा कर दिया किन्तु दिलीप का सौवाँ यज्ञ पूर्ण नहीं होने दिया। कालिदास के शब्दों में—

इतिक्षितीशो नवतिं नवाधिकां महाक्रतूनांमहनीय-शासनः।

समारुरुक्षु र्दिवमायुषः क्षये ततान सोपान- परम्परामिव। रघु. २-६९

यहाँ न तो दिलीप का सौवाँ यज्ञ विवक्षित है और न रघु- इन्द्र युद्ध। इन्द्र के स्वरूप और चरित्र के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालने के उद्देश्य से इतना कहना आवश्यक था जिससे पता चल सके कि पुराणों का इन्द्र वैदिक इन्द्र से सर्वथा भिन्न लौकिक व्यक्ति छली, धूर्त और स्वार्थी के अतिरिक्त कुछ नहीं। उसके आचरण में ऐसा क्या है जो उसे दैत्यों की तुलना में श्रेष्ठतर सिद्ध कर सके। हाँ उसने अपने पुराकालीन विशेषणों को अवश्य अपने से चिपकाये रखा है। इस प्रसंग में कालिदास की शब्दावली महत्त्वपूर्ण है। वह उसे वज्रपाणि के साथ 'अशनिध्वज' भी कहते हैं(२-५६) यह विशेषण 'सीरध्वज' के समान प्राचीन और सत्य के अधिक निकट है क्योंकि मूलतः इन्द्र वर्षाकारी देवता है। यहाँ भी कवि ने इन्द्र के प्राचीन रूप को ही प्रत्यङ्कित करते हुए उसे 'पर्वत- पक्ष- शातन', पूर्व दिक्से सम्बन्धित और गूढ विग्रह बतलाया है (वही ३९, ४२) और 'गोत्रभिद्' भी। साथ ही उसने पौराणिक परिचय भी अक्षुण्ण रहने दिया है। उसका भुज सुरद्विपास्फालन-कर्कशाङ्गुलि है और शचीपत्र- विशेषकाङ्कित भी। कालिदास की रचनाओं में हम उसे कहीं भी सुरद्विप को चलाते नहीं देखते। रघु संमर्द में भी वह रथ -यायी ही है। इन्द्र का प्रकोष्ठ हरिचन्दन से अङ्कित है जो सर्वथा नयी बात है। उसके वज्र का प्रथम वार प्रयोग भी हम इसी प्रसंग में पाते है—

महीध्र -पक्ष- व्यपरोपणोचितं स्फुरत्प्रभामण्डलमस्त्रमाददे। वही ६०

तथा—

परामृशन् हर्षजडेन पाणिना तदीयमङ्गं कुलिश व्रणाङ्कितम्। वही ६८

आश्चर्य है कि महीधरों के पंख काटने वाला वज्र रघु के वक्ष पर सामान्य सा व्रणमात्र कर सका और क्षण मात्र के लिए उसे अचेत भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निमेषमात्रादवधूय तद् व्यथां सहोत्थितः सैनिक- हर्ष- निःस्वनैः। वही ६१

संभव है, रघु के काल तक आते आते इन्द्र के वज्र की धार कुण्ठित हो गयी हो क्योंकि पश्चाद्वर्ती पौराणिक इतिहास में तो हमें उसका नाम भर सुनायी देता है।

ब्रह्मा

देवत्रयी में प्रजापति ब्रह्मा का स्थान प्रथम तथा सत्त्व गुण का प्रतीक होने पर भी कालिदास साहित्य में उनका महत्त्व विष्णु और शिव के पश्चात् ही आता है। यदि तारक को उनका वर प्राप्त न होता और उस वर के कारण सारे देवता महाविपत्ति में न फँस गये होते तो पाठकों को उनका स्मरण ही न आता और आता भी तो नीरस जड़हृदय के रूप में जैसा कि विक्रमोर्वशीय में मिलता है जहाँ उर्वशी के सौन्दर्य को लक्ष्य कर कहा गया है कि इसकी रचना में चन्द्र या मदन ने प्रजापति का काम किया होगा क्योंकि वेदाभ्यास के कारण जड़ और इन्द्रिय- विषयों -सौन्दर्यादि में अनासक्त बूढामुनि ब्रह्मा तो ऐसी सुन्दरी का निर्माण कर ही नहीं सकता था—

वेदाभ्यास- जडः कथन्नु विषय- व्यावृत- कौतूहलो।

निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥ विक्रमो. १-१०

वेदों में परमेष्ठी विशेषण प्रजापति या ब्रह्मा के लिये ही प्रयुक्त हुआ है, विष्णु के लिये नहीं किन्तु कालिदास ने उसे ब्रह्मा से छीन कर विष्णु की झोली में डाल दिया। देवता विष्णु के गुणों की इयत्ता नहीं स्वीकार करते। वे श्रम या अशक्ति के कारण उनकी स्तुति से विराम लेते हैं—श्रमेण तदशक्त्या वा न गुणानामियत्तया। रघु. १०-३२। और जो गुण उन्होंने बखाने उन्हें वह अधोक्षज और परमेष्ठी विष्णु की स्तुति नहीं मानते। वह केवल तथ्योक्ति है—

भूतार्थ- व्याहृतिः सातु न स्तुतिः परमेष्ठिनः। वही ३३

इतना ही नहीं, उन्होंने ब्रह्मा के लिए व्यवहृत 'पुराण कवि' विशेषण भी विष्णु को दे डाला। ब्रह्मा वेदों के निर्माता होने के कारण पुराण कवि हैं। वेद उनके निःश्वास हैं— तदस्य ब्रह्मणो निः श्वसितंयदृग्वेदो यजुर्वेदो सामवेदोऽथर्ववेद इति। स्वयं कालिदास ने उनके लिए 'पुराणोमुनिः' विशेषण का प्रयोग किया था। ब्रह्मा ने तारक के समान रावण को भी वर दिया कि उसे देवों में कोई मार नहीं सकेगा। विष्णु ने ब्रह्मा के सम्मान की रक्षा करते हुए उसे सहन किया—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्रष्टुर्वरातिसर्गात्तु मया तस्य दुरात्मनः ।

अत्यारूढं रिपोः सोढं चन्दनेनेव भोगिनः ॥ रघु. १०-४३

ब्रह्मा के वर के कारण अवलिप्त रावण का विनाश करने के लिए विष्णु को राम के रूप में जन्म ग्रहण करना पड़ा तो उन्हीं के वर से दृप्त तारक के वध के लिए शिव को गृहस्थ बन कर स्कन्द को जन्म देना पड़ा । यहाँ देवताओं की स्तुति के प्रत्युत्तर में विष्णु जो बोलते है, उसके विषय में कवि कहता है—

पुराणस्य कवेस्तस्य वर्ण- स्थान- समीरिता ।

वभूव कृत- संस्कारा चरितार्थेव भारती ॥ रघु. १०-३६

और उसकी ब्रह्मा से तुलना कीजिए ।

पुराणस्य कवेस्तस्य चतुर्मुख- समीरिता ।

प्रवृत्तिरासीच्छब्दानां चरितार्था चतुष्टयी ॥ कुमार. २-१७

एक के बोलने पर भारती संस्कृत हुई तो दूसरे के बोलने पर जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य भेद से शब्द- प्रवृत्ति का चतुष्टयत्व सार्थक हुआ । पुराण कवि दोनों ही हैं ।

देवताओं के मुख से कालिदास ने व्रह्मा की जो स्तुति करायी है उससे उसके वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है । वह सम्पूर्ण जगत के स्रष्टा हैं । सर्वतोमुख अर्थात् चतुर्मुख है और वागीश भी । सृष्टि से पूर्व वह एकात्मा या केवलात्मा थे जैसा कि ऐतरय उपनिषद् (१-१) में कहा है— आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । सृष्टि के पश्चात् सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों के अनुसार उपाधि भेद से उन्होंने स्वयं को ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन रूपों में विभक्त कर लिया ।

नमस्त्रिमूर्तयेतुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने ।

गुणत्रय- विभागाय पश्चाद् भेदमुपेयुषे ॥ कुमार. २-४

वह चराचर विश्व के जनक हैं । स्त्री और पुरुष ये दोनों भेद ब्रह्मा ने ही सृष्टि निर्माण की इच्छा से अपने शरीर के कर लिये हैं ।

स्त्री- पुंसावात्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया ।

प्रसूतिभाजः सर्गस्य तावेव पितरौस्मृतौ ।

यह मनुस्मृति की प्रतिध्वनि है । मनु ने कहा है ।

द्विधाकृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्धेन नारी तस्यां च विराजमसृजत् प्रभुः ।। १-३२

जगत्स्रष्टा ब्रह्मा— ब्रह्मा का एक दिन सहस्र चतुर्युगी का माना जाता है। इस परिमाण से रात और दिन का बँटवारा करें तो ब्रह्मा के स्वप्न काल का अर्थ होगा भूत जगत् का प्रलय और उनके जागरण काल का तात्पर्य होगा सृष्टिप्रवाह। मनु ने भी कहा है कि जब यह देवता जागता है तभी सारा जगत् सक्रिय रहता है और जब वह सो जाता है तो सारी सृष्टि प्रलीन हो जाती है- यदा स देवो जागर्ति तदैव चेष्टते जगत्—यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं प्रलीयते। १-५२। वह जगत् का मूल कारण है किन्तु उसका कारण या जनक कोई नहीं है। वह जगत् का संहर्ता है किन्तु उसका अन्त कभी नहीं होता। स्वयं अनादि होकर वह जगत् का आदि है। जगत् का ईश्वर होता हुआ भी स्वयं निरीश्वर है— जगद्योनिरयोनि स्त्वं जगदन्तो निरन्तकः- जगदादि रनादिस्त्वं जगदीशो निरीश्वरः। वह स्वयं ही स्वयं को जानता है, स्वयं ही स्वयं का सृजन करना है और स्वयं ही स्वयं में विलीन हो जाता है। वह सरित् समुद्रादि के समान द्रव रूप है और पर्वतादि के समान संघात कठिन भी। घटादिवत् स्थूल है और परमाणुवत् सूक्ष्म भी। तूल के समान् लघु है और लोह के समान् गुरु भी। कार्य के रूप में व्यक्त है और कारण रूप में अव्यक्त भी। विभूतियों में प्राकाम्य उसकी है—

आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना।

आत्मना कृतिनाच त्वमात्मन्येव प्रलीयसे।।

द्रवः संघात- कठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः।

व्यक्तोऽ व्यक्तेतरश्चासि प्राकाम्यं ते विभूतिषु। वही १०-११

ब्रह्मा उन वैदिक मन्त्रों के प्रणेता हैं जिनको उच्चरित करते समय पहले प्रणव या ओऽम् बोला जाता है। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के साथ जिनका उच्चारण होता है, जिनका प्रतिपाद्य यज्ञ और फल है।

उद्धातः प्रणवो यासां न्यासैस्त्रिभिरुदीरणम्।

कर्म यज्ञः फलं स्वर्ग स्तासां त्वं प्रभवोगिराम्। वही १२

कालिदास का यह कथन रूढिवादी और एकपक्षीय है। मीमांसक लोग जो प्रत्येक मन्त्र का विनियोग याज्ञिक क्रियाओं में मानते हैं, वह उचित नहीं है। वेदों के मन्त्रों के बहुत बड़े भाग की रचना यज्ञों की दृष्टि से ही हुई है। यह बात मन्त्रों से स्पयं ही स्पष्ट है फिर भी सांख्य के अनुसार कालिदास कहते है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भोगापवर्ग की प्रवर्तक प्रकृति भी तुम हो और उसके उदासीन द्रष्टा भी तुम्हीं हों। तुम प्रकृति के साक्षी मात्र हो। तुम पुरुष हो। तुम पिताओं के भी पिता और भोक्ता, वेद्य और वेदिता, ध्येय और ध्याता सब तुम्हीं हो। कुमार. २-१३ से १५। ये कथन कठोपनिषद के अनुकूल है— इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यः परं मनः- मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः। १-३-११।

विष्णु :

विष्णु का पौराणिक स्वरूप—शिव के पश्चात् दूसरे महत्त्वपूर्ण देवता हैं विष्णु। उनका विशद रूप वर्णन रघुवंश (१०-६ से ४८ तक) में उपलब्ध होता है। रावण से त्रस्त होकर देवगण उनके शरण में जाते हैं। यह उनके लिए ऐसा ही है जैसे ग्रीष्म- तापित जनों के लिए वृक्ष की छाया। यही समय विष्णु के योगनिद्रा से उठने का था-तेच-प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे आदि- पूरुषः (रघु. १०-९)। विष्णु आदिपुरुष हैं, यह बात कालिदास ने अन्यत्र भी कही है। विष्णु समुद्र के भीतर शेषशय्या पर शयन करते है। कमल पर बैठी हुई लक्ष्मी उनके चरण दबाती है। उनके विशाल वक्ष पर कौस्तुभ की माला शोभा देती है। वह दिव्य आभरणो से मण्डित है। उनकी भुजाएँ दीर्घ हैं। सजीव सुदर्शनादि अस्त्र उनका जय कार करते हैं। इन्द्र के कुलिश प्रहार का लक्ष्मधारण किये गरुड़ विनीत वेष में उनके पास खड़े हैं। अभी अभी योगनिद्रा से उठे होने के कारण भृगु आदि ऋषि उनसे सुखशयनिका पूछने आये हैं और वह उन्हें अपने निर्मल अवलोकन से अनुगृहीत कर रहे हैं। यह चित्र है विष्णु का जो अपना कष्ट सुनाने गये देवों ने प्रत्यक्ष किया—

भोगि- भोगासनासीनं ददृशुस्तं दिवौकसः। वही ७

अङ्के निक्षिप्त- चरणमास्तीर्णं कर- पल्लवे॥ वही ८

प्रभानु- लिप्त- श्रीवत्सं लक्ष्मी- विभ्रम- दर्पणम्।

कौस्तुभाख्यमपां सारं विभ्राणं वृहतोरसा॥ वही ९

हेतिभिश्चेतनावद्भि रुदीरित- जयश्रियम्। १०

उपस्थितं प्राञ्जलिना विनीतेन गरुत्मता। १३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विष्णु के वक्ष पर श्रीवत्स का चिह्न है जो भृगु के पाद प्रहार से बना हैं। इसमें लक्ष्मी कभी कभी अपना मुख देख लेती है। लक्ष्मी अपनी कटि में मेखला पहनती है और जब विष्णु के चरण उनके अंक में होते हैं तो वह उसे क्षुमानिर्मित अपने वस्त्र से ढकलेती हैं या उस पर हाथ रख लेती हैं जिससे मेखला विष्णु के पैरों में न चुभे। उनके वाहन, गरुड़ के शरीर पर कुलिश के व्रण के चिह्न हैं जो उन्हें अमृताहरण काल में इन्द्र से मिले थे। विष्णु का वाहन अत्यन्त विनीत है क्योंकि एक बार जब मातलि की प्रार्थना पर विष्णु ने उसकी बेटी गुणकेशी के पति किसी सर्प को गरुड़ से अभय प्रदान कर दिया था तो गरुड़ संक्षुभित हो उठा था। वह सोचता था कि मै विष्णु का भार उठा सकता हूँ तो उनसे अधिक शक्तिशाली तो हूँ ही। तब विष्णु ने वामतर्जनी के भांर से ही उसे झुका दिया था। तब से वह विनीत बन गया था। १३ वें श्लोक में महाभारत की इसी कथा की ओर संकेत है।

विष्णु का यह एक चित्र है किन्तु वह अनेक रूपों में देखे जाते हैं। उनका एक रूप और वेष गोपाल (कृष्ण) का भी है जिसमें वह मयूर पिच्छ धारण करते हैं—वर्हेणेव स्फूरित रुचिना गोपवेषस्य विष्णोः। मेघ १-१५। विष्णु का वर्णमेघ के समान कृष्ण है—त्वय्यादातुं जलमवनते शाङ्गिणो वर्ण चौरे। मेघ १-४६। उक्त उद्धरण में उनके धनुष की आख्या शार्ङ्ग बतायी है। इसकी आवृत्ति मेघदूत में अन्यत्र भी हुई है— शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्ग पाणौ। २-४७। इसी से उनके प्रबोध का काल कार्तिकी एकादशी प्रतीत होता है।

पुरुषोत्तम विष्णु — विष्णु पुरुषोत्तम हैं— हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतः। रघु २-४९। यह विशेषण केवल उन्हीं के लिए प्रयुक्त होता है। कालिदास ने विष्णु कृष्ण और राम में एकात्मता मान कर एक के विशेषण का प्रयोग दूसरे के लिए भी कर दिया है। उन्होंने कृष्ण को कौस्तुभ से अलंकृत बतलाया है—सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम्। रघु ६-४९। राम के प्रति परशुराम का यह कथन कि मैं जानता हूँ कि आप पुरातन पुरुष हैं, विष्णु हैं और पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं। आप परमेष्ठी है—

प्रत्युवाच तमृषिर्न तत्त्वतस्त्वां न बेद्मि पुरुषं पुरातनम्।

गां गतस्य तव धाम वैष्णवं कोपितोह्यसि मया दिदृक्षुणा। रघु. ११-८५

आहितो जयविपर्ययोऽपिमें श्लाध्यएव परमेष्ठिना स्वयम्। वही ८६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेदों में परमेष्ठी प्रजापति के लिए प्रयुक्त हुआ है । और कालिदास ने शिव और ब्रह्मा को भी पुरातन पुरुष कहा है ।

शेषशायी विष्णु– लंका से अयोध्या लौटते हुए राम मार्गवर्ती समुद्र के विशाल विस्तार को देख कर उसकी उपमा विष्णु से देते हुए कहते हैं कि जैसे विष्णु का रुप अपरिच्छेद्य है, वैसे ही इस समुद्र का भी । दोंनों बराबर बदलते रहते हैं । इनके विषय में यह नहीं कहा जा सक्रता कि ये ऐसे ही हैं और इतने बड़े हैं ।

विष्णोरिवास्यानवधारणीय मीदृक्तया रूपमियत्तयावा। रघु. १३

और प्रलय काल में जब भगवान् विष्णु संसार का संहार कर चुकते हैं तब यहीं आ कर योगनिद्रा में सोते हैं और उनकी नाभि से निकले कमल पर आसीन ब्रह्मा सदा उन की स्तुति करते हैं । यह ब्रह्मा प्रथम धाता अर्थात् रक्षादि प्रजापतियों के भी स्रष्टा है ।

नाभि- प्ररूढाम्वुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा।

अमुं युगान्तोचित- योगनिद्रः संहृत्य लोकान् पुरुषोधिशेते। रघु.१३-६

विष्णु के विविध रूप—कालिदास ने जिस प्रकार शिव के परात्पर रूप का वर्णन करते हुए भी पुराणो के प्रभाव से उन्हें सामान्य मानव का रूप देकर पृथ्वी पर उत्तार लिया और उपहासास्पद बना दिया, वह जगद्व्यापी सूक्ष्मातिसूक्ष्म पर ब्रह्म के अनुकूल नहीं हैं । वह महाकालादि प्रतीकों के रूप मे अवस्थित, मानववुद्धि ग्राह्य देवता भी हैं । उनका तीसरा रूप मर्त्य जैसा है जो प्रणय, विवाह कामभोग मग्न, सन्तानवान्, अर्धनारीश्वर, किरात-वेषधर, पिनाकी, श्मशानसेवी आदि वैविध्य रूप क्रिया- संपन्न है। इस प्रकार सर्वव्यापी, गन्धमादन-वासी व्यांलमालधारी और मन्दिरों में स्थाणु रूप से प्रतिष्ठित ये तीन रूप शिव के मिलते हैं । उनके विष्णु सृष्टि के उत्पादक पालक और संहर्ता होते के साथ अवतारी और लक्ष्मी-पति भी हैं । राम और कृष्ण अन्य कोई नहीं स्वयं विष्णु हैं । विष्णु रूप में वह स्वर्लोक में स्थित है । उनकी जीवन घटनाओं को लेकर सरस्वती द्वारा लिखित लक्ष्मी-स्वयंवर नाटक का प्रयोग स्वर्लोक में आचार्य भरत के सूत्रधारत्व में होता है । आश्चर्य यह है कि उसे देखने लोकपालों के साथ कृष्ण भी पहुँचते हैं—

पेलवः । तस्सिं उण सरसई किद् कब्व वंधे लच्छी सअंवरे तेसु तसु रसंतरेसु तम्मई आसि । किंतु तस्सिं उव्वसीए वअणं पमादक्खलिदं आसि । लक्खीभूमि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R 83 ३६ 2.3

आए वहमाणाए मेणआए पुच्छिदा- सहि सभागदा एदेतेलोक्क सुपुरिसा सकेस वा लोअवाता । विक्रमो० अंक३

यदि हम इन चित्रों के काल क्रम और संभाव्यता पर विचार करें तो सब कुछ उलझा और परस्पर विरोधी ही लगेगा । यहीं दूसरे नाटक में कृष्ण रूप धारी विष्णु के द्वारा रुक्मिणी के हरण का भी उल्लेख मिलता है ।

तव हृतवतो दण्डानीकैर्विदर्भ- पतेः श्रियम्,

परिधगुरुभिर्दोर्भिर्विष्णोः प्रसह्य च रुक्मिणीम् ॥ माल० ५-२

यहाँ कालिदास ने विष्णु और कृष्ण को एक ही मान लिया है । यही बात राम के विषय में भी उन्होंने कही है । दशरथ की पत्नियाँ गर्भावस्था में जो स्वप्न देखती थीं उनमें कमल,खड्ग, गदा, शार्ङ्ग और चक्र से चिह्नित वामन, स्वयं को उठाकर आकाश में ले जाते हुए गरुड़, पद्म- व्यजन हाथ में लिए वक्ष पर कौस्तुभ लटकाए लक्ष्मी और आकाश गंगा में स्नान कर आये और वेदपाठ द्वारा उनकी स्तुति करते हुए सप्तर्षि थे । —(रघु. १०-६० से ६३) ये लक्षण देख कर दशरथ ने जान लिया कि मैं जगद्गुरु (विष्णु) का पिता बनने वाला हूँ—मेने परार्ध्यमात्मानं गुरुत्वेन जगद्गुरोः । वही ६४ । वस्तुतः विभु (सर्वव्यापक) होकर भी विष्णु उन रानियों की कोख में कई प्रकार से बँट गये थे— विभक्तात्मा विभुस्तासामेकः कुक्षिष्वनेकधा । रघु १०-६५ । ऐसे विष्णु की स्तुति में देवगण जो कुछ कहते हैं वह विचित्र सा प्रतीत होता है । विष्णु का चित्र प्रारम्भ में दिया जा चुका है । वह शेष- शय्या पर लेटे हैं और लक्ष्मी उनके चरणों को गोद में रख कर दवा रही है । तब देवता प्रत्यक्ष उनसे कहते हैं - आप मन और वाणी की पहुँच के परे हैं । आप जगत् के स्रष्टा हैं । पालक हैं और संहर्ता भी । आप एक होकर भी इन तीन रूपों में स्वयं को बाँटे हुए हैं । आप ने लोकों को नाप लिया है किन्तु स्वयं अप्रमेय है । सब के इच्छापूरक हो कर भी स्वयं निः स्पृह है । सब को जीत कर स्वयं अजेय हैं । स्थूल जगत के कारण होकर भी स्वयं सूक्ष्म हैं—

113486

अथैनं तुष्टुवुः स्तुत्यमवाङ्मनस- गोचरम् ।

नमो विश्वसृज़े पूर्वं विश्वंतदनु विभ्रते

अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधास्थितात्मने ॥

अमेयो मितलोकस्त्वमनर्थीप्रार्थनावहः ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अजितो जिष्णुरत्यत्तमव्यक्तो व्यक्त- कारणम् ॥ रघु. १०-१६, १८

अवतारी विष्णु—ये उक्तियाँ विष्णु के पूर्वोक्त स्वरूप से मेल नहीं खातीं। इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान में रखने की है कि कालिदास जिस युग में काव्य रचना कर रहे थे, वह युग वैष्णव धर्म के परमोत्कर्ष काथा। गुप्त काल में शैव और शाक्तपुराणों तक का पुनः संस्करण कर उन्हें विष्णु- प्रधान बना दिया गया था। तीनों परम शक्तियों के ऊपर विष्णु को प्रतिष्ठित करने का प्रयास इस युग में किया गया। यहाँ तक कि आद्याशक्ति को भी योगमाया, महामाया और विष्णुमाया नाम दे दिये गये। रघुवंश के दशम सर्ग की विष्णु- स्तुतियों और गीता की उक्तियों में अद्भुत साम्य का कारण भी यही है। कालिदास कहते हैं कि आप पुराण होकर भी अजर हैं, सर्वज्ञ होकर भी अविज्ञात है। स्वयम् आत्मभू हैं पर सबके उत्पादक है। सप्त साम आप का ही गान करते है, आप सप्तार्णवों के जल में शयन करते हैं। सप्तजिह्व अग्नि और सब लोकों के आधार हैं। आप चतुर्मुख है। चतुर्वर्ग प्रदान करने वाला ज्ञान, चतुर्युगी, काल अवस्थायें, चतुर्वर्णमय लोक सब आप से ही प्रकट हुए हैं। विमुक्ति के लिए योगी जन अभ्यास के द्वारा वशीकृत मन के सहारे हृदयस्थ ज्योति रूप आप का दर्शन करते हैं। अज होकर भी जन्म लेने वाले, निरीह होकर भी शत्रु संहार करने वाले और सोते हुए भी जागरुक रहने वाले आप को भला ठीक कौन जानता है। शिव के लिए भी इसी प्रकार पार्वती ने कहा है—न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः। रघुवंश में वही बात वह विष्णु के लिए कहते हैं—

अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हत- द्विषः।
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव ॥ रघु. १०-२४

१८ श्लोकों में कवि ने विष्णु का जो रूप प्रस्तुत किया है वह गीता कीप्रतिध्वनि है—

यथा -त्वय्यावेशित- चित्तानां त्वत्समर्पितकर्मणाम्-

गतिस्त्वं वीतरागाणामभूयः संनिवृत्तये

अनावाप्तमवाप्तव्यं न ते किंचन विद्यते-

लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्म- कर्मणोः।

अवतारवाद का यह समर्थन पुराणों के अनुसार ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईश्वर शिव— सामान्य विश्वास के अनुसार कालिदास शिव के उपासक थे। उनकी कृतियों से भी इस बात की पुष्टि होती है। उन्होंने तीनों नाटकों और रघुवंश के भी प्रारम्भ में शिव की स्तुति की है। मालविकाग्निमित्र में वह उन्हें ईश कहते हैं जो कृत्तिवासा होकर भी प्रणतों को सब कुछ प्रदान करते हैं। उनका शरीर कान्तापार्वती से व्यामिश्र है। अपने आठ शरीरों से यह सम्पूर्ण जगत् को धारण करते हुए भी निरभिमान है—

एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतवहुफले यः स्वयं कृत्तिवासाः,

कान्ता संमिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्ताद् यतीनां।

अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्विभ्रतो नाभिमानः,

सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः। माल० १-९

रघुवंश के आदि श्लोक में भी उनके अर्धनारीश्वरत्वकी पुष्टि मिलती है। वह वाक् और अर्थ के समान परस्पर जुड़े हैं, जगत् के माता पिता ये पार्वती परमेश्वर विद्या के प्रदाता है।

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ- प्रतिपत्तये।

जगतः पितरौ वन्दे पार्वती- परमेश्वरौ।।रघु. १-१

अभिज्ञानशाकुन्तल में वह शिव की आठ तनुओं की व्याख्या करते हैं।

या सृष्टिः स्त्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हर्विर्या च होत्री,

ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषय- गुणा या स्थिता व्याप्यविश्वम्।

यामाहुः सर्ववीजप्रकृतिरितियया प्राणिनः प्राणवन्तः

प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वः ताभिरष्टाभिरीशः। शाकु. १-१

अष्टमूर्तिशिव- शिव विश्व- व्यापक हैं और अदृश्य भी। पञ्चमहाभूत, सूर्य चन्द्रमा और यजमान ये शिव की आठ प्रत्यक्ष मूर्तियाँ है। यजमान अर्थात यज्ञ में दीक्षित यष्टा और याजक। लिङ्ग पुराण में कहा है—

दीक्षितंब्राह्मणं प्राहुरात्मानं च मुनीश्वर।

यजमानाह्वया मूर्तिः शिवस्य शिवदायिनः।।

विक्रमोर्वशीयम् की नान्दी में कहा है कि ईश्वर तत्त्व के विवेचक वेदान्त ग्रन्थ उन्हें द्यौ और आकाश को व्याप्त कर रहने वाला अद्वितीय पुरुष बतलाते हैं। उनके लिए प्रयुक्त होने वाला ईश्वर अभिधान सार्थक है और केवल उन्ही के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयुक्त होता है। मुमुक्ष लोग प्राणायामादि योग साधना के द्वारा उसी को अपने भीतर खोजते हैं। वह स्थाणु है और स्थिर भक्ति के द्वारा लभ्य। वह निः श्रेयस या मोक्ष प्राप्त कराने में समर्थ है।

स्थाणुशिव–

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्यस्थितं रोदसी।

यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्य- विषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।

अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमित- प्राणादिभिर्मृग्यते,

स स्थाणुः स्थिर-भक्ति-योग-सुलभो निःश्रेयसायास्तुवः॥ विक्रमो १-१

कालिदास शिव के लिये ईश्, ईश्वर और परमेश्वर विशेषणों का प्रयोग अधिक करते हैं। परमेश्वर विशेषण पर उनकी श्रद्धा सर्वाधिक है। यही विशेषण शिव को ब्रह्मा और विष्णु के ऊपर प्रतिष्ठित करता है। वह कहते हैं कि—

हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वर स्त्र्यम्बक एव नापरः ।रघु ३-४९

विष्णु तो पुरुषों में श्रेष्ठ हैं किन्तु शिव सर्वेश्वर हैं। उर्वशी आदि देवी स्त्रियाँ उनकी पूजा करने हेमकूट पर जाती है—

ऊरुद्‌भवा नरसखस्य मुनेः सुरस्त्री कैलास- नाथमनुसृत्य निवर्तमाना ।विक्रमो. १-४

उनके पार्वती - संमिश्र देह में नाट्‌य, लास्य और ताण्डव (अर्थात् मृदु और कठोर) इन दो भेदों में विभक्त होकर स्थित हैं—

रुद्रेणेदमुमा- कृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा॥ माल १-४

उनकी पत्नी उमा के चरण से उत्पन्न संगमनीय मणि में प्रिय से मिलन करा देने की शक्ति है—

संगमनीयो मणिरिह शैलसुता- चरणराग- योनिरयम्।

आवहति धार्यमाणः संगतमचिरात् प्रिय- जनेन। विक्रमो ४-३७

ऊपर जिस निःक्षेयस की कामना कवि ने की है उसे शाकुन्तल के अन्त में दोहराया है—ममापि च क्षपयतु नील-लोहितः पुनर्भवं परिगत- शक्तिरात्मभूः अभि० ७-३५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ भी वह स्वयंभू होने के साथ परिगत-शक्ति अर्थात् शक्ति रूपा पार्वती से मिलित विग्रह वाले अतएव नील लोहित हैं—वामाङ्ग में नील और दक्षिणाङ्ग में अरुण। कहा है—

वामे मरकत- श्यामा दक्षिणे विद्रुमारुणा।

देवता दम्पतिमयी सा मे कामदुधा भवेत्।

नीलकण्ठ शिव – कालिदास के समय में शिव की पूजा प्रतिष्ठा का चलन अत्युत्कर्ष पर था और उज्जयिनी उसके प्रमुखतम केन्द्रों में था। इसके वर्णन से हमें शिव के सम्बन्ध में और अधिक जानकारी मिलती है। इनमें एक यह कि शिव नील कण्ठ हैं। इस कल्पना का सम्बन्ध समुद्रमन्थन की पौराणिक कथा से है जिसके अनुसार देवों में पारस्परिक युद्ध वचाने के लिए वह विष पी गये थे और उनका कण्ठ नीला पड़ गया था। इस घटना ने उन्हें रुद्र से शिव बना दिया था। दूसरे उनके अपने गंण हैं। ऋग्वेद में रुद्र के एकादश गण का उल्लेख है। मेघदूत में पार्वती को चण्डी और शिव को चण्डीश्वर तथा त्रिभुवनगुरु कहा है—

भर्तु कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः।

पुण्यं यायास्त्रिभुवन- गुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य॥ मेघ. १-३३

उज्जयिनी में महाकाल का एक प्रसिद्ध मन्दिर कालिदास के समय में था जिसमें प्रमथादिगणों की भी मूर्तियाँ थीं। ये गण रूद्र के सेवक थे और पौराणिक थे।वेद में तो वसु, आदित्य और मरुतों के समान रुद्र स्वयं एकादश गण हैं। उज्जयिनी शिव के द्वादश ज्योर्तिलिङ्गों में एक माना जाता था। महाकाल का मन्दिर विशाल रहा होगा। इसमें सांय वेला में बड़े-बड़ों पटहों के वादन के साथ शिव की पूजा की जाती थी। मूर्ति या स्थाणु के पास शूल भी प्रतिष्ठित किया गया था। पूजा वेला में वेश्यायें मन्दिर में नृत्य किया करती थीं। कहा है—

अप्यन्यस्मिन् जलधर महाकालमासाद्य काले,

स्थातव्यं ते नयन- विषयं यावदत्येति भानुः

कुर्वन् सन्ध्या- वलि- पटहतां शूलिनः श्लाघनीयाम्,

आमन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम्॥ वही ३४

तथा—

पादन्यासैः क्वणित- रशनास्तत्र लीलावधूतै

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रत्नच्छाया- खचित- वलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ता

आमोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकर-श्रेणि-दीर्घान् कटाक्षान्। वही ३५

मालविकाग्नि की नान्दी में शिव को कृत्तिवासा कहा है। मेघदूत में इसी. को अधिक स्पष्ट करते हुए शिव की रुचि गज के आर्द्र अजिन में बतलायी है—

नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्र- नागाजिनेच्छाम्। वही ३६

पुराण में कहा है कि गजासुर के मर्दन के अनन्तर उसके रक्तार्द्र चर्म को धारण कर शिव ने ताण्डव नृत्य किया था। लगता है कि कालिदास के समय में हिमालय की गज- संकुल उपत्यका में हाथियों का शिकार किया जाता था और स्थानीय वन्यजन गजचर्म धारण करते थे। कुछ लोग गजदन्त काट कर उनका व्यापार करते रहे होंगे। कालिदास हिमालय की उपत्यका से सुपरिचित थे। उन्होंने कैलास को 'सद्यः कृत्त द्विरद दशन-च्छेद गौर' कहा है।

उपर्युक्त उद्धरण में स्पष्ट है कि महाकाल गज को मारकर उसकी तुरन्त निकाली रक्तमिश्रित त्वचा को पहनने में विशेष रुचि रखते थे—आर्द्र नागाजिनेच्छाम्। कुमारसंभव में हाथियों के प्रायः मारे जाते रहने का उल्लेख कालिदास ने किया है (१-७)।

जटाजूट में गङ्गा के धारण करने की बात भी कालिदास ने आलंकारिक ढंग से कह दी है—

गौरी- वक्रभ्रुकुटि- रचनां या विहस्येव फेनैः।

शंभोः केशग्रहणमकरोदिन्दु- लग्नोर्मि-हस्ता। मेघ १-५

वह उनके वृषभ को भी नहीं भूलते जिसका वर्ण शुभ्र है और जो अपने सींगों से प्रायः हिमश्रृंगों में उत्खनन करता रहता है—

वक्ष्यस्यध्व- श्रम- विनयने तस्य श्रृङ्गेनिषण्णः,

शोभां शुभ्रत्रिनयन- वृषोत्खात- पङ्कोपमेयाम्॥ वही ५२

हिमालय के देवता शिव है। उसकी शिलापर एक जगह शिव के चरणों का न्यास (छाप) स्पष्ट दिखता है। योगिजन उस पर पूजोपहार चढ़ाया करते हैं। वहाँ से निकलने वाले भक्त जन श्रद्धा के साथ उस शिला की परिक्रमा करते हैं। और देह त्याग के पश्चात् शिव के प्रमथ गण में स्थान पाते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्रव्यक्तं दृषदि चरण- न्यासमर्धेन्दुमौलेः

शश्वत् सिद्धैरूपचित- वलिं भक्ति- नम्रः परीयाः ।

यस्मिन् दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमूद्धत- पापाः,

संकल्पन्ते स्थिर- गण- पद- प्राप्तये श्रद्दधानाः । मेघ १-५५

श्लोक १-५२ के समान् यहाँ भी उनके शिर पर अर्धचन्द्र के स्थित होने की बात कही है । शिव की सांयकालीन नीराजना में वेणु (वाँसुंरी) मुरज आदि वाद्यों का प्रयोग और उनका स्तुति गान नाट्य के साथ होता था । इन तीनों के संयोग से संगीत की पूर्णता होती है । कालिदास के समय 'त्रिपुरविजय' के गान की प्रथा थी, यद्यपि उसके रचनाकार की ओर उन्होंने संकेत नहीं किया है । संभव है, त्रिपुरविजय की कथा स्थानीय गीतों में भिन्न-भिन्न ढंग से गाये जाने की प्रथा रही हो ।

शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः ।

संसक्ताभिस्त्रिपुर- विजयो गीयते किन्नरीभिः ।

निर्ह्लादस्ते मुरज इव चेत् कन्दरेषु ध्वनिः स्यात्

संगीतार्थो ननु पशुपते स्तत्र भावी समग्रः । मेघ १-५६

अपने कैलासगौर वृष पर चढ़ने के लिए शिव निकुम्भ के मित्र कुम्भोदर की पीठ का सहारा लेते हैं । पार्वती हिमाद्रि पर देवदारु वृक्षों को अपने हाथों से घड़े भरभर कर सींचती है— (रघु. २-३५, ३६) । यहीं शिव ने एक दृष्टिमात्र से वज्र छोड़ने की इच्छा करते इन्द्र को जड़वत् बना दिया था । जड़ीकृतस्त्र्यम्वक वीक्षणेन वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः- वही ४२ । हाँ, शिव के ही भक्त दशग्रीव ने एक बार कैलास प्रस्थ को उठा कर उसकी सन्धियों (जोड़ों) को अवश्य ढीला कर दिया था । वैसे वह उज्वल इतना कि देवों की स्त्रियाँ उसमें मुख का प्रतिबिम्व देखा करती थीं—

गत्वा चोर्ध्वं दशमुख- भुजोच्छ्वासित- प्रस्थसन्धेः,

कैलासस्य त्रिदशवनिता- दर्पणस्यातिथिः स्याः । मेघ. ५८

शिव की प्रचार भूमि बड़े उच्छ्रित श्रङ्गों वाली है और धवल इतनी कि जैसे शिव का प्रतिदिन का अट्टहास ही शैत्य से जम गया हो ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं

राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्वकस्याट्टहासः। वही ५८

इसके क्रीडाशैल पर कभी कभी गौरी विहार के लिए पैदल घूमती हैं तो शिव अपने हाथ में वलय के समान लिपटे भुजंग को दूर हटा कर, जिससे गौरी को भय न लगे, उसे हाथ का सहारा दे देते हैं।

हित्वा तस्मिन् भुजग- वलयं शम्भुनादत्तहस्ता,

क्रीड़ाशैले यदि च विहरेत् पादचारेण गौरी। मेघ. १-६०

ऐसे अष्टमूर्ति शिव के किंकर में इतनी शक्ति है कि यदि दिलीप जैसा योद्धा भी उस पर प्रहार करना चाहे तो उसका हाथ जड़ हो जायगा।

जाताभिषङ्गो नृपति र्निषङ्गादुद्धर्तु मैच्छत्प्रसभोद्धृतारिः ।रघु० २-३०

सक्ताङ्गुलिः सायकपुङ्ख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे। वही ३९

इसी लिए कालिदास दिलीप के मुख से उन्हें 'स्थावर- जङ्गमानां सर्गस्थिति प्रत्यवहार-हेतुः (रघु. २-४४) कहलाते हैं। यह स्थिति विष्णु और ब्रह्मा से ऊँची है। शैव उन्हें अन्य दोनों से ऊपर प्रतिष्ठित करते हैं। इसी कारण वह भूतेश्वर हैं। उनका अनुचर तक प्राणियों के अन्तर्मन में चलने वाले संकल्प विकल्पों को जानने में समर्थ है—अन्तर्गतं प्राणभृतां हि वेद् सर्व भवान् भावम् (रघु. २-४३)

योगी शिव—इतना होने पर भी कालिदास ने कुमारसंभव में शिव का जो रूप चित्रित किया है वह किसी सामान्य गृहस्थ से शायद ही उच्चतर कहा जा सके। यद्यपि शिव अब भी कृत्तिवासा हैं और तप के फल के विधाता भी। पशुपति भी हैं किन्तु पहली पत्नी सती द्वारा दक्षयज्ञ में शरीर छोड़ने के बाद से निःसंग और एकाकी रहते हैं और हिमालय के प्रस्थ पर गंगा की धारा के समीप तप करते हैं। उनके पास पड़ोस में किन्नरों की वस्ती है। उनके गण भी नमेरू के पुष्पों से भूषित और कोमल भूर्ज छाल पहने मैनसिल से युक्त शिलातलों पर बैठे रहते हैं। उनका ऊँचे ककुद् वाला वृष खुरों से हिमशिलाये खोदता और कभी सिहों की गर्जना के उत्तरमें दहाड़ता रहता था। शिव उस प्रस्थ पर समिधाओं के द्वारा अग्नि को दीपित कर किसी कामना से तप कर रहे थे। यहाँ कवि ने शिव को कृत्तिवासा, यतात्मा एवं अग्नि को उनका मूर्त्यन्तर बतलाया है। पिता की अनुमति से अनुपम सुन्दरी पार्वती उन्हें पति रूप में पाने की कामना से उनकी सेवा में प्रवृत्त होती है। यहाँ कवि ने पार्वती के रूप-यौवन का ऐसा ही श्रांगारिक वर्णन किया है जैसा कवि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी भी सामान्य नायिका का करते हैं । अपनी कृतियों में उन्होनें पार्वती को छोड़ कर अन्य किसी मानुषी या दिव्यांगना के सौन्दर्य का इतने विस्तार और उन्मुक्तता के साथ वर्णन नहीं किया है । उन्होंने यह प्रभाव डालने का भी प्रयत्न किया है कि उसका सौन्दर्य ही शिव को अपनी ओर आकृष्ट करने का कारण बना । देखिए—

एतावता नन्वनुमेयशोभि काञ्चीगुणस्थानमनिन्दितायाः ।
आरोपितं यद् गिरिशेन पश्चादनन्य- नारी- कमनीयमङ्कम् ।।
अन्योन्यमुत्पीडयदुत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं पाण्डु तथा प्रवृद्धम् ।
मध्ये यथा श्याममुखस्य तस्य मृणाल- सूत्रान्तरमप्यलभ्यम् ।
शिरीष- पुष्पाधिक- सौकुमार्यौ वाहू तदीयाविति मे वितर्कः ।
पराजितेनापि कृतौ हरस्य यौकण्ठपाशौ मकरध्वजस्य ।

कुमार. १-३९ से ४१

इन यतात्मा अष्टमूर्ति को तपोभ्रष्ट करने का दर्प मकरध्वज में है । उसका कथन है—

तव प्रसादात् कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा ।
कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणे धैर्य-च्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये ।। कुमार ३-१०

कामने यह प्रतिज्ञा सत्य कर दिखायी । मधु की उद्दीपक प्रवृत्तियों के सम्मुख शिव के निकटवर्ती तपस्वी गड़वड़ाने लगे—तपस्विनः स्थाणुवनौकसः- कथंचिदीशा मनसांवभूवुः- वही ३४

शिव ने किसी प्रकार ध्यान को स्थिर रखा—

श्रुताप्सरो-गीतिरपिक्षणेऽस्मिन् हरः प्रसंख्यानपरो वभूव । वही ४०

किन्तु उनके गण चञ्चल हो उठे । नन्दी ने हाथ में सुवर्णयष्टि लेकर उन्हें डाँट लगायी ।

लतागृह- द्वारगतो ऽथ नन्दी वाम- प्रकोष्ठार्पित- हेमवेत्रः ।
मुखार्पितैकाङ्गुलिसंज्ञयैवमा चापलायेतिगणान् व्यनैषीत् । वही ४१

फिर भी स्तन- भार से झुकी, रक्तपरिधान से भूषित संचारिणी पल्लविनी लता- सी कोमल मनोहर लता (वही ५४) सी उमा उनके समक्ष आ गयी तो वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपना मन सम्हाल न सके और—उमामुखे विम्वफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि । वही ६७

वशी होने के कारण वलवान् वनते काम को भस्म कर मन को निगृहीत तो कर लिया किन्तु अन्ततः पार्वती ने उनसे कहलवा ही लिया-अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिः (कुमार ५-८६) । इस प्रसंग में पार्वती और अजिन-आषाढधारी जटिल ब्रह्मचारी के वेश में शिव के मध्य जो वार्तालाप हुआ, वह शिव की कई विशेषताओं पर प्रकाश डालता है । ब्रह्मचारी कहता है—

वपुर्विरुपाक्षमलक्ष्य- जन्मता, दिगम्वरत्वेन निवेदितं वसु ।

वरेषु यद्वालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ।।कुमार५-७२

वर में जो तीन बातें देखते हैं—(१) देखने में सुन्दर, कमनीय हो (२) अच्छे सम्मानित कुल का हो और (३) संपन्न हो । इनमें तीनों तो क्या, दो एक बातें भी शिव में नहीं मिलती । तब पार्वती उत्तर देती है (१) आप ने विरुपाक्षता को अमङ्गल-सूचक कहा किन्तु मंगल- शकुन कीचिन्ता तो विपत्प्रतीकार या भूति (ऐश्वर्य) के कामी करते हैं । त्रिलोचन तो जगत को शरण देने वाले है । उन्हें किसी के आशीष की आवश्यकता नहीं (२) वह अंकिंचन होते हुए भी सम्पदाओ के जनक है । श्मशान- सेवी होकर भी त्रिलोकी के नाथ हैं । भीमरूप होते हुए भी शिव कहलाते हैं ।

वह विश्वमूर्ति हैं । चाहे विभूषणधारण करें चाहें सर्प, गजचर्म पहने या दुकूल-, कपाल धारण करें या इन्दु को शिर पर रखें—इससे क्या अन्तर होता है । उनके अङ्ग का स्पर्श पाकर चिता की भस्म पावन बन जाती है । नृत्याभिनय के समय उनके देह से छूट कर गिरी हुई भस्मको देवता सिर पर लगाते है । निर्धन होकर जब वह अपने वृष पर चलते हैं तो इन्द्र अपने दिग्गज सेनीचे उतर कर उनका पादस्पर्श करता है ।

विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा गजाजिनालम्बि दुकलधारि वा

कपालि वा स्यादथवेन्दु- शेखरं, न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः ।।

तदङ्ग- संस्पर्शमवाप्य कल्पते ध्रुवं चिताभस्म रजो- विशुद्धये

तथा—

हि नृत्याभिग्नय क्रिया-च्युतं विलिप्यते मौलिभिरम्वरौक साम् ।वही ५-७८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुमार० के षष्ठ और सप्तम सर्ग में उनका रूप सचमुच मातृपितृहीन युवा का है। पार्वती के अनुरोध पर वह अरुन्धती सहित सप्तर्षियों को बुलाकर उन्हें पुत्री को परिणय के लिये माँगने हिमवान् के पास भेजते हैं। हिमवान् और मेनका की स्वीकृति मिल जाने पर सारी वैवाहिक क्रियायें पारम्परिक रीति से चलने लगती है। आधुनिक ज्योतिष के अनुसार मुहूर्त निश्चित किया जाता है। लोकाचारों का पालन होता है। हासोपहास चलते हैं। पार्वती का श्रृंगार किया जाता है। पाँवों में महावर लगाते समय प्रसाधिका कहती हैं।

पत्युः शिरश्चन्द्र-कलामनेन स्पृशेति सख्या परिहास-पूर्वम्।

सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशी र्माल्येन तां निर्वचनं जघान। वही ७-२९

ठीक भारतीय युवा वर के समान शिव को भी सजाया जाता है।

वभूव भस्मैव सिताङ्गरागः कपालमेवामल- शेखर- श्रीः।

उपान्त- भागेषुच रोचनाङ्को गजाजिनस्यैव दुकूल- भावः। वही ७-३२

वरयात्रा चलती है। शिव के वृषभ की पीठ पर शार्दूल चर्म पड़ा है। नन्दी के हाथ का सहारा लेकर वह उस पर बैठते हैं। पीछे अपने वाहनों पर मातृकायें चलती है। उनके पीछे कपाल पहने काली चल रही है। आगे आगे मङ्गलतूर्य बजाते प्रमथ गण हैं। सहस्त्ररश्मि त्वष्टा शिव पर नवनिर्मित छत्र लगाये हैं। दोनों ओर गङ्गा और यमुना चमर डुला रही हैं। विधाताब्रह्मा और विष्णु आगे बढ़कर उनका अभिनन्दन कर रहे हैं। फिर इन्द्रादि लोकपालोंने नन्दी का संकेत पाकर विनीत वेष में उन्हें प्रणाम किया। शिव ने स्थिति के अनुसार उन सब को अभिनन्दन का उत्तर दिया।

कम्पेन मूर्ध्नः शतपत्रयोनिं वाचा हरिं वृत्रहणं स्मितेन।

आलोकमात्रेण, सुरानशेषान् सम्भावयामास यथाप्रधानम्॥ वही ४६

सप्तर्षि विवाह यज्ञ में अध्वर्यु हैं। वे जयाशीः दे रहे हैं। विश्वावसु आदि प्राग्रहर वीणा के साथ त्रिपुरावदान गा रहे हैं। श्वसुर- नगर में पहुँचने पर पुरस्त्रियाँ उन्हें देखने के लिए पगलायी सी इधर उधर दौड़ती हैं। मधुपर्क से लेकर ध्रुव दर्शन और लौकिक विधि -आर्द्राक्षतारोपण तक सारी विधियाँ और लोकाचार साम्प्रतिक विधि से सम्पन्न होते हैं। नयी वधू आती है। उसके साथ शयन- सखियाँ आधुनिक ढंग से हास परिहास करती है जैसे कि विवाह शिव- पार्वती का न हो किसी मालवीय वर- कन्या का हुआ हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कामी शिव

कुमार संभव के अष्टम सर्ग में शिव तथा अन्य कामुक नवविवाहित युवा के व्यवहार में क्षीण सी भी विभेदक रेखा नहीं रह गयी है। यहाँ शिव पगलाये से पार्वती के पीछे-पीछे घूमते हैं। वे ऐसा आचरण करते हैं जैसा वर्तमान चित्रपट पर दिखाया जाता है। किन्तु शिव पार्वती के ऐसे कामुक और नग्नशृंगारमय चित्रणों से अभी तक सिनेमा तक के अभिनेता बचते रहे हैं। नमूने के लिये—

चुम्वनेष्बधर- दान- वर्जितं खिन्नहस्त सदयोपगूहनम्।

क्लिष्ट मन्मथमपि प्रियं प्रभोर्दुलभ- प्रतिकृतं वधूरवम्। ८-८

शूलिनः करतलद्वयेन सा संनिरुध्य नयने हृतांशुका।

तस्य पश्यति ललाट- लोचने मोघयत्न- विधुरा रहस्यभूत्। वही ७

दर्पणे च परिभोग- दर्शिनी पृष्ठतः प्रणयिनो निषेदुषः।

प्रेक्ष्य विम्बमुपविम्वमात्मनः कानि कानि न चकार लज्जया। वही ११

कालिदास का शिवपार्वती रति -संभोग वर्णन कामसूत्र को सामने रखकर लिखा गया है। एक मास हिमाद्रि-गृह में बिताकर वे मेरू पर चले जाते हैं जहाँ—

मेरूमेत्य मरूदाशु- गोक्षकः पार्वती- स्तन- पुरस्कृतान् कृती।

हेम पल्लवविभङ्ग- संस्तरानन्वभूत् सुरत मर्दन- क्षमान्।।वही २२

वे सुरतभोगों का अनुभव कर गन्धमादन पर चले जाते हैं। यहाँ के सान्ध्यकाल, चन्द्रोदय, चन्द्रिका में मदपान, और उसके मद आदि का मनोरम वर्णन कवि ने किया है। वर्णन बड़े हृद्य हैं किन्तु उनके आकर्षण में कवि ने मर्यादा के सारे बन्धन तोड़ दिये है—

सा वभूव वशवर्तिनी द्वयोः शूलिनः सुवदना मदस्य च।वही ७९

घूर्णमान- नयनं स्खलत्कथं स्वेद- विन्दु मद- कारण- स्मितम्।

आननेन नतुतावदीश्वरश्चक्षुषा चिरमुमा- मुखं पपौ। वही ८०

ऊरु- मूल- नख- मार्ग- राजिभिस्तत्क्षणं हृत- विलोचनो हरः।

वाससः प्रशिथिलस्य संयमंकुर्वतीं प्रियतमामवारयत्। वही ८९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स प्रिया- मुखरसं दिवानिशं हर्षवृद्धि- जननं सिषेविषु:

दर्शन- प्रणयिनामदृश्यतामाजगाम विजयानिवेदनात्। वही ९०

यह चित्र रघुवंश के अग्निवर्ण के चरित्र के निकट है। वह गवाक्ष से अपना चरण वाहर निकालकर प्रजा को दर्शन भी देता था किन्तु शम्भु तो इतना भी करने को उद्यत नहीं। कौन कहेगा कि यह किसी देवता का रूप है।

कालिदास ने इन्हें केवल एक बार शिव कहा है। उन्होंने इन्हें प्राय: कृतिवासा:, पिनाकपाणिः शूली, इन्दुमौलि और त्र्यम्बक आदि विशेषणों से ही सम्वोधित किया है। वैदिक संहिताओं के रुद्र की छाया तक इनमें नहीं है। हाँ, स्तुतियों में अवश्य कवि ने उन्हें महानतम देव चित्रित किया है।

स्कन्द जन्म

कालिदास ने स्कन्द के जन्म का जो विवरण दिया है वह पुराणों, के विशेषत: शिवपुराण के पार्वती खण्ड के अनुसार है। विवाह के उपरान्त पार्वती के साथ दिव्य वर्ष- सहस्र पर्यन्त संभोग करने पर भी जब शिव का वीर्य स्खलित नहीं हुआ तो तारकासुर से त्रस्त देवता फिर शिव के पास जाकर प्रार्थना करने लगे कि आप हमें अपने वीर्य से उत्पन्न पुत्र प्रदान कीजिए क्योंकि आपके वीर्य को छोड़कर अन्य किसी में तारक का वध करने की शक्ति नहीं है। ऊर्ध्व- रेता शिव के स्खलित वीर्य को ग्रहण कर सकने की शक्ति अन्य किसी में न देख देवों ने अग्नि से प्रार्थना की तो अग्नि ने कपोत का रूप धारणकर उनके वीर्य का चोंच से भक्षण कर लिया। पार्वती सुरत के भङ्ग से क्रुद्ध हुईं और उन्होंने अग्नि को शाप दिया कि तुम सर्वभक्षी और कुष्ठी (धूमावृत) हो जाओ। वीर्य की ऊष्मा को सहन न कर पाने के कारण अग्नि ने उसे गङ्गा में डाल दिया। गङ्गा ने उसे वहन किया और वह गर्भवती हुईं। उन्होंने शरवण में पुत्र को जन्म दिया और स्तन्यपान कराया। तब कृत्तिकाओं ने आकर उसे पाला। कृत्तिकाएँ छै थीं। उनमें विवाद न हो इसलिए बालक ने प्रत्येक से स्तन्य पान के लिए छै मुख बना लिये। थोड़ा बड़ा होने पर देवों ने उसे अपना सेनापति बनाकर तारक से युद्ध किया और उसके वध में सफल हुए। कुमार संभव और शिव पुराण की कथा में साम्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवसेनानी स्कन्द

स्कन्द की कथा के ये सन्दर्भ कुमार संभव के अतिरिक्त मेघदूत और रघुवंश में भी मिलते हैं । मेघदूत में कवि ने उज्जयिनी और दशपुर से उत्तर की ओर देवगिरि पर स्कन्द का नित्य निवास बतलाया है । इस गिरि पर स्कन्द का मन्दिर रहा होगा । लोक- प्रसिद्धि है कि तारकासुर की विजय के पश्चात् देवों की प्रार्थना पर उन्होंने यहाँ स्थायी रूप से रहना स्वीकार किया था । डॉ. मिराशी ने देवगिरि के सन्बन्ध में अपने 'स्टडीज इन इण्डॉलाजी' में विशद प्रकाश डाला है । मेघदूत में इस बात को भी दोहराया गया है कि इन्द्र की सेनाओं की रक्षा के लिये आदित्य से भी प्रखरतर तेज जो शिव ने अग्नि के मुख में स्थापित किया था, वही स्कन्द है—

नीचैर्वास्यत्युपजिगमिषोर्देवपूर्वं गिरिं ते

शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम् । मेघ. १.४२

तत्र स्कन्दं नियत- वसतिं पुष्पमेघी- कृतात्मा,

पुष्पासारैः स्नपयतु भवान् व्योम- गङ्गा- जलार्द्रैः ।।

रक्षाहेतोर्नवशशि- भृता वासवीनां चमूना ।

मत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः ।। वही ४३

कवि ने उनके शरवण में उत्पन्न होने का स्मरण दिलाते हुए (आराध्यैनं शरवण- भवम्) यह भी बतलाया है कि उनका वाहन मयूर है और उनकी माता पुत्र- प्रेम के कारण ही मयूर पंख को अपने कान में धारण करती हैं ।

ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य वर्हंभवानी

पुत्रप्रेम्णा कुवलयदल- व्यापि कर्णे करोति ।

धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं

पश्चादद्रि- ग्रहण- गुरुभिर्नर्ततैनै नर्तयेथाः ।। वही ४४

स्कन्द की पूजा का उल्लेख पतञ्जलि ने महाभाष्य में किया है । तत्कालीन मन्दिरों में शिव, स्कन्द और विशाख की प्रतिमाएँ एक साथ प्रतिष्ठित होती थीं । कालिदास के समय में स्कन्द के प्रति श्रद्धा उत्कर्ष पर थी । इसीलिए वह मेघ से उनकी वसति पर पुष्पवर्षा करने और उनके वाहन मयूर के नर्तन पर गर्जन से ताल देने का अनुरोध करते हैं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह शितिकण्ठ का ही एक रूप हैं। उनके आत्मा ही हैं और देवों की बन्दी स्त्रियों की वेणियों को खुलवाने वाले हैं क्योंकि वे कारावास में वेणियों को खोल नहीं पाती थीं। वह देवसेनाके गोप्ता थे। उन्हें नायक बनाकर इन्द्र शत्रुओं द्वारा बन्दीकृत अपनी राजलक्ष्मी को वापिस ला सका था।

गोप्तारं सुरसैन्यानां यं पुरस्कृत्य गोत्रभित्।

प्रत्यानेष्यति शत्रुभ्यो वन्दीमिव जयश्रियम्॥ कुमार. २-५२

तथा—

तस्यात्मा शितिकण्ठस्य सेनापत्यमुपेत्यवः।

मोक्ष्यते सुरवन्दीनां वेणीर्वीर्यविभूतिभिः॥ वही २-६१

पार्वती पुत्र स्कन्द

रघुवंश मे कवि ने देवदारू के तरुण वृक्ष को 'पुत्री कृतो ऽसौ वृषभध्वजेन' विशेषण दिया है और उसे "स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः" कहा है। इसमें उसका संकेत इस बात की ओर है कि जैसे पार्वती ने स्कन्द को अपना पयस्(दुग्ध) पिलाकर बड़ा किया वैसे ही इसे भी पयस्(जल) पिलाकर बड़ा किया। इसीलिए उस देवदारू की छाल जब वन्य गज ने उखाड़ डाली तो पार्वती को उतना ही कष्ट हुआ जितना असुरों के अस्त्रों से विक्षत अपने सेनानी पुत्र स्कन्द को देखकर हुआ था—

अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः। रघु. २-३६

पार्वती का पय तो स्कन्द ने पिया ही नहीं था और उसके अस्त्रलीढ होने का उल्लेख भी पुराण में नहीं था। अतः कालिदास का यह कथन चिन्तनीथ है।

कालिदास ने स्कन्द को गुह भी कहा है और उन्हें मयूर के पृष्ठ पर बैठा बतलाया है। स्वयंवर में परार्ध्य वर्ण के आस्तरण से युक्तरत्नमय आसन पर बैठे अज की उपमा उन्होंने स्कन्द से दी है—

भूयिष्ठमासीदुपमेय- कान्तिर्मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन। रघु. ६-४

कुमार स्कन्द

उन्होंने उनकी देवसेना नामक पत्नी का भी उल्लेख किया है। यहाँ भी वह अज के ही उपमान है—"**अथोपयनत्रा सदृशेनयुक्तां स्कन्देनसाक्षादिव देवसेनाम्।**" रघु. ७-१। देवसेना इन्द्र की ब्रह्मा द्वारा निर्मित पुत्री थी। फिर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विक्रमोर्वशीय से यह जानकर आश्चर्य होता है कि स्कन्द हिमालय में जिस कुमारवन में रहते थे वह स्त्री- जनों के प्रवेश के लिए वर्जित था । और उर्वशी जब पति से रूठकर उसमें चली गयी तो लताभाव में परिणत हो गयी—

तदोसा भट्टिणो अणुणअं अप्पडिव्विज्जमाणा गुरुसाव- संमूढ हिअआ विसुमरिद देवदाणिअमा इत्तिआजण परिहरणिज्जं कुमारवणंपविट्ठा पवेसानंतरं अ कणणोवंत वत्ति लदाभावेण परिणदं से रूपम् । विक्रमो. ०-३

कुमार उनका एक नाम है जिसकी देवसेना के साथ विवाह और उपर्युक्त सन्दर्भ के साथ संगति नहीं बैठती । स्कन्द का एक अन्य सार्थक नाम महासेन भी है—

अभिषिक्तं महासेनं सेनापत्येमरुत्वता ॥ विक्रमो. ५-२३

कालिदास का आस्तिक्य दर्शन

संस्कृत साहित्य के इतिहासकारों ने कालिदास को शैव कहा है । उनके इस विश्वास का आधार कवि के नाटकों एवं रघुवंश के आद्य मंगल-श्लोक हैं । मालविकाग्निमित्र में, जो संभवत: उनका प्रथम नाटक है, उन्होंने शिव को कृत्तिवासस्, कान्ता-संमिश्रदेह, अविषयमनस्, यतियों की भी पहुँच के बाहर, अष्टविग्रहों से जगत को धारण करने वाला, निरभिमान और तामसीवृत्ति का अपनेता कहा है । इस श्लोक में वे परस्पर विरोधी गुणों के धारण करने वाले बतलाये गये हैं । वर्णन की यह प्रणाली उपनिषत्काल में ही मिलती है । ईशावास्योपनिषद् ने कहा था—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्व तदुसर्वस्यास्य वाह्यतः ।

विक्रमोर्वशीय में शिव की महिमा को उन्होंने और स्पष्ट किया है । उपनिषद् ग्रंथों में जिसे पृथ्वी और आकाश को व्याप्त कर रहने वाला बतलाया है । वह एक पुरुष वे ही हैं । ईश्वर शब्द का प्रयोग केवल उन्हीं पर सार्थक होता है । प्राणायाम आदि क्रियाओं के द्वारा मुमुक्षु लोग इन्हीं का अपने भीतर दर्शन करने का प्रयत्न करते हैं । वे स्थाणु हैं और स्थिर भक्ति-योग द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं । ईश्वर नाम की अनन्य-विषयता का प्रतिपादन रघुवंश में भी मिलता है—

हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतः महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापरः ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ रघुवंश के मंगलाचरण में 'कान्ता-संमिश्रदेहत्व' की बात कुछ अधिक गाम्भीर्य और कलात्मक ढंग से कही गयी है । इसमें पार्वती के साथ परमेश्वर की वन्दना है,अकेले शिव की नही । साथ ही यहाँ वे मालविकाग्निमित्र के समान 'अविषयमनसां यः परस्ताद्यतीनाम्' नहीं हैं । अपितु स्नेहपुञ्ज हैं, 'जगतः पितरौ' । इस प्रकार रघुवंश तक आते -आते उपास्य और उपासक की दूरी बहुत कम हो गई है । यद्यपि शिव-पार्वती का अभेद मालविका० में भी मिलता है । 'रुद्रेणेदमुमाकृत-व्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा' में उनके नटेश्वर और अर्ध-नारीश्वर होने की बात स्पष्ट ही कही गई है । अभिज्ञान शाकुन्तल की नान्दी में शिव की आठों मूर्तियों का विशद रूप स्पष्ट किया या है । पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र और आत्मा ये आठ शिव की प्रत्यक्ष मूर्तियाँ है । अमूर्त अर्थात् अप्रत्यक्ष महासत्ता के दर्शन इन आठों तत्त्वों में किये जा सकते हैं । इन्हें देखकर उनके स्वरूप की कल्पना की जा सकती है । इसीलिए कहा गया है—

भूमिरापोऽनलो वायुरात्मा व्योमरविश्शशी ।

इत्यष्टौ सर्वलोकानां प्रत्यक्षा हरमूर्तयः ।

वास्तव में शिव और उनकी इन अष्टमूर्तियों में प्रकृति और पुरुष अर्थात् शक्ति और शक्तिमान् का भाव निहित है क्योंकि ये आठों मूर्तियाँ सृष्टि की उपादान भी हैं—

शक्तिश्च शक्तिमांश्चेति पदार्थद्वयमुच्यते ।

शक्तयोऽस्य जगत्सर्वं शक्तिमांश्च महेश्वरः ।।

शिव के इस अष्ट विग्रह स्वरूप पर कालिदास की मुख्यतः आस्था थी । मालविकाग्निमित्र और शाकुन्तल के अतिरिक्त कुमारसम्भव में भी कवि ने शिव का वर्णन इसी रूप में किया है । सम्भवतः उनके शिव को अपना यही स्वरूप सबसे अधिक प्रिय था । इसलिए वह सप्तर्षियों से कहते हैं—

विदितं वो यथा स्वार्था न मे काश्चित् प्रवृत्तयः ।।

ननु मूर्तिभिरष्टाभिरित्थं- भूतोऽस्मिसूचितः ।।

इसमें गीता के 'नानवाप्तमवाप्तव्यं न में कर्मफले स्पृहा' का भाव स्पष्ट है । होत्री पद से जिस आत्मा की ओर संकेत है उससे शिव को यह स्वार्थ- रहित प्रवृत्ति पृथक् करती है । आत्मा स्वयं शिव का एक रूप है, किन्तु फल भोग और उसके कारणभूत स्वार्थ से मुक्त । उपनिषद् ने कहा भी है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ।

अष्ट मूर्तियाँ स्वयं इस बात की साक्षी हैं कि इस सृष्टि-रचना के पीछे स्रष्टा का कोई स्वार्थ निहित नहीं है । वह इनमें से किसी का उपभोक्ता नहीं है । इसीलिए कवि ने कहा—

ननु मूर्तिभिरष्टाभिरित्थं-भूतोऽस्मि सूचितः ।

फिर भी उनके प्रभाव से ये अष्ट मूर्तियाँ इस प्रकार विश्व को धारण किये हैं जैसे बैल गाड़ी को ढोते हैं । जड़ पदार्थों का यह सहकार्य शिव के प्रभाव के ही कारण सम्भव है—

कलितान्योन्य-सामर्थ्यैः पृथिव्यादिभिरात्मभिः ।

येनेदं ध्रियते विश्वं धुर्यैर्यानमिवाध्वनि । कुमार ६-७६

वह अणिमादि आठों सिद्धियों से युक्त है । ईश्वर शब्द का प्रयोग केवल उसी के लिए होता है ।

वह 'क्षेत्राभ्यन्तरवर्ती' अर्थात् सर्वान्तर्यामी है । योगी उसी की तलाश में रहते हैं । उसके पद को प्राप्त करने के बाद पुरुष जन्ममरण से मुक्त हो जाता है । अनावृत्तिमयं यस्य पदमाहुर्मनीषिणः (कुमार ६-७७) । इसमें गीता के इन शब्दों की गूँज है । —'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमंमम' । इसी विश्वास से कालिदास ने भरत वाक्य में कहा'—

माऽपि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवंपरिगत-शक्तिरात्मभूः

इसी पद के लिये ऋग्वेद ने कहा था—'विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः (मं.१०)'

किन्तु कालिदास के शिव का स्वरूप ठीक वही नहीं है जो पुराणों में वर्णित है । यह सत्य है कि उन्होंने कुमार-सम्भव में जो स्वरूप उपस्थित किया है वह विशुद्ध पौराणिक है किन्तु उनके आराध्य शिव कुमारसम्भवीय शिव की सारी विशेषताएँ लेकर भी उनसे कुछ अधिक है । कुमारसम्भव में शिव के गृहस्थ-रूप के चित्रण के पीछे कवि का उद्देश्य भिन्न था । वे गृहस्थाश्रम का महत्त्व प्रतिपादित करना चाहते थे । इसीलिए उन्होंने आश्रम-पालित शकुन्तला को प्रणय के पात्र के रूप में चुना । बीस वर्ष की आयु तक वैखानस वातावरण में पली हुई साध्वी कन्या, जो एक ही झटके में प्रणयपाश में जकड़कर सब कुछ भूल बैठती है, फिर उसका परिणाम चाहे जो कुछ हो, यह बौद्ध विहारों पर जो श्रमण और भिक्खु आश्रमों को ही महत्त्व देते थे, एक करारा व्यंग्य है । शिव-विवाह के वर्णन के पीछे भी कवि का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही उद्देश्य निहित है । यह बात कवि ने शिव के मुख से कहलायी भी है । सप्तर्षियों के साथ अरुन्धती भी आती है । शिव अरुन्धती के प्रति भी उतना ही सम्मान प्रदर्शित करते हैं जितना वशिष्ठादि के प्रति । वशिष्ठ और अरुन्धती को देखकर उनके मन में भी विवाह की इच्छा जाग्रत होती है और उन्हें लगता है कि धार्मिक क्रियाएँ सुशील पत्नियों के सहकार से ही अधिक अच्छी तरह सध सकती है ।

कवि ने कहा है—

तामगौरवभेदेन मुनींश्चापश्यदीश्वरः ।
स्त्री-पुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम् ।
तद्दर्शनादभूच्छंभोर्भूयान् दारार्थमादरः ।
क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम् ।

कुमार. ६-१२-१३

इसलिए कुमार सम्भव के शिव कवि के पूर्ण आराध्य नहीं है, यद्यपि वे भी उसके आराध्य हैं । उनका जो स्वरूप पुराणों में व्यक्त हुआ है वह अपूर्ण है ; कवि ने स्वयं ही कहा है—'न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः' । और हों भी कैसे ? क्योंकि 'न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः' । इस दृष्टि से कालिदास के शिव ब्रह्म के पर्यायी हैं, जिनके अस्तित्व का आभास हमें तीन रूपों में होता है ।

नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक् सृष्टेःकेवलात्मने ।
गुणत्रय-विभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे ॥

सृष्टि के पूर्व वह केवलात्मा है जिसके विषय में ऐतरेय ने कहा है— 'आत्मा व इदमेकएवाग्र आसीत् नान्यत् किञ्चनमिषत् । स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति (५-१) । ब्रह्म के इस स्रष्टा रूप का नाम हुआ ब्रह्मा । कवि की दृष्टि में इस ब्रह्मा और शिव में कोई भेद नहीं है । ब्रह्मा की स्तुति में उसने कहा है—'

जगद्योनिरयोनिस्त्वं जगदन्तो निरन्तकः ।
जगदादिरनादिस्त्वं जगदीशो निरीश्वरः । २-९
आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना ।
आत्मना कृतिना च त्वमात्मन्येव प्रलीयसे । १० ।
त्वमेव हव्यं होता च भोज्यं भोक्ताच शाश्वतः ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेद्यं च वेदिता चासि ध्याता ध्येयं च यत्परम्।१५

त्वं पितृणामपि पिता देवानामपि देवता।

परतोऽपि परश्चासि विधाता वेधसामपि।।१४।।

ब्रह्मा की यह स्तुति, कौन कह सकता है कि उस पुरुष के प्रति नहीं है जिसके लिये कठोपनिषद् कहता है—'पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः'(१-३-११)। इतना ही नहीं, कालिदास ने शिव को 'साक्षात्साक्षी विश्वस्य कर्मणाम्' कहा है (कुमार ६-७८)। और ब्रह्मा की स्तुति में उनके लिए भी कहा—

त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थ-प्रवर्तिनीम्।

तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः। कुमार ०-१३

इस प्रकार शिव और ब्रह्मा के स्वरूप में भेद कहाँ रह गया? किन्तु क्या वास्तव में यह ब्रह्मा की स्तुति है? यह तो ब्रह्मा का वह स्वरूप है जिसमें एक उसे छोड़कर अन्य किसी पदार्थ की सत्ता ही स्वीकार नहीं की जाती, जहाँ कर्ता, कारण और कार्य तथा ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों एक बन जाते हैं। यह एकेश्वरवाद नहीं, एकतत्त्ववाद है। यह वह सांख्य भी नहीं है जो कहता है—

प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वच्छः। सा. का. ६५

क्योंकि सांख्य में प्रकृति भिन्न है, पुरुष भिन्न। वहाँ प्रकृति ही बद्ध होती है और वही मुक्त होती है। पुरुष तो केवल 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' रहता है। सांख्य में कहा है—

तस्मान्न वध्यतेऽद्धा न मुच्यते नाऽपि संसरति कश्चित्।

संसरति बध्यते मुच्यते नानाश्रया प्रकृतिः। सा. का. ६२

जिसका समर्थन गीता में मिलता है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

अहंकार -विमूढ़ात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते।

कालिदास ने प्रकृति और पुरुष के ऊपर एक परम पुरुष को और प्रतिष्ठित कर सांख्य को भी आस्तिक बना दिया है किन्तु उससे प्रकृति का सारा खेल ही समाप्त हो जाता है और वह नर्तकी के साथ केवल कठपुतली बनकर रह गयी है। सांख्य ने कहा था—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।

पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ।।५९ ।।

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चदस्तीति से मतिर्भवति।

या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ।।६१ ।।

किन्तु कालिदास में ब्रह्म ही प्रकृति है । तीनों गुण उसी के भेद हैं—

'गुणत्रय-विभागाय पश्चाद् भेदमुपेयुषे' । इतना ही नहीं, स्त्री पुरुष तक उसी एक के दो विभाग हैं—

स्त्री-पुंसावात्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया।

प्रसूतिमात्रः सर्गस्य तावेव पितरौ स्मृतौ ।। कुमार. २-६

इस बात को समझ लेने पर कालिदास के सामने सांख्य का सारा महल ही ढहता दिखाई देता है । जिस बात के लिए सांख्य दर्शन का अस्तित्व है उसका ठीक उल्टा कालिदास स्वीकार करते हैं । इसलिए जो विद्वान कालिदास और ईश्वर कृष्ण को एक मानकर वृद्धावस्था में उन्हें शैव बना देते हैं वे एक तो सांख्यकारिका को बचकानी कृति बतलाने के दोषी बनते हैं क्योंकि तब उन्हें उसकी रचना मालविकाग्निमित्र से भी पूर्व स्वीकार करनी होगी । दूसरे वे कालिदास की शिवोपासना का मर्म भी नहीं समझ पाये हैं । इसी प्रकार जो बुहख्यात समालोचक 'तद्दर्शिनमुदासीनम्' आदि एकाध अधूरे वक्तव्य के आधार पर सांख्य और 'स्थिर-भक्तियोग-सुलभः' या 'नियमित-प्राणादिभिर्मृग्यते' आदि के आधार पर उनमें वेदान्त का दर्शन करते हैं, वे भी भ्रम में हैं । प्राणायाम की चर्चा योगदर्शन में आ जाने से वह उसी की एकमात्र सम्पत्ति नहीं बन जाता और वेदान्त के वर्तमान अर्थ की तो उन्हें कल्पना तक न थी । उनके समक्ष वेदान्त का अर्थ था उपनिषद और उनकी उपासना वेदान्त के ब्रह्म की ही उपासना थी । पुराणकाल में उस एक ब्रह्म के तीन भाग कर लिये गये और प्रसंगानुसार कभी उसके एक गुण को महत्त्व दे दिया गया कभी दूसरे को, किन्तु मूलवस्तु एक ही बनी रही । आगे चलकर उपनिषदों का ब्रह्म तिरोहित हो गया और उसके ब्रह्मा, विष्णु महेश तीनों उत्तराधिकारियों के अपने-अपने परिवार और धीरे-धीरे स्वतंत्र जनपद बन गये, कालिदास का युग औपनिषदिक विराट्ता के अन्त और पौराणिक सीमाबन्ध के प्रारम्भ का युग जान पड़ता है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिव और ब्रह्मा की स्तुति में ही नहीं, विष्णु की स्तुति में भी कवि ने अपनी इन मान्यताओं को दोहराया है। देखिये—

नमो विश्वसृजे पूर्व विश्वं तदनु विभ्रते।

अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधा स्थितात्मने। रघु० १०-१७

अभ्यास-निगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम्।

ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये। २३।

शब्दादीन् विषयान् भोक्तुं चरितुं दुश्चरं तपः।

पर्याप्तोऽपि प्रजाः पातुमौदासीन्येन वर्तितुम्। २५।

अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य क्रियावतः।

स्वपतो जागरुकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव॥ २४॥

इन श्लोकों पर उपनिषदों का प्रभाव स्पष्ट है जो "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः सर्वस्यास्य हृदि सन्निविष्टः" मानते हैं। इस बात को कवि ने 'हृदयस्थमनासन्नम्' (१९) में व्यक्त किया है। 'ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति' और 'तमेवभान्त मनुभाति सर्वम्' इस उपनिषद् -वाक्य में साम्य है ही। 'अभ्यास-निगृहीतेन मनसा' पर भी चाहें तो 'अभ्यास-वैराग्याभ्याम् तन्निरोधः' इस योग सूत्र का प्रभाव कह सकते हैं किन्तु 'पर्याप्तोऽपि प्रजाः पातुमौदासीन्येन वर्तितुम्' में जिस औदासीन्य की ओर संकेत है, वह सांख्य का नहीं है। हाँ, इन स्तुतियों में अनेकों श्लोकों की शब्दावली मनुस्मृति से अवश्य मेल खाती है। विष्णु की स्तुति पर गीता पर प्रभाव है, इस बात से किसी प्रकार इनकार नहीं किया जा सकता है। देखिए—

त्वय्यावेशित-चित्तानां त्वत्समर्पित-कर्मणाम्।

गतिस्त्वं वीतरागाणामभूयः संनिवृत्तये। रघुवंश १०-२७

नवाप्तमवाप्तव्यं न ते किंचन विद्यते।

लोकानुग्रह एवैकोहेतुस्ते जन्म-कर्मणोः।३१।

अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः–

'स्वप्तो जागरूकस्य सामर्थ्यं वेद कस्तव–'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस विष्णु-स्तुति—

'जगद्योनिरयोनिस्त्वं जगदन्तो निरन्तकः

जगदादिरनादिस्त्वं जगदीशो निरीश्वरः–

और

'विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा गजाजिनालम्बि दुकूलधारि वा।

कपालि वा स्यादथवेन्दु शेखरः न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः'।

इस शिवस्तुति को एक साथ मिलाकर देखें तो यह बात स्पष्ट हो जायगी कि कालिदास ने तीनों नामों से एक ही औपनिषदिक ब्रह्म की स्तुति की है, वही उनका आराध्य है और वही है—

'प्रलय-स्थिति-सर्गाणामेकः कारणतां गतः।, कुमार० २-६।

स्तुति का यह प्रकार वह नही है जिसे हम आजकल 'स्मार्त'कहते हैं और जो उपासना के क्षेत्र में आज की राजनीति के 'सहअस्तित्ववाद' से भिन्न कुछ नहीं है और न यह 'सर्वदेववाद' है जिसके दर्शन हमें '—' सर्वदेव-नमस्कारः गोविन्दं प्रति गच्छति' जैसे कथनों में मिले हैं। कालिदास के प्रायः समीक्षकों ने जिनमें डॉ. मिराशी जैसे प्रकाण्ड विद्वान् तक सम्मिलित हैं, इस बात को दृष्टि से ओझल कर उन्हें सामान्य सहिष्णु शैवों में परिगणित कर दिया है। वास्तव में कालिदास को शैव कहने से पहले हमें 'शैव' शब्द का तात्पर्य स्पष्ट समझ लेना चाहिए क्योंकि अपने साम्प्रदायिक स्वरूप में यह शब्द पारिभाषिक है और इसकी परिभाषाएँ न केवल युग, अपितु स्थानभेद से भी भिन्न-भिन्न हैं।

ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में भारत में शिव, स्कन्द, विशाख, वैश्वानर, प्रजापति और सूर्य की पूजा प्रचलित थी। इनमें गुप्तकाल तक आते-आते अन्य देवों का स्थान तो गौड़ पड़ गया, किन्तु शिव का महत्त्व अवश्य न केवल बना रहा, उल्टे उसमें वृद्धि हुई। वासुदेवों में बलराम का महत्त्व क्षीण हो गया। विष्णु का अपना स्वतन्त्र महत्त्व भी बढ़ा। दूसरी ओर विजय, युद्ध और सोमपान के वैदिक देवता वज्रबाहु इन्द्र का स्वभाव अपेक्षाकृत मृदु हो गया। उनका वज्र अब उपयोग की कम और शोभा की वस्तु अधिक बन गया। कालिदास के काव्यों में हम इन्द्र का कार्य सर्वत्र उनके मित्र पृथ्वीपालों को करते पाते हैं। शिव, विष्णु आदि की पूजा की सूक्ष्म विधियाँ बनीं। सूर्य की पूजा भी चलती रही। कालिदास ने इन युग-सन्धियों के बीच से सारवस्तु को ग्रहण कर लिया। उन्होंने पूर्व वैदिककाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से शिव और इन्द्र तथा उत्तर वैदिककाल से विष्णु को लिया। गुणत्रय के आधार पर मान्य देवत्रयी को उन्होंने उपनिषदों के ब्रह्म के साथ जोड़ दिया। इस प्रकार कालिदास का उपास्य बना त्रिमूर्ति ब्रह्म। मंगलाचरणों में शिव का जो उल्लेख मिलता है उसमें वर्णन तो विश्वरूप का ही है, नाम या स्थूल संकेत चाहे जो हों। शिव नाम से ब्रह्मा की उपासना प्राचीन संस्कृत विद्वानों में परम्परागत रही है और अब तक भी प्रचलित है। यद्यपि ईसा पूर्व ६ वीं शताब्दी के बाद से शिव का स्वरूप पहले पौराणिक और बाद में साम्प्रदायिक अधिक हो गया।

कालिदास में उपनिषद्, गीता और पुराणों की मान्यता का तो सम्मिश्रण है ही, वैदिक उपासना या यज्ञोपासना काभी अत्यन्त महत्व है। वे यथा विषहुताग्नां को आस्तिक मानते हैं उनके सर्वश्रेष्ठ नृपति "अध्वरे विश्वजिति क्षितीशं निःशेषविश्राणितकोषजातम्" की श्रेणी के हैं। मंगलकार्यों में वे वैतानिक शान्त्युदक के विसर्जन में विश्वास रखते हैं—"अहं तावद्वैतानिकं शान्त्युदकमस्यै गौतमीहस्ते विसर्जयामि" (शाकु. ३. अंक)।

सायन्तने सवनकर्मणि सम्प्रवृत्ते

वेदींहुताशनवतीं परितः प्रयस्ताः।

छायाश्चरन्ति बहुधा भयमाददानाः

सन्ध्यापयोद-कपिशाः पिशिताशनानाम्।। शाकु० ४-२४

इसमें वैदिक और पौराणिक विचारधारा का तो संगम है ही, कवि की त्रिकालसवनों के प्रति आस्था भी ध्वनित है। दुष्यन्त आश्रमवासियों का स्वागत अग्निशरण में श्रौतविधि से करता है। शकुन्तला पतिगृह जाते समय 'सद्योहुताग्नि' की परिक्रमा करती है और कण्व आशीर्वाद देते हैं—

अमीं वेदि परितः क्लृप्तधिष्ण्याः समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः।

अपध्नन्तो दुरतै र्हव्यगन्धैर्वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु।।

शाकु० ४-८॥

वैतान अग्नि की उपासना के प्रति कालिदास की आस्था उनकी वैदिक यज्ञपद्धति के प्रति अटूट आस्था की प्रतीक है। ऐसा प्रतीत होता है। कि याज्ञिक साधना कालिदास के समय विद्वानों, आश्रमों और राजपरिवारों तक सीमित रह गयी थी और त्रिमूर्ति की उपासना सामान्य परिवारों में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूजोपासना का लक्ष्य था तामसीवृत्ति से ऊपर उठकर मोक्ष की प्राप्ति। किन्तु यह मोक्ष शंकराचार्य का 'विलीनीभाव' नहीं है। यह केवल पुनर्जन्म का अभाव है जिसे उपनिषदों ने 'न स पुनरावर्तते' कहकर संकेतित किया और जिसके लिए वेद ने 'अमृत' शब्द का व्यवहार किया है—'मृत्योर्मुञ्चीय नाऽमृतात्'। इसी की याचना कवि ने 'मामापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगत-शक्तिरात्मभूः' इन शब्दों से की है। कठोपनिषद के ये मन्त्र इस स्थिति का वास्तविक आभास देते हैं—

स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्रत्वं न जरया विभेति।

उभे तीर्त्वाशनयापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके। १-१२

तथा

'स्वर्गेलोका अमृतत्वं भजन्ते।'

इस प्रकार कालिदास की आस्तिकता वैदिक, औपनिषदिक और प्राचीन पौराणिक उपासना एवं निजी चिन्तनपद्धति का एक समन्वित रूप है और यदि किसी को उन्हें शैव कहने का आग्रह ही हो तो उनके शिव का स्वरूप पहले हृदयंगम कर लेना चाहिए जो श्वेताश्वरोपनिषद् के अनुसार इस प्रकार है—

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिः
स काल-कालो गुणी सर्व-विद्यः।

प्रधान- क्षेत्रज्ञपति र्गुणेशः
संसार मोक्षस्थितिवन्ध-हेतुः ॥६-१६॥

आश्रम

गुरुकुल- परम्परा

कालिदास की कृतियों में वन्य आश्रमों एवं उनके निवासी ऋषियों, मुनियों और विद्यार्थियों के प्रति अत्यन्त आदर के दर्शन होते हैं। ये आश्रम सामाजिक मर्यादाओं के प्रतिष्ठापक और नियामकथे। भारतीय समाज में प्राप्त उच्च्च नैतिकता और जीवन की पवित्रता के उत्स आश्रम ही थे। नागरिक कोलाहल से दूर वन्य उटजों में रहते हुये ये आश्रमी, फलों और नीवार से उदर पूर्ति करते, मृगों के साहचर्य में जीवन बिताते और विद्यार्थियों को मार्ग दर्शन के साथ विद्याध्ययन कराते थे। आश्रम गुरुकुल कहलाते थे। कुलपति अथवा आचार्य इनके प्रमुख होते थे जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामान्यतया सपत्नीक वानप्रस्थ होते थे। प्रात: सायं यज्ञ के धूम से उनका वातावरण सुरभित रहता था। प्रात:काल होते ही विद्यार्थी कुश, जल और समिधायें लाने बाहर निकल जाते और वेदपाठ के साथ प्रातर्यज्ञ करते। वे ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करते हुए गुरु- सुश्रूषा में तत्पर रहते थे। यज्ञक्रिया के सम्पादन के लिये प्रत्येक आश्रम में गायें पाली जाती थीं।

कालिदास ने कई स्थानों पर आश्रम का वर्णन किया है जो प्राय: यह बतलाने के लिये हुआ है कि आश्रम राजाओं के लिये वन्द्य है। उनकी प्रतिष्ठा के लिये भी आश्रमों का सम्मान आवश्यक है। राजा यदि समाज का पिता है तो आश्रम- मुनि राजाओं के पिता। इसीलिये राजा लोग आश्रम के बाह्य द्वार पर पहुँचते ही अपना सारा तामझाम वहीं छोड़कर नंगे पाँव, बिना छत्र, चमर और राजकीय महार्घ वस्त्रों के, अत्यन्त विनय के साथ भीतर प्रवेश करते थे। आश्रमों की सीमा के भीतर रथ का प्रवेश तथा आखेट सर्वथा वर्जित था।

गुरु और पुरोहित

रघुवंश और अभिज्ञान शाकुन्तल दोनों का प्रारम्भ आश्रम के चित्रण के साथ हुआ है। मन्त्रद्रष्टा वसिष्ठ के वंशज भी वसिष्ठ कहे जाते थे। वस्तुत: यह व्यक्तिवाचक नाम न होकर गोत्र- नाम है। ये लोग रघुवंशियों के गुरु भी थे और पुरोहित भी। कालिदास के युग में पुरोहितों का दोहरा दायित्व होता था। वे उनके संस्कार भी कराते थे और अनिष्ट निवारण का उपाय भी करते थे। इस समय तक अथर्ववेद ने न केवल प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर लिया था अपितु पौरोहित्य कर्म में उसी का बोलबाला था। पुरोहित लोग अथर्वविद् होते थे—विशेषत: राजाओं के पुरोहितों के लिये तो शान्ति कर्मों और पौष्टिक कर्मों (अभिचारदि में भी) में दक्ष होना अनिवार्य था। धार्मिक कार्यों में गुरु का परामर्श एक प्रकार से आप्ताज्ञा माना जाता था। वसिष्ठ गुरु भी थे और पुरोहित भी। अनपत्यता से पीडित होकर दिलीप वसिष्ठ के पास जाते हैं—

तौ दम्पती वसिष्ठस्य गुरोर्जग्मतुराश्रमम्। रघु. १-३५

आश्रम में किसी को कष्ट न हो, इसलिये वे अपने साथ बहुत कम सेवकों को ले जाते थे—

मा भूदाश्रम-पीडेति परिमेय पुरस्सरौ। वही ३७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे सायंबेला में आश्रम में पहुँचते हैं।

आश्रम का आन्तरिक वातावरण

इस समय ब्रह्मचारी लोग दूसरे वन-खण्ड से अगले दिन के लिये समिधायें, कुश और फल लेकर लौट रहे थे। समिधायें लाते देखकर यज्ञाग्नि अदृश्य रूप से मानो आगे बढ़कर उनका स्वागत कर रही थी। नीवार (धान्य) खिला-खिलाकर पाले हुये मृग बच्चों की तरह मुनि- पत्नियों को स्वागत करने या देरी से लौटने के लिये उन्हें उपालम्भ देने कुटियों का द्वार रोककर खड़े थे—

वनान्तरादुपावृत्तैः सुमित्कुश- फलाहरैः।

पूर्यमाणमदृश्याग्नि- प्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः॥ रघु. १-४९

आकीर्णमृषि-पत्नीनामुटज-द्वार-रोधिभिः।

अपत्यैरिव नीवार- भागधेयोचितैर्मृगैः॥ वही. ५०

जैसे बच्चे माँ के लौटने की आस लगाये कि आते ही वे उन्हें कुछ खाने को देंगी, द्वार पर खड़े उसकी वाट जोहते हैं, वैसे ही मृग ऋषि- पत्नियों की। वे प्रतीक्षा में द्वार रोके खड़े थे। बच्चे भी देर से लौटी माता से रूठकर बोलते हैं कि हम तुम्हें भीतर नहीं घुसने देंगे, ठीक वही आचरण मृग कर रहे थे। मुनि कन्यायें वृक्षों के आलवालों (थालों) की सींच कर, उन्हें पानी से भरकर कुछ दूर जा खड़ी हुई थीं जिससे थालों में जल पीने के लिये आये पक्षी निर्भय होकर जी भर जल पी सकें। और उजटों के आँगनों में सूखने के लिये डाला नीवार अव समेटकर इकट्ठा कर दिया जा चुका था। मृग उसके पास बैठे हुये जुगाली कर रहे थे—

सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झित-वृक्षकम्।

विश्वासाय विहङ्गानामालवालाम्वुपायिताम्॥ वही ५१

आतपात्यय-संक्षिप्तनीवारासु निषादिभिः।

मृगैर्वर्तित-रोमन्थमुटजाङ्गन-भूमिषु॥ वही ५२

आश्रम की यज्ञ शालाओं से उठता हुआ धुआँ आगुन्तकों को पवित्र बना रहा था—

पुनानं पवनोद्धूतैर्धूमैराहुति-गन्धिभिः। वही ५३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिलीप और वसिष्ठाश्रम

आश्रम में पहुँचने पर मुनियों ने दिलीप और उनकी पत्नी सुदक्षिणा का शास्त्रीय विधि से सत्कार किया किन्तु कुलपति से उनकी भेंट सायन्तन विधियों के निवृत्त हो जाने पर ही हो सकी । सम्राट् की आवभगत के लिये कुलपति ने अपनी दिनचर्या में परिवर्तन नहीं किया—

विधेः सायन्तनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम् । वही ५६

पत्नी- सहित सम्राट् ने वसिष्ठ और उनकी पत्नी के चरणों को पकड़कर प्रणाम किया । तदनन्तर कुशल पूछने पर दिलीप ने नम्रता से कहा—

उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे ।

दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्ता त्वमापदाम् ॥ वही ६०

मेरे राज्य के सातों अङ्ग (स्वामी, अमात्य, सुहृत्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और वल अर्थात् सेना) सकुशल हैं और इसका कारण आप हैं जो मेरी दैवी और मानुषी विपत्तियों को दूर करते रहते हैं । इन ऋषियों में इतनी शक्ति थी कि वे ध्यान लगाने पर अपरोक्ष वातों की जानकारी प्राप्त कर लेते थे—

सोपश्यत् प्रणिधानेन सन्ततेः स्तम्भ- कारणम् । वही ७४

आश्रमों में अतिथि राजा के लिये कोई विशिष्ट व्यवस्था नहीं की जाती थी । वे भी अन्य मुनियों के समान पर्णशाला में कुश- शय्या पर सोते और सबके साथ सूर्योदय से पूर्व उठ जाते थे—

निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशाला मध्यास्य प्रयत- परिग्रह- द्वितीयः ।

तच्छिष्याध्ययन- निवेदितावसानां संविष्टः कुशशयने निशां निनाय ॥रघु. १-९५

दुष्यन्त और कण्वाश्रम

दुष्यन्त आखेट करता हुआ जब वन में पहुँचता है और मृग पर प्रहार करने को उद्यत होता है तो अचानक उसे सुनायी देता है—'राजन् ! आश्रम मृगोऽयं, न हन्तव्यो न हन्तव्यः' । तो वह तुरन्त सारथि को आदेश देता है—"तेनहि प्रगृह्यन्तां वाजिनः"—शाकु. २१ । और अश्व रोक दिये जाते हैं । यह स्वर आश्रमवासी वैखानसों का था जो समिधायें लेने जा रहे थे । उन्होंने बतलाया कि यह मालिनी के किनारे अवस्थित महर्षि कण्व का आश्रम है—"राजन् समिदाहरणाय प्रस्थिता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वयम्। एष खलु कण्वस्य कुलपतेरनुमालिनीतीरमाश्रमो दृश्यते" शाकु. १। आश्रम तो बिना किसी के बताये यों ही पहचाने जा सकते थे। वृक्षों के नीचे शुकों के द्वारा खाते-खाते गिराये हुये नीवार के दाने पड़े रहते थे; इङ्गुदीके वृक्षों के नीचे चिकने प्रस्तर-खण्ड बिखरे होते थे जो इङ्गुदी फल तोड़ने के लिये ऊपर फेंके गये होते थे; पास से निकल जाने पर भी मृग डरकर भागते नहीं थे क्योंकि उन्हें मनुष्यों पर विश्वास उत्पन्न हो जाता था और उटजों से जलाशय तक जाने वाले मार्ग धो-धो कर लाये जाते हुए वल्कलों से टपकने वाले जल की रेखाओं से अङ्कित रहते थे—

नीवाराः शुक- गर्भ- कोटर मुख- भ्रष्टास्तरूणामधः,

प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदी- फलभिदः सूच्यन्तएवोपपलाः।

विश्वासोपगमादभिन्न- गतयः शब्दं सहन्ते मृगाः

तोयाधारपथाश्च वल्कल-शिखा-निष्यन्दरेखाङ्किताः॥ शाकु.१-१३

आश्रम का ज्ञान होते ही राजा सारथि से कहता है—रथ यहीं रोक दो। तपस्वियों को किसी प्रकर की असुविधा नहीं होनी चाहिये। "तपोवन- निवासिना मुपरोधो माभूत्। एतावत्येव रथं स्थापय। यावदवतरामि।" और रथ से उतरकर कहता है—"विनीत- वेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानिनाम। और प्रविष्ट होते ही वसिष्ठ के आश्रम के समान कण्व के आश्रम में भी बालिकाएँ घड़े लिये वृक्ष सींचती मिलती हैं—

एतास्तपस्वि- कन्यकाः स्वप्रमाणानुरुपैः सेचनघटैः वलिपादपेभ्यः पयो दातुमित एवाभि वर्तन्ते।

तपस्वि- कन्यायें

कन्यायें बहुत सुन्दर हैं और कोमल भी। उनमें कुलपति की पुत्री भी है। उसकी सखी कहती है कि शायद कुलपति को ये वृक्ष तुमसे भी अधिक प्यारे हैं। तभी तो नवमालिका के फूल जैसी कोमल होने पर भी तुम्हें इस काम ने लगा दिया है। इस पर वह उत्तर देती है—ण केवलं ताद निओओ एव्व, अत्थि मे सोदर सणेहो एदेसु।

इससे दो बातें सूचित होती हैं—(१) आश्रमों में वृक्ष सींचने का काम कन्याओं को सौंपा जाता था और यह कार्य प्रत्येक कन्या को, चाहे वह कोमलाङ्गी कुलपति-दुहिता ही क्यों न हो, करना पड़ता था। (२) आश्रम में वृक्षों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवार-जनों जैसा स्नेह प्राप्त होता था। आश्रमों में बालिकायें भी वल्कल पहनती थीं। शकुन्तला के लिये कहा ही है—

इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी

किमिवहि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥ शाकु० १-१७

तपस्वि- कन्याओं के साथ अविनय पूर्वक आचरण करने वाला राजदण्ड का अधिकारी माना जाता था। इन कन्याओं में अनेक आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई सारा जीवन अरण्य वास में ही बिता देती थीं। इसीलिये दुष्यन्त प्रश्न करता है कि क्या शकुन्तला विवाह न होने तक ही कामवेग को नियन्त्रित रखती हुई वैखानस धर्म का पालन करेगी अथवा आजीवन हरिणाङ्गनाओं के साथ वन में रहेगी—

वैखानसं किमनया व्रत माददानाद्

व्यापार- रोधि मदनस्यनिषेवितव्यम्।

अत्यन्तमेव मदिरेक्षण- वल्लभाभि

राहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः। शाकु. १-२३

अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक होकर कहता है—

कः पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम्।

अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्वि- कन्यासु॥ वही १-२१

आश्रम में आने वाले विशिष्ट अतिथियों का स्वागत पादोदक और अर्ध्य से किये जाने की प्रथा थी। दुष्यन्त का स्वागत फलमिश्र, अर्ध्य से किया गया था। सामान्यतया मधुमिश्र अर्ध्य देने का चलन था। यों मधुर वाणी भी सत्कार के लिये पर्याप्त मानी जाती थी—

अनसूया—"हला सउन्दले ! गच्छ उडअं। फलमिस्स अग्घं उवहरा। द्रदंपादोदअं भविस्सदि।" राजा—भवतीनां सूनृतयैव गिरा कृतमातिथ्यम्॥

वैखानस उटजों या पर्णशालाओं में रहते थे जिनके समीप ही वे बिना जोते उत्पन्न होने वाले नीवार बो लेते थे। सामान्यतया यह काम भी बालक-बालिकायें ही करते थे। तभी न शकुन्तला की विदा वेला में कण्व कहते हैं—

शममेष्यति मम शोकः कथंनुवत्से त्वया रचित- पूर्वम्।

उटजद्वार- विरुढं नीवर- वलिं विलोकयतः॥ शाकु. ४-२१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिर भी वह तपोनुष्ठान में उपरोध नहीं आने देते और बेटी की विदा में इसीलिये शीघता करते हैं कि उनके तपोनुष्ठान में वाधा न हो—'वत्से ! उपरुध्यते तपोऽनुष्ठानम् ।' वैखानसों का शरीर तपश्चरण के कारण क्षीण रहता था। शकुन्तला कहती है—"तवच्चरण पीडिदं तादसरीरं, ता मा अदिमेत्तं मम किदे उक्कण्ठिदुम् ।"

आश्रमों का महत्त्व

कालिदास के आश्रम तपोदीप्त हैं । उनमें उदासी या मालिन्य की छाया नहीं है । उच्च वर्णों के लोग जीवन का प्रथम काल विद्योपार्जन के लिये आश्रमों में व्यतीत करते थे । विद्यार्थी प्रात: से ही विभिन्न नैत्यिक विधियों के द्वारा चेतना का संचारण करने लगते थे । दिलीप की नींद तो विद्यार्थियों के प्रातरध्ययन स्वरों ने ही खोली थी—तच्छिष्याध्ययन निवेदितावसानां संविष्ट: कुशशयने निशां निनाय । रघु. १-९८ । आयु का मध्य भाग घर पर बिताकर वे पुन: आश्रम में लौट आते थे । इसीलिये कण्व शकुन्तला को सान्त्वना देते हुये कहते हैं—

भूत्वा चिराय चतुरन्त- मही- सपत्नी

दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य

भर्त्रा तदर्पित-कुटुम्व-भरेण सार्धं

शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेस्मिन्। शाकु. ४-२०

विलासी राजा पुरुरवा भी पुत्र प्राप्ति के पश्चात् वन गमन का निश्चय करता है—

अहमपि तव सूनावद्य विन्यस्य भारं

विचरित- मृग- यूथात्याश्रयिष्ये वनानि। विक्रमो. ५-१७

और इक्ष्वाकुवंशीय राजा तो पुत्र को राज्य सौंप कर सपत्नीक आश्रम वास को चले जाते थे । रघुवंशियों में इसके अपवाद बहुत कम थे ।

अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे

नृपति- ककुदं दत्वा यूने सितातपवारणम्।

मुनिवनतरूच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये

गलित- वयसामिक्ष्वाकूणामिदं हिकुलव्रतम्॥ रघु. ३-७०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिदास ने रघुवंश के प्रारम्भ में रघुओं के जिस वैशिष्ट्य "वार्धके मुनिवृत्तीनाम्" का उल्लेख किया है उसका स्मरण वह वार वार दिलाते चले हैं—

'नहि सति कुलधुर्ये सूर्य- वंश्या गृहाय' ७-७। तथा

गुणवत्-सुत-रोपितः- श्रियः परिणामेहि दिलीपवंशजाः।

पदवीं तरुवल्क- वाससां प्रयताः संयमिनां प्रपेदिरे। रघु. ८-११

समाजके संरक्षक आश्रम

ये आश्रम ही थे जिनकी छाया में विपद्- ग्रस्त राज्य- लक्ष्मी सदा आश्रय पाती रही। और जिनके सांनिध्य में अनेक चक्रवर्ती सम्राटों के शैशवने तुतलाना सीखा। माताओं—परित्यक्ता माताओं का पावित्र्याभिषेक भी इन्हीं आश्रमों में होता रहा और यहीं उनके बालकों के जातकर्म से लेकर गोदान तक के संस्कार सम्पन्न हुए। पुरुरवा और उर्वशी के पुत्र आयुष् का शरणदाता च्यवनाश्रम था जिसके विषय में आश्रमवासिनी तापसी ने बताया—"सुणादु महाराओ। एसो दीहाऊ आऊ जादमेत्तो एव्व उव्वसीए किंवि णिमित्तमवेक्खिअ मम हत्थे णासीकिदो। जंखत्तिअस्य कुलीणस्य जाद कम्मादि विहणं तं से तत्त भवदाचवणेण सव्वं अणुटिठदम्। गिहीदविज्जो धणुव्वेदे अविणीदो।" अर्थात् महाराज सुनिये। पैदा होते ही इस चिरंजीव आयुष को उर्वशी ने कुछ सोच कर मेरे पास न्यास के रूप में रख दिया। और कुलीन क्षत्रिय के जो जात कर्म आदि संस्कार होते हैं वे सब पूज्य च्यवन ने किये। इसे पढ़ाया लिखाया और धनुर्वेद में भी प्रशिक्षित किया। इस विद्या का ही फल था कि उसने स्वल्प आयु में ही अपने वाण से उड़ते हुए गृध्र को मार गिराया—

कुमारस्यायुषो वाणः संहर्ता द्विषतायुषाम्। विक्रमो. ५-७

वह आश्रम में ऋषि कुमारों के साथ नित्य पुष्प, समिधायें और कुश लेने जाता फिर भी उसका क्षत्रिय रक्त समय पर प्रकट ही हुआ—"गृहीतामिषः किल गृध्रः आश्रमपाद शिखरे निलीयमानो लक्ष्यीकृतो वाणस्य" विक्रमो. अंक ५। आयुष् तव तक आश्रम में रहा जब तक वह कवच पहनने योग्य नहीं हो गया—

"वच्छे। गिहिद विज्जो आऊ संपदं कवचारूहो संवुत्तो।" वही ५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही स्थिति शकुन्तला की हुई। पति द्वारा परित्याग के अनन्तर महर्षि मारीच के आश्रम में उसे शरण मिली। मारीच ने उसके पुत्र भरत के जात- कर्मादि संस्कार किये। वह दुष्यन्त से कहते हैं—

"वत्स ! कच्चिदभिनन्दितस्त्वया विधिवदस्माभिरनुष्ठित- जातकर्मा पुत्र एष शाकुन्तलेयः।"

और यहाँ भी दुष्यन्त कहता है—अस्त्येतत् पौरवाणां कुलव्रतम्।

भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थ मुशन्ति ये निवासम्।

नियतैक- पतिव्रतानि पश्चात् तरुमूलानि गृहीभवन्ति तेषाम्।। शाकु. ७-२०

यही बात सीता के सम्बन्ध में हुई। राम के द्वारा निर्वासित गर्भवती सीता को बाल्मीकि ने अपने आश्रम में उसी प्रकार शरण दी जिस प्रकार महर्षि मारीच ने शकुन्तला को दी थी। उन्होंने सीता के पुत्रों के जात कर्मादि संस्कार किये और उन्हें पढ़ा लिखाकर राम को सौंप दिया—

सरवा दशरथस्यापिजनकस्य च मन्त्रकृत्।

संचस्कारोभय- प्रीत्या मैथिलेयौ यथाविधि।। रघु. १५-३१

सतौ कुशलवोन्मृष्ट-गर्भक्लेदौ तदाख्यया।

कविः कुशलवावेव चका किल नामतः।। वही ३२

साङ्गंचवेदमध्याप्य किञ्चिदुत्क्रान्त- शैशवौ।

स्वकृतिं गापयामास कवि- प्रथम- पद्धतिम्।।

शकुन्तला के समान सीता भी मुनि के आश्रम में समस्त नियमों का पालन करती हुई रही। वह भी वहाँ उटज में रहती, पुष्प-फल और नीवारादि लाती, घट भर भर कर वृक्षों को सींचती, वल्कल धारण करती, नियमाभिषेक करती, अतिथि सत्कार करती और स्वयं कन्दमूल फलों से जीवन- निर्वाह करती रही—

पयोघटैराश्रमवाल- वृक्षान् संवर्धयन्ती स्ववलानुरुपैः।

तत्राभिषेक- प्रयता वसन्ती प्रयुक्तपूजा- विधिनातिथिभ्यः।

वन्येन सा वल्कलिनी शरीरं पत्युः प्रजासन्ततये वभार। रघु. १४-७८, ८२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके उटज में इङ्गुदी तेल का दीपक जलता था और पवित्र मृगचर्म सोने के लिये बिछा था—

ता इङ्गुदीस्नेह- कृतप्रदीपमास्तीर्ण- मेध्या जिन- तल्पमन्तः ।

तस्यै सपर्यानुपदं दिनान्ते निवासहेतोरुटजं वितेरुः । वही ८१

रघु अपने पुत्र अज के द्वारा रो रोकर अनुरोध करने से दूर वन को तो नहीं गये किन्तु नगर- वास उन्होंने छोड़ दिया और अन्तिम आश्रम को स्वीकार कर निःस्पृह भाव से योग साधना करने लगे—

(अजः) पितरं प्रणिपत्य पादयोरपरित्यागमयाचतात्मनः । रघु. ८-१२

स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद् वहिः ।

समुपास्यत पुत्रभोग्यया स्नुषयेवाविकृतेन्द्रियः श्रिया । वही १४

आश्रमों की प्रतिष्ठा

यही कारण था कि इन आश्रमों के प्रति, जिनकी गोद में चक्रवर्तित्व पलता था, राज्य संस्थाओं की ही नहीं, सामान्य सामाजिक की भी दृष्टि बड़ी श्रद्धापूर्ण थी । आश्रम के सामान्य विद्यार्थी के साथ आदरपूर्ण व्यवहार किया जाता था । शाकुन्तल के पञ्चम अंक में जैसे ही कञ्चुकी राजा को सन्देश देता है कि हिमगिरि की उपत्यका के अरण्य में रहने वाले तपस्वी कण्व का सन्देश लेकर आये हैं तो राजा सहसा चौंककर पूंछता है—क्या कण्व के सन्देश वाहक ? और तुरन्त आदेश देता है कि उपाध्याय सोमरात से कहो कि उनके स्वागत की व्यवस्था श्रौत विधि से करें । मैं भी यज्ञशाला में आकर उनके दर्शन करता हूँ—"तेनहि मद्वचनाद्विज्ञाप्यता मुपाध्यायः सोमरातः- अमूनाश्रमवासिनः श्रौतेन विधिना सत्कृत्य स्वयमेव प्रवेशयितुमर्हतीति । अहमप्येतांस्तपस्विदर्शनोचिते प्रदेशे स्थितः प्रतिपालयामि ।" और तपस्वी जनों का अभिवादन कर वह पहला प्रश्न करता है—"अविपिनिर्विघ्नतपसो मुनयः ?" वह मन ही मन सोचता है कि क्याकिन्हीं विघ्न कारियों ने व्रती तपस्वियों के तप में वाधा पहुँचायी है ? या धर्मारण्य में रहने वाले प्राणियों के साथ किसी ने असद् व्यवहार किया है ? या मेरे किन्हीं दुष्कर्मों के कारण इनके वृक्षों में फल नहीं लगे हैं ? यह चिन्ता स्वाभाविक है क्योंकि आश्रमों की रक्षा का दायित्व राज्य पर था । आश्रम अपनी उपज का छठा भाग निकाल कर राज्य के लिये पृथक् रख देते थे । इस समय राज्य प्रजा से उसकी उपज का षष्ठांश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर के रूप में वसूल करता था। जब नन्दिनी दिलीप को अपना दुग्ध पीने का आदेश देती है—दुग्ध्वा पय: पत्रपुटे मदीये पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश (रघु. २-६५) तो दिलीप कहता है कि पहले आपका वत्स पीले, और फिर होम के लिये आवश्यक भाग निकाल लिया जाय। फिर जो कुछ बचेगा, उसे ऋषि, की आज्ञा लेकर मैं पी लूँगा क्यों कि अपने द्वारा संरक्षित पृथिवी की उपज का छठा भाग लेने का मुझे अधिकार है—

वत्सस्य होमार्थ- विधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः।

औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः ।रघु. २-६६

किन्तु सामान्य नागरिकों की षष्ठांश वलि तथा आश्रमों के षष्ठांश में बड़ा अन्तर है। यदि आश्रम सुखी और रक्षित हों तो उनके तप के फल का षष्ठांश राजा को प्राप्त होता है। इसीलिये शाकुन्तल के द्वितीय अंक में दुष्यन्त ने कहा है कि इन आश्रम वासियों के रक्षण से जो वलि- भाग मुझे मिलता है वह रत्नराशि से भी अधिक मूल्यवान है। रत्न राशि तो नष्ट हो जाती है किन्तु इनसे तो मुझे इनके तप का जो षष्ठांश प्राप्त होता है, वह अक्षय्य है—

राजा—अन्यद् भागधेयमेतेषां रक्षणे निपतति, यद् रत्नराशीनपि विहायाभिनन्द्यम्।

पश्य— यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम्।

तपः- षड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः।। २-१३

शान्त वातवरण

आरण्यक तपस्वी अपनी सरल, शान्त वृत्ति में ही सन्तुष्ट रहते थे। उनके लिये नगर में आना एक प्रकार का दण्ड था। कहाँ एकान्त, प्राकृतिक वातावरण और कहाँ नगर का कोलाहल ! इसीलिये अभिज्ञान शाकुन्तल में शाङ्र्गरव कहता है कि यद्यपि यहाँ कुछ भी दूषित नहीं है। राजा और प्रजा सब मर्यादानुकूल आचरण वाले हैं। फिर भी निर्जन में रहने का अभ्यस्त होने के कारण इस भीड़भाड़ में ऐसा लग रहा है जैसे आग से जलता घर हो।

महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरहो,

न कश्चिद् वर्णानामपथमपकृष्टोपि भजते।

तथापीदं शश्वत् परिचित- विविक्तेन मनसा,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनाकीर्णं मन्ये हुतवह- परीतं गृहमिव ।। शाकु. ५-१०

ये लोग निर्भय हैं और स्वाभिमानी भी । इसीलिये जब राजा कहता है कि पशु पक्षियों तक की स्त्रीजाति बिना पढ़े लिखे ही चालाक होती है, फिर उनमें जो पढ़ी लिखी मानुषी हों, उनका तो कहना ही क्या ?

स्त्रीणामशिक्षित- पटुत्वममानुषीषु संदृश्यते किमुत याः प्रतिवोधवत्यः ।

शाकु. ५-२२

इस पर यह तापस तुरन्त वोल उठता है—

आजन्मनः शाठ्यमशिक्षितो यस्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य ।

परातिसन्धानमधीयते यै र्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः ।वही २५

वाह यह खूब रही ! जिसने बचपन से कभी धूर्तता नहीं जानी उस व्यक्ति की बात अप्रामाणिक ! और (आप जैसे) जिन लोगों ने दूसरों के ठगने को राजनीति विद्या के रूप में सीखी वे विश्वसनीय, सत्यवादी !

तापसों का सम्मान

तापसों का इतना सम्मान था कि राजा हो या रानी, देखते ही आसन से उठकर उन्हें प्रणाम करता था । इसीलिये कञ्चुकी जब पुरुरवा को च्यवनाश्रमवासिनी तापसी के आने की सूचना देता है तो उसके मुख से यही निकलता है—भगवति ! अभिवादये । उर्वशी आती है तो वह भी झुककर बोलती है—आर्ये ! पादवन्दनं करोभि । बड़े से बड़ा काम हो, ये लोग नियमातिक्रमण नहीं होने देते । तापसी कुमार को सौंप कर तुरन्त पुरुरवा से कहती है—तद् युष्माभि र्विसर्जितमात्मानमिच्छामि । उपरुध्यते मे आश्रमधर्मः । विक्रमो. अंक ५ । और राजा तथा उर्वशी उसे विदा करके कहते हैं—तत्र भवतेच्यवनाय मम प्रणाममावेदयिष्यसि । च्यवन, वसिष्ठ और कण्व का कालिदास की कृतियों में महत्त्वपूर्ण स्थान है किन्तु वाल्मीकि और कश्यप का स्थान भी अत्यन्त गौरवशाली है । प्रथम को लव कुश और द्वितीय को भरत का गुरु होने का गौरव प्राप्त है ।

मारीच आश्रम

मारीच स्वयंभू ब्रह्मा के मानस पुत्र थे और कश्यप मरीचि के पुत्र । कश्यप की गणना प्रजापतियों में की जाती है । उनसे तथा उनकी पत्नी अदिति से सृष्टि का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आरम्भ माना जाता है। वे दोनों हेमकूट पर तप करते थे। हेमकूट किम्पुरुषों का मर्यादा पर्वत है और सिद्धों की तपःसिद्धि- भूमि। शाकु. में कहा है—

स्वायम्भुवान्मरीचेर्यः प्रबभूव प्रजापतिः।

सुरासुर- गुरुः सोऽत्र सपत्नीकस्तपस्यति। शाकु. ७-९

इसी हेमकूट शिखर पर मेनका ने अपनी विप्रोषिता पुत्री को ले जाकर रखा था। राजा जब मारीच आश्रम के विषय में पूछता है तो मातलि हाथ से दिखाकर कहता है कि यह मारीच का आश्रम है जिसमे देवी, अदिति द्वारा संवर्धित मन्दार के वृक्ष खड़े हैं। राजा आश्रम को देखकर कहता है—"स्वर्गादधिकतरं निर्वृत्ति स्थानम्।" वह मारीच के भी दर्शन करता है जिनके शरीर का निम्न अर्ध भाग वल्मीक (चीटियों के द्वारा बनाये मृत्तिका के स्तूप) ने ढँक रखा है। वक्षः स्थल सर्प की केंचुली से आवृत है। कण्ठ सूखे लता तन्तुओं से जकड़ा हुआ है। जटायें कन्धों पर लटकी हैं और उनमें पक्षियों ने घोंसले बना लिये हैं। सूर्य की ओर मुख किये वह स्थाणु के समान अचल बैठे हैं—

वल्मीकार्ध- निमग्न- मूर्ति रूरसा संदष्ट- सर्प- त्वचा,

कण्ठे जीर्ण- लता- वितान वलयेनात्यर्थ–संपीडितः।

अंसव्यापि शकुन्तनीडनिचितं विभ्रज्जटामण्डलं

यत्र स्थाणु रिवाचलो मुनिरसावभ्यर्क-विम्वं स्थितः।शाकु.७-११

और उन्हें यह कहकर प्रणाम करता है—नमोस्मै कष्ट– तपसे। इन्हीं लम्बी जटाओं वाले तपस्वियों को लक्ष्य कर विदूषक उनका उपहास भी करता है। वह दुष्यन्त से कहता है कि शकुन्तला को संकट से उवारिये। कहीं ऐसा न हो कि वह किसी इङ्गुदी तेल की मालिश से चिकने घुटे सिर वाले तापस के हाथ में पड़ जाय–"तेणहिलहु परित्ताअदुणं भवं। मा कस्सवि तवस्सिणे इङ्गुदी तेल्लमिस्स चिक्कण-सीस्सस्स आरण्णअस्स हत्थे पडिस्सदि"। एक स्थान पर जब राजा शकुन्तला का चित्र बनाने के लिये पृष्ठभूमि की चर्चा करता है तो भी वह व्यंग्य पूर्वक कहता है कि मैं तो समझता हूँ कि तुम चित्रफलक का सारा स्थान लम्बी दाढ़ी मूछों वाले तापसों से भर दो।

जह अहंदेक्खामि, पूरिदव्वंणेनं चित्तफलअंलम्बकुच्चाणं तावसाणं कदम्वेहिं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु विदूषक तो आखिर विदूषक है । दुष्यन्त मारीचाश्रम को देखकर आनन्द से पागल हो उठता है और कहता है कि यह तो वह स्थान है जिसे पाने के लिये अन्य मुनि तपश्चरण करते हैं । यहाँ सुन्दर कल्पवृक्षों के वन हैं फिर भी ये लोग वायुभक्ष हैं अर्थात् केवल प्राणधारण भर को वायु सेवन कर जीवित रहते हैं । वायु ही इन का आहार है । स्वर्ण कमलों की रेणु से पीत दिखने वाले जल में इनके स्नान तथा नैत्यिक धर्म-कार्य सम्पन्न होते हैं । रत्न शिलाओं पर बैठकर ये लोग ध्यान करते हैं और देवाङ्गनाओं का सान्निध्य होने पर भी इन्द्रियों पर संयम रखते हैं । विश्वामित्र आदि मुनि इस स्थान को पाने के लिये तप करते हैं और ये यहाँ इच्छापूरक कल्पवृक्ष, काञ्चन कमल, रत्न शिला, देवाङ्गना आदि सब कुछ प्राप्त रहने पर भी तापस जीवन व्यतीत करते हैं । मारीच के अतिरिक्त यहाँ वृद्ध शाकल्य का भी निवास है । वह बतलाते हैं कि इस समय महर्षि मारीच अन्य महर्षियों की पत्नियों के साथ बैठी उनकी पत्नी दाक्षायणी अदिति पातिव्रत्य विषयक प्रश्नों का उत्तर समझा रही है । यहीं मार्कण्डेय मुनि का भी वास है । जिनका बालक मयूर के खिलौने से खेल रहा है । और यह मारीच तथा अदिति की जोड़ी ? यह द्वादश रूपों में स्थित सूर्य की जनक है । इसी से यज्ञाहुतियों के प्रथम अधिकारी इन्द्र की उत्पत्ति हुई है और इन्हीं से ब्रह्मा से ही बड़े पुरुषोत्तम ने जन्म पाया है । शकुन्तलम् से पता चलता है कि महर्षि कण्व मरीचि के सगोत्र थे ।

प्राहुर्द्वादशधा स्थितस्य मुनयो यत्तेजसः कारणम्,

भर्तारं भुवनत्रस्य सुषुवे यद्यज्ञभागेश्वरम् ।

यस्मिन्नात्मभुवः परोपि पुरुष श्चक्रेभवायास्पदम्,

द्वन्द्वं दक्ष- मरीचि- संभवमिदं यत्स्रष्टुरेकान्तरम् ।। शाकु. ७-२७

मारीच अपने शिष्यगालव को आकाश मार्ग से भेज कर कण्व को शकुन्तला-भरत-दुष्यन्त के मिलन की सूचना दिलाते हैं ।

कालिदास ने आश्रमों की प्रतिष्ठा के संवर्धन के लिये यथाशक्ति यत्न किया है और उन्हें श्रान्त राजन्य की शरण स्थली कहा है । उन्होंने दुष्यन्त के मुख से कहलाया है—'अस्त्येतत् पौरवाणामन्त्यं कुलव्रतम्—

भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थमुशन्तिये निवासम् ।

नियतैक- प्रतिव्रतानि पश्चात् तरुमूलानि गृहीभवन्ति तेषाम् ।। शाकु. ७-२०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तापस और नृपति

कालिदास के संसार में आश्रम के बिना पत्ता नहीं हिलता । रघुवंश के नाल विस्तार में आश्रम ही कारण है । वसिष्ठाश्रम में निवास और गोसेवा का परिणाम ही थे रघु. जो इस वंश के प्रवर्तक हुये । कालिदास ने राम की अपेक्षा कहीं अधिक प्रतिभा और ममत्वका व्यय इनके जीवन- चरित्र के वर्णन में किया है । दिग्विजय के पश्चात् रघु विश्वजित् अध्वर (पशु वलि रहित यज्ञ) करते हैं । यह यज्ञ सर्वस्व-दक्षिण है जिसके अन्त में सम्राट् के पास मृन्मयपात्र मात्र शेष रह जाता है । इसी बीच वरतन्तु का शिष्य कौत्स गुरु दक्षिणा के लिये चौदह करोड़ सुवर्ण- मुद्रायें माँगने उनके पास जाता है । यह संख्या काल्पनिक प्रतीकात्मक है । वरतन्तु गुरु-दक्षिणा लेना नहीं चाहते थे और कौत्स वार वार उनसे आग्रह करता जा रहा था । तब क्रोध में उनके मुख से निकल गया कि बहुत अनुबन्ध करते हो तो लाओ चौदह कोटि स्वर्ण—अर्थात् सीखी हुई चौदह विद्याओं मे से प्रत्येक के लिये एक कोटि । कौत्स इतनी मुद्रायें कहाँ से लाता । आखिर सबके शरणभूत सम्राट् के पास गया किन्तु वह भी थे रिक्त- पाणि । फिर भी उन्होंने उसे निराश नहीं जाने दिया । दो दिन अपनी यज्ञ शाला में ठहराया और इस बीच कुबेर को धमका कर उनके कोष से धन लिया और फिर वह समस्त राशि कौत्स को दे दी । कौत्स चौदह करोड़ से अधिक न लेने पर अडे थे और सम्राट् उससे अधिक देने पर तुले थे । अन्त में उस 'उष्ट्र- वामी- शत- वाहितार्थ" को लेकर कौत्स चले गये और जाते जते उन्हें पुत्रवान् होने का आशीर्वाद दे गये जिसके फल स्वरूप अज का जन्म हुआ—

"जनस्य साकेत- निवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ ।

गुरु- प्रदेयाधिक- निःस्पृहोर्थी नृपोर्थिकामादधिक- प्रदश्च ।।"

तथा—

पुत्रं लभस्वात्म-गुणानुरूपं भवन्तमीड्यं भवतः पितेव ।।रघु.३१,३४

यह वृत्तान्त अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण है और आश्रम वासियों के प्रति राज्य के मन में स्थित महती सम्मान- भावना को स्पष्ट करता है किन्तु इससे भी बढ़कर महत्त्व पूर्ण है सम्राट् द्वारा ब्रह्मचारी के प्रति प्रदर्शित शिष्टाचार और आश्रम की चिन्ता जो अधोलिखित श्लोकों में व्यक्त हुई है—

तमर्चयित्वा विधिवद् विधिज्ञ स्तपोधनं मानधनाग्रयायी ।

विशांपतिर्विष्टरभाजमारात् कृताञ्जलिः कृत्यविदित्युवाच ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अप्यग्रणी र्मन्त्रकृता मृषीणां कुशाग्र- बुद्धे कुशली गुरुस्ते ?
यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं चैतन्यमुग्रादिव दीक्षितेन ॥
कायेन वाचा मनसापि शश्वत् यत्संभृतं वासव- धैर्य- लोपि ।
आपाद्यते न व्ययमन्तरायैः कच्चिन्महर्षे स्त्रिविधं तपस्तत् ॥

रघु. ५-३,४,५

सम्राट् शास्त्रीय विधानों का ज्ञाता था । उसने शास्त्रीय विधि के अनुसार ब्रह्मचारी की अर्चना की । उसे अपने समीप उच्च आसन पर बिठाया और हाथ जोड़कर बोले—हे कुशाग्र बुद्धे ! आपके गुरु मन्त्रकर्ताओं में अग्रणी हैं । आपने उन से समस्त ज्ञान प्राप्त किया है । वे आपके गुरु कुशली तो हैं ? महर्षिवरतन्तु ने मन, वाणी और कर्म से इतना तप संचित कर लिया है कि वासव इन्द्र भी उससे घबराता है । किन्हीं विघ्नों से उनके उस त्रिविधतप को हानि तो नहीं पहुँच रही है ?

और फिर व्यक्तिगत कुशल प्रश्न के बाद वह आश्रम की चिन्ता करते हुये कहते हैं ।

आधार-बन्ध-प्रमुखैः प्रयत्नैः संवर्धितानां सुतनिर्विशेषम् ।
कच्चिन्न वाय्वादिरुपप्लवो वः श्रमच्छिदामाश्रमपादपानाम् ॥ रघु. ५-६
क्रिया-निमित्तेष्वपि वत्सलत्वादभग्न-कामा मुनिभिः कुशेषु । वही ७
निवर्त्यते यैर्नियमाभिषेको येभिर्मिर्निवापाञ्जलयः पितृणाम् ।
तान्युञ्छ-षष्ठाङ्कित्त-सैकतानि शिवानि वस्तीर्थ-जलानि कच्चित् ।वही ८
नीवार-पाकादि कडङ्गरीयैरामृश्यते जानपदैर्न कच्चित् ।
कालोग्रपन्नातिथि-कल्प्यभागं वन्यं शरीर-स्थिति-साधनंवः । वही ९

आप लोगों ने जिन वृक्षों और पौधों को आलवाल (थाला) तथा नालियाँ बना कर सींचा और पुत्रों के समान बड़ा किया है, जिनकी छाया में सब थकावट दूर करते हैं उन आश्रम पादपों को आँधी आदि से क्षति तो नहीं पहुँच रही है ? मृगियों के बच्चे, जिनके सूखे नाल तापसों और उनकी पत्नियों की गोद में ही गिरते हैं और यज्ञादि कार्यों के लिये आवश्यक कुशों को भी जववे खाने जाते हैं तो प्यार के कारण मुनि लोग जिन्हें नहीं रोकते, वे मृगशावक तो निरापद है ? आपके तीर्थ (तड़ाग यानदी) का जल तो स्वास्थ्यकर है ? आप लोगों के नित्य स्नानादिकार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसी से संपन्न होते हैं और उसी से आप पितरों का तर्पण करते हैं। उन्हीं के पास पुलिनों या वालुका पर आप लोग अपनी उपज का छठा भाग अयाचित ही राजवलि के रूप में रख देते हैं। वे जल शुद्ध तो है ? नगर या गाँव के पशु आप लोगों के पके पकाये नीवारादिधान्यो को चर तो नहीं जाते ? क्योंकि वे ही आप लोगों के शरीर धारण के साधन हैं और उन्हीं से आप लोग अतिथि सत्कार कर पाते हैं।

सम्राट् के प्रश्न जिनका एक एक शब्द कालिदास ने पूरी सतर्कता और सोद्देश्यता से चुना है, उनकी आश्रम सम्बन्धी छोटी से छोटी बात के प्रति भी चिन्ता को प्रकट करते हैं। और कौत्स का स्वागत करते हुये भी वह उसके तथा उसके आगमन के विषय में चतुराई के साथ सब कुछ जान लेना चाहते हैं। इसीलिये पूछते हैं कि क्या महर्षि ने चित्त से तुम्हें भलीभाँति पढ़ा लिखा कर और फिर आश्रम छोड़कर घर जाने की अनुमति दी है ? वैसे यह समय तुम्हारे लिये सर्वोत्तम गृहाश्रम में प्रविष्ट होने के लिये उपयुक्त है। पूज्यवर ! आपके आने मात्र से मेरा मन नहीं भरा। मैं चाहता हूँ कि आप कुछ आदेश करें। बतलायें कि आप स्वयम् अपनी इच्छा से या गुरु की आज्ञा से मुझे सम्मान प्रदान करने दूर वन प्रदेश से यहाँ आये हैं—

अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग् विनीयानुमतो गृहाय ?

कालो ह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकार- क्षममाश्रमंते ॥

तवार्हतो नाभिगमेन तृप्तं मनो नियोगक्रिययोत्सुकं मे ।

अप्याज्ञया शासितुरात्मना वा प्राप्तो ऽसि संभावयितुं वनान्माम् ।रघु.५-१०,११

कालिदास और आश्रम व्यवस्था

कालिदास आश्रम व्यवस्था के वेहद समर्थक थे। उन्हें बौद्ध धर्म के पतन के कारणों की जानकारी थी। वह जानते थे कि गृहस्थ आश्रम की उपेक्षा कर केवल श्रमण और भिक्षु आश्रमों को प्रधानता देने का क्या कुपरिणाम हुआ था। किस प्रकार पाटलिपुत्र के राजमार्ग पर भिक्षाटनकरते तीन तीन हजार भिक्षुओं को देख जनता भयभीत हो उठती थी और किस प्रकार बौद्ध विहार भिक्खुओं और भिक्खुनियों के बीच चारित्रिक परिवादों के केन्द्र बन गये थे। इसलिये उन्होंने द्वितीय आश्रम को 'सर्वोपकार- क्षम' कहकर उस का गौरव बढ़ाया। गृह त्याग पर उन्होंने भी बल दिया था किन्तु दाम्पत्य तथा अन्य लौकिक सुख भोग कर, सन्तान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तन्तु का विस्तार कर, एवं वंश को अविच्छिन्न बना कर । सन्तानोंत्पत्ति को उन्होंने महान् कर्तव्य प्रतिपादित किया और सपत्नीक वानप्रस्थ का समर्थन किया । उनके सारे ऋषि और मुनि गृहस्थ हैं । आश्रमों में पत्नियाँ उनके साथ हैं । पुत्र-पुत्रियाँ भी हैं । कारुण्य बौद्ध विहारों से भी कहीं अधिक वहाँ है । 'तदङ्क शय्याच्युत- नाभि-नाला' से बड़ा प्रमाण भला और क्या हो सकता है—

यस्य त्वया व्रण-विरोपणमिङ्गुदीनां

तैलं न्यषिच्यत मुखे कुश-सूचिविद्धे।

श्यामाक-मुष्टि-परिवर्धितको जहाति

सोयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते। अभि. ४-१४

विश्व साहित्य में कोमल भावना का इससे बढ़ कर चित्रण अन्यत्र कहीं नहीं है । हरिणशावक की माता बच्चे को जन्म देकर मर गयी है । एक आश्रम कन्या फोहे से दूध पिला कर उसे पालती है । जब चलने योग्य होता है तो स्वभाव के अनुसार कुशों के अंकुर कुतर कुतर कर खाने लगता है । कुशों की नोक कँटीली होती है और मृगपोत की जीभ में चुभकर घाव कर देती है । तब वह कन्या इङ्गुदीका तेल लगा लगा कर उसके व्रण का उपचार करती है । कुछ और बड़ा होता है तो अपनी मुट्ठी में नीवार या श्यामक के दाने ले कर उसे खिलाती और बड़ा करती है । वही वालिका जब ससुराल के लिये विदा लेती है तो वह मृगपोतक उसका आँचल पकड़कर उसे जाने से रोकता है ।

तो ये हैं कालिदास के आश्रम—स्वस्थ संन्यस्त जीवन के प्रतीक, पत्नी के सांनिध्य में संयम के समर्थक, स्वावलम्बी, स्वाभिमानी, राजसत्ता के संकटों के निवारणकर्ता, सामाजिक नियमों के प्रवर्तक और लोक मर्यादा के संस्थापक । कालिदास इनके कट्टर पक्षधर हैं ।

यज्ञ- संस्था और वैदिक यज्ञ- परम्परा

कालिदास वैदिक यज्ञ- संस्था के प्रति अत्यन्त आस्थावान् हैं । जिस प्रकार उनकी रचनाओं में पद पद पर पौराणिक सन्दर्भ मिलते हैं, उसी प्रकार याज्ञिक प्रसंग भी । ये यज्ञ सत्र बहुवर्षीय भी हैं और नैत्यिक भी । आश्रम वासी तो प्रातः सायं दोनों समय यज्ञ की तैयारी करते मिलते हैं । समित् और कुश यज्ञ के साधन हैं । प्रातः काल से ही आश्रम वासी उन्हें लाने के लिये अरण्य की ओर चल देते हैं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुष्यन्त जब कण्व के आश्रम में प्रवेश करता है तो उसे सर्व प्रथम मिले वैखानस यही वात कहते हैं—

वैखा०—

राजन् समिदाहरणाय प्रस्थिता वयम्।

एष खलु कण्वस्य महर्षेरनुमालिनीतीरमाश्रमो दृश्यते। अभि. १-१३

तृतीय अंक के आरम्भ में भी यजमान शिष्य कुशों को लेकर ही प्रविष्ट होता है और कहता है—तावदिमान् वेदिसंस्तरणार्थं दर्भान् ऋत्विग्भ्य उपनयामि। शिष्य का ध्यान यज्ञ की ओर ही लगा रहता है। वह यज्ञवेला हो जाने की सूचना गुरु को देता है—यावदुपस्थितां होमवेलां गुरवे निवेदयामि (अभि. ४-३) यज्ञ में कष्ट-शान्ति के लिये तैयार किया हुआ शान्त्युदक भी एक शिष्य गौतमी को लेजाकर देता है—अहमपि तावद् वैतानिकं शान्त्युदकम्, अस्यै गौतमी- हस्ते समर्पयामि। अभि. ३-१। यज्ञ का इतना महत्त्व था कि पतिगृह के लिये विदा होती शकुन्तला को आचार्य कण्व यज्ञवेदी की परिक्रमा करने का आदेश देते हैं—"सद्यो हुताग्नीन् प्रदक्षिणीकुरुष्व" और प्रदक्षिणा करने पर वह ऋक् छन्द से आशीष देते हैं—

अमीं वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः समिद्वन्तो वेदिसंस्तीर्ण-दर्भाः।

अपघ्नन्तो दुरितं हव्य-गन्धैर्वैताना स्त्वां वह्नयः पावयन्तु। अभि. ४-८

यह ऋग्वेदीय त्रिष्टुप् छन्द है जिसके चार चरणों में से प्रत्येक में ११ वर्ण होते हैं। यह अति प्रसिद्ध ऋक्छन्द है। वैतानिक वह्नि यज्ञाग्नि को कहते हैं। आश्वलायनश्रौतसूत्र में कहा है—आहवनीयाद्यग्नीनां विस्तारे—वितानेन निर्वृत्तम्-ठक् प्रत्ययः। वैतानिके वितान- साध्ये अग्न्याधेयप्रभृतौ। अग्न्याधेय प्रभृतीन्याह वैतानिकानि। वितानेषु भवन्ति। वितान्यन्ते ऽग्नयो यस्मिन्। वस्तुतः वितान शब्द का अर्थ है फैलाव। यह शब्द तनु श्रद्धोपकरणयोः—उपसर्गाच्च दैर्ध्ये तथा तनुविस्तारे दोनों धातुओं से निष्पन्न हो सकता है और एक ही विस्तार अर्थ में। श्लोक का अर्थ है—इस वेदि के चारो ओर जिन्हें (घिष्ण्या) स्थान मिला है, जो समिधाओं से युक्त है और जिनके किनारे किनारे दर्भ बिछाये गये हैं, वे यज्ञाग्नियाँ दुरित का नाश करती हुई अपने हव्य की गन्धों से तुम्हें पवित्र बनायें। इस मन्त्र से समित् और कुशों के आहरण का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। यज्ञाग्नि द्वारा दुरित के नाश की कल्पना उत्तर वैदिक कालीन है, जब आथर्वणिक क्रिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कलापों की प्रतिष्ठा बहुत अधिक बढ़ गयी थी। पूर्व वैदिक काल में यज्ञाग्नि से स्वर्गादिफल की प्राप्ति का पता चलता है, दुरितापक्षय का नहीं।

दिलीप भी वसिष्ठ के आश्रम में प्रतिदिन यज्ञाग्नि की प्रदक्षिणा करते हैं—

'प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशं. . दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं भेजे। रघु.२-७१

इन्द्र और यज्ञ

यज्ञ के साथ वज्री इन्द्र का प्रमुख सम्बन्ध रहा है। रघुवंश में कहा है—'मखांशभाजां प्रथमो मनीषिभिस्त्वमेव देवेन्द्र सदा निगद्यसे। रघु. ३-४४। उसे प्रसन्न करने के लिये आहुति प्रस्तुत की जाती है। वह प्रसन्न होकर वर्षा प्रदान करता है। कालिदास इस वात को शाकुन्तल में दोहराते हैं—

भवतु तव विडौजाः प्राज्य- वृष्टिः प्रजासु

त्वमपि वितत- यज्ञो वज्रिणं प्रीणयालम्॥ शाकु. ७-३४

महर्षि मारीच का यह आदेश वैदिक मान्यता का ही एक अंग है। ऋग्० में इन्द्र और वृत्र के संघर्ष के प्रसंगों और इन्द्र के द्वारा वृत्रासुर के वध के सैंकड़ों उल्लेख विखरे हैं। इन्द्र धीरे धीरे देवों का और वृत्र असुरों का प्रतीक बन गया। यज्ञ की आहुति का तथा सुत सोम का प्रथम अधिकारी इन्द्र था और सोमपान कर ही वह उसके मद में वीरतापूर्ण युद्ध कार्य 'रण्यानि' करता था। अतः उसके शक्ति साधन यज्ञ को नष्ट करना असुरों ने अपना उद्देश्य बना लिया था। वे यज्ञ में विघ्न उत्पन्न कर उसे भ्रष्ट करना अपना कर्तव्य मानते थे। इस समय श्रौत कर्मों का प्रचार था। दुःष्यन्त कण्वाश्रम के तपस्वियों का स्वागत श्रौतविधि से किये जाने का निर्देश देता है उपाध्याय सोमरात को—'मद्वचनाद् विज्ञाप्यतामुपाध्यायः सोमरातः—अमूनाश्रम वासिनः श्रौतेन विधिना सत्कृत्य स्वयमेव प्रवेशयितुमर्हति। अभि. ५-५। श्रौत कल्पों में अर्घ्य, पाद्यादि के द्वारा अतिथि के स्वागत का विधान है। वह उन्हें यज्ञगृह के वरामदे ही ठहराता है— एषोभिनव- संमार्जन सश्रीकः संनिहित- होमधेनु रग्नि- शरणालिन्दः। अभि. ५-८। कवि को इस बात का ज्ञान था कि वैदिक युग में यज्ञ की धेनुयें पृथक् रहती थी जो यज्ञ तथा अतिथियों के लिये आवश्यक दुग्ध की पूर्ति करती थीं। यज्ञ क्रिया तो दुग्ध और आज्य के बिना निष्पन्न ही नहीं हो सकती थी। इसलिये अग्नि शरण (यज्ञ शाला) के साथ होमधेनु का अविच्छिन्न सम्बन्ध रहा है। रघुवंश की नन्दिनी गो भी यज्ञ- धेनु है—

अन्येद्युरात्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना मुनि- होम- धेनुः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रघु० २-२६

इस धेनु के दुग्ध पर प्रथम अधिकार उसके वत्स का और द्वितीय होम विधि का होता था। अन्य कोई इनसे बचे भाग का ही उपयोग कर सकता था।

वत्सस्य होमार्थ- विधेश्च शेषं गुरोरनुज्ञा मधिगम्य मातः।

औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः।रघु. २-६५

यज्ञ और देवता

देवता यज्ञवलि के सदा भूखे रहते थे। यज्ञाहुति ही उनका भोज्य थी। वे यह कामना करते रहते कि उन्हें हविष् प्रदान करने वाले समृद्ध रहें। इस बात को कवि ने सानुमती के मुख से शाकुन्तल में कहलाया है—

अवहा सुदं मए सउन्दलं समस्स सअंतीए महेंदजणणीए मुहादोण्णभा ओस्सुआ देवा एव्व तह अणुचिट्ठिस्संति जह अइरेण धम्म पदिणिं भट्टा अहिणं दिस्सदित्ति। ६-२५

सानुमती के अनुसार यह बात स्वयं महेन्द्र की माता अदिति ने कही थी। यज्ञ में वह शक्ति मानी जाती थी कि उसका नियत अनुष्ठान करने वाला मन्त्र साधक सीधे देवताओं से संपर्क कर सके। शकुन्तला के विषय में जब अनसूया पूछती है कि दुष्यन्त से उसके मिलन की बात ऋषि को किसने बतलायी, तो प्रियंवदा उत्तर देती है—

अग्गि- सरणं पविट्ठस्स शरीरं विणा छन्दोमईए वाणिआए—

दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः।

अवेहि तनयां व्रह्मन्नग्नि-गर्भां शमीमिव॥ अभि. ४-४

यहाँ अशरीरी वाणी ने कण्व को ब्रह्मन् कहा है। वैदिक युग में वेदविद् विद्वानों को ब्रह्मन् कहकर संबोधित करने की प्रथा थी। ब्रह्मन् का अर्थ है मन्त्र या ऋचा। तादात्म्य सम्बन्ध से उसके ज्ञाता को भी ब्रह्मन् कह दिया जाता है। वह संबोधन 'व्रह्म जानातीति' इस अर्थ में व्यवहृत ब्राह्मण शब्द से अधिक महत्त्वपूर्ण था। अग्नि- गर्भाशमी का सम्बन्ध भी वैदिक युग से है। यज्ञ की अग्नि जिन अरणियों (काष्ठ शकलों) को रगड़कर प्रज्वलित की जाती थी वे शमी वृक्ष की होती थीं। इन्हीं अरणियों से युक्त वृक्ष-समूह को अरण्य कहते हैं। इसने इस विश्वास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को जन्म दिया कि शमी में अग्नि रहती है जो रगड़ने पर प्रकट होती है । इस बात को ठीक इसी प्रकार (गर्भ) के प्रसंग में कवि ने रघुवंश में भी कहा है—

शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकां नृपः ससत्त्वां महिषीममन्यत। ३-९

यज्ञ और राक्षस

यज्ञ देवों के वल एवं तेजस् का संवर्धक माना जाता था और राक्षस उनके सहज शत्रु थे । इसी कारण राक्षस यज्ञों में विघ्न डालते थे । यज्ञ को पूर्ण होने देना अपने शत्रुओं को सबल बनने देना था । शाकुन्तल में ऋषि कुमार कहते हैं— तत्र भगवतः कुलपतेरसांनिध्याद् रक्षांसि नः इष्टि- विघ्न मुत्पादयन्ति । और कहा है—

सायन्तने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते

वेदीं हुताशनवतीं परितः प्रकीर्णाः

छायाश्चरन्तिवहुधा भयमादधानाः

सन्ध्यापयोदकपिशाः पिशिताशनानाम्। शाकु. ३-२४

प्रायः सायंकाल के अन्धकार का लाभ उठाकर ही ये मांसभक्षी राक्षस यज्ञ वेदियों को अपवित्र करते थे । इसी से त्रस्त होकर विश्वामित्र राम और लक्ष्मण को दशरथ से माँग कर ले गये थे । रघुवंश में कवि ने यह बात कही है—

कौशिकेन स किल क्षितीश्वरो राममध्वर-विघात-शान्तये

काकपक्षधरमेत्य याचितस्तेजसां नहि वयः समीक्ष्यते ।रघु.११-१

विश्वामित्र के साथ जाकर राम ने ताडका का वध किया और फिर देखा कि यज्ञ वेदि बन्धुजीवपुष्पों के वरावर रक्त- विन्दुओं से पट गयी हैं और ऋत्विजों ने विकङ्कत से बनी अपनी स्रुचायें रख दी हैं—

वीक्ष्य वेदिमथ रक्त-बिन्दुभिर्वन्धुजीव-पृथुभिः प्रदूषिताम्।

संभ्रमोऽभवदपोढ़-कर्मणामृत्विजां च्युतविकङ्कत-स्रुचाम्।। रघु. ११-२५

और

रक्षसांवलमपश्यदम्वरे गृध्रन-पक्षपवनेरितध्वजम्। वही २६

तब राम ने उन मख-द्रोही राक्षसों के दो अधिपतियों को वाण का लक्ष्य बनाया ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यज्ञ आश्रमवासियों की साधना का प्रमुख भाग था। वह उनके जीवन का अविभाज्य भाग था। इसीलिये दुष्यन्त के वरण की बात जानकर कण्व शकुन्तला से यज्ञ की भाषा में ही कहते हैं कि धुएँ से आकुल यजमान की आहुति पावक में ही गिरी, यह सन्तोष की बात है—

धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता। अभि. ४-३

आहुति यदि अग्नि में पड़े तभी उसका साफल्य होता है। कु. सं. में भी कहा है कि अग्नि को छोड़कर अन्य कोई तेज (सुवर्ण, विद्युत् आदि) हव्य का अधिकारी नहीं है—

ऋते कृशानोर्नहिमन्त्रपूतमर्हन्ति तेजांस्यपराणि द्रव्यम्। कुमार.१-५१

यज्ञ और रघुवंशीय राजा

रघुवंश के समस्त राजा यज्ञ के अनुष्ठाता थे। उनमें से अधिकांश ने अश्वमेघ यज्ञ किया था। वैसे भी राज प्रासाद यज्ञ की सुगन्ध से पवित्र रहते थे। कौत्स जब रघु से अपनी बात कहता है तो कवि ने रघु के लिये 'ततोयथावद् विहिताध्वराय' यह विशेषण दिया है। रघु शास्त्रीय विधि से अध्वर संपन्न करने वालों में प्रमुख था—

'ततो यथावद्विहिताध्वराय' रघु. ५-१९ के साथ ही उसे विश्वजित यज्ञ का अनुष्ठाता भी कवि ने बताया है। इस यज्ञ में उसने अपना सर्वस्व दानकर दिया था—

तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशंनिःशेष विश्राणित कोषजातम्। रघु. ५-१

रघुवंशियों का यश यज्ञों के लिये ही सर्वत्र प्रसृत था। वे सरयू के किनारे बड़े यज्ञों का अनुष्ठान करते थे। इन क्रतुओं के लिये विस्तृत खुले समतल स्थान की आवश्यकता होती है। उस स्थान के चारों ओर यज्ञयूप निर्मित किये जाते थे। यूप यज्ञ पशु कों बाँधने के लिये बनाये जाते थे। दिलीप ने अनेक गाँव यज्ञकर्ता ब्राह्मणों को दान में दे रखे थे। ये गाँव यूपों को देख कर पहचाने जा सकते थे दिलीप वसिष्ठाश्रम को जाते हैं तो मार्ग में ये यज्वा लोग उसे अर्घ्य के साथ आशीर्वाद भी देते थे—

ग्रामेष्वात्म विसृष्टेषु यूपचिह्नेषुयज्वनाम्।

अमोघाः प्रतिगृहणन्तावर्घ्यानुपदमाशिषः। रघु. १-४४

इसीलिये वसिष्ठ दिलीप का स्वागत करते हुये कहते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हवि रावर्जितं होतस्त्वया विधिदग्निषु ।
वृष्टि र्भवति सस्यानावग्रह- विशोषिणाम् ॥ वही ६२

अग्नि में विधिवत् हवि अर्पित करने का फल राज्य में अच्छी वर्षा और फल स्वरूप सुभिक्ष अर्थात् अन्नधान्य की प्रचुर उत्पत्ति थी क्योंकि मनु के अनुसार—

अग्नौ प्रस्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टि र्वृष्टेरन्नंततः प्रजाः ॥

दिलीप स्वयं को 'सोऽहमिज्या विशुद्धात्मा' (रघु. १-६८) कहते थे । इसका अर्थ यह कि यज्ञों में आत्मशुद्धि की भी शक्ति कवि को मान्य थी । इसीलिये दीर्घसत्र यज्ञों का भी काफी प्रचार था । कामधेनु यज्ञ धेनु है । वह वरुण के ऐसे ही यज्ञ के लिये वहाँ उपस्थित रहती थी—

हविषे दीर्घसत्रस्य साचेदानीं प्रचेतसः ।
भुजङ्ग- पिहित- द्वारं पातालमधि तिष्ठति ॥ रघु. १-८०

कामधेनु और उसकी पुत्री दोनों होता की आहुति का साधन थीं—

होतु राहुति साधनम्-अनिन्द्या नन्दिनी नाम । वही १-८२

यज्ञ प्रत्येक मङ्गल कार्य से पूर्व किये जाने की प्रथा थी । यदि अग्नि ठीक तरह से प्रज्वलित हुई और उसकी ज्वाला ऊपर उठी तो माना जाता था कि उसने हविष् स्वीकार कर ली है । यह कार्यसिद्धि का लक्षण माना जाता था । भावी मंगल की प्रशंसा करते हुये कवि कहता है—

दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखाः प्रदक्षिणार्चि हविरग्नि राददे । रघु. ३-१४

इसे वह्नि नीराजना भी कहते थे । अग्नि पूजा का साफल्य उसकी अर्चिष् के दक्षिण की ओर घूमकर निकलने में माना जाता था । रघु जब विजय यात्रा के लिये प्रस्थित हुआ तो उसने 'वाजिनीराजना' नामक शान्ति कर्म किया । इस अनुष्ठान के समय आहुत अग्नि ने प्रदक्षिणा की अर्चिष् के बहाने उसे हाथ उठाकर जय का आशिर्वाद दिया—

तस्मै सम्यग्धुतो वह्नि र्वाजिनीराजनाविधौ ।
प्रदक्षिणार्चिर्व्याजेन हस्तेनेव जयं ददौ ॥ रघु. ४-२५

कालिदास ने यज्ञ के प्रति बहुत श्रद्धा व्यक्त की है । वह स्थान-स्थान पर उपमा के लिये यज्ञ सम्बन्धी शब्दावली का व्यवहार करते हैं । उदाहरणार्थ गाय के कवोष्ण दुग्ध की चर्चा हुई तो उसे अवभृथ (यज्ञ-स्नान-जल) से भी अधिक मेध्य (पवित्र) वता दिया—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भुवं कोष्णेन कुण्डोध्नी मेध्येनावमृथादपि

प्रस्नवेनाभिर्षन्ती वत्सालोक- प्रवर्तिना। रघु. १-८४

कौत्स को ठहराने का प्रसंग हुआ तो कह दिया कि तुम मेरे अग्न्यगार में दक्षिण, आहवनीय और प्राजापत्य अग्नियों के अतिरिक्त चतुर्थ अग्नि बनकर रहो—

स त्वं प्रशस्ते महिते मदीये वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवग्न्यगारे। रघु. ५-२५

राजा को अन्यों से श्रेष्ठ बताना हुआ तो कह दिया—

आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव॥ रघु. १-११

पाण्ड्य नरेश की महत्ता बतलानी हुई तो कह दिया कि जब यह राजा अश्वमेघ के अन्त में अवभृथ स्नान कर गीले शरीर से ही खड़ा होता हैं तो अगस्त्य जैसा महान् ऋषि इनका सौस्नातिक होता है। यह पूछने आता है कि राजन् ठीक तरह से स्नान हो गया—

प्रीत्याश्वमेधावभृथार्द्रमूर्तेः सौस्नातिको यस्य भवत्यगस्त्यः। रघु. ६-६१

और मगध राज की प्रशंसा करनी हुई तो कह दिया किया यह यज्ञ- क्रिया में भाग लेने के लिये निरन्तर इन्द्र को बुलाता रहता है जिससे उसकी पत्नी शची को अपने अलकों को मन्दार- माला से सजाने का अवसर ही नहीं मिल पाता। आखिर, इन्द्र के न रहने पर वह सजाये भी तो किस के लिये?

क्रिया-प्रबन्धादयमध्वराणामजस्त्रमाहूत-सहस्त्रनेत्रः।

शच्याश्चिरं पाण्डुकपोल-लम्वान् मन्दारशून्यानलकांश्चकार॥ रघु.६-२३

कालिदास ने तमसा और सरयू के तट पर राम के पूर्वजों के द्वारा गाड़े हुए यज्ञयूपों का अनेक बार उल्लेख किया है। दशरथ के द्वारा सरयू और तमसा के तट पर कनकमय यज्ञ- स्तम्भ वनवाये गये थे। यहाँ अपना मुकुट उतारकर तथा अन्य राजचिह्नों का परित्याग कर उन्होंने यज्ञ दीक्षा ली थी। श्रौत वचन के अनुसार यजमान राजाओं को मुण्डित अथवा निर्मुकुट होना चाहिये क्योंकि जब तक यज्ञ चलता है तब तक अध्वर्यु ही यज्ञभूमि का राजा होता है—"यावद्यज्ञमध्वर्युरिव राजा भवति।"

क्रतुषु तेन विसर्जित-मौलिना भुज-समाहृत-दिग्वसुना कृताः।

कनक-यूप-समुच्छ्रय-शोभिना वितमसा तमसा-सरयूतटाः॥ रघु. ९-२०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राम सीता के साथ लंका से लौटते हुये उसे अयोध्या के समीप यज्ञ-यूप दिखलाते हैं जो सरयू के किनारे गाड़े गये थे। ये अश्वमेघ यज्ञों के अवशेष थे। यहीं सरयू में उनके पूर्वजों ने यज्ञ ने पश्चात् अवभृथ स्नान किये थे—

जलानि या तीर-निखातयूपा वहत्ययोध्यामनुराजधानीम्।

तुरङ्गमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि।।रघु. १३-६१

सीता-निर्वासन के पश्चात् भी राम हिरणमयी पत्नी प्रकल्पित कर यज्ञानुष्ठान करते रहे थे। वह यज्ञसत्र के प्रारम्भ में दीक्षित होकर अवभृथ- पर्यन्त यज्ञशाला में ही रहे थे—

श्लाध्यस्त्यागोऽपि वैदेह्याः पत्युः प्राग्वंशवासिनः।

अनन्यजानेः सैवासीत् यस्माज्जाया हिरण्मयी। रघु. १५-६१

यज्ञपूर्ति-पर्यन्त पति-पत्नी को ब्रह्मचर्य पूर्वक यज्ञशाला में रहना होता था। उनके रहने का स्थान वेदि के सामने बनी शाला होती थी। इसकी ऊपरीछत बाँसों पर टिकी होती थी जो पूर्व की और नीचे झुके रहते थे (कात्या. श्रौ. सू.)। यह दीक्षित यजमान और पत्नी का निवास होता था और इसे प्राग्वंश कहते थे। कुछलोगों के अनुसार यह प्राचीन- स्थूण यज्ञशाला-विशेष होती थी।

रामात्मज कुश का पुत्र अतिथि भी इस मार्ग पर चलता रहा। उसके द्वारा यज्ञान्त में, विशेषतः महाक्रतुओ (सोमयागों) की समाप्ति पर ऋत्विजों को दी हुई प्रभूत दक्षिणाओं के कारण वह कुवेर के समान प्रसिद्ध हो गया था—

ऋत्विजः स तथानर्च दक्षिणाभिर्महाक्रतौ।

यथा साधारणीभूतं नामास्य धनदस्य च।। रघु. १७-८७

कवि ने अध्वर में दीक्षित दशरथ के वेष का वर्णन करते हुए उनमें ईश्वर का बास बतलाया है। दशरथ कृष्ण मृग का चर्म और उदुम्बर का दण्ड धारण करते थे क्योंकि सूत्रों में वैसा ही विधान है—"कृष्णाजिनं दीक्षयति", "औदुम्वरं दीक्षित दण्डं यजमानाय प्रयच्छति"। मेखला शरमयी या मौञ्जी होती थी या उनके प्रतिनिधिरूप में कुशों की पहनी जा सकती थी। "शरमयी मौञ्जी वा मेखला, तया यजमानं दीक्षयति। यज्ञ में यतवाक् होना आवश्यक है। "वाचं यच्छति" यह श्रुति नियम है। मृग का शृंग शरीर के किसी भाग में कण्डू (खुजली) होने पर खुजलाने के लिये रखा जाता था। यज्ञ में उंगलियों या नखों से खुजलाना वर्जित है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अजिन-दण्डभृतं कुश-मेखलां यतगिरं मृग-शृङ्गपरिग्रहाम्।

अधिवसंस्तनुमध्वर-दीक्षितामसमभासमभासयदीश्वरः ।।रघु.९-२१

इस प्रकार के यज्ञ के उपरान्त अवभृथस्नान कर लेने पर यजमान देव- सभा में बैठने का अधिकारी होता था। दशरथ ने तो याज्ञिक क्रियाओं से इतनी शक्ति प्राप्त कर ली थी कि वह इन्द्र को छोड़ कर अन्य किसी के सम्मुख मस्तक नहीं नवाते थे—

अवभृथ-प्रयतो नियतेन्द्रियः सुरसमाज-समाक्रमणोचितः ।

नमयति स्म स केवलमुन्नतं वनमुचे नमुचेररयेशिरः ।वही ९-२२

इन्द्र क्रतु का सोमपायी, प्रथम यज्ञांशभाक् माना जाता था। इस प्रकार वह यज्ञ का संरक्षक था। दूसरी ओर उसका एक यह रूप भी था कि जहाँ कोई यज्ञ के द्वारा बहुत अधिक शक्ति- सम्पन्न हुआ कि उसके यज्ञ में विघ्न डालने के लिये चल पड़ा। तपश्चर्या हो या यज्ञ, जब तक वे उसके साधक होते, वह उन्हें सहन करता और जहाँ उनके द्वारा कोई इन्द्र का आसन छूने की स्थिति के निकट पहुँचता कि इन्द्र उसके तप और यज्ञ को भ्रष्ट करने के लिये प्रत्येक संभव उपाय करने लगता था। इन्द्र का यह रुप वैदिक युगोत्तर है किन्तु कालिदास ने इसका भी उल्लेख किया है—

"महाक्रतोर्विश्वजितः प्रयोक्ता (रघु. ६-७४) रघु के पिता दिलीप ने निन्यानवे क्रतु निष्पादित किये थे किन्तु उन्हें शक्र की अभ्यसूया से बचने के लिये सौवें क्रतु का परित्याग कर देना पड़ा था—

जातः कुले तस्य किलोरुकीर्तिः कुलप्रदीपोनृपति र्दिलीपः

अतिष्ठ्देकोनशत- क्रतुत्वे शक्राभ्यसूया- विनिवृत्तये यः । रघु. ६-७४

वस्तुतः दिलीप सौवें क्रतु (अश्वमेघ) का अनुष्ठान कर रहे थे। उसके अंग के रूप में उन्होंने अपने पुत्र रघु के संरक्षण में सैन्य के साथ यज्ञाश्व छोड़ा था किन्तु चतुर्दिक् परिक्रमा कर विजयी के रूप में लौटने से पहले ही कपटपूर्वक इन्द्र ने उसका हरण कर लिया। इन्द्र और रघु के बीच तुमुल युद्ध हुआ और अन्त में रघु को इन्द्र के साथ सन्धि करनी पड़ी जिसके अनुसार दिलीप को यज्ञ रोक देना पड़ा। यद्यपि इन्द्र ने उन्हें यज्ञ के फल का भागी बना दिया किन्तु उन्हें शतक्रतु नहीं बनने दिया। इस प्रसंग में रघु और इन्द्र के बीच जो वार्तालाप हुआ उससे एतद्विषयक तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियुज्य तं होमतुरङ्ग-रक्षणे धनुर्धरं राजसुतैरनुद्रुतम्।

अपूर्णमेकेन शतक्रतूपमः शतं क्रतूनामपविघ्नमाप सः। रघु.३-३८

दिलीप इन्द्र का समकोटिक था। उसने बिना किसी विघ्न के एक कम सौ क्रतु (सोमयज्ञ) पूर्ण कर लिये थे। सौवें का अश्व इन्द्र ने छिपकर हर लिया—जहार शक्रः किलगूढः विग्रहः। रघु ने जान लिया तो इन्द्र को सम्बोधित कर कहा कि यज्ञ का अंश पाने वालों में आप प्रथम है फिर मेरे पिता तो निरन्तर यज्ञ की दीक्षा में ही प्रवृत्त हैं और आप उनकी यज्ञ क्रिया में विघ्न डाल रहे हैं। क्यों?

मखांशभाजां प्रथमो मनीषिभिस्त्वमेव देवेन्द्र सदानिगद्यसे

अजस्र- दीक्षा- प्रयतस्य मद्गुरोः क्रिया- विघाताय कथं प्रवर्तसे।।रघु. ३-४४

इन्द्र ने उत्तर दिया—

यदात्थ राजन्य- कुमार तत्तथा यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः

जगत्प्रकाशं तदशेषमिज्यया भवद्गुरु र्लङ्घयितुं ममोद्यतः। वही ३-४८

इस प्रसंग से संस्कृतज्ञ सम्यक् परिचित हैं। यहाँ इसकी चर्चा यह प्रदर्शित करने के लिये की गयी है कि कालिदास ने रघुवंश की चर्चा ऐसे महापुरुष से प्रारम्भ की जो शतक्रतु संपन्न करने वाला अजस्र- दीक्षा- प्रयत था। इससे यज्ञ- संस्था के प्रति कालिदास की असीम श्रद्धा व्यक्त होती है।

यह बात दिलीप और वसिष्ठ के प्रसंग में भी स्पष्ट है। वसिष्ठ मन्त्रकृत् थे और यज्ञ का आधार मन्त्र ही हैं। इसलिये वसिष्ठ उनके लिये परम पूज्य हैं। उन्हें पत्नी अरुन्धती के साथ बैठा देख कर दिलीप को लगता है जैसे स्वाहा हविर्भोजी अग्नि के साथ विराजमान है—

अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम्। रघु. १-५६

वसिष्ठ अथर्व० के अधिकारी है और दैवी तथा मानुषी आपदाओं के हर्ता हैं। दिलीप कहते हैं कि आप जो अग्नि में विधिवत् आहुति देते हैं उससे मेरे राज्य में अन्न की वर्षा होती है—

हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु।

वृष्टि र्भवति सस्यानामवग्रह-विशोषिणाम्।। रघु. १-६२

इसीलिये दशरथ अल्पवयस्क राम को विश्वामित्र के साथ भेज देते हैं—

कौशिकेन किल स क्षितीश्वरो राममध्वर-विघात-शान्तये याचितः रघु.११-१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका पौत्र कुश जब कुशावती छोड़कर फिर अयोध्या लौटता है तो पहले उसकी दृष्टि 'तीर- निखात- यूपा' सरयू नदी पर ही पड़ती है—

इत्यध्वनः कैश्चिदहोभिरन्ते कूलं समासाद्य कुशः सरय्वाः ।

वेदि-प्रतिष्ठान् विनताध्वराणां यूपानपश्यच्छतशो रघूणाम् । रघु. १६-३५

यूप यज्ञपशुओं को बाँधने के काम आते थे । ऐसा लगता है पहले ये यूप यज्ञ के लिये आवश्यक दुग्ध, घृत (आज्य) आदि प्रदान करने वाली धेनुओं को बाँधने के लिये होते थे । वाद में पशुओं की बलि देने की प्रथा चल पड़ी । गो (बैलों और विशिष्ट गायों) को बलि के लिये बाँधा जाने लगा । आलम्भन (बाँधना) प्रोक्षण (नहलाना) और विशसन (काटना) आदि क्रियाओं तथा उनसे सम्बन्धित कार्यों के इर्द गिर्द पूरा कर्म- काण्ड खड़ा हो गया । बड़े बड़े यज्ञों में वलिपशुओं की संख्या सहस्रों में होने लगी । दशपुर- नरेश रन्ति देव ने महाक्रतु में अयुताधिक पशुओं की बलि दी थी जिनके उधेड़े गये चर्म से प्रसृत रक्त से बड़ा स्रोत ही प्रवाहित हो गया था जिसने आगे चलकर चर्मण्वती (चम्बल) नदी का स्वरूप ग्रहण कर लिया ।

व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्

स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ।। मेघ. १-४५

यूपों का काम बराबर ही वना रहता था । अतः वे पक्की वेदि पर बनाये गये थे और एक नहीं सैंकड़ों की संख्या में । इस वंश की प्रतिष्ठा वितत यज्ञों के कारण थी । यह भी एक बात थी जिसके कारण कालिदास इस वंश को अपने काव्य का नायक बनाने को तत्पर हुए । कालिदास उन शरभङ्ग नामक ऋषि का सादर उल्लेख करते हैं जो 'आहिताग्नि' के रूप में प्रसिद्ध थे, जीवन भर अग्नि को संतृप्त करने में लगे रहे और जिन्होंने अपने शरीर को अन्त में हव्य बनाकर अग्नि में हुत दिया—

अदः शरण्यं शरभङ्ग-नाम्न स्तपोवनं पावनमाहिताग्नेः ।

चिराय सन्तर्प्य समिद्भिरग्निं यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत् ।। रघु. १३-४५

थोड़ा सा भी अवसर मिलते ही कालिदास याज्ञिक सन्दर्भ प्रस्तुत करने से नहीं चूकते । शत्रुघ्न लवणासुर से युद्ध करने जा रहे हैं । मुनि उन्हें आगे का मार्ग बतलाते हैं । मुनि आगे हैं और रथारुढ़ शत्रुघ्न पीछे । कवि को लगता है कि जैसे वालखिल्यों के साथ सूर्य चल रहा है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदिष्ट-वर्त्मा मुनिभिः स गच्छन् तपसांवरः ।

विरराज रथपृष्ठै र्वालखिल्यैरिवांशुमान् ।। रघु. १५-१०

सप्तसाम और विष्णु

विष्णु की स्तुति करते हुए वह उनके सप्तसंख्यावृत स्वरूप की चर्चा करते हैं तो उन्हें सप्तसामोपगीत कहना नहीं भूलते—

सप्तसामोपगीतं त्वां सप्तार्णव-जलेशयम् ।

सप्तार्चिर्मुखमाचरव्युः सप्तलोकैक-संश्रयम् ।। रघु. १०-२१

वह रथन्तर, बृहद्रथन्तर, वामदेव्य, वैरुप्य, पावमान्य, वैराज और चान्द्रमस इन सप्त सामों से परिचित थे और अग्नि की सप्तजिह्वाओं—कराली, धूमिनी, श्वेता, लोहिता, नील लोहिता, सुवर्णा, और पद्मरागा से भी । लवण क्षीर दधि आज्य, सुरा, इक्षु और मधु इन सप्त समुद्रो और भू भूंवःस्वः महः, जनः तपः और सत्यलोक तो प्रसिद्ध ही है ।

हिमालय और यज्ञ

कुमार संभव में कवि ने हिमवान् की महिमा का एक महत्त्वपूर्ण कारण उसका 'यज्ञाङ्गयोनित्व' माना है । यज्ञ की साधनभूत सोमलता तो हिमालय पर ही मिलती है । विष्णु पुराण का कथन है—'यज्ञाङ्गार्थं मयासृष्टो हिमवानचलेश्वरः ।' इस कारण हिमालय शैलाधिपति है और यज्ञ- भागभुक् भी—

यज्ञाङ्ग- योनित्वमवेक्ष्य यस्य सारं धरित्री- धरण- क्षमंच ।

प्रजापतिः कल्पित-यज्ञभागं शैलाधिपत्यं स्वयमन्वतिष्ठत् । कुमार. १-१७

ब्रह्मा और यज्ञ

ब्रह्मा की स्तुति के प्रसंग में भी वह यज्ञ को नहीं भूलते । उन्हें हव्य और होता बतलाते हैं (कुमार. २-१५) । वेद उनके उच्छ्वसित हैं, इस बात को भी वह सुन्दर ढंग से कहते हैं—

उद्घातः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम् ।

कर्म यज्ञः फलं स्वर्गः तासां त्वं प्रभवो गिराम् ।। कुमार. २-१२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् जिस वाणी का आरम्भ 'ओ३म्' से होता है, जो तीन स्वरों—उदात्त अनुदात्त और स्वरित के साथ वोली जाती हैं, जिसका कार्य यज्ञ और फल स्वर्ग हैं, तुम उस वाणी के जनक हो। इससे यह भी स्पष्ट है कि कालिदास के समय में वैदिक मन्त्रों का विनियोग केवल यज्ञ में किया जाने लगा था। यहाँ कवि ने उद्घात शब्द को प्रारम्भ के, प्रणव को ओङ्कार के और न्याय ('नीयन्तेएभिरर्थ- विशेषा इतिन्यायाः इतिव्युत्पत्ति के अनुसार) शब्द को स्वर के अर्थ में प्रयुक्त किया है। इन्होंने ब्रह्मा को 'त्वमेव हव्यं होता च' कहा है (कुमार. २-१५)। शिव तप करते हैं तो समित्-समिद्ध अग्नि की स्थापना करके (कुमार. १-५७)। पार्वती तपः-साधन करती है तो भी अग्निहोत्र- पूर्वक—"कृताभिषेकां हुतजातवेदसं त्वगुत्तरासंगवती मधीतिनीम्।" (कुमार. ५-१६) और हिमालय की प्रशंसा में उन्होंने अपने पूर्वोक्त कथन को षष्ठ सर्ग में फिर दोहराया है—"यज्ञभागभुजां मध्ये पदमातस्तुषा त्वया॥ ६-७२। यज्ञ के लिये तीन बातों की आवश्यकता पड़ती है। इनमें प्रथम है श्रद्धा। दूसरी धन, जिसके बिना यह सम्भव नहीं और तीसरी विधि अर्थात् क्रिया। कालिदास ने इन तीनों का उल्लेख किया है—

श्रद्धा, वित्तं, विधिश्चेति त्रितयं तत्समागतम्। अभि. ७-२९

इस सब का लक्ष्य था देव-प्रीणन और देवों में भी इन्द्र प्रमुख हैं। इसीलिये कवि ने 'परस्परं भावयन्तः' के अनुसार शाकुन्तल का अन्त इस कामना के साथ किया है—

"भवतुतवविडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु

त्वमपि वितत- यज्ञो वज्रिणं प्रीणयालम्। अभि. ७-३४

यज्ञ और पशु बलि

कालिदास ने जिन यज्ञों की चर्चा की है उनमें पशु वलि दी जाती थी। यह सामान्य प्रथा थी। इसीलिये उन्हें कहना पड़ा—

पशुमारण-कर्म-दारुणो ह्यनुकम्पा-मृदुरेव श्रोत्रियः। अभि. ६-१

शाकुन्तल का विदूषक भी इस बात की पुष्टि करता कहता है। दुष्यन्त जब मातलि का स्वागत करता है तो विदूषक उसका विरोध करता है कि इसने मुझे यज्ञ के पशु की तरह मार ही डाला था और आप इसका स्वागत कर रहे हैं—"अहं जेण इट्ठिपसुमारं मारिदो सो इमिण सा अदेण अभिणंदीअदि' अभि। ६-२९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिदास ने इन याज्ञिक सन्दर्भों की चर्चा उन पात्रों के प्रसंग में की है जिनके समय में यज्ञों का बहुत अधिक महत्त्व था और अथर्वाङ्गिरस् संहिता वेद के रूप में स्वीकार की जा चुकी थी । उनके द्वारा वर्णित शान्ति- पुष्टि- कर्मों का पौरोहित्य अथर्वाङ्गि रोविद् ब्राह्मण ही करते हैं ।

श्रोत्रिय

वे विपत्तियों का निराकरण करते हैं । उदाहरणार्थ राक्षस पीड़ा, जिसका उल्लेख कुमार संभव में है । तारकासुर यज्ञार्थ एकत्र की गयी सामग्री को उठा ले जाता और यज्वा लोग आँख फाड़ कर देखते रह जाते—

यज्वभिः संभृतं हव्यं विततेष्वध्वरेषु नः ।

जातवेदो- मुखान्मायी मिषतामाच्छिनत्ति नः । कुमार. २-४६

ऐसे तथा दैहिक-भौतिक कष्टों से मुक्ति दिलाने का काम मन्त्रवित् श्रोत्रिय करते थे । वसिष्ठ अथर्ववेद् थे । दशरथ के सारे प्रतिरोधों को वे ही दूर करते थे और उन्हीं के साहाय्य से वह शत्रुओं के द्वारा दुर्जेय बन पाये थे—

स वभूव दुरासदः परैर्गुरुणा ऽथर्वविदाकृत-क्रियः ।

पवनाग्नि- समागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा । रघु. ८-४

ब्रह्म और क्षात्र शक्ति का समागम ही शान्ति और समृद्धि का कारण होता है । यह बात मनु ने भी कही है—

नाक्षत्रं ब्रह्म भवति क्षत्रं नाब्रह्म वर्धते ।

ब्रह्म- क्षत्रं च संयुक्तं इहामुत्र च वर्धते ॥

इसीलिये दिलीप वसिष्ठ से कहते है कि यदि मेरी प्रजा पूरी आयु पाती है, भय से मुक्त रहती है और छहों ईतियों से मुक्त है तो इसका कारण आपका ब्रह्म-वर्चस् है—

पुरुषायुष-जीविन्यो निरातङ्का निरीतयः ।

यन्मदीयाः प्रजा स्तस्य हेतुस्त्वद्- ब्रह्मवर्चसम् ॥ रघु. १-६३

वैदिक परम्परा में अन्त्येष्टि भी जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यज्ञ है । अन्य क्रतुओं के समान इसे भी पुरोहित ही सम्पन्न करते थे । अग्नि वर्ण का पश्चिम क्रतु (अन्तिम इष्टि) पुरोधा ने हीं सम्पन्न किया था—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तं गृहोपवन एव संगताः पश्चिम-क्रतु-विदा पुरोधसा।

रोगशान्तिमपदिश्य मन्त्रिणः सम्भृते शिरिवनि गूढमादघुः। रघु. १९-५४

अन्त्येष्टि की गणना संस्कारों में की जाती है जिनकी चर्चा अन्यत्र की गयी है। फिर भी इष्टि यज्ञ का ही एक रूप है इस दृष्टि से यहाँ उसका उल्लेख किया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कालिदास के समयतक यज्ञों की न केवल प्रतिष्ठा उत्कर्ष पर थी प्रत्युत उनका अनुष्ठान भी वैदिक पद्धति से किया जाता था। यद्यपि यज्ञों के ये उल्लेख उन्हीं पात्रों के प्रसंग में मिलते हैं जो बहुत प्राचीन है। फिर जिस ढंग से याज्ञिक विवरण कालिदास में आये हैं वे उन्हें इन क्रियाओं का अधिकारी जानकार और उनसे निकटता के साथ सम्बद्ध सिद्ध करते हैं। कालिदास ने आथर्वणिक पौरोहित्य परम्परा से जो नैकट्य प्रदर्शित किया है वह इस बात की ओर अवश्य संकेत करता है कि उनके समय में यज्ञों का स्थान आथर्वणिक—आङ्गिरस विधि विधान से ले चुके थे। कालिदास में हमें दोनों के प्रति आदर दृष्टि मिलती है।

कालिदास ने न केवल आश्रमों, अपितु उनके निवासियों और विद्वान् गुरुओं और ब्राह्मणों के प्रति भी बहुत सम्मान व्यक्त किया है। दिलीप और उनकी पत्नी वसिष्ठ और अरुन्धती के चरण दबाते हैं और रात्रि में उन दोनों के सो जाने के बाद ही सोते हैं—

तयोर्जगृहतुः पादान् राजा राज्ञी च मागधी

तौ गुरुर्गुरु- पत्नीच प्रीत्या प्रतिननन्दतुः। रघु. १-५७

तथा—

गुरोः सदारस्य निपीड्य पादौ समाप्य सान्ध्यं च विधिं दिलीपः। रघु. २-२३

ब्रह्म-क्षत्र-संयोग

यह युग ब्रह्म क्षत्र के पारस्परिक सम्मान तथा सहयोग का था जिसमें राज्य हर दृष्टि से समृद्ध और सुखी थे। क्षत्रिय वालकों के जीवन का प्रारम्भ ही ब्राह्मणों के अन्तेवास से होता था—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथोपनीतं विधिवद् विपश्चितो विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम्।

अवन्ध्य- यत्नाश्च वभूवुरत्र ते क्रियाहि वस्तूपहिता प्रसीदति। रघु. ३-२९

और रघु भी शत्रुओं के लिये इसीलिये अपराजेय बन सका क्योंकि अथर्व क्रियाओं में निष्णात गुरु ने उनके अनुष्ठान संपन्न कराये थे ।

स वभूव दुरासदः परैः गुरुणाथर्वविदा कृतक्रियः ।

पवनाग्नि- समागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्र- तेजसा। रघु. ८-४

यह प्रथा इतनी बद्ध मूल थी कि कोई राजा बिना गुरु या राज पण्डित के परामर्श के कोई नया काम नहीं करता था—

वसिष्ठस्य गुरोर्मन्त्राः सायकास्तस्य धन्विनः ।

किंतत् साध्यं यदुभये साधयेयु र्न संगताः । रघु. १७-३८

प्राचीन भारतीय राजतन्त्र की यह मूल मान्यता थी

यज्ञ होते रहते थे और ऋत्विक् ब्राह्मण उनमें पर्याप्त दक्षिणा पाकर दैनन्दिन चिन्ताओं से मुक्त रहते और अपना सारा समय तप तथा अध्ययन में लगाते थे । यह प्रतिष्ठा विद्वान् ब्राह्मणों को प्राप्त थी । जाति मात्र से ब्राह्मण कहलाने वाले इसके पात्र नहीं थे । विदूषक भी ब्राह्मण होता था किन्तु कलिदास के नाटकों में हम उसे हर किसी के द्वारा उपहास का पात्र बना देखते हैं । मालविकग्नि मित्र के प्रवेशांक (अंक ४) में सारसक इस बत की पुष्टि करता है—विद्या- भरितानां ब्राह्मणानांनित्य- दक्षिणा दातव्या । किन्तु अंक ४ में निपुणिका कहती है—एष द्वारोद्देशे विपणिगत इव वलीवर्दः आर्यगोतम आसीन एव निद्रायते । यह स्थिति विदूषक ब्राह्मण की है किन्तु विद्वान् वेदाभ्यासियों की प्रतिष्ठा कुछ और ही थी—

ऋत्विजः स तथानर्च दक्षिणाभिर्महाक्रतौ ।

यथा साधारणीभूतं नामास्य धनदस्य च। रघु. १७-८०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कार

कालिदास- कालीन समाज की पहचान उसमें प्रचलित संस्कारों के द्वारा भी की जा सकती है । गृह्य सूत्रों ने जिन संस्कारों का विधान किया है, उनकी संक्षिप्त झाँकी कालिदास की कृतियों में मिलती है । यद्यपि ये धर्म- ग्रन्थ नहीं हैं फिर भी प्रसंगवश इनमें कुछ संस्कारों की चर्चा आ गयी है । बालकों की बात उठी कि कालिदास का ध्यान उनके संस्कारों की ओर गया । उनके समाज में संस्कारों का इतना प्रचलन था कि संस्कारादि कह देने से यह बात समझ ली जाती थी कि उनका संकेत किन संस्कारों की ओर है । उन्हें बालकों के संस्कारों की चर्चा प्रिय भी है । शास्त्रों की दृष्टि में वाल्यकाल संस्कृत हो गया तो मानों संपूर्ण जीवन संस्कृत हो गया । इसीलिये उन्होंने षोडश में अधिकतर संस्कारों को इसी काल से संबद्ध किया है । भारत में गर्भाधान से लेकर शरीरान्त तक सोलह संस्कारों का विधान किया गया था । संस्कार बालक के गर्भ में आने से पूर्व ही प्रारम्भ हो जाते थे । और वीर्य की शुद्धि का प्रभाव बालक के शरीर और मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ता है, इस बात को ध्यान में रखकर गर्भाधान से पूर्व माता पिता की शारीरिक और मानसिक शुद्धि का ध्यान रखा गया था । विवाह के पश्चात् तीन दिन तक सात्त्विक आहार के साथ पति-पत्नी के ब्रह्मचर्य पूर्वक भूमि शयन का विधान इसी बात को ध्यान में रखकर किया गया था । सन्तान का लक्ष्य कुल को स्थिर रखना था । नगराजके सम्बन्ध में कवि ने कहा है कि वह कुलज्ञ थे और उनकी पत्नी मेना "मुनीनामपि माननीया" थी । उन्होंने शास्त्रोक्त विधि से विवाह किया और उनके मैनाक नामक पुत्र का जन्म हुआ—

कालक्रमेणाथ तयोः प्रवृत्ते स्वरूपयोग्ये सुरत-प्रसंगे ।

मनोरमं यौवनमुद्वहन्त्या गर्भोभवद् भूधर-राजपत्न्याः ।। कुमार.१-१९

पुत्री का जन्म हुआ तो "शरीरिणां स्थावर- जङ्गमानां सुखाय तज्जन्म- दिनं वभूव ॥ वही २३

कालिदास ने पार्वती के नामकरण और शिक्षा की चर्चा की है । पार्वती उसका अभिजन नाम था । वन्धुजन इस नाम से बुलाते थे । उमा नाम उसकी माता का दिया हुआ था । उसे जो पढ़ाया जाता वह स्थिर रहता । पूर्व जन्म में अर्जित विद्यायें उसे सरलता से प्राप्त हो गयीं—"स्थिरोपदेशामुपदेश- काले प्रपेदिरे प्राक्तन जन्म विद्याः । वही ३० । अल्प आयु में ही वह हिमालय के शिखर पर तप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने चली गयी। आजकल उसी के नाम से इसे 'गौरी शिखर' कहकर पुकारते हैं। तप के अनुकूल वेष का वर्णन कालिदास ने किया है—पार्वती ने हार उतारकर वभ्रु (छाल के लाल रंग का) वल्कलोत्तरीय पहन लिया। केशों की जटायें बना लीं। कटि में मौञ्जी मेखला बाँधली- तीन रस्सियों वाली। अधरों पर लाली और शरीर में अङ्ग राग लगाना छोड़कर कुशाङ्कुर काटना प्रारम्भ किया। हाथ में अक्षमाला ले ली और बाहु को उपधान (तकिया) बना कर भूमि पर शयन करने लगी। पौधों को सींचती, प्रातः स्नान कर हवन करती, वल्कलों का उत्तरीय धारण करती और अध्ययन में लगी रहती। कृताभिषेकां हुतजातवेदसं त्वगुत्तरासंगवतीमधीतिनीम् वही ५-१६ तथा ७ से १५। कालिदास के इस कथन से स्पष्ट है कि पार्वती कई विद्याओं में निष्णात थी और वेदमन्त्रों की ज्ञात्री थी।

जीवन का विभाजन

कालिदास आश्रम व्यवस्था में असीम श्रद्धा रखते थे। रघुवंश को उन्होंने अपने काव्य का विषय इसी लिये बनाया कि इस वंश के लोग आश्रम व्यवस्था के पालक थे—

शैशवेऽभ्यस्त-विद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।

वार्धके मुनि-वृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥ रघु. १-८

रघूणा मन्वयं वक्ष्ये—वही ९

इस समय आयु का विभाजन चार भागों में किया गया था—विद्याभ्यास का काल, विषयोपभोग का काल, मुनि वृत्ति का काल और योग पूर्वक मरण काल। इनमें प्रथम काल में कई संस्कार संपन्न हो जाते थे।

पुत्रोत्पत्ति का महत्त्व

पहले तो परिवार में पुत्र का होना ही धार्मिक दृष्टि से आवश्यक माना जाता था। इसलिये यह पितृ ऋण कहा जाता था। इससे उऋण होना गृहस्थ का धर्म था। एक विश्वास यह भी था कि पुत्र अपने पूर्वजों के लिये जो पिण्ड दान करता है वह उन्हें परलोक में क्षुधा और तृषा से रक्षित रखता है। इसीलिये सन्तान न होने पर दिलीप कहते हैं कि मेरे पितर जानते हैं कि मेरे पश्चात् उन्हें पिण्ड देने वाला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई नहीं रहेगा । इस लिये वे श्राद्ध में जी भर भोजन नहीं करते । भविष्य के लिये स्वधा को बचाकर रखते हैं । मेरी जलाञ्जलि का जल भी उनके निःश्वासों से कुछ गर्म हो जाता है और वे उस कवोष्ण जल का ही पान करते हैं—

नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः ।
न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधा-संग्रह-तत्पराः । रघु. १-६६

मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया ।
पयः पूर्वैः स्व-निःश्वासैः कवोष्णमुपभुञ्जते ।। वही ६९

गर्भावस्था

शुद्ध माता पिता से उत्पन्न सन्तान इस लोक और परलोक, उभयत्र कल्याणकारी होती है । इसलिये जैसे ही पत्नी के गर्भचिह्न प्रकट होने लगते थे, वैसे ही उसकी परिचर्या में विशेष सावधानी वरती जाने लगती थी और गर्भ के चिह्नों से कालिदास सम्यक् परिचित थे—

निदानमिक्ष्वाकु कुलस्य सन्ततेः सुदक्षिणा दौर्हद-लक्षणं दधौ । रघु. ३-१

शरीर सादादसमग्रभूषणा मुखेन सालक्ष्यत लोध्र-पाण्डुना । वही २

शरीर की क्षीणता, मुख का पीला पड़ जाना और मुख से मिट्टी जैसी गन्ध आने लगना, ये गर्भवती होने के लक्षण हैं—तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो रहस्युपाघ्राय नतृप्तिमाययौ । वही ३

यह निश्चित होते ही माता मन में वैसे विचारों और संकल्पों पर ध्यान करने लगती थी जैसा वह सन्तान को वनाना चाहती थी और इस समय उसकी प्रत्येक इच्छा पूर्ण की जाती थी । दोहदका कष्ट तीन मास तक रहता है । तदनन्तर शरीर भरने लगता है । दिलीप इन बातों को समझते थे—

दिवं मरुत्वानिव भोक्ष्यते भुवं दिगन्त-विश्रान्त-रथो हि तत्सुतः ।
अतोभिलाषे प्रथमं तथाविधे मनो ववन्धान्यरसान् विलङ्घ्य सा । वही ४

उपेत्यसा दोहददुःख शीलतां यदेव वव्रे तदपश्यदाहृतम् । वही ६

लज्जालु स्त्रियाँ अपनी इच्छाओं को खुलकर नहीं व्यक्त करतीं । इसलिये उनसे वार वार और साग्रह पूछना पड़ता है—

न मे ह्रिया शंसति किंचिदीप्सितं स्पृहावती वस्तुषु केषु मामागधी ।
इति स्म पृच्छत्यनुवेलमादृतः प्रियाःसखीत्तर-कोशलेश्वरः ।वही ५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिलीप पत्नी की सखियों से उसके मन की बात पूछते रहते थे क्योंकि स्त्रियाँ अपनी सहेलिओं के सम्मुख अपने भावों को व्यक्त करने में संकोच नहीं करतीं। इच्छा की तुरन्त पूर्ति हो जाने का प्रभाव सन्तान के मानसिक निर्माण पर पड़ता है। धीरे धीरे जब स्वास्थ्य में सुधार होना प्रारम्भ होता है तो स्तनों का परिणाह बढ़ जाता है और उनके चूचूक अधिक नीले पड़ जाते हैं। कालिदास यह जानते थे—

क्रमेण निस्तीर्यच दोहदव्यथां प्रचीयमानावयवा रराज सा। वही ७

तथा—

दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं तदीयमानील- मुखं स्तन- द्वयम्॥ वही ८

जन्मपूर्व संस्कार

गर्भाधान के पश्चात् पुंसवन और सीमन्तोन्नयन संस्कारों का विधान है। दिलीप ने पत्नी के प्रति अपने अनुराग, मन की उदारता, स्वयं अर्जित सम्पत्ति तथा पुत्रोत्पत्ति से मिलने वाले सन्तोष के अनुरूप अर्थात् बड़े समारोह के साथ पुंसवन अवलोमन और सीमन्तोंन्नय संस्कार किये। 'पुमान् सूयतेऽनेनेति पुंसवनम्' अर्थात् जिस संस्कार से पुत्र उत्पन्न हो। पारस्कर के अनुसार गर्भाधान से दूसरे या तीसरे मास में जब चन्द्रमा पुमान् नक्षत्र से युक्त हो, पुंसवन करना चाहिये—"मासि द्वितीये तृतीयेवा यदा पुंसानक्षत्रेण चन्द्रमा युक्तः स्यात्" इति पारस्करः। 'चतुर्थेऽवलोमनम्" इति आश्वलायनः। षष्ठ या आठवें मास में किसी उपवन या मनोरम स्थान में सीमन्तोन्नयन या गर्भवती की माँग भरने का उत्सव संस्कार किया जाता है। "षष्ठे ऽष्टमे वा सीमन्तोन्नयनम्" इति याज्ञवल्क्यः। आसन्न- प्रसवा होने अर्थात् अष्टम नवम मास में कुमार- भृत्या (वाल चिकित्सा) में दक्ष वैद्य लोगों ने उसकी सँभाल की, क्योंकि इस समय गर्भस्राव या अन्य कष्टों का भय रहता है—

प्रियानुरागस्य मनः-समुन्नते र्भुजार्जितानां च दिगन्त-सम्पदाम्।

यथाक्रमं पुंसवनादिकाः क्रिया धृतेश्च धीरः सदृशीर्व्यधत्त सः। वही. १०

कुमारभृत्या-कुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भकर्मणि। वही १२

जातकर्म और नामकरण

तब उचित समय अर्थात् दशम मास में सुदक्षिणा ने पुत्र को जन्म दिया। "दशमें मासि जायते" अथर्व०। फिर तपोवन से पुरोहित को आमन्त्रित कर उससे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जातकर्म संस्कार कराया गया। नाल- विच्छेद, मधु प्राशन आदि इसके अन्तर्गत होते हैं। कहा है—"प्राङ् नाभिवर्धनात् पुंसोजात कर्म विधीयते"। अगला संस्कार है नामकरण जो शङ्ख के अनुसार आशौचकाल समाप्त होते ही किया जाता है—"आशौचे व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते।" गत्यर्थक लघिघातु से निष्पन्न रघु नाम, जिसका अर्थ है जाने वाला (विद्या तथा शत्रुओं के पार जाने वाला), पिता ने उसकी कुशाग्र बुद्धि तथा शौर्य की आशा से रखा।

चूडाकर्म

नामकरण के पश्चात् चूडाकर्म होता है जिसे मुण्डन भी कह दिया जाता है। मनुने कहा है—प्रथमे ऽब्दे तृतीयेवा कर्तव्यं श्रुति चोदनात्—चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः। २-३५। यह संस्कार प्रथम अथवा तृतीय वर्ष में होता है किन्तु कुल की प्रथा के अनुसार काल में थोड़ा बहुत अन्तर भी किया जा सकता है—"तृतीयवर्षे चौलं यथा कुलधर्मं वा।" आश्व गृ.सू. १-१७। नामकरण और चूडाकर्म के बीच निष्क्रमण और अन्न आशन संस्कार होते हैं। निष्क्रमण चतुर्थ मास में होता है। इसमें उत्सव पूर्वक बालक को जन्म- गृह से बाहर निकाला जाता है। तभी उसे प्रथम बार सूर्य का दर्शन कराया जाता है और षष्ठ मास में अन्न प्राशन संस्कार होता है। इससे पूर्व वालक के मुख में अन्न नहीं दिया जाता। ये संस्कार भी परिवार की प्रथा के अनुसार थोड़े बहुत काल भेद से किये जा सकते हैं—

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्।

षष्ठेऽन्न- प्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले॥ मनु. २-३४

कालिदास ने इन सब संस्कारों का वर्णन गृह्य सूत्रकारों तथा मनु के अनुसार किया है। मनु ने द्विजन्मा वालकों के गर्भाधान या निषेक से लेकर वेदाध्यय तक समस्त संस्कारों का विधान वैदिक मन्त्रों से बतलाते हुए कहा है कि इनसे सारे दोषों का अपमार्जन होता है। पिता के वीर्यदोष- सम्बन्धी तथा माता के गर्भवास- सम्बन्धी दोष इससे दूर होते हैं—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादि र्द्विजन्मनाम्। मनु. २-२६

तथा—

गार्भै र्होमै र्जातकर्म चौल- मौञ्जी- निवन्धनैः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥ वही २-२७ .

जातकर्म में सोने की सलाई से मधु और सर्पिष् (घी) का प्राशन कराया जाता है । ये सब संस्कार अपनी अपनी वैदिक शाखा के गृह्य सूत्र में निर्दिष्ट मन्त्रों के साथ किये जाते हैं—

प्राङ्नाभि-वर्धनात् (छेदात्) पुंसो जातकर्म विधीयते ।

मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्य-मधु-सर्पिषाम् । वही २९

तथा—

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत् ।

पुण्ये तिथौमुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते । वही ३०

गृह्य सूत्रों ने चारों वर्णों के वालकों के नाम रखने के विषय में व्यापक नियम दिये हैं । यथा—क्षत्रिय का नाम वल सूचक या वलान्वित रखना चाहिये । उनमें भी राजा का नाम रक्षा से सम्बन्धित होना चाहिये । रघु के नाम में दोनों तत्त्व सम्मिलित थे—शीघ्रगामी में दोनों वातें समाहित हो जाती हैं—'क्षत्रियस्य वलान्वितम्" तथा "राज्ञो रक्षा- समन्वितम्" मनु०

कालिदास ने रघु के अन्न- प्राशन और मौञ्जीवन्धन का साक्षात् वर्णन नहीं किया है यद्यपि ये लौकिक संस्कार भारत के सभी भागों में थोड़े बहुत अन्तर के साथ किये जाते हैं । हाँ, प्रकारान्तर से उन्होंने इनकी ओर संकेत अवश्य किया है । यथा—अन्न प्राशन तब किया जाता है जब बालक की आँतों में दुग्ध के अतिरिक्त कुछ पचा सकने की शक्ति आ जाय । इसका इंगित इस श्लोक में है—

पितुः प्रयत्नात् स समग्र-सम्पदः शुभैः शरीरावयवै र्दिनेदिने ।

पुपोष वृद्धिम् । रघु. ३-२२

तथा—

उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम् । वही ३-२५

चूडाकर्म प्रायः तीन वर्ष की आयु में होता है और विद्यारम्भ पाँच वर्ष की आयु में । इसी के साथ लिपि- ग्रहण प्रारम्भ होता है । अनेक भागों में आज भी 'ऊं नमः सिद्धम्' के साथ पट्टी का पूजन कराया जाता है । इस समय तक बच्चों के मुण्डित बाल बड़े होकर काकपक्ष बन जाते हैं—काले घुँघराले । कालिदास ने चूडाकर्म और विद्यारम्भ दोनों की चर्चा की है—

स वृत्त-चूलश्चल-काक पक्षकैरमात्य-पुत्रैः सवयोभिरन्वितः ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिपेर्यथावद् ग्रहणेन वाङ् मयं नदीमुखेनेव समुद्रामाविशत् ।।वही ३-२८

लिपि ग्रहण (लिखना और पढ़ लेना) वाङ्मय में प्रवेश का द्वार है और रघु ने अपने विद्यारम्भ संस्कार के साथ वाङ्मय की ओर प्रथम चरण वदाया ।

उपनयन

साधारणतया क्षत्रिय का अगला संस्कार उपनयन ग्यारहवें वर्ष में किया जाना चाहिये किन्तु वलार्थी और प्रतिभावान् क्षत्रिय का उपनयन छठे वर्ष में किया जाता था । मनु ने कहा है—"गर्भादिकादशे राज्ञः" तथा "राज्ञो वलार्थिनः षष्ठे" मनु २-३६, ७ । उपनयन के साथ 'वेदारम्भ' और 'अस्त्रविद्या' । यह ब्रह्मचर्य काल होता है । इस काल में क्षत्रिय विद्यार्थी रुरु मृग का उत्तरीय तथा क्षुमा (अलसी) से बने वस्त्र का अधोवस्त्र पहनते थे । क्षत्रिय मूर्वाकी छाल से बनी ज्या- सदृशी तीन सूत्रों वाली मेखला धारण करते थे । मेधातिथि और गोविन्द राज के अनुसार क्षत्रिय की मेखला एक ही सूत्र की होती थी अर्थात् एक लड़ की । वैसे मनु तिलड़ी का विधान करते हैं । मौर्वी मेखला न मिलने पर अश्मन्तक (कुश के समन तृण) की तिलड़ी मेखला पहनी जाती थी । क्षत्रिय ब्रह्मचारी वट वृक्ष या खदिर के काष्ठ का ललाट तक ऊँचा दण्ड साथ में रखते थे ।

मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला ।

क्षत्रियस्यतु मौर्वी ज्या. . .

मुञ्जालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मन्तक- वल्वजैः ।

त्रिवृता ग्रन्थितैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा । मनु. २-४२, ४३

तथा—

क्षत्रियो वटखादिरौ—ललाट- संमितोराज्ञः । वही ४५, ४६

रघु ने अस्त्र- विधा अपने पिता से सीखी थी, नियमानुसर ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करते हुये—

त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षितास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत् ।

न केवलं तद्गुरु रेकपार्थिवः क्षितावभूदेक-धनुर्धरो ऽपि सः ।रघु. ३-३१

इस प्रकार रघु के आचार्य उसके पिता थे जिनसे उसने समन्त्रक (सन्धान प्रहारादि- सम्बन्धी मन्त्रों के साथ) अस्त्र विद्या सीखी थी ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोदान

वेदारम्भ के पश्चात् गोदान का विधान है। कुछ लोग गोदान और केशान्त संस्कार को एक ही मानते हैं। उनके अनुसार "गाव: केशा लोमानि दीयन्ते खण्ड्यन्ते यस्मिन् तद् गोदानम्। मनु के अनुसार ब्राह्मण का सोलहवें और क्षत्रिय का कोई सत्रह वर्ष की आयु में केशान्त संस्कार होता था। यह वह आयु थी जिसके पश्चात् उपनयन- संस्कार- विहीन द्विज पतित मान लिया जाता है। संभवत: राजन्य लोग केशान्त के पश्चात् स्नातक हो जाते थे। मनु ने तीन, दो या एक वेद का अध्ययन करने के पश्चात् ब्रह्मचारी को गृहस्थाश्रम में प्रवेश की आज्ञा दी है। उन्होंने कहा है—

केशान्तः षोडशेवर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते

राजन्यवन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः। मनु. २-६५

तथा—

वेदानधीत्य वेदौवा वेदं वापि यथाक्रमम्।

अविप्लुत- ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्। वही ३-२

विवाह

गोदान विधि के पश्चात् दिलीप ने रघु का विवाह कर दिया। निश्चय ही यह विवाह ऐसे ढंग से सम्पन्न हुआ होगा जिसमें कोई उल्लेखनीय बात नहीं रही होगी। अथवा कवि को उसके विषय में विशेष जानकारी नहीं होगी। फिर भी कवि को इतना बता देने में कुछ असामान्य नहीं लगा कि रघु ने अनेक विवाह किये थे। इसकी उपमा कवि ने चन्द्र से दी है जिसने दक्ष की रोहिणी आदि अनेक कन्याओं के साथ विवाह किया था।

रघुवंश में संस्कार

रघु के अज नामक पुत्र हुआ। यह कौत्स के आशीर्वाद का परिणाम था। इसका अर्थ यह कि विश्व विजय करने और तदनन्तर विश्वजित् यज्ञ को सम्पादित कर लेने तक भी इस वहुपत्नीक सम्राट् के कोई सन्तान न थी। स्नातक कौत्स के आशीष से 'आत्मगुणानुरूप' सन्तान की प्राप्ति हुई—

ब्राह्मे मुहूर्ते किल तस्य देवी कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम्। रघु. ५-३६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्राह्म ब्रह्मा का मुहुर्त है जिनका एक नाम अज भी है। अतः रघु ने पुत्र का नाम अज रखा। रघु और अज दोनों नामों के कारणों को देखकर यह लगता है कि नाम प्रायः सार्थक रखे जाते थे। नामकरण और विद्याध्ययन का विशेष उल्लेख अज प्रसंग में मिलता है और साथ ही इस बात का भी कि यदि उचित संस्कार किये जायँ तो सन्तान पिता के अनुरूप यशस्वी होती है—

रूपं तदोजस्वि, तदेववीर्यं तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम्।

न कारणात् स्वाद्विभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्। वही ३७

तथा—

उपात्तविद्यं विधिवद् गुरुभ्यस्तं यौवनोद्भेद- विशेष- कान्तिम्। वही ३८

कालिदास ने अज के पुत्र दशरथ के केवल नामकरण संस्कार का उल्लेख किया है।

क्षितिरिन्दुमती च भामिनी पतिमासाद्य तमग्र्य-पौरुषम्

प्रथमा बहुरत्नसूरभूदपरा वीरमजीजनत् सुतम्॥ वही ८-२८

दशरश्मिशतोपमद्युति र्यशसा दिक्षु दशस्वपि श्रुतम्।

दशपूर्व-रथं यमाख्यया दशकण्ठारि-गुरुं विदुर्वुधाः॥ वही २९

दशरथ के विद्याध्ययन की चर्चा भी कवि ने की है और गोदान के पश्चात् युवराजपद पाने की भी—

सम्यग् विनीतमथ वर्महरं कुमारमादिश्य रक्षण-विधौ विधिवत् कुमारम्।

प्रायोपवेशनमतिर्नृपति र्वभूव॥ वही ९४

पता नहीं, यह संयोग मात्र था या जान बूझकर ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा के लिये किया गया प्रसाद कि क्षत्रियों के प्रत्येक संकट का निवारण ब्राह्मण के द्वारा ही किया जाता बतलाया गया है। दशरथ की स्थिति भी पुत्र के विषय में पूर्वजों के समान दयनीय थी—

न चोपलेभे पूर्वेषामृण-निर्मोक्ष-साधनम्।

सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोपहम्। रघु. १०-२

तव वसिष्ठ द्वारा सम्पादित पुत्रेष्टि के फल स्वरूप जो पयश्चरु दशरथ को प्राप्त हुआ उसे खाकर ही उनकी तीनों पत्नियाँ गर्भवती हुईं।

प्राजापत्योपनीतं तदन्नं प्रत्यग्रहीन्नृपः। वही १०-५२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स तेजो वैष्णवं पत्न्यो र्विभेजे चरु-संज्ञितम् ।। वही ५४

और गर्भावस्था की स्थिति सुदक्षिणा के ही समान कोसल्या की भी वर्णित है—

ताभिर्गर्भः प्रजाभूत्यै दध्रे देवांश-संभवः । वही ५८

सममापन्न-सत्त्वास्ता रेजुरापाण्डुरत्विषः । वही ५९

राम का नामकरण भी उनके पूर्वजों के समान यथार्थ रखा गया—

राम इत्यभिरामेण वपुषा तस्य चोदितः ।

नामधेयं गुरुश्चक्रे जगत्प्रथम-मङ्गलम् ।। वही ६७

यथा समय बालकों के संस्कार किये गये । विनयाधान किया गया—

कुमाराः कृत-संस्कारास्ते धात्री-स्तन्य-पायिनः । वही ७८

स्वाभाविकं विनीतत्वं तेषां विनय-कर्मणा । वही ७९

राम के पुत्रों के संस्कार स्वयं महर्षि बाल्मीकि ने किये थे—

सखा दशरथस्यापि जनकस्य च मन्त्रकृत् ।

संचस्कारोभय-प्रीत्या मैथिलेयौ यथाविधि ।। रघु. १५-३१

उनके भी नाम पूर्वजों के समान सार्थक रखे गये थे । कुश के द्वारा गर्भ नाल के उन्मृष्ट किये जाने के कारण कुश और लव या गोपुच्छ के लोम के द्वारा नालच्छेद किये जाने के कारण लव नाम दिया गया था—

स तौ कुशलवोन्मृष्ट-गर्भ-क्लेदौ तदाख्यया ।

कविः कुशलवावेव चकार किल नामतः । वही १५-३२

साङ्गं च वेदमध्याप्य किञ्चिदुत्क्रान्तशैशवौ ।

स्वकृतिं गापयामास कवि- प्रथम- पद्धतिम् ।। वही ३३

इससे स्पष्ट है कि साङ्गवेदाध्ययन क्षत्रियों के लिये विहित था । कुश के पुत्र अतिथि के सम्पूर्ण संस्कार विधिवत् किये गये थे । पुनरुक्ति दोष से बचने के लिये कालिदास ने वार वार प्रत्येक संस्कार का वर्णन करना उचित नहीं समझा, फिर भी प्रत्येक प्रसंग में नये ढंग से किसी न किसी संस्कार का उल्लेख अवश्य कर दिया है । अतिथि को गुरु के समीप रहकर वेदाध्ययन के अतिरिक्त आन्वीक्षिकी, वार्ता और दण्डनीति की शिक्षा स्वयं कुश ने दी थी क्योंकि कुश स्वयं श्रेष्ठ अर्थवेत्ता थे—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तमादौ कुलविद्यानामर्थमर्थ- विदांवरः
पश्चात् पार्थिव-कन्यानां पाणिमग्राहयत्पिता ।। रघु. १७-३

भरत और आयुष के संस्कार

कालिदास के दो नाटकों के नायकों, पुरुरवा और दुष्यन्त के पुत्रों के वाल्य संस्कार आश्रम में सम्पन्न हुये थे । कालिदास ने संस्कारों को बहुत महत्त्व दिया है । गोदान विधि के पश्चात् विवाह संस्कार को लें ।

विवाह-मङ्गल

विवाह के प्रकार

कालिदास की कृतियों में कई प्रकार के विवाहों का वर्णन मिलता है । इनमें वर पक्ष द्वारा याचित कन्या का माता-पिता की स्वीकृति के पश्चात् शास्त्रीय पद्धति से विवाह, पिता द्वारा घोषित कन्या- शुल्क के संप्रदान के अनन्तर वर और कन्या की स्वीकृति से औपचारिक विवाह, स्वयंवर द्वारा विवाह, एक पत्नी के होने पर भी किसी कन्या के प्रति आकृष्ट होकर उसके साथ गान्धर्व विवाह, पत्नी के रहने पर भी अवरोध से सम्बन्धित किसी कन्या पर आसक्त होकर विविध उपायों द्वारा उसकी स्वीकृति एवं पत्नी और परिवार जनों की इच्छा के अनुकूल विवाह और विना विवाह पारस्परिक समझौते के अधीन दाम्पत्य सूत्र में बन्धन । इनमें शिव पार्वती का विवाह प्रथम कोटि, राम- सीता का विवाह द्वितीय कोटि, अज- इन्दुमती का विवाह तृतीय कोटि, दुष्यन्त- शकुन्तला का चतुर्थ कोटि, अग्निमित्र और मालविका विवाह पञ्चम कोटि और पुरुरवा- उर्वशी का सम्बन्ध षष्ठ कोटिके अन्तर्गत आता है । इनमें शिव और पार्वती का विवाह उत्तम और आदर्श है जिसमें कन्या जिस वर प्राप्ति के लिये घोर तप करती है, उसके प्रसन्न होकर विवाह के लिये प्रस्तुत ही नहीं, प्रणय- याचना की सीमा तक आत्म समर्पण कर देने के उपरान्त भी कन्या उससे अपने पिता की स्वीकृति प्राप्त करने का आग्रह करती है । तप और परीक्षण के मार्ग को पार कर परस्पर आत्मीय भाव में आवद्ध हो जाने पर भी लोक मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करती और वर से आग्रह करती है कि पहले उसके पिता से विवाह के लिये प्रार्थना करे । शिव कहते हैं—

अद्य-प्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिः । कुमार ५-८६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो भी वह उतावलापन नहीं प्रदर्शित करती। कहती है सखी के मुख से, सीधे स्वयं नहीं—

अथ विश्वात्मने गौरी संदिदेश मिथः सखीम्।

दाता मे भूभृतां नाथः प्रमाणीक्रियतामिति॥ कुमार. ६-१

अर्थात् गौरी ने सखी के द्वारा शिव से कहलाया कि मेरे प्रदान के अधिकारी मेरे पिता हैं। आप उन को इसके लिये तैयार कर लें। शिव सीधे सीधे तो अपने विवाह की पात चला नहीं सकते। अतः सप्तर्षियों को बुलाकर उन्होंने कहा कि आप लोग मेरे लिये हिमवान् से उनकी पुत्री की याचना करें क्योंकि सम्बन्ध यदि उचित विधि से किये जायँ तो वे दोष नहीं उत्पन्न करते। आप कैसे बात करें, यह आपको बताने की आवश्यकता नहीं। आर्या अरुन्धती भी इस विषय में प्रयत्न कर सकती हैं क्योंकि ऐसे कार्यों में गृहस्थिनी स्त्रियाँ चतुर होती हैं।

अत आहर्तुमिच्छामि पार्वतीमात्मजन्मने।

तामस्मदर्थे युष्माभि र्याचितव्यो हिमालयः। वही ६-२८, २९

एवं वाच्यः सकन्यार्थमिति वो नोपदिश्यते।

आर्याप्यरुन्धती तत्र व्यापारं कर्तुमर्हति

प्रायेणैवं विधे कार्ये पुरन्ध्रीणां प्रगल्भता। वही ३१, ३२

सप्तर्षियों ने गौरी के पिता को शिव की इच्छा बतलाकर कहा कि उमा वधू, आप दाता, हम लोग याचक और शंभु वर—ये सारी बातें आपके कुल की भी प्रतिष्ठा में वृद्धि करने वाली है

उमा वधूर्भवान् दाता याचितार इमे वयम्।

वरः शंभुरलं ह्येष त्वत्कुलोद्भूतये विधिः। वही ८२

ऋषिओं की बात सुनकर हिमालय ने कन्यादान का मन बना लिया। फिर भी उन्होंने प्रश्न वाचक दृष्टि से पत्नी मेना के मुख की ओर देखा क्यों कि कन्या के विषय में पुरुष स्त्रियों के अधीन रहते हैं। जब ये बातें चल रही थीं तो पार्वती पिता के पास नीचे मुख लिये लज्जा से अपने लीला कमल की पंखुड़ियाँ गिन रही थी।

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।

लीला- कमल- पत्राणि गणयामास पार्वती। वही ८४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब पत्नी की स्वीकृति पाकर पिता ने बेटी का हाथ पकड़ कर कहा—आओ, बेटी ! मैं भिक्षा रूप में तुम्हें शिव की झोली में डालता हूँ । ये सप्तर्षि लोग भिक्षुक वन कर आये हैं । आज मेरा गृहस्थ बनना सफल हो गया—

एहि विश्वात्मने वत्से ! भिक्षासि परिकल्पिता ।

अर्थिनो मुनयः प्राप्तं गृहमेधि-फलं मया ।। वही ८८

उन्होंने पुत्री को लेकर कहा—उमा आप ऋषियों का अब शिव की वधू के रूप में नमन करती है । प्रणाम के लिये झुकने पर उमा का स्वर्णाभूषण भूमि पर गिर गया । तब उस लजाती हुई कन्या को अरुन्धती ने गोद में बिठा लिया । माता के नेत्रों से आँसू गिरने लगे । अरून्धती ने दामाद की प्रशंसा कर माता को सान्त्वना दी । हिमालय के पूछने पर ऋषियों ने चार दिन बाद विवाह्ह की तिथि निश्चित की—

तां प्रणामादर-स्रस्त-जाम्बूनदवतंसकाम् ।

अङ्कमारोपयामास लज्जमानामरुन्धती । वही ८९

यह कालिदास सम्मत आदर्श भारतीय विवाह की पूर्व पीठिका है । इसमें माता की जानकारी में कन्या किसी विशेष व्यक्ति के प्रति अनुरागवती होकर सात्त्विक साधनों से उसे पाने का यत्न करती है । जब कन्या और वर दोनों परस्पर अनुरक्त होकर विवाह के लिये सहमत हो जाते हैं तो वर कन्या के पिता से उसकी पुत्री के पाणिग्रहण की याचना करता है । यहाँ ध्यान देने की बात यह कि अनुराग का प्रकाशन पहले कन्या के द्वारा होता है, वर वाद में स्वीकृति देता है । यही भारतीय परिपाटी है । कन्या के पिता को इन बातों का ज्ञान रहता है और वह प्रस्ताव को मान्यता प्रदान करता है । प्रस्ताव वर के अतिरिक्त उसके मित्र, माता पिता या सम्बन्धी करते हैं । कन्या लज्जालु होती है । इस सब की सहभागिनी होकर भी वह लज्जा और विनय का प्रदर्शन करती है । माता का मन एक ओर प्रसन्न होता है तो दूसरी ओर भावी वियोग से दुखी । पिता वर को कन्यादान करता है । इसी समय विवाह की तिथि निश्चित हो जाती है और इसी क्षण से वह 'वधू' मान ली जाती है ।

पार्वती की पाणिपीडन- विधि

विवाह या जिसे कालिदास ने पाणिपीडन विधि कहा है, उसका प्रारम्भ ज्योतिर्गणना के अनुसार हुआ शुक्ल पक्ष की जात्रिम गुण (अर्थात लग्न से सातवें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थान पर- ग्रह) राहित्य युक्त तिथि को विवाह विधि या दीक्षा विधि हुई । वासिष्ठी विधि के अनुसार जामित्र में होने वाले सारे ग्रह मरणकारी होते है—सर्वेजामित्र संस्था विदधति मरणम्। तथा—विवाहेस्यु: सर्वेमदन- सदने नैवशुभदा:। इसीलिये जामित्र- शुद्धि लग्न का धर्म माना जाता है । इस दिन वैवाहिक मङ्गल कार्यों का प्रारम्भ होता है । मण्डपाच्छादन होता है । इस दिन से सारी स्त्रियाँ विवाह-कौतुक के संविधान (व्यवस्था) में जुट गयी और ऐसा लगने लगा कि सारा नगर एक कुल वन गया है ।

काञ्चन- तोरण वनाये गये, चीनाशुंकों की केतुमाला (वन्दनवार) लगायी गयी । महापथों पर पुष्प विखेरे गये । इधर उमा इस गोद से उस गोद में और एक मण्डन के बाद दूसरे मण्डन में और पाणि- ग्रहण समीप आ जाने से माता के गाढ़तर प्यार में मग्न । मैत्रमुहूर्त अर्थात् उदय से तृतीय मुहूर्त और फल्गुनी नक्षत्र को चन्द्र के साथ योग होने पर पुत्रवती सधवा स्त्रियों ने पार्वती के शरीर में उवटन आदि का प्रारम्भ किया । श्वेत सर्षप (सरसों) डाल कर दूब के अंकुरों के साथ, शर- सहित कोशे का वस्त्र मालिश और उबटन के लिये पहनाया गया—

मैत्रे मूहूर्ते शशलाच्छनेन योगं गतासूत्तर-फल्गुनीषु ।

तस्याः शरीरे प्रतिकर्म चक्रुर्वन्धु-स्त्रियो याः पतिपुत्रवत्यः । कुमार. ७-६

तथा—

सा गौर-सिद्धार्थ-निवेशवद्भिर्दूवाप्रवालैः प्रतिभिन्न-शोभम् ।

निर्नाभि कौशेयमुपात्तवाणमभ्यङ्ग-नेपथ्यमलंचकार । वही ७

मंगल कार्य में गौर सर्षप के उपयोग का उल्लेख वाण ने भी हर्ष चरित मे किया है । यहाँ चीनांशुक और कौशेय वस्त्र तथा दूर्वाङ्कुर और श्वेत सर्षप का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है । अभ्यङ्ग अर्थात् तेल लगाने के पश्चात् लोध्र के चूर्ण से उबटन करके शरीर का तेल निकाला गया । फिर सुखाये गये सुगन्धित द्रव्य (कालेयक) से उसका अङ्गराग किया गया । तत्पश्चात् अभ्यङ्ग वस्त्र के स्थान पर अभिषेक (स्नान) वस्त्र पहनाकर स्त्रियाँ चौक (चार खम्भों पर बना) में ले गयीं—

तां लोघ्र- कल्केन हृताङ्गतैलामाश्यान-कालेयकृताङ्गरागाम् ।

वासो वसानामभिषेकयोग्यं नार्यश्चतुष्काभिमुखं व्यनैषुः । वही ९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्नान गृह में ले जाकर सुवर्ण कलशों से उसे स्नान कराया। यह कार्य मङ्गल तूर्यों के वादन के साथ सम्पन्न हुआ। मङ्गल स्नान के पश्चात् उसे वर के द्वारा प्रेषित साड़ी पहनायी गयी और फिर वहाँ से सधवा स्त्रियाँ विवाह विधि के लिये ताने गये शामियाने के नीचे चार स्तम्भों पर बनायी गयी कौतुक (विवाह) वेदि में वधू के लिये विशेष रूप से निर्मित आसन पर ले गयीं। वहाँ पार्वती को पूर्व की ओर मुँह करके बिठाने के पश्चात् उसका प्रसाधन किया, उसे सजाया सँवारा।

सा मङ्गल-स्नान-विशुद्धगात्री गृहीत-प्रत्युदगमनीयवस्त्रा।वही ११

तस्मात् प्रदेशाच्च वितानवन्तं युक्तं मणिस्तम्भ-चतुष्टयेन।

पतिव्रताभिः परिगृह्य निन्ये क्लृप्तासनं कौतुकवेदिमध्यम्।वही १२

वहाँ उन्होंने सुगन्धित द्रव्यों के धूप से उसके केश सुखाये। केशों में कुसुम गूँथे। और फिर बीच बीच में दूर्वा गूँथकर बनायी गयी मधु वृक्ष के पुष्पों की माला, उसके केशों में टाँक दी। फिर उसके अंगों में शुक्लागुरु मिश्रित गोरोचना से पत्र-रचना की। कानों में यवाङ्कुर पहनाये। तव लोध्र- चूर्ण के उबटन से रुखे तथा गोरोचना के अङ्गराग से रक्त बने उसके कपोलों पर लटकते यवाङ्कुर विपरीत वर्ण के संनिकर्ष से और अधिक खिल उठे—

विन्यस्त-शुक्लागुरु चक्रुरङ्गं गोरोचना पत्र-विभक्तमस्याः। वही १५

कर्णार्पितो लोध्रकषायरुक्षे गोरोचनाक्षेप-नितान्तगौरे।

तस्याः कपोले परभागलाभाद्बबन्ध चक्षूंषि यव-प्ररोहः। वही १७

अधरोष्ठ पर सिक्थ- लेप किया जिससे उसमें लाली बनी रहे। पाँवों में अलक्तक (आलता) लगाते समय सखी ने उपहास किया—जाओ, इस चरण से पति की सिरचढ़ी चन्द्रकला का स्पर्श करना—अर्थात् पति जब तुम्हें मनाने के लिये तुम्हारे चरणों शिर पर रखेंगे तो उनके शिर की चन्द्र कला भी तुम्हारे चरणों का स्पर्श करेगी। इस परिहास के उत्तर में पार्वती ने पुष्पमाला उठाकर उसे मार दी। नेत्र तो इतने सुन्दर थे कि उनमें काजल की आवश्यकता ही नहीं थी फिर भी मङ्गल-चिह्न के रूप में उसे लगा दिया। विविध प्रकार के आभूषण पहनाये—

पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम्।

सा रञ्जयित्वा चरणौकृताशी र्माल्येन तां निर्वचनं जघान। वही १९

न चक्षुषोः कान्ति-विशेष-बुद्ध्या कालाञ्जनं मङ्गलमित्युपात्तम्।वही २०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब माता मेना ने पुत्री का मुख ऊपर उठाकर हरिताल और मनःशिला (मैनसिल) से उसके मस्तक पर विवाह दीक्षा के प्रतीक के रूप में दो अंगुलियों से तिलक लगाया और धात्री (धाय) ने उनकी कलाई पर ऊनसे बना विवाह सूत्र (कंकण) पहनाया। और फिर माता ने पहले गौरी से कुल देवियों और सती नारियों (सधवा पतिव्रताओं) का पाद- वन्दन करवाया—

अथाङ्गुलिभ्यां हरितालमार्द्रं माङ्गल्यमादाय मनःशिलां च।

माता तदीयं मुखमुन्नमय्य विवाह-दीक्षा-तिलकं चकार। वही २३

धात्र्यङ्गुलीभिः प्रतिसार्यमाणमूर्णामयं कौतुक- हस्तसूत्रम्। वही २५

तामर्चिताभ्यः कुलदेवताभ्यः कुलप्रतिष्ठां प्रणमय्य माता।

अकारयत्कारयितव्य-दक्षा क्रमेण पादग्रहणं सतीनाम्॥ वही २७

उधर वर पक्ष में सप्त मातृकाओं ने भी अलंकार के लिये शिव के सम्मुख प्रसाधन सामग्री लाकर रखी। शिव ने मातृकाओं के प्रति सम्मान व्यक्त करने के लिये उसका स्पर्श तो कर लिया किन्तु उसका उपयोग नहीं किया। उनकी स्वाभाविक भूषा स्वयं मण्डन बन गयी। भस्म- श्वेत मण्डनचूर्ण (पाउडर) लगने लगा, कपाल- श्वेत शिरोभूषण और गजाजिन दर्शकों को दूकूल सा प्रतीत होता था। उनके पार्श्वस्थ प्रमथ गण ने खड्ग लाकर बाँध दिया। तब शिव नन्दिकेश्वर की भुजा का सहारा लेकर वृषभ पर सवार होकर चल दिये। वृषभ की पीठ पर सिंह- चर्म बिछा था। शिव के पीछे सप्तमातृकायें चलीं। मातृकाओं के पीछे कपाल माला पहने काली थी। शिव के आगे आगे चलने वाले प्रमथगण ने मङ्गलतूर्य बजाये। तूर्य का घोष सुनकर देवगण भी आ गये। सूर्य ने त्वष्टा द्वारा बनाया हुआ आतपत्र शिव के ऊपर लगाया। गङ्गा और यमुना मूर्त रूप से उनके ऊपर चमर डुलाने लगीं। सामने ब्रह्मा और विष्णु जयोच्चार करते चल रहे थे। इन्द्र आदि सारे लोक पाल अपने छत्र, चमर और वाहनादि चिह्न छोड़कर उपस्थित हुए। आगे बढ़ते ही सप्तर्षियों ने उन्हें आशीर्वाद दिया। तब शिव ने मुस्कराते हुए उनसे कहा कि अपने इस विवाह यज्ञ में मैंने आप लोगों को अध्वर्यु चुना है—

तस्मै जयाशीः ससृजे पुरस्तात् सप्तर्षिभिस्तान् स्मितपूर्वमाह।

विवाहयज्ञे वितते ऽत्र यूममध्वर्यवः पूर्ववृता मयेति। वही ४७

विश्वासवसु-प्राग्रहरैः प्रवीणैः संगीयमान-त्रिपुरावदानः।वही ४८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वावसु आदि गन्धर्व वीणा के साथ त्रिपुर विजय का गान करते चल रहे थे। थोड़ी ही देर में वर यात्रा हिमालय के पुर में पहुँच गयी। नगर के समीप नगर- जन स्वागत के लिये खड़े थे। यहाँ शिव वृषभ की पीठ से भूमि पर उतर गये। यहीं हिमालय ने वन्धु- बान्धवों के साथ आकर उनका स्वागत किया। शिव ने अपने श्वसुर को पहले प्रणाम किया—

ह्रीमानभूद् भूमिधरो हरेण त्रैलोक्य- बन्द्येन कृत-प्रणामः। वही ५४

फिर हिमालयराज शिव के आगे चलते हुए उन्हें पुष्पों से अवकीर्ण पथ से सब लोगों के साथ नगर में ले गये। मार्ग के दोनों ओर भवनों के गवाक्षों में जामाता के दर्शनों के लिये उत्सुक नारियों की भीड़ थी। शिव को देखकर स्त्रियाँ कहने लगीं—अरे ! पार्वती का तप करना ठीक ही था। इस वर की दासता मिल जाना तक बड़े भाग्य की बात है। फिर इसके अङ्क में सोने के सौभाग्य का तो कहना ही क्या ! यदि इन दोनों की जोड़ी न मिलती तो प्रजापति का इन्हें बनाने में हुआ सारा श्रम व्यर्थ हो जाता—

परस्परेण स्पृणीय-शोभं नचेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत्।

अस्मिन् द्वये रूप-विधान-यत्नः पत्युः प्रजानां विफलोऽभविष्यत्।वही ६६

नारियों की विविध आलोचनाएँ सुनता हुआ पूरा दल हिमवान के भवन में पहुँच गया। वहाँ विष्णु ने हाथ का सहारा देकर शिव को वृषभ से नीचे उतारा और तब आगे आगे विष्णु, प्रासाद के प्रकोष्ठों में प्रविष्ट हुए और पीछे पीछे सब। इन्द्र, लोकपाल, प्रमथ आदि सारे वाराती भी भवन में पहुँचे। वहाँ शिव ने विष्टर पर बैठकर हिमवान् द्वारा प्रस्तुत किये हुए रत्न सहित अर्घ्य (जल) मधु, गव्य अर्थात् मधुपर्क, दो नये दुकूल आदि मन्त्रों के सहित ग्रहण किये। अन्तः पुर की कुशल स्त्रियाँ दुकूल पहने हुए शिव को वधू के पास ले गयीं। वे दोनों परस्पर देखने को आकुल अपने नेत्रों को लज्जा से नियन्त्रित किये थे। तब हिमवान् के पुरोहित के द्वारा आगे लाये उमा के पाणि को शिव ने ग्रहण किया।

तस्याः करं शैलगुरुपनीतं जग्राह ताम्राङ्गुलिरष्ट- मूर्तिः। वही ७६

दोनों ने जलती हुई अग्नि की प्रदक्षिणा की। पुरोहित ने तीन बार दोनो को अग्नि की प्रदक्षिणा करा कर पार्वती से लाजाञ्जलि अग्नि में छुड़वायी और फिर उससे उस सुगन्धित धूमाञ्जलि को मुख पर ले जाने को कहा—

तौ दम्पती त्रिः परिणीय वह्निम्. .

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स कारयामास वधूं पुरोधास्तस्मिन् समिद्धार्चिषि लाजमोक्षम्।

सा लाजधूमाञ्जलिमिष्ट-गन्धं गुरुपदेशाद् वदनं निनाय।वही ९-१

फिर पुरोहित ने वधू से कहा—बेटी, यह अग्नि तुम्हारे विवाह कर्म की साक्षी है। अव तुम स्वतन्त्र रूप से अपने पति के साथ धर्म- कार्य करो। पार्वती ने ब्राह्मण के वचन का दोनों कान खोलकर पान किया। पति ने उसे ध्रुव नक्षत्र के दर्शन के लिये कहा तो पार्वती ने मुख उठाकर लज्जा के कारण धीमे स्वर से कहा—देख लिया—

वधूं द्विजः प्राह तवैष वत्से! वह्निं विवाहं प्रति कर्मसाक्षी।

शिवेनभर्त्रासह धर्मचर्या कार्या त्वया मुक्त-विचारयेति॥

ध्रुवेण भर्त्रा ध्रुव-दर्शनाय प्रयुज्यमाना प्रिय-दर्शनेन।

सा दृष्ट इत्याननमुन्नमय्य ह्री-सन्नकण्ठी कथमप्युवाच।वही ८,३,५

तत्पश्चात् दोनों ने पितामह को प्रणाम किया। उन्होंने वधू को वीर- प्रसवा होने का आशीर्वाद दिया। पूज्यों को प्रणाम करने के उपरान्त वे दोनों लोकोपचार के लिये सजी सजायी चौकोर वेदी में कनकासन पर बैठे और आर्द्र अक्षतों के आरोपण की क्रिया की, जो लौकिक आचार था। लक्ष्मी ने उनके ऊपर लम्बे नाल दण्ड वाला कमल छत्र बनाकर रख दिया। सरस्वती ने उन्हें तुष्ट करने के लिये संस्कृत और प्राकृत में स्तुति की। शिव के लिये शास्त्र- शुद्ध संस्कृत में और पार्वती के लिये सरलता से समझ में आने वाली भाषा प्राकृत में। फिर अप्सराओं ने शृङ्गार रसानुकूल कैशिकी आदि वृत्तियों, वसन्त ललितादि अवसरोंचित रागों और मधुर अङ्ग विक्षेपों के साथ यथोचित सन्धियों में निबद्ध नाटक का प्रदर्शन किया। तदनन्तर शिव ने देवगणों को विदा किया और पार्वती का हाथ पकड़कर उसे अपने साथ हेममय कुम्भों और पुष्प-रचना से सजे हुये शय्या- गृह में ले गये जहाँ उनके लिये भूमि पर शय्या बनायी गयी थी। शास्त्रानुसार उन्होंने तीन रात्रियाँ क्षार- लवण-रहित भोजन के साथ ब्रह्मचर्य पूर्वक बितायीं। आश्वलायन ने कहा है—"अत ऊर्ध्वमक्षारालवणाशिनावधः शायिनौ ब्रह्मचारिणौ स्याताम्।" कालनिर्धारित करते हुये याज्ञवल्क्यने कहा है—"त्रिरात्रं द्वादशरात्रं वा।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिदास की आदर्श विधि

यह विवाह विधि कालिदास कालीन और सामान्य द्विजों में प्रचलित थी। कालिदास ने शिव पार्वती के बहाने अपने द्वारा मान्य आदर्श विवाह के रूप में इसे प्रस्तुत किया है। यही विधि कुछ लौकिक आचारों के भेद से आज भी भारत में प्रचलित है। इसमें वर्णित मधुपर्क दान, लाजा होम, त्रिः प्रदक्षिणा, पाणिग्रहण, और त्रिरात्र आदि सब क्रियायें गृह्यसूत्रों के अनुसार हैं।

स्वयंवर पद्धति

दूसरी विवाह विधि स्वयं वरण की है जो विशेषतया क्षत्रिय राजपरिवारों में प्रचलित थी। आवश्यक नहीं था कि सारी राजकुमारियों का विवाह स्वयंवर द्वारा ही होता हो फिर भी यदि कन्या विशेष रूपवती या गुणवती हुई तो योग्यतम वर के चयन के लिये इस विधि का आश्रय लिया जाता था। इसमें सभी मित्र राज्यों को निमन्त्रण भेजा जाता था। रघु के पुत्र अज का विवाह स्वयंवर द्वारा हुआ था। कालिदास ने रघुवंश के पञ्चम सर्ग में इसका वर्णन किया है।

क्रथ कैशिक अर्थात् विदर्भ के राजा भोज ने अपनी बहिन इन्दुमती का स्वयंवर रचाया और उसमें अन्य राज्यों के साथ कोसलपति रघु को भी निमन्त्रण भेजा। उसका पुत्र अज विवाह योग्य हो गया था। और विदर्भ सब प्रकार प्रतिष्ठित राज्य था। अतः रघु ने सेना के साथ अपने पुत्र अज को स्वयंवर में भाग लेने के लिये भेज दिया।

स्वयंवर के लिये एक चौड़ा राजपथ बनाया गया था जिसके दोनों ओर दो ऊँचे मञ्च थे जिन पर राजकुमारों के बैठने के लिये विविध वर्णों से युक्त आस्तरण वाले रत्न-टँके आसन (बड़ी ऊँची कुर्सियाँ) रखे थे। मञ्च पर चढ़ने के लिये सीढ़ियाँ बनायी गयी थीं। विदर्भ नरेश ने अज को उन के लिये निश्चित आसन दिखलाया तो वह सीढ़ियों पर चढ़कर अपने स्थान पर जा विराजे। मञ्चों पर अगुरु की धूप वत्तियों की सुगन्ध फैल रही थी। राजवंशों को जानने वाले वन्दी जनों ने सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी क्षत्रियों का स्तुति गान किया। प्रत्येक राजकुमार के साथ उसकी अपनी केतु पताका पहरा रही थी। शंख और मङ्गल तूर्य बज रहे थे। तभी विवाह का नेपथ्य पहने हुये राजकुमारी इन्दुमती मनुष्यों द्वारा कन्धों पर उठायी हुई चौकोर पालकी पर सवार होकर अपनी वयस्या सखियों और अनुचरों के साथ मञ्चों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मध्यवर्ती राजमार्ग में प्रविष्ट हुई। राजकुमारी के अवतीर्ण होते ही उसका ध्यान अपनी ओर खींचने के लिये अनेक राजकुमार तरह तरह की चेष्टायें करने लगे—

मनुष्य-वाह्यं चतुरस्रयानमध्यास्य कन्या परिवार-शोभि।

विवेश मञ्चान्तर-राजमार्गं पतिंवरा क्लृप्तविवाहवेषा।रघु. ६-१०

तां प्रत्यभिव्यक्त-मनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्र-दूत्यः।

प्रवाल-शोभा इवपादपानां शृङ्गार-चेष्टा विविधा वभूवुः।।वही १२

तब राजवंशों से सम्यक् परिचित सुनन्दा नाम की द्वारपालिका राजकुमारी को साथ लेकर उपस्थित राजकुमारों में से प्रत्येक के पास ले गयी और उनके नाम, स्थान, वंश तथा गुण-कीर्ति आदि का राजकुमारी को परिचय दिया।

कुमारी राजकुमार के समक्ष वरमाला लिये जाती। प्रतीहारी से उसकी प्रशस्ति सुनती और फिर आगे बढ़ जाती। जिसे छोड़कर वह आगे बढ़ती उस राजकुमार का मुख विवर्ण हो जाता—

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।

नरेन्द्रमार्गाट्टइव प्रपेदे विवर्णभावं स सभूमिपालः।। वही ६७

अज के पास पहुँची तो उसे देखकर उसने आगे न जाने का निश्चय कर लिया—

तं प्राप्य सर्वावयवानवद्यं व्यावर्ततान्योपगमात् कुमारी। वही ६८

तभी सुनन्दाने अज की प्रशंसा करते हुये कहा—कुल, कान्ति, वयस् और विनय प्रमुख अनेक गुणों के कारण यह सब प्रकार आपके तुल्य हैं। इन का वरण कीजिये। और उसके ऐसा कहने के उपरान्त इन्दुमती ने लज्जा पर नियन्त्रण करते हुये प्रसन्नता पूर्ण निर्मल दृष्टि के साथ माला अज के कण्ठ में डाल दी।

आसञ्जयामास यथाप्रदेशं कण्ठे गुणं मूर्तमिवानुरागम्। वही ८३

कालिदास ने माला को चूर्ण- गौर कहा है। अर्थात् उसका सूत्र लाल चूर्ण से रँगा हुआ था। वरण के पश्चात् विदर्भ नरेश पुर से बाहर बने हुये स्वयंवर वितान मण्डप से अज और अपनी वहिन के साथ नगर की ओर चल दिये। इधर राजा लोग अपने अपने शिविर को चले गये। अज और इन्दुमती उस राजमार्ग से निकले जिस पर इन्द्रधनुष के समान शोभा वाले तोरणों और पताकाओं के साथ नये नये उपचारों की रचना की गयी थी जिससे मार्ग पर धूप नहीं लग रही थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्हें देखने के ये राजमार्ग के दोनों और नारियाँ गवाक्षों पर आ गयी । कालिदास ने इस प्रसंग का वर्णन शिव पार्वती की वरयात्रा के समान तो किया ही है, साथ ही कुमार संभव के श्लोक ज्यों के त्यों उद्धृत कर दिये हैं । इस प्रकार मार्ग में कर्णप्रिय वातें सुनते हुये अज भोज के सद्म में पहुँचे और वहाँ कामरूप नरेश के हाथ का सहारा लेकर हथिनी से उतर गये और भोज द्वारा निर्दिष्ट अन्तःपुर के मध्यवर्ती चतुष्क (आँगन) में प्रविष्ठ हुये । वहाँ उन्होंने रत्नों के साथ मधुपर्क और दुकूलों की जोड़ी भोज से ग्रहण की । उन्होंने दुकूल पहन लिये—

महार्ह-सिंहासनसंस्थितोऽ सौ सरत्नमर्घ्यं मधुपर्क-मिश्रम् ।

भोजोपनीतं च दुकूल-युग्मं जग्राह सार्धं वनिता-कटाक्षैः ।। वही ७-१८

महार्ह सिंहासन पर बैठे हुए अज को अन्तःपुर के रक्षक वधू के समीप ले गये । वहाँ भोजपति के आदरणीय पुरोहित ने आज्य आदि से अग्नि में हवन कर और उसी अग्नि को साःक्षी कर के वर-वधू को विवाह सूत्र में आवद्ध कर दिया ।

दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोध- रक्षैः । वही १९

तथा—

तत्रार्चितो भोजपतेः पुरोधा हुत्वाग्निमाज्यादिभिरग्निकल्पः ।

तमेव चाधाय विवाह-साक्ष्ये वधू-वरौ संगममयांचकार ।वही २०

अज ने वधू का पाणिग्रहण किया—'हस्तेन हस्तं परिगृह्य' अर्थात् हाथ में हाथ लेकर । तत्पश्चात् वर- वधू ने अग्नि की प्रदक्षिण परिक्रमा की । अग्नि में लाजाञ्जलि छोड़ी—

प्रदक्षिण-प्रक्रमणात् कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुंन चकासे । वही २४

चकार सा मत्त-चकोर-नेत्रालज्जावती लाजविसर्गमग्नौ ।वही २५

हविष्, शमीपल्लव और लाजाओं की मिश्रित गन्ध से युक्त यज्ञधूम सर्वत्र फैल रहा था । कात्यायन ने कहा है कि शमी के पल्लवों के साथ लाजाञ्जलि अग्नि में छोड़नी चाहिये—'शमीपल्लव- मिश्राँल्लाजानञ्जलिमावपति' । तदनन्तर वर वधू ने स्नातकों, स्नेहियों, सम्वन्धियों सहित राजा तथा पति पुत्रवती स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त आर्द्रर्द्राक्षतों के आरोपण में भाग लिया । इस प्रकार वहिन के पाणि- ग्रहण कौतुक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को सम्पादित कर भोज ने रघु को विदा किया। विदा के समय कन्या को अपने उत्साह के अनुसार वस्तुयें और धनादि संपद् भीं भेंट में दी।

दुहितृ- शुल्क

तीसरे प्रकार का विवाह कन्या शुल्क देकर वधू प्राप्त करना था। इसमें वर के लिये किसी न किसी प्रकार योग्यता निश्चित रहती थी। धनवत्ता, विद्वत्ता, यशस्विता और शक्तिमत्ता आदि में कोई भी शुल्क कन्या का पिता स्थिर कर देता था जिसकी पूर्ति करने पर ही अभ्यर्थक कन्या प्राप्ति का अधिकारी हो सकता था। तीनों प्रकार के विवाहों में कन्या माँगने वर को ही या उसके प्रतिनिधि को ही जाना पड़ता था। सीता का विवाह वीर्य- शुल्क था। अर्थात् वीरता की परीक्षा में उत्तीर्ण होने वाला ही सीता के साथ विवाह कर सकता था और यह विवाह- शुल्क था शिव के धनुष् का आनमन। मिथिला में परीक्षार्थ आये राजाओं में कोई भी धनुष् को नहीं झुका सका। अन्त में विश्वामित्र राम को ले लेकर आये जिन्हें देखकर एक ओर तो जनक को प्रसन्नता हुई क्योंकि राम प्रसिद्ध क्षत्रिय वंश के कुमार थे किन्तु उनकी आयु, कोमल शरीर और अपना दुरानम्य धनुष देखकर वह मन में पीडित भी हुए—

तस्यवीक्ष्य ललितं वपुः शिशोः पार्थिवः प्रथित वंशजन्मनः।

स्वं विचिन्त्य च धनुर्दुरानमं पीडितो-दुहितृशुल्क-संस्थया। रघु. ११-३८

किन्तु विश्वामित्र के विश्वास दिलाने पर जनक ने परिचर- गणों को धनुष् लाने का आदेश दिया—"व्यादिदेश गणशोऽथ पार्थिवान् कार्मुकाभिहरणाय मैथिलः" रघु. ११-४३। और राम ने सारी संसद् के सामने उस धनुष की प्रत्यञ्चा खींचकर वाण चढ़ा दिया। किन्तु प्रत्यञ्चा के अधिक खींचने से वह धनुष अत्यन्त तीव्र स्वन के साथ टूट गया—

आततज्यमकरोत् स संसदा विस्मयस्तिमित-नेत्रमीक्षितः।वही ४५

और

भज्यमान मतिमात्र कर्षणात्तेन वज्र- परुष-स्वनं धनुः। वही ४६

और तब रुद्र के धनुष के माध्यम से राघवं को वींर्य की परीक्षा कर अपनी आयोजित पुत्री सीता को उन्हें वीर्य शुल्क के बदले दे दिया। कन्यादान अग्नि को साक्षी करके होता है, यह प्रथा है किन्तु अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिये जनक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने विश्वामित्र मुनि को अग्नि के रूप में मानकर उनके साक्ष्य में अपनी पुत्री राम को प्रदान कर दी—

दृष्टसारमथ रुद्रकार्मुके वीर्य-शुल्कमभिनन्द्य मैथिलः

राघवाय तनयामयोनिजां. . . मैथिलः सपदि सत्य-सङ्गरः

सन्निधौ द्युतिमतस्तपोनिधेरग्नि-साक्षिक इवातिसृष्टवान् ।वही४७,८

अग्नि और तपोनिधि में द्युतिमत्त्व समान है। जनक ने राम के पिता के समीप पुरोहित को भेजा और अपने कुल को 'भृत्यभावि' के रूप में स्वीकार करने को कहा। दशरथ राम के लिये योग्य पत्नी की तलाश में थे। अतः उन्हें जनक की बात अनुकूल लगी। वह पुरोहित का उचित सम्मान करके सैन्य के साथ मिथिला को चल दिये।

मिथिला पहुँचकर दशरथ और जनक दोनों ने साथ मिलकर पुत्र और पुत्री की वैवाहिक क्रियाओं को अपने प्रभाव और प्रतिष्ठा के अनुकूल अनुष्ठित किया—

तौ समेत्य समये स्थितावुभौ भूपती वरुण-वासवोपमौ।

कन्यका-तनय-कौतुक-क्रियां स्वप्रभाव-सदृशीं वितन्यतुः ॥ वही ५३

स्पष्ट ही उपर्युक्त 'कन्यकातनय- कौतुक- क्रिया' में वे सर्व धार्मिक एवं लौकिक कर्म और आचार सम्मिलित थे जिनका व्यौरेवार वर्णन उपर्युक्त दोनों विवाह विधियों में हुआ है। अज और राम के विवाह में एक सादृश्य यह है कि अज को लौटते समय मार्ग में असफल राजाओं के तथा राम को परशुराम के क्रोध का सामना करना पड़ा था।

गान्धर्व विवाह

गान्धर्व विवाह दुःष्यन्त और शकुन्तला का है जिसमे प्रथम दर्शन में ही परस्पर राग उत्पन्न हो जाता है। दुःष्यन्त शकुन्तला के रूप पर मुग्ध होता है—

अधरः किसलय-रागः कोमल-विटपानुकारिणौ वाहू।

कुसुममिवलोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम्॥ शाकु. १-१९

इतना ही नहीं वह मन में आश्रम व्यवस्था की आलोचना तक करता है—

इदं किलाव्याज-मनोहरं वपुः तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति।

ध्रुवं सनीलोत्पल-पत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यस्यति॥ वही १-१७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरी ओर शकुन्तला भी कहती है—

किंणु खु इमं पेक्खिअ नवोवण विरोहिणो

वि आरस्स गणणी अम्हि सं वुत्ता। वही १

दुःष्यन्त धीरे-धीरे अपना जाल फेंकता जाता है और नव यौवन- जनित चापल और कुतूहल उसे उस जाल में फँसाते चले जाते हैं । दुःष्यन्त उसकी सहेलियों के मुख से सारे तथ्य उगलवा लेता है । धीरे धीरे वह सब घटित होने लगता है जिसे लेकर संस्कृत का शृङ्गार साहित्य भरा पड़ा है । विदूषक और राजा के बीच शकुन्तला को लेकर जो चर्चा होती है वह सर्वथा अशोमन है । कुलपति की अनुपस्थिति में आश्रम की मर्यादा का सब प्रकार उल्लंघन करने वाला दुष्यन्त राजकाज भूलकर इसी चिन्ता में घुलने लगा है कि यह अक्षत रुप राशि न जाने किसके हाथों में पड़ेगी । उसके इस पागलपन का कारण एकमात्र शकुन्तला का सौन्दर्य है—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै

रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादित-रसम्।

अखण्डं पुण्यानां फलमिव चतद्रूपमनधं

न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥ शाकु. २-११

वह सामान्य लम्पट के समान सरल बालिका को जाल में फाँसने के लिये सारी परिस्थितियाँ जुटाता है । साथी विदूषक से झूठ बोलता है । इतना होने पर भी वह पहले प्रणय निवेदन नहीं करता । छिप-छिपकर शकुन्तला की मनोदशा जानने का प्रयत्न करता है । शकुन्तला भी मदन पीडित है । आश्चर्य यह कि वाल्यकाल से आश्रम में पली यह लड़की सामान्य से पुरुष- परिचय के साथ ही कामार्त हो उठती है । वह भी उस राजा के प्रति जिसकी एक नहीं, अनेक पत्नियाँ पहले से विद्यमान हैं और जो माता के पुत्र- पिण्ड- पालन व्रत की पारणा में सम्मिलित होने के आग्रह को धूर्तता पूर्वक टाल देता है ।

यहाँ शकुन्तला की मदन- वाधा तथा उसके कमल दल पर नखों से पत्र लिखकर भेजने की चर्चा अनावश्यक है । आश्रम कन्यायें इतनी भोली हैं कि वे शकुन्तला के उत्ताप को देखकर उससे कहती हैं—"जादिसी इतिहाणिबन्धेषु काम अमाणाणं अवत्था सुखीअदि तादिसी देपेक्खामि" शाकु. अंक ३ । अर्थात् इतिहास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रन्थों में कामी लोगों की जो अवस्था सुनी जाती है वही तुम्हारी देख रही हूँ। किन्तु शकुन्तला जो पत्र राजा को देती है उसमें सीधे-सीधे उस भाषा का प्रयोग करती है जिसका सामान्य नायिकाएँ प्रथम प्रणय के अवसर पर करती हैं—

तुज्झ ण आने हिअं मम उण कामो दिवा विरत्तिम्मि।

णिग्घिण तवदू वलीअंतुहवुत्त मणो रहाइं अंगाइं।। शाकु.३-१३

हे निर्दय ! मैं तुम्हारे हृदय की बात नहीं जानती किन्तु काम मुझे तो रात दिन अति तीव्रता से जला रहा है । सखियाँ चिन्तित हैं कि राजा के अनेक पत्नियाँ हैं । कहीं शकुन्तला का जीवन नरक न वन जाय—"वअस्स ! वहु वल्लहा रा आणो सुणीअन्ति । जहणो पिअसही बन्धु अण सो अणिज्जाण होइ तइ णिव्वत्तेहि" । और राजा हर प्रेमी के समान आश्वासन दे देता है—

परिग्रह- बहुत्वेऽ पि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे।

समुद्रवसना चोर्वी सखी च युवयोरियम्।। वही ३-१७

और सखियाँ षड्यन्त्र पूर्वक उन्हें अकेला छोड़कर चली जाती हैं और जब शकुन्तला घबराहट व्यक्त करती है तो दुष्यन्त कहता है—"अलमावेगेन नन्वयमाराधयिताजनस्तव समीपे वर्तते ।

अङ्के निधाय करभोरु यथा सुखंते

संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ। वही ३-१८

बतलाइये कि क्या मैं आपके इन लाल-लाल चरणों को गोद में लेकर दबाऊँ? और अन्त में गान्धर्व विवाह (जिसका दूसरा बिना अर्थ सामाजिक स्वीकृति या अग्नि- साक्ष्य के शारीरिक संभोग है) का प्रस्ताव करता हुआ कहता है—"भीरु अलंगुरुजन भयेन । दृष्ट्वाते विदितधर्मा तत्रभवान्नतत्र दोषंग्रहीष्यति कुलपतिः" । अपि च—

गान्धर्वेण विवाहेन व्यो राजर्षि-कन्यकाः।

श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः।। वही ३-२०

और इस प्रकार दोनों ने काम- पिपासा शान्त की । दुष्यन्त के ही शब्दों में—

अपरिक्षत-कोमलस्ययावत्कुसुमस्येव नवस्य षड्पदेन।

अधरस्य पिपासता मया ते सदयं सुन्दरि गृह्यते रसोऽस्य। वही ३-२१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुन्दरि ! जैसे भ्रमर नये खिले पुष्प का रस पीता है। ऐसे ही मैं तुम्हारे कोमल और अक्षत अधर का बिना तुम्हें कष्ट दिये रसपान कर रहा हूँ।

इस संभोग से शकुन्तला गर्भवती हुई किन्तु महर्षि कण्व ने उसे यह कहते हुए स्वीकार किया कि—"दिट्ठआ धूमा उदिल दिट्ठिणो वि जअमाणस्स पाअए एव्व आहुदी पडिदा" (वही अंक ४)। भाग्यवशात धुएँ के कारण बन्द आँखों से भी डाली गयी आहुति अग्निकुण्ड में ही गिरी। इस विवाह में किसी प्रकार के संस्कार के लिये अवकाश ही नहीं था। हाँ, शकुन्तला को पतिगृह भेजते हुए कुछ माङ्गलिक अनुष्ठान अवश्य किया गया। अनसूया ने उसके लिये केसरमाला, मृगरोचना, तीर्थ मृत्तिका और दूर्वा- किसलय लाकर मङ्गलालंकरण तैयार किये। प्रातर्वेला में केश धोकर शकुन्तला को स्नान कराया गया, नीवार हाथ में लिये हुए तापसियों ने स्वस्ति वाचन के साथ उसका अभिनन्दन किया और आशीर्वाद दिया—पति द्वारा दिये गये सम्मान- सूचक 'महादेवी' पद को प्राप्त करो। दूसरी तापसी ने कहा—वी!र माता बनो। तीसरी ने अशीषा—पति का सम्मान और प्यार प्राप्त करो। मुनि कुमारों ने श्वेत क्षौम वस्त्र, लाक्षारस (महावर) तथा अनेक आभूषण लाकर दिये। उन लोगों को आभरणों को धारण करने का स्थान ज्ञात नहीं था, सो उन्होंने चित्रों में देख देखकर भूषण पहनाये। कण्व ने यज्ञाग्नि की परिक्रमा (प्रदक्षिणा) करायी और अग्नि से उसे पावन बनाने का आशीर्वाद देने को कहा—

अमीं वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः समिद्वन्तः प्रान्त-संस्तीर्ण-दर्भाः।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धै वैंतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु॥वही ४-८

और यह संस्कार गान्धर्व विवाह के कई महीनों के पश्चात् सम्पन्न हुआ। कालिदास के नाटकों के शेष दोनों नायक भी नयी प्रेमिका प्राप्त करने से पूर्व विवाहित हैं। अग्निमित्र मालविका को और पुरुरवा उर्वशी को बिना ही धार्मिक संस्कार विधि के प्राप्त कर लेते हैं। रघुवंश के भी शेष राजा जिनमें स्वयं रघु और राम के पुत्र कुश तक सम्मिलित हैं कालिदास द्वारा विवाह विधि के वर्णन से वंचित रहे। यह बात कवि के एक पत्नीत्व के प्रति पक्षपात को सूचित करती है। उनके नाटकों के नायकों का चरित्र प्रेक्षकों के मनोरंजन को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत किया गया जान पड़ता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्याभिषेक संस्कार

कालिदास ने राजवंश का वर्णन किया है। अतः स्वाभाविक था कि वह विवाह से भी अधिक महत्त्वपूर्ण राज संस्कार 'राज्याभिषेक' का वर्णन करने। उन्होंने कुश के पुत्र अतिथि के सिंहासनारोहण का विधिवत् वर्णन किया है। कुश युद्ध में मारे गये थे और उनके साथ उनकी पत्नी कुमुद्वती ने प्राणत्याग कर दिया था। तब कुश की अन्तिम आज्ञा का स्मरण करते हुए मन्त्रिवृद्धों ने अतिथि को राज्य के लिये अभिषिक्त किया। इस संस्कार के लिये उन्होंने शिल्पियों को बुलाकर चार स्तम्भों पर टिका हुआ ऊँची वेदी वाला विशाल मण्डप बनवाया—"विमानं नवमुद्वेदि चतुःस्तम्भ- प्रतिष्ठितम्" रघु. १७-९। विभिन्न (३६) तीर्थों का जल मँगवाया, उसे सुवर्ण कुम्भों में भरा और फिर अतिथि को भद्रपीठ (श्रेष्ठ चौकी) पर बिठाकर मन्त्रियों ने तीर्थ जल से स्नान कराया। उस समय बजने वाले तूर्यों और पुष्करों का मधुर गम्भीर घोष उसके अविच्छिन्न कल्याण की घोषणा कर रहा था—

तत्रैनं होमकुम्भेषु सम्भृतैस्तीर्थ- वारिभिः।

उपतस्थुः प्रकृतयो भद्रपीठोपवेशितम्॥ रघु. १७-१०

नदद्भिः स्निग्ध-गम्भीरं-तूर्यैराहत-पुष्करैः।

अन्वमीयत कल्याणं तस्याविच्छन्न-सन्तति॥ वही ११

फिर जाति अर्थात् सूर्य वंश के वृद्धजनों ने दूर्वा, यवाङ्कुर (अंकुर निकले हुए जौ) पीपल की छाल तथा नये पल्लवों या मधूक के पुष्पों अथवा कमल कलिकाओं से अतिथि की आरतियाँ उतारी—

दूर्वा-यवाङ्कुर-प्लक्षत्वगभिन्न पुटोत्तरान्।

ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तान् स भेजे नीराजना-विधीन्॥ वही १२

पुरोहितों को आगे लेकर द्विजातियों के प्रमुखों ने विजय दिलाने वाले आथर्वणिक मन्त्रों से उसको अभिषेक (स्नान) कराया। इस समय बन्दीगण उसका यशोगान कर रहे थे। श्रेष्ठ मन्त्रों के साथ स्नान करते समय उसकी द्युति दो गुनी हो रही थी। स्नान के अन्त में अतिथि ने स्नातकों को इतना धन प्रदान किया जितने से उनका यज्ञ उदार दक्षिणा के साथ पूर्ण हो जाय। स्नातकों ने भी प्रसन्न होकर उसे आशीर्वाद दिया। फिर उसने वद्ध लोगों को मुक्त करने, वध्य लोगों का वध-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दण्ड निरस्त करने, भार ढोने वाले पशुओं (बैल, खच्चर, गर्दभ आदि) को भार वहन से अवकाश देने और गायों का दुहना बन्द कर देने का आदेश दिया—

पुरोहित पुरोगास्ते जिष्णुंजैत्रैरथर्वभिः।

उपचक्रमिरे पूर्वमभिषेक्तुं द्विजातयः। रघु. १७-१३

स्तूयमानः क्षणे तस्मिन्नलक्ष्यत स वन्दिभिः। वही १५

स तावदभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो ददौवसु। वही १७

वन्धच्छेदं स वद्धानां वधार्हाणामवध्यताम्।

धुर्याणां च धुरो मोक्षमदोहं चादिशद् गवाम्॥ १९

बन्दिमोक्ष

प्रसन्नता के अवसर पर बन्दियों के मोक्ष की प्रथा बहुत पुरानी है। रघु के जन्म के अवसर पर भी बन्दि-मोक्ष का आदेश दिया गया था किन्तु उस समय दिलीप के कारागृह में कोई बन्दी था ही नहीं—

न संयतस्तस्य बभूव रक्षितु र्विसर्जयेद्यं सुतजन्म हर्षितः। वही ३-२०

अतिथि ने तो पिंजड़ों मे बन्द सारे पक्षियों को भी मुक्ताकाश में उड़ने के लिये स्वतन्त्र करा दिया था—

क्रीडापतत्रिणोप्यस्य पञ्जरस्थाः शुकादयः।

लब्धमोक्षास्तदादेशाद्यथेष्टगतयो ऽभवन्। वही १७-२०

स्नान के पश्चात् अतिथि को महल के दूसरे प्रकोष्ठ में ले जाया गया जहाँ हाथी दाँत के बने आसन पर प्रच्छद (गद्दा और चादर) पड़ा था। वह (नेपथ्य ग्रहण) वस्त्र पहनने और सजने सँवरने के लिये उस आसन पर बैठा। तब प्रसाधक (सजाने सँवारने वाले सेवक) जल से अपने हाथ धोकर आये और उन्होंने सुगन्ध द्रव्यों के धूप में उसके केश सुखाये और फिर माल्य अलंकारादि प्रसाधनों से उसे अलंकृत किया। उन्होंने उसका मुकुट सजाया जिसको मोतियों की लड़ी से बाँधा गया था। भीतर मालायें गुथी थीं। उन्होंने उसमें पद्मरागों (लाल) को गूँथा—

ततः कक्ष्यान्तर-न्यस्तं गजदन्तासनं शुचि।

सोत्तरच्छदमध्यास्त नेपथ्यग्रहणाय सः॥ वही २१

तं धूपश्यान केशान्तं तोयनिर्णिक्त पाणयः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकल्पसाधनैस्तैस्तैरुपसेदुः प्रसाधकाः ।। वही २२

तेऽस्य मुक्तागुणोन्नद्धं मौलिमन्तर्गतस्त्रजम् ।

प्रत्यूपुः पद्मरागेण प्रभामण्डल- शोभिना ।। वही २३

मुकुट पहना, कस्तूरी से सुगन्धित चन्दन का अङ्गराग लगाया और गोरोचना से पत्र रचना की—

चन्दनेनाङ्गरागं च मृग-नाभि-सुगन्धिना ।

समापय्य ततश्चक्रुः पत्रं विन्यस्त-रोचनम् ।। वही २४

विविध आभूषण धारणकर, मालाधारण कर और हंस चिह्नित दुकूल (श्वेत रेशमी पट्ट) ओढ़कर वह राज्य श्री के वर के रूप में बहुत सुन्दर दिखने लगा । तब वह राज सभा को चला । उसके दोनों पार्श्व में छत्र और चामरधारी लोग थे । चारों ओर लोग जयकार कर रहे थे—

आमुक्ताभरणः स्त्रग्वी हंस- चिह्न-दुकूलवान् । वही २५

स राज-ककुदव्यग्र-पाणिभिः पार्श्ववर्तिभिः ।

ययावुदीरतालोकः सुधर्मानवमां सभाम् ।। २७

सभा में वह जिसके ऊपर चँदोवा तना था, पैतृक सिंहासन पर बैठा । बाद में वह हाथी पर सवार होकर नगर- भ्रमण के लिये निकला । इस सब कार्यों में गुरु वसिष्ठ उसके सहायक थे । पुरोहित के मन्त्रों और उसके अपने शौर्य ने हर असाध्य लक्ष्य को साध्य कर दिया—

वसिष्ठस्य गुरोर्मन्त्राः सायकास्तस्य धन्विनः ।

किं तत्साध्यं यदुभये साधयेयुर्न संगताः । वही ३८

कालिदास ब्रह्मक्षत्रिय संगमन के प्रखर पक्षपाती थे ।

तृतीय आश्रम

कालिदास ने रघुवंश का वर्णन इसीलिये प्रारम्भ किया था कि उसमें तीनों आश्रमों की मर्यादा अक्षुण्ण रही थी—शैशव में विद्याभास, यौवन में शास्त्रानुकूल विषय सेवन और वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति या वानप्रस्थ । रघुवंश के प्रथम शासक दिलीप ने वृद्धावस्था आते ही सारे लौकिक विषयों पर से अपने मन को व्यावृत्त कर लिया । उसने राजचिह्न (छत्र और चमर) पुत्र को सौंप दिये और पत्नी सुदक्षिणा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साथ आश्रम में रहने के लिये चला गया क्योंकि इक्षवाकु कुल की यही रीति थी—

अथ स विषय-व्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे,
नृपति-ककुदं दत्त्वा यूने सितातप-वारणम्।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह सिश्रिये।
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुल-व्रतम्। रघु. ३-७

मुनिचर्या

और रघु ने भी वही किया। जब उसने अज को राज्य में सुप्रतिष्ठित देख लिया तो स्वयं न केवल पार्थिव, अपितु स्वर्गीय विषयों की ओर से भी मन हटा लिया—

विषयेषु विनाशधर्मसु त्रिदिवस्थेष्वपि निःस्पृहोऽभवत्।वही ८-१०

यह रघुवंशियों के कुल की परिपाटी थी। अन्तिम वयस् में वल्कल धारण कर संयम के मार्ग पर चलते रहे हैं—

गुणवत्-सुत-रोपित-क्रियाः परिणामेहि दिलीप-वंशजाः।
पदवीं तरुवल्कवाससां प्रयताः संयमिनां प्रपेदिरे॥ वही ८-११

रघु चित्त की एकाग्रता के लिये कुश- शय्या पर सोने लगे। धारणा के बाद प्रणिधान के लिये वह शरीर की पञ्च वायुओं को वश में कर प्राणायाम साधन करने लगे। वह ज्ञानाग्नि से अपने कर्मों के दहन में प्रवृत्त हो गये। लोष्ठ और काञ्चन में समान वुद्धि रखते हुये उन्होंने तीनों गुणों (सत्त्व, रजस् और तमस्) पर विजय प्राप्त कर ली। उन्होंने आत्म- साक्षात्कारार्थ स्थित- धी का भाव प्राप्त कर परमात्म दर्शन से पूर्व योग विधि का परित्याग नहीं किया। इस प्रकार इन्द्रिय संयमादि के द्वारा रघु ने अपवर्ग की प्राप्ति की। उन्होंने समदृष्टि होकर भी अज के आग्रह के कारण कुछ वर्ष बिता दिये और फिर योग- समाधि के द्वारा तमस् के पार मायातीत परमपुरुष को प्राप्त कर लिया।

रघु का वानप्रस्थ

रघु तो अज के समर्थ होते ही घर का परित्याग कर अरण्यवासी हो जाना चाहते थे किन्तु अज ने अपना सिर उनके चरणों में रखकर याचना की कि आप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुझे छोड़कर न जाइये ऐसा कहकर वह रोने लगे तव अज की भावना को ध्यान में रखकर उन्होंने अरण्य वास का विचार तो बदल दिया किन्तु राज्य श्री से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और वह नगर से वाहर कुटी में चतुर्थ आश्रम में प्रविष्ट होकर रहने लगे। उन्होंने यति का वेश तथा अन्य चिह्न धारण कर लिये और योगियों का संग करने लगे।

कालिदास ने रघु के तृतीय आश्रम का वर्णन पातञ्जल योगसूत्र और भगवद्गीता को ध्यान में रखकर किया है। कालिदास के समय तक संन्यासाश्रम वैदिक परम्परा के लोगों में प्रचलित नहीं था। लोग सपत्नीक अरण्य वास के लिये जाते थे। कालिदास के नवीन टीकाकारों ने संन्यास और प्रवज्या जो एक मान लिया है वह केवल अज्ञान वश। प्रवज्या घर छोड़कर जाने का नाम है। यह वानप्रस्थ का बोधक है और संन्यास सर्व- परित्याग का सूचक। प्रव्रज्या में पत्नी और अग्नि का त्याग नहीं होता। इसीलिये—

मुक्ता-यज्ञोपवीतानि विभ्रतो हेमवल्कलाः।

रत्नाक्ष-सूत्राः प्रव्रज्यां कल्पवृक्षा इवाश्रिताः॥ कुमार. ६-६

इस श्लोक में मुक्ताओं का यज्ञोपवींत, सुवर्णमय वल्कल वस्त्र और रत्नों के अक्षसूत्र पहले सप्तर्षियों को देखकर कवि ने कहा—लगता था जैसे कल्पवृक्षों ने प्रवज्या ग्रहण कर ली हो। यहाँ टीका करते हुये मल्लिनाथ ने प्रव्रज्या का अर्थ वान-प्रस्थ ही स्वीकार किया है—"प्रव्रज्या प्रव्रजनम्। अत्र चतुर्थाश्रमवाचिना प्रव्रज्याशब्देन वानप्रस्थाश्रमो लक्ष्यते"। कालिदास ने आगे इसी सर्ग के ३४वें श्लोक में कहा है कि संयमियों के आदि पुरुष शिव परिणय के लिये उद्यत हो गये तो सप्तर्षियों ने भी विवाह करने के कारण उत्पन्न लज्जा का परित्याग कर दिया—"जहुः परिग्रहः- व्रीडां प्राजापत्यास्तपस्विनः"। याज्ञवल्क्य ने दोनों प्रकार के वानप्रस्थों का समर्थन किया है—पत्नी को पुत्र की देखरेख में छोड़कर अथवा साथ ले जाकर—"सुतविन्यस्तपत्नीक स्तथा नानुगतोपिसन्" याज्ञ. सू. ३-४५। इस श्लोक से स्पष्ट है कि वैखानस या वानप्रस्थीलोग यज्ञोपवीत पहनते थे, वल्कल धारण करते थे और अक्षमाला भी साथ रखते थे। प्रव्रज्या से आगे बढ़कर संन्यास का एक उदाहरण परशुराम में मिलता है जो राम से पराजय के पश्चात् सतत् तीर्थाटन के लिये चल देते हैं और स्वर्गीय सुखोपभोग तक से विरति ग्रहण कर लेते हैं—

तद्-गतिं मतिमतां वरेप्सितां पुण्यतीर्थ-गमनाय रक्ष मे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पीडयिष्यति न मां खिलीकृता स्वर्ग-पद्धतिरभोग लोलुपम् ।।रघु. ११-८७

इसी प्रकार नल ने भी अपने पुत्र नभस् को शासन- का भार सौंप कर वानप्रस्थ ले लिया था—

तस्मै विसृज्योत्तर-कोसलानां धर्मोत्तरस्तत्प्रभवे प्रभुत्वम् ।

मृगैरजर्यं जरसोपदिष्टमदेह-वन्धाय मतिं बबन्ध ।। रघु. १८-७

वैखानस जीवन

वानप्रस्थ अग्नि का परित्याग नहीं करते थे । वन में पत्नी के साथ ब्रह्मचर्य एवं वाचंयम और चिन्तक का जीवन बिताते थे और अतिवृद्ध हो जाने पर योग समाधि के द्वारा प्राण- त्याग करते थे । वैदिक आर्यों में संन्यास का चलन शंकराचार्य के पश्चात् हुआ । "ब्राह्मणाः परिव्रजन्ति" तथा "आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेत् गृहात्" का अर्थ आज के अर्थ में परिव्राजक बनता नहीं है । 'यदहरेव विरजेत् तदरेव प्रव्रजेत्' का अर्थ केवल गृहत्याग है । बौद्धों की प्रव्रज्या नहीं, जिसके पृथक् नियम हैं । वैखानस तृतीय आश्रम था जिसकी ओर प्रव्रजेत् कहकर संकेत किया गया है । कालिदास ने भी "शैशवे. . . तनु त्याजाम्" आदि श्लोक में तीन आश्रमों की ही चर्चा की है ।

अज की अन्तिम स्थिति

अज ने भी परम्परा का निर्वाह किया, यद्यपि उसके शरीर- त्याग का कारण भिन्न था । अज तो पत्नी के वियोग में ही मृत्यु का वरण कर लेते यदि वशिष्ठ के शिष्य ने उनको प्रवोधित न किया होता । वसिष्ठ शिष्य उन्हें 'पथश्च्युत' कहता है । पत्नी के मरण के उपरान्त दशरथ के बालक होने के कारण उन्होंने आठ वर्ष किसी प्रकार काट दिये—"तेनाष्टौ परिगमिताः समाः कथञ्चित् वालत्वावितथ सूनृतेन तेन" रघु. ८-९२ । इस बीच उन्होंने पुत्र को सम्यग् शिक्षित किया, प्रजारक्षण की विधि सिखायी और जब वह कवच धारण करने योग्य हो गया तो उन्होंने अनशन द्वारा गङ्गा और सरयू के संगम पर शरीर त्याग कर दिया—

तीर्थे तोयव्यतिकर-भवे जह्नुकन्या- सरय्वो,

देहत्यागादमर-गणनालेख्यमासाद्य सद्यः ।

. . . संगतः कान्तयाऽसौ । रघु. ८-९५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुश और कुमुद्वती के पुत्र अतिथि ने भी वार्धक्य का प्रवेश होने पर साम्राज्य का भार पुत्र को सौंप दिया और कुल परम्परा के अनुसार वानप्रस्थ लेकर साधना करते हुए शरीर त्यागा—

शब्दादि निर्विश्य सुखं चिराय तस्मिन् प्रतिष्ठापित-राजशब्दः ।

कौमुद्वतेयः कुमुदावदातै र्द्यामर्जितां कर्मभिरारुरोह ।।रघु. १८-३

संस्कारों पर श्रद्धा

कालिदास की संस्कारों पर बड़ी आस्था थी । इसीलिये महर्षि मारीच जब भरत को आशीष देते हुए कहते हैं—

इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात् सर्वदमनः ।

पुनर्यास्यात्याख्यां भरत इति लोकस्यभरणात् ।।

तो दुःष्यन्त इतना ही कहता है—"भगवताकृत- संस्कारे सर्वमस्मिन् वयमाशास्महे" । शाकु. ७-३३

इसी प्रकार पुरुरवा और उर्वशी के पुत्र आयुष् के सम्बन्ध में तापसी बतलाते हैं—

"एष दीर्घायुः आयुः जातमात्र एव उर्वश्या किमपि निमित्तमवेक्ष्य मम हस्ते न्यासीकृतः । यत् क्षत्रिय- कुमारस्य जातकर्मादि विधानं तदस्य भगवता च्यवनेना शेषमनुष्ठितम् । गृहीतविद्यः धनुर्वेदे अभिविनीतः । अद्यपुष्प- समित्कुश निमित्तं ऋषिकुमारकैः सह गतेनाश्रमविरुद्धमाचरितम्" (विक्रमो. अंक ५)

क्षत्रिय ब्रह्मचारियों को आश्रम में धनुर्वेद की भी पूर्ण शिक्षा दी जाती थी किन्तु अनुशासन भंग करने पर दण्ड भी दिया जाता था । ब्रह्मचारी राजपुत्र भले ही हो उसे अन्य बालकों के समान पुष्प, समित् कुशादि लाने का काम करना ही पड़ता था । विक्रमोर्वशीय का उपर्युक्त उद्धरण इसका प्रमाण हैं ।

अन्त्येष्टि संस्कार

संस्कारों में अन्तिम है अन्त्येष्टि । इसकी महत्ता इष्टि शब्द से ही समझी जा सकती है । गृहस्थों का मृत शरीर अग्निसात् किया जाता था । काम की पत्नी रति भी पति के वियोग में चिता पर चढ़कर शरीर त्याग करना चाहती है और अज भी अपनी पत्नी की चिता में स्वयं को आहुत करने के इच्छुक है । रति कहती है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नवपल्लव- संस्तरे तथा रचयिष्यामि तनुं विभावसौ ॥ कुमार. ४-३४

और तदर्थ वह अपने पति के मित्र माधव (वसन्त) से प्रार्थना करती है—

कुरु सम्प्रति तावदाशु मे प्रणिपाताञ्जलि याचितश्चिताम्। वही ३५

तदनु ज्वलनं मदर्पितं त्वरये र्दक्षिणवात-वीजनैः। वही ३६

अन्त्येष्टि के पश्चात् जलाञ्जलि देने की प्रथा थी और निवाप या पिण्डदान की भी। इसी को उद्दिष्ट कर रति कहती है कि हे सखा! तुम हम दोनों को एक ही जलाञ्जलि देना क्योंकि परलोक में मेरा पति उसे मेरे साथ एक ही पात्र में पान करेगा, मुझ से पृथक् नहीं। और श्राद्ध या पिण्डोदक क्रिया में तुम काम को कोमल चल पल्लवों की आम्रमञ्जरी अर्पित करना। यही स्वधा उन्हें प्रिय है—

इतिचापि विधाय दीयतां सलिलस्याञ्जलिरेक एव नौ।

अविभज्य परस्परंमया सहितः पास्यति ते स वान्धवः ॥ वही ३७

परलोक-विधौ च माधव! स्मरमुद्दिश्य विलोलपल्लवाः।

निवपेः सहकार-मञ्जरीः प्रियचूत-प्रसवो हि ते सरवा॥ वही ३८

अन्त्येष्टि के साथ जलाञ्जलि और फिर विशिष्ट अवसरों पर पिण्डोदक दान पर कालिदास का विश्वास था। उन्होंने रामलक्ष्मण के द्वारा जटायु का अग्नि संस्कार तथा तर्पणादि और्ध्वदैहिक क्रियायें भी सम्पन्न करायी हैं—

तयोस्तस्मिन्नवीभूत-पितृव्यापत्ति-शोकयोः।

पितरीवाग्नि-संस्कारात् पराववृतिरे क्रियाः ॥ रघु. १२-५६

यहाँ 'पितरीव' यह पद भी महत्त्वपूर्ण है। और रघुवंश के अन्तिम राजा अग्निवर्ण को तो मन्त्रियों ने विप्लव के डर से गृहोपवन में ही अग्निसात् कर दिया था—

तं गृहोपवन एव संगताः पश्चिम क्रतुविदा पुरोधसा।

रोग-शान्तमपदिश्य मन्त्रिणः संभृते शिखिनि गूढमादधुः ॥ रघु. १९-५४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और रघु ? उसने तो अज के समर्थ होते ही गृह का परित्याग कर दिया था। योग समाधि के द्वारा वह परम पद को प्राप्त हुआ। वैखानस यति का संस्कार अग्नि में न करके या तो जल में प्रवाहित करके या भूमि में गाड़ कर करने की प्रथा थी। शौनक ने कहा है—"सर्वसंग- निवृत्तस्य ध्यानयोगरतस्य च—न तस्य दहनं कार्यं नैव पिण्डोदकक्रियाः। विदध्यात् प्रणवेनैव विले भिक्षोः कलेवरम्-प्रोक्षणं खननं चैव सर्वं तेनैव कारयेत्"। पिता के मरने पर अज ने बहुत आँसू बहाये। फिर उनका अनग्नि अन्त्य संस्कार किया। यद्यपि वह पितृकार्य कल्प से परिचित थे। जानते थे कि उन्हें तिलोदक पिण्डदान की आवश्यकता नहीं है। योग समाधि के द्वारा प्राण त्याग करने वालों के और्ध्व कर्म नहीं किये जाते फिर भी अगाध पितृ-भक्ति के कारण उसने ये कर्म सम्पन्न किये—

श्रुतदेह-विसर्जनः पितुश्चिरमश्रूणि विमुच्य राघवः।

विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिभिः सार्धमनग्निमग्निचित्॥

अकरोत् स तदौर्ध्व-दैहिकं पितृभक्त्या पितृकार्य-कल्पवित्।

नहि तेन पथा तनुत्यजस्तनया-वर्जित-पिण्डकाङ्क्षिणः॥रघु. ८-२५, २६

तपश्चर्या

तप का उद्देश्य

कालिदास ने तप की वार-वार चर्चा की है किन्तु उसकी प्रक्रिया या विधान तथा फल की स्पष्ट व्याख्या नहीं प्रस्तुत की। उदाहरणार्थ शिव तप करते हैं—

तत्राग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्तिः।

स्वयं विधाता तपसः फलानां केनापि कामेन तपश्चचार॥ कुमार. १-५७

शिव अग्नि जलाकर और समिधायें डाल डालकर उसे और अधिक प्रज्वलित बनाये रख कर किसी कामना से तप कर रहे थे, यद्यपि वह स्वयं ही तपों का फल देने वाले हैं। इस कथन से न तो यह स्पष्ट होता है कि अग्नि जलाकर वह जो जप कर रहे थे उसका स्वरूप क्या था। फिर अग्नि तो शिव का ही एक रूप है। उनके आठ रूपों पञ्चमहाभूत, सूर्य, चन्द्रमा और यजमान थे जिनका उल्लेख कवि ने अभि. शाकु. १-१, मालविका. १-१, कुमार. ६-७-८ और रघुवंश ३-६६, ५-४, ९-२१ में किया है, उनमें अग्नि भी एक है। इसका अर्थ यह कि शिव अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही एक मूर्ति को 'समित्समिद्ध' कर रहे थे और इस क्रिया द्वारा वह जो तप कर रहे थे वह कैसा था और तप के फल दाता होकर भी स्वयं किस उद्देश्य से तप कर रहे थे—ये सब प्रश्न रहस्य बनकर रह गये हैं। किन्तु शाकुन्तल के अन्तिम अंक में उन्होनें तप के उद्देश्यों की ओर संकेत किया है—

प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्प-वृक्षे वने,
तोये काञ्चनपद्मरेणु-कपिशे पुण्याभिषेक-क्रिया।
ध्यानं रत्न-शिलातलेषु विवुधस्त्री-संनिधौ संयमो,
यद् वाञ्छन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी॥ ७-१२

यह महर्षि कश्यप को लेकर कहा गया है कि अन्य मुनि तप के द्वारा जो प्राप्त करना चाहते हैं वह सब इन्हें यों ही प्राप्त हैं और वहीं बैठकर यह तप कर रहे हैं। इन्हें प्राप्त हैं सुवर्ण कमल के पराग से सुगन्धित कपिश वर्ण जल, जिनमें विहार करने की कामना लोग करते हैं। इन्हें प्राप्त है रत्न-मण्डित ही नहीं, साक्षात् रत्नमय शिलातल, जो अतुल वैभव के प्रतीक हैं और इन्हें प्राप्त हैं सुन्दरी देवाङ्गनायें। इसका अर्थ यह कि तप का उद्देश्य मनचाहे भोग्य पदार्थ, विहार- पुष्कर, रत्नादि सम्पत् और सुन्दरी स्त्रियाँ प्राप्त करना था। वैसे किसी विशेष उद्देश्य के लिये भी नियत कालिक तप किया जाता था। जैसे दिलीप ने सन्तान की प्राप्ति के लिये वसिष्ठ के आश्रम में रहकर इक्कीस दिन गोसेवा की जो उनके लिये तप ही था। इस अवधि में वह पत्नी के साथ ब्रह्मचर्य- पूर्वक रहे, कुशासन विछाकर भूमि पर शयन करते प्रातः काल से पूर्व शय्या त्याग कर सोते, रात्रि को गुरु और गुरु- पत्नी के चरण दबाकर सब से पीछे सोते रहे। और छाया के समान नन्दिनी के साथ रह कर उसके प्रसादन का प्रयत्न करत रहे—

निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशाला मध्यास्य प्रयत-परिग्रह-द्वितीयः।
तच्छिष्याध्ययन-निवेदितावसानां संविष्टः कुशशयने निशां निनाय॥रघु. १-९५

दिलीप के तप का विशद वर्णन कालिदास ने किया है—

प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणा साक्षातपात्र-हस्ता।
प्रणम्य चानर्च विशालमस्याः शृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थ सिद्धेः॥ रघु. २-२१
गुरोः सदारस्य निपीड्य पादौ समाप्य सान्ध्यंच विधिं दिलीपः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं भेजे भुजोच्छिन्नरिपु र्निषण्णाम्॥ वही २३

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासन-बन्धधीरः।

जलाभिलाषीं जलमाददान श्छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्॥ वही ६

तामन्तिक-न्यस्त-वलिप्रदीपामन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः

क्रमेण सुप्तामनुसंविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत्॥ वही २४

तप का स्वरूप

तप शब्द तपाने, थकाने, श्रम करने, आत्म वलि देने और कष्ट सहने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। व्रत भी तप है। कालिदास ने दिलीप के तप को व्रत कहा है—"इत्थं व्रतं पालयतः प्रजार्थं समं महिष्या महनीय- कीर्तेः—सप्त व्यतीयु स्त्रिगुणानि तस्य दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य" रघु. २-२५। ब्रह्मचर्य भी व्रत है, तप है। व्रत सामान्यतया नियतोद्दिष्ट और नियतकालिक होते हैं। उद्देश्य की पूर्ति के साथ संपन्न हो जाते हैं। किन्तु आजीवन तपोनिष्ठों की साधना वरावर चलती रहती है। कण्व और मारीच ऐसे ही तपस्वी थे। दुष्यन्त तक कण्व की और्ध्विक स्थिति से परिचित था—"भगवान् कश्यपः (कण्वः) शाश्वते ब्रह्मणि स्थितः इति प्रकाशः" शाकु. अंक १। शकुन्तला नियतकालिक तपस्विनी थी। इसीलिये उसके विषय में प्रश्न उठा—"वैखानसं किमनया व्रतमाददानाद् व्यापररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्" शाकु. १-२४। मारीच, च्यवन आदि यावज्जीवन तपोनिष्ठ थे। मारीच तो अनन्त समाधि में लीन थे जिनके शरीर के अधोभाग को पीलिकाओं ने मृत्तिका से ढँक दिया था, उपरिभाग को सर्पो ने अपनी केंचुली से ढँक दिया था और ग्रीवा को लता के प्रतानों ने कस डाला था। जटाओं पर पक्षियों ने घोंसले बना लिये थे—

बल्मीकाग्रनिमग्नमूर्ति मुरसा संदष्ट-सर्पत्वचा,

कण्ठे जीर्णलता-प्रतानवलयेनात्यर्थ-संपीडितः।

अंसव्यापि शकुन्तनीडनिचितं विभ्रज्जटा-मण्डलं,

यत्र स्थाणुरिवाचलो मुनिरसासावभ्यर्क-विम्बंस्थितः॥ शाकु. ७-११

उनका मुख सूर्य-विम्व के सामने था। सूर्य-विम्ब के सम्मुख देखने से नेत्रों की क्षति होती है। किन्तु पुराणादि में सूर्योपस्थान की बहुत चर्चा के साथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूर्याभिमुख स्थाणुवत् बैठने के अनेक वर्णन हैं। कालिदास की सीता भी कहती है—

साहं तपः सूर्य-निविष्ट-दृष्टि रुर्ध्व प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।

भूयो यथा मे जननान्तरेपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः ॥ रघु. १४-६६

प्रश्न है कि मारीच तो १८-२० सहस्र फीट ऊँचे हिमालय शृङ्ग पर बैठकर तप कर रहे थे। उनके लिये हो सकता है यह किसी प्रकार संभव भी हो किन्तु सीता प्रयाग के समीप की समतल भूमि और प्रचाड किरणों से तपते प्रदेश में थी। तो उनके लिये सूर्य पर दृष्टि जमा कर बैठना कहाँ तक सम्भव था। प्रातः सायं सूर्य की किरणें मृदु होती हैं और स्वास्थ्य के लिये हितकारी भी। इसी कारण प्रातः सायं सूर्याभिमुख संध्या-अग्निहोत्र का विधान किया गया था। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य मे कहीं इस प्रकार के तप की चर्चा नहीं है। वस्तुतः यह हठपूर्ण साधना थी जिसका प्रचार काफी बाद में हुआ और धीरे-धीरे इसने योग के क्षेत्र में भी स्थान पा लिया।

तप का फल-शाप सामर्थ्य

तप से प्राप्त होने वाली शक्तियों में एक है शाप देने का सामर्थ्य अर्थात् किसी का अनिष्ट करने की क्षमता। दुर्वासा इसका प्रयोग खुलकर करते थे। किसी की छोटी सी भी बात उन्हें चुभी कि तुरन्त शाप दिया और शाप की वाणी कभी निष्फल नहीं होती। सो शकुन्तला को निरपराध होते हुये भी उनके शाप का फल भोगना पड़ा। शकुन्तला को जाने भी दें तो भला दुष्यन्त और उसके पुत्र भरत ने दुर्वासा का क्या बिगाड़ा था जो उन्हें इतनी बड़ी यातना भोगनी पड़ी। और फिर यही दुर्वासा लक्ष्मण की भी मृत्यु के कारण बने। पता नहीं कितनी लम्बी आयु प्राप्त की थी उन्होंने और अरण्यवास छोड़कर कहाँ-कहाँ घूमते रहते थे वह—

विद्वानपि तयोर्द्वास्थः समयंलक्ष्मणोऽभिनत्।

भीतो दुर्वाससः शापाद् राम-संदर्शनार्थिनः ॥

स गत्वा सरयूतीरं देहत्यागेन योगवित्।

चकारावितथां भ्रातुः प्रतिज्ञां पूर्वजन्मनः ॥ रघु. १५-९४, ९५

दुर्वासा तो मलिन जीर्ण वस्त्र पहनने के कारण उनका 'विशेषण' प्रसिद्ध हो गया था। वास्तविक नाम का तो कहीं उल्लेख ही नहीं है। सम्भवतः कभी कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रोधी ऋषि दुर्वासा रहे होंगे और नारद के समान वाद में यह विशेषण अन्य अकारण-क्रोधन मुनियों को दे दिया जाता रहा होगा। अस्तु।

कुछ तपस्वी और उनकी साधना

रघुवंश में कालिदास ने अनेक तपस्वियों का उल्लेख किया है। इनमें अगस्त्य (१३-३६) शातकर्णि (१३-३९), सुतीक्ष्ण, (४१) शरभङ्ग (४५), अत्रि (५०), वाल्मीकि, विश्वामित्र और परशुराम प्रमुख हैं। अगस्त्य ने अपने भ्रूभङ्गमात्र से नहुष् को इन्द्र पद से च्युत कर दिया था। वह अगत्स्य नक्षत्र के रूप में द्यौ में निवास करते हैं। पृथ्वी पर उसका आश्रम गोदावरी से उत्तर की ओर था—

भ्रूभेदमात्रेण पदान्मघोनः प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार।

तस्याविलाम्भः-परिशुद्धि हेतो र्भौमो मुनेः स्थान-परिग्रहोयम्।। रघु. १३-३६

कालिदास ने शरद् के प्रारम्भ में उदित होने वाले एतन्नामक नक्षत्र और पार्थिव ऋषि अगस्त्य को मिला एक कर दिया है।

शातकर्णि पहले मृगों के साथ उन्हीं के समान कुशाङ्कुर खाकर जीवन यापन करते थे। उनके तप से भयभीत होकर इन्द्र नें पाँच अप्सराओं के जाल में उन्हें फँसाया और तपोभ्रष्ट कर दिया। तबसे वह जल के भीतर सौध में निवास करने लगे और नृत्य-वाद्य-संगीत ने उनके तप का स्थान ले लिया।

एतन्मुनेर्मानिनि शातकर्णेः पञ्चाप्सरोनाम विहार-वारि। रघु. १३-३८

पुरा सदर्भाङ्कुरमात्र-वृत्ति श्चरन् मृगैः सार्धमृषिर्मघोनः।।

समाधि-भीतेन किलोपनीतः पञ्चाप्सरो-यौवन-कूटवन्धम्। वही ३९

तस्यायमन्तर्हित-सौधभाजः प्रसक्तसंगीत-मृदङ्गघोषः। वही ४०

सुतीक्ष्ण पञ्चाग्नि तपने वाले महान् संयमी तपस्वी थे। इन्हें भी तपोभ्रष्ट करने के लिये इन्द्र ने सुराङ्गनाओं को भेजा किन्तु वे उन्हें विचलित नहीं कर पायीं। इनके दक्षिण हस्त में अक्षवलय रहता, उसी से नुकीले कुशों को काटते और स्नेहपूर्वक मृगों को खुजलाते थे। इनका वामहस्त सदा आकाश की ओर ऊँचा उठा रहता। वह मौन रहकर सूर्य में दृष्टि गड़ाये रहते थे—

हविर्भुजामेधवतां चतुर्णां मध्ये ललाटन्तपसप्तसप्तिः।

असौ तपस्यत्परस्तपस्वी नाम्ना सुतीक्ष्णश्चरितेन दान्तः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नालं विकर्तुंजनितेन्द्रशङ्कं सुराङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि।

एषोक्ष- मालावलयं मृगाणां कण्डूयितारं कुशसूसूचिलावम्।

सभाजने मे कुशमूर्ध्ववाहुः सव्येतरं प्राध्वमितः प्रयुङ्क्ते।

वाचंयमत्वात् प्रणतिं ममैष कम्पेन किञ्चित् परिगृह्यमूर्ध्नः।

दृष्टिं विमान-व्यवधान-मुक्तां पुनः सहस्रार्चिषि संनिधत्ते॥ वही. ४१-४४

और तपस्वी शरभङ्गने तो चिरकाल तक अग्नि की उपासना करते हुए अन्त में अपना शरीर भी अग्नि में हुत दिया—

अदः शरण्यं शरङ्ग नाम्नस्तपोवनं पावनमाहितांग्नेः।

चिराय सन्तर्प्य समिद्भिरग्निं यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत्॥ रघु. १३-४५

प्राचीन भारत में शरीर को अग्नि में हुत देने के अन्य उदाहरण भी मिलते हैं। मृच्छ कटिक के रचनाकार शूद्रक के विषय में भी यही बात नाटक की प्रस्तावना में कही गयी है—

राजानं वीक्ष्य पुत्रं परम-समुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा

लब्ध्वाचायुः शताब्दं दशदिन-सहितं शूद्रकोग्निं प्रविष्टः। मृच्छ १-५

तप की शक्ति से राजा लोग भी डरते थे। दुष्यन्त शकुन्तला से प्रेम करता हुआ भी इस बात से आतंकित था कि बिना कुलपति की आज्ञा के ऐसा करना उचित नहीं है। न जाने क्रुद्ध होकर वह क्या शाप दे बैठें। फिर भी उसका मन उसके वश में नहीं था—

जाने तपसो वीर्यं सा वाला परवतीति मे विदितम्।

न च निम्नादिव सलिलं निवर्त्तते मे ततो हृदयम्॥ शाकु. ३-२

जब तपस्वी लोग राक्षसपीडा के शमनार्थ उससे कुछ दिन आश्रम में रुक जाने का अनुरोध करते हैं और इधर पुत्रपिण्ड पालन नाम उपवास के अनन्तर पारणा में उपस्थित होने के लिये उसकी माता का बुलावा आता है तो वह असमञ्जस में पड़कर कह उठता है—

इतस्त तपस्विकार्यम् इतो गुरुजनाज्ञा द्वयमप्यनतिक्रमणीयम्। शाकु. अंक २

नारद दिव्य ऋषि हैं जो भूमि और फिर द्यौसे भूद्यौ पर चङ्क्रमण करते रहते हैं। नारद की जटाओं का समूह पीला (पिङ्गल) है। वह अत्यन्त शुभ्र यज्ञोपवीत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहनते हैं और मुक्ता के आभूषण पहनते हैं। उन्हें देख कर ऐसा लगता है जैसे सुवर्ण की शाखाओं वाला चलता फिरता कल्प वृक्ष हो—

गोरोचना-निकष-पिङ्ग-जटाकलापः संलक्ष्यते शशिकलामल-वीतसूत्रः।

मुक्ता-गुणातिशय-संभृत-मण्डनश्रीः हैमप्ररोह इव जङ्गम-कल्पवृक्षः।

विक्रमो.५-१९

उनके आते ही स्वयं पुरुरवा और उर्वशी उन्हें प्रणाम करते हैं, उनके लिये अर्घ्य लाते हैं और पुत्र से भी मुनि को प्रणाम करने के लिये कहते हैं।

तपोविघ्न और विघ्नकर्ता राक्षस

तप की दुर्धर्ष शक्ति की चर्चा प्रायः प्राचीन ग्रन्थों में मिलती है। आश्चर्य की बात है कि सत्पुरुषों के तप में विघ्न डालने और उन्हें तपश्च्युत करने के लिये जो इन्द्र यथाशक्य सारे उपाय करता रहता है वह किसी दैत्य के तप में विघ्न डालने का कभी कोई प्रयत्न करता नहीं दिखता। उलटे इन दैत्यों मे से किसी को शिव से और किसी को ब्रह्मा या अन्य देवता से वरदान मिल जाता है जिसके सहारे वह इन्द्र सहित समस्त दिक्पालों और देवों पर अत्याचार करता है। तब भी शिवादि देवता अन्य देवों की सहायता के लिये आगे नहीं आते। रावण और लवणासुर दोनों को शिव का वर प्राप्त था। ऐसे घृणित दैत्य द्वारा शिव का वर प्राप्त कर लेना भी आश्चर्य की बात है लवणासुर के लिये कालिदास कहते हैं—

धूमधूम्रो वसागन्धी ज्वालावभ्रु-शिरोरुहः।

क्रव्याद्गण-परीवारश्चिताग्निरिव जङ्गमः। रघु. १५-१६

और शत्रुघ्न तक में इतनी शक्ति नहीं कि वे उससे सामान्य रणनीति के अनुसार युद्ध में जीत सकें। इसलिये वह उस पर तब प्रहार करने पहुँचते हैं जब उसके पास शिव-प्रदत्त त्रिशूल न हो और इसके समर्थन में कालिदास कितना दुर्बल तर्क देते हैं कि रन्ध्र अर्थात् दुर्बल स्थान पर प्रहार करने वाले की जय होती है और लवणासुर का रन्ध्र था अपशूलता—

अपशूलं तमासाद्य लवणं लक्ष्मणानुजः।

रुरोध सम्मुखीनो हि जयो रन्ध्र- प्रहारिणाम्॥ रघु. १५-१७

यह रन्ध्र उन्हें यमुना तीर वासी शरणार्थी मुनियों ने ही बताया था—

ते रामाय वधोपायमाचरव्युर्विवुधद्विषः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुर्जयोलवणः शूली विशूलः प्रार्थ्यतामिति ॥ वही १५-५

निहत्थे लवण पर प्रहार नैतिक नियमों के विरुद्ध था । जो मुनि ऐसा मर्यादा विरुद्ध कार्य करने का परामर्श राम को दे रहे थे वे स्वयं भी शाप देकर उसे नष्ट कर सकते थे किन्तु रक्षक के रहने पर उन्होंने शाप देना उचित नहीं समझा क्योंकि शाप से तप का व्यय होता है—

अवेक्ष्य रामं ते तस्मिन्न प्रजह्रुः स्वतेजसा ।

त्राणाभावेहि शापास्त्राः कुर्वन्ति तपसो व्ययम् ॥ रघु. १५-३

कितना बचकाना तर्क है ? वर्षों से दलित और पीडित रहकर भी इतने तापसों में से किसी एक को भी इतना क्रोध नहीं हुआ कि वह शाप देता । सत्य यह कि मुनियों का शाप भद्रजनों को ही पीडित करता रहा है किसी दैत्य पर कभी उसका प्रभाव हो पाया हो, ऐसा नहीं लगता । रावण के विषय में भी यही बात हुई । देवता, जिनके स्वामी विष्णु हैं 'त्रायस्व त्रायस्व' की गुहार करते हुए विष्णु के पास पहुँचे तो विष्णु को उनकी पीडा का पता ही न था । वह शेष पर सुख शयन में निमग्न थे । लक्ष्मी पाद- संवाहन कर रही थी, गरुड हाथ जोड़े खड़े थे, भृगु आदि ऋषि 'सुख शायिका' पूछते खड़े थे । और उधर रावण ने उनकी सृष्टि उलट पुलट कर दी थी । देवताओं के द्वारा विशद स्तुति करने पर उनकी वाणी से यह निकला—

जाने वो रक्षसाक्रान्तावनुभाव-पराक्रमौ ।

विदितं तप्यमानं च तेन मे भुवनत्रयम् ॥ रघु. १०-३८

विश्वामित्र भी यज्ञशालाओं को रक्त और माँस फेंक फेंककर अपवित्र करने वाले राक्षसों का कुछ नहीं बिगाड़ सके । दशरथ के पास किशोर वयस् के पुत्र को माँगने पहुँचे थे—

कौशिकेन किल स क्षितीश्वरो राममध्वर-विधात-शान्तये ।

काकपक्षधरमेत्य याचितस्तेजसां नहि वयः समीक्ष्यते । वही १५-१

शम्बूक का तप

प्राचीन भारत में तपस् का एक सर्वमान्य अर्थ था—शरीर को कष्ट देते हुए लक्ष्य में मन को स्थिर करना । शरीर को पीडित करना, उसे नाना उपायों से तपाना मनोनिग्रह और समाधि का परम साधन माना जाता था । कालिदास साहित्य में इसके दो उदाहरण हैं—शम्बूक और पार्वती । शम्बूक के तप का कोई विशेष लक्ष्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं बताया गया है फिर भी सामान्य लक्ष्य अपवर्ग- प्राप्ति तो बिना वताये ही समझा जा सकता है । शम्बूक धूमप तपस्वी था । अब्भक्षों और वायु- भक्षों के समान धूमपायी तपस्वियों का उल्लेख अन्यत्र भी मिलता है । ये लोग वृक्ष की शाखा में उलटे अर्थात् मुख को नीचे को लटका कर नीचे जलायी हुई अग्नि का धुआँ पीते थे । इससे उनकी आँखें लाल हो जाती थीं । शम्बूक भी यही कर रहा था—

अथ धूमाभिताम्राक्षं वृक्ष-शाखावम्बितम् ।
ददर्श कञ्चिदैक्ष्वाकस्तपस्यन्तमधोमुखम् ॥
पृष्टनामान्वयो राजा स किलाचष्ट धूमपः ।
आत्मानं शम्बुकं नाम शूद्रं सुर-पदार्थिनम् ॥ रघु. १५-५०

पार्वती की तपश्चर्या

इस प्रकार के विविध तापस- सम्प्रदाय बुद्ध के समय में भी वर्तमान थे । महाभारत में भी इस प्रकार के तपस्वियों की चर्चा बार बार आयी है ।

वायुभक्षो निराहारः शुष्यन्ननिमिषो मुनिः ।
इतस्ततः परिचरन् दीप्तपावकसप्रभः ॥
अटमानः कदाचित् स्वान् स ददर्श पितामहान् ।
लम्बमानान् महागर्ते पादैरुर्ध्वैरवाङ्मुखान् ॥
तानब्रवीत् स दृष्ट्वै जरत्कारुः पितामहान् ।
के भवन्तोऽवलम्बन्ते गर्ते ह्यस्मिन्नधोमुखाः ॥ (महा. आदि १३
अब्भक्षान् वायुभक्षांश्च शीर्णपर्णासनान् मुनीन् ।
फलमूलाशिनो दान्तान् कृशान् धमनिसंततान् ॥
व्रतिनो जटिलान् मुण्डान् वल्कलाजिनसंवृतान् ।
समाहूय मुनीन् कण्वः कारुण्यादिदमब्रवीत् ॥ (आदि पर्व अ. ७४)
अगस्त्यश्चापि भगवानेतस्मिन् काल एव तु ।
पितॄन् ददर्शगर्ते वै लम्बमानानधोमुखान् ॥
सोपृच्छल्लम्बमानांस्तान् भवन्त इव कम्पिताः ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संतानहेतोरिति ते प्रत्यूचुर्ब्रह्मवादिनः ॥ (महा. वन—९६)

पार्वती के तप का उद्देश्य पूर्व- घोषित था—पति रूप में शिव की प्राप्ति। पार्वती के पिता इसमें प्रेरक थे। वह स्वयं शिव की अर्चना करते थे। शिव इन दिनों देवदारुओं के वन में गङ्गा के किनारे हिमप्रस्थ पर, जहाँ कस्तूरी मृग विहार करते थे और किन्नर जन गीत गुनगुनाते रहते थे, गजचर्म पहने स्वयं ही तप कर रहे थे। हिमनरेश ने अपनी पुत्री को आज्ञादी कि वह सखियों के साथ शिव की आराधना करे। पार्वती पिता के आदेश से शिव की पूजा के लिये आवश्यक पुष्प लाकर देती, उनकी तपोवेदि को झाड़कर साफ करती। दैनन्दिन धर्म- कृत्यों के लिये गङ्गाजल और कुश लाती। शिव ने यह जानते हुए भी कि युवती कन्या की सुषूषा समाधि की वाधक बन सकती है, पार्वती को सेवा की अनुमति दे दी। उन्हें अपने संयम पर पूर्ण विश्वास था—

अवचित-वलिपुष्पा वेदि-संमार्ग दक्षा,
नियमविधि-जलानां वर्हिषां चोपनेत्री।
गिरिशमुपचचार प्रत्यहं सा सुकेशी,
नियमित-परिखेदा तच्छिरश्चन्द्र-पादैः ॥ कुमार. १-६०

तथा—

प्रत्यर्थिभूतामपि तां समाधेः सुश्रूषमाणां गिरिशोऽनुमेने। वही ५८

किन्तु जब दो तपस्वियों में टक्कर हो तो यह कह सकना कठिन होता है कि उनमें कौन अधिक दृढ़ निकलेगा। यहाँ भी अन्ततः शिव का आत्म विश्वास हिल गया और वह पार्वती की उपस्थिति में स्वयं को मन पर नियन्त्रण करने में असमर्थ पाकर उस स्थान को छोड़ कर चल दिये—

तमाशु विघ्नं तपसस्तपस्वी वनस्पतिं वज्र इवावभज्य
स्त्री-संनिकर्षं परिहर्तुमिच्छन्नन्तर्दधे भूतपतिः सभूतः ।वही ३-७४

पार्वती के लिये यह अपमान की बात थी। उसे अपने रूप से ग्लानि हुई। रूप का ऐसा अपमान! तब उसने और सेवा से आकर्षित करने के स्थान पर तप का सहारा लिया—

इयेष सा कर्तुमवन्ध्य-रूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः। वही ५-२

और उसने फलप्राप्ति- पर्यन्त तपः- समाधि के लिये अरण्य वास का निश्चय किया। माता ने बहुत रोका किन्तु वह न मानी। तभी से उसका नाम उमा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ गया। पिता ने अनुमति दे दी और तब वह हिमालय के उस शिखर पर गयी जिसे उसी के नाम से सब गौरी शंकर कहकर पुकारते हैं। वहाँ उसने मुक्ताहार उतार कर वक्ष को वल्कल से ढँक लिया। सधी, सँवरी अलकावली का स्थान जटाओं को दे दिया। काञ्ची के स्थान पर रोंगटे खड़े कर देने वाली मौञ्जी मेखला पहन ली। अधरों और स्तनों में लाली तथा अङ्गराग लगाना छोड़ दिया। क्रीडार्थ हाथों में कन्दुक न ले कर अक्ष माला ग्रहण कर ली। बहुमूल्य सुखद शय्या छोड़कर स्थण्डिल (ऊँची) भूमि पर भुजाओं का तकिया लगाकर सोने लगी—

विमुच्य सा हारमहार्य-निश्चया विलोल-यष्टि-प्रविलुप्त-चन्दनम्।

बबन्ध वालारुण-वभ्रु वल्कलं पयोधरोत्सेध-विशीर्ण-संहति॥

यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहैर्जटाभिराप्येवमभूत्तदाननम्। कुमार ५-८

प्रतिक्षणं सा कृत-रोमविक्रियाँ व्रताय मौञ्जीं त्रिगुणां वभार याम्।

अकारि तत्पूर्व- निवद्धया तया सरागमस्या रसनागुणास्पदम्। वही १०

विसृष्ट-रागादधरान्निवर्तितः स्तनाङ्गरागारुणिताच्च कन्दुकात्।

कुशाङ्कुरादान-परिक्षताङ्गुलिः कृतोक्षसूत्र प्रणयी तया करः। वही ११

महार्हशय्या-परिवर्तन-च्युतैः स्वकेश-पुष्पैरपि या स्म दूयते।

अशेत सा वाहुलतोपधायिनी निषेदुषी स्थण्डिल एवकेवले॥ वही १२

यौवन की सहज विलासमयी चेष्टाओं और चञ्चल दृष्टि दोनों का परित्याग कर वह सावधानी से छोटे छोटे पौधों को सींचती (प्राचीन युग में यह मुनि कन्याओं का नियत कार्य था)। मृगों को नीवार खिलाकर पालती, उनसे सख्य स्थापित करती। प्रातः काल स्नान कर वृक्षों की छाल के उत्तरीय धारण कर नियमित यज्ञ करती और अध्ययन में लग जाती। कुछ समय पश्चात् जब उसे लगा कि इतने तप से अभीष्ट की प्राप्ति संभव नहीं है तो उसने अपने शरीर के कष्ट की चिन्ता किये विना कठोरतप करना आरम्भ कर दिया। अव वह ग्रीष्म ऋतु में चारों ओर अग्नि जलाकर उसके मध्य में बैठकर एक टक ऊपर मुख किये सूर्य को देखती। इस प्रकार उसने सूर्य प्रभा की नेत्रों को नष्ट कर देने वाली शक्ति पर विजय प्राप्त कर ली। सूर्य की जलती किरणों से तप कर उसका मुख लाल हो जाता। धीरे-धीरे उसके नेत्रों के अपाङ्ग (निम्न भाग) काले पड़ गये। बिना माँगे प्राप्त जल और चन्द्र की किरणों से ही पारणा करते हुए उनसे वृक्ष- वृत्ति ग्रहण कर ली। अग्नि और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूर्य की किरणों से बहुत तप जाने के वाद वर्षा ऋतु में जल से भीगने लगी। वर्षा की पहली बूँदें पहले उसके पक्ष्मों पर क्षणभर ठहरतीं, फिर टपक कर अधर पर गिरतीं और वहाँ से पतित होकर स्तनों से टकराकर चूर चूर हो जातीं। फिर त्रिवली और अन्त में नाभि में विश्राम पातीं। वह रात रात भर वर्षा में अकेली बैठी रहतीं।

शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचि-स्मिता मध्यगता सुमध्यमा।

विजित्यनेत्र-प्रतिघातिनीं प्रभा मनन्य-दृष्टिः सवितार मैक्षत॥ कुमार. ५-२०

तथाभितप्तं सवितु र्गभस्तिभिर्मुखं तदीयं कमल-श्रियं दधौ।

अपाङ्गयोः केवलमस्य दीर्घयोः शनैः शनैः श्यामिकयापदं कृतम्॥

अयाचितोपस्थितमम्बु केवलं रसात्मकस्योडुपतेश्च रश्मयः।

वभूव तस्याः किल पारणाविधि र्न वृक्षवृत्ति-व्यतिरिक्तसाधनः॥ वही २२

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेध-निपात-चूर्णिताः।

वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिंप्रथमोदविन्दवः॥ वही २४

वह घर छोड़कर शिला पर सोती और धुआँधार पानी की लम्बी झड़ी लगने पर भी खुले में बैठी रहती। शीतऋतु में जब वर्फीली हवायें चलती तो वह उदकवास करती रही। इसके पश्चात् उसने वृक्षों से स्वयं टूट कर गिरे हुए पत्तों पर निर्वाह करना प्रारम्भ किया और अन्त में पत्ते भी खाना छोड़ दिया। इसीलिये वह अपर्णा नाम से प्रसिद्ध हो गयी। अपने कोमल शरीर से उसने जैसा तप किया वैसा कठोर अंगों वाले तपस्वी तक नहीं कर पाते—

शिलाशयां तामनिकेतवासिनीं निरन्तरास्वातप- वातवृष्टिसु।

व्यलोकयन्नुन्मिषितैस्तडिन्मयै र्महातपः साक्ष्य इव स्थिताः क्षपाः।कुमार. ५-२५

निनाय सात्यन्त-हिमोत्करानिलाः सहस्य-रात्रीरुदवास-तत्पराः। वही २६

स्वयं विशीर्ण द्रुमपत्र-वृत्तिता पराहि काष्ठा तपसस्तयापुनः।

तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां वदन्त्यपर्णेतिच तां पुराविदः॥ वही २८

तपः शरीरैः कठिनैरुपार्जितं तपस्विनां दूरमधश्चकार सा। वही २९

शिव के प्रति उसकी प्रणयनिष्ठा इतनी गहरी थी कि यदि कोई कभी उनकी प्रशंसा करता तो वह भी तुरन्त उनकी स्तुति गाने लगती किन्तु उसका गला भर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आता और बोल के पद स्खलित हो जाते। उनकी यह स्थिति देख उनकी संगीत-सखियाँ किन्नर- पुत्रियाँ भी रो पड़तीं।

पार्वती के तप का फल उसे मिला जब शिव ने सम्मुख उपस्थित होकर कह दिया—'अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः" । उसकी साधना सफल हुई और साथ ही साथ श्रान्ति भी मिट गयी—

अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज क्लेशः फलेन हिपुनर्नवतां विधत्ते।

कुमार. ५-८६

तपोविषयक मान्यतायें

अब तक जिन तपों की चर्चा की गयी है उनका सार है—पञ्चाग्नि तप, वर्षा-सार सहन, उदवास, भोजन कम करते-करते केवल जल या वायु पर निर्वाह करना अर्थात् कठिन से कठिन शारीरिक कष्ट सहन कर उनके वीच समाधि में स्थिति। इसमें यह मान लिया गया है कि शरीर को कृश करने से आत्मा की शक्ति बढ़ती है। यह वैदिक मान्यताओं के विरुद्ध है और बहुत कुछ उन परम्पराओं मे से एक है जो वैदिकों ने वन्य या अर्धसम्य जातियों के सम्पर्क में आने पर उनसे ग्रहण कीं। पुराण वाचक सूत और पुरोहित जो इस अविकसित वर्ग के सम्पर्क में अपेक्षा कृत अधिक आते थे, इनके पुरस्कर्ता बने और उन्होंने व्रत उपवास और तप को नया तर्क- हीन स्वरूप ही प्रदान कर दिया। प्रायः तप सकाम और अल्प- काम हो गये।

दूसरी ओर रघु का तापस जीवन देखें जो वैदिक परम्परा का अनुगमन करता है। इसमें योगियों का सत्संग, एकान्त ध्यान, प्रणिधान द्वारा शरीरस्थ पँच मारुतों को वश में करना, स्वकर्मों का दहन, लोष्ठ और कंचन में समवृत्ति वृत्ति, स्थिर- वुद्धिता, परमात्म- दर्शन, अपवर्ग- सिद्धि। और रघुवंश का विश्वास ऐसे तप में है, तात्कालिक लाभ के लिये कृच्छ्र शारीरिक साधना में नहीं—

अनपायि-पदोपलब्धये रघुराप्तैः समियाय योगिभिः। रघु. ८-१७

अपरः प्रणिधान- योग्यया मरुतः पञ्च शरीर- गोचरान्। वही १९

रघुरप्यजयद् गुणत्रयं प्रकृतिस्थं समलोष्ठ-काञ्चनः। वही २१

न च योग विधे र्न वेतरः स्थिर- धीरापरमात्मदर्शनात्।

तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योग-समाधिना रघु.। रघु. ८, १९ से २४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धार्मिक विश्वास

पुत्र और पिण्डदान

इक्का दुक्का अपवादों को छोड़कर प्राचीन कृषि- प्रधान देश में सुविधा की दृष्टि से पुरुषों ने कृषि, आखेट, वाणिज्य आदि जैसे जीवन की माँग करने वाले कार्यों को अपने ऊपर लेकर गृह- व्यवस्था, उपज की सम्हाल और शिशुओं का पालन पोषण जैसे निरापद और कोमलता एवं कमशारीरिक शक्ति की माँग करने वाले कार्य स्त्रियों को सौंप दिये थे । यह युग साहस और सुपुष्ट काँठी वाले लोगों का था । फसल उत्पन्न कर उसकी रक्षा करना और वन्य जीव जन्तुओं का प्रतिरोध ही नहीं, दम्य और अदम्य पशुओं की सँभाल स्त्रियों के वश की वात नहीं थी । आये दिन परिवारों और विभिन्न वर्गों के बीच युद्ध चलते रहते थे । ग्रामणी के नेतृत्व में हर परिवार को आत्मरक्षा की पूरी तैयारी कर सदा सतर्क रहना पड़ता था । ऐसे में स्त्री और पुरुष के बीच काम का यह बँटवारा एक प्रकार का सुविधा जनक समझौता था । परिस्थिति परिवार में अधिक से अधिक पुत्रों की माँग करती थी—ऐसे पुत्रों की जो वृद्ध पिता की देख सम्हाल, माता की सेवा तथा पारिवारिक सम्पत्ति और सम्मान के तन्तु को आगे बढ़ा सकें। परिवार की इस सहज आवश्यकता को धीरे धीरे आर्थिक और समाजिक क्षेत्र से आगे बढ़कर धार्मिक शृङ्खला में आवद्ध कर दिया गया और अनपत्यता या अपुत्रता धार्मिक अभिशाप की कोटि में गिनी जाने लगी । प्रारम्भ में पुत्रों का महत्त्व जीवित पितरों को पिण्डोदक (जीवन निर्वाह) की व्यवस्था करने के कारण रहा हो, जिसे धर्माचार्यों ने मृत पितरों के पिण्ड- दान से जोड़ दिया । किसी बात को मनवाने के लिये परलोक का भय बताना, अमोध अस्त्र था । सो सन्तान, मुख्यत: पुत्रों को लेकर अनेक मान्यताओं, विश्वासों और भयों के ताने वाले पसार दिये गये ।

कालिदास के युग में यह धारणा वद्धमूल हो गयी थी कि मृत्यु के उपरान्त पितर अपने लोक में पुत्र पौत्रादि के पिण्डदान की प्रतीक्षा करते हैं । यह धारणा अवैदिक थी । वेदों में यमसदन, पितृलोक, पितृयाण मार्ग और यम के श्याम-शवल सारमेयों की तो चर्चा है किन्तु श्राद्धों का इस प्रकार उल्लेख नहीं है । संभव है, अपढ़ और वन्य जनों में यह धारणा रही हो कि मृत्यु के उपरान्त भी जीवों को भौतिक पदार्थों की आवश्यकता होती है, अत: वे उनके नाम पर अन्न जल वस्त्र आदि अर्पित करते हैं । कई जातियों में मृत व्यक्ति के शरीर के साथ उसकी आवश्यक वस्तुओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को भी रख देने की प्रथा रही है । संभव है, पहले जीवित पितरों के लिये श्रद्धापूर्वक सब कुछ प्रदान करना, वृद्ध जनों के अन्नपानादि की सम्मान सहित व्यवस्था करना श्राद्ध माना जाता रहा हो जो आगे चलकर मृतश्राद्ध के रूप में वद्धमूल हो गया । याज्ञिक परम्परा का स्थान जब औपनिषदिक चिन्तन ने ले लिया और सामान्यजन उससे दूर पड़ते गये (अति प्रवुद्ध जनों की संख्या समाज में सदा ही कम रहती है) तब अपढ़ और पिछड़े लोगों के बीच प्रचलित प्रथायें और विश्वास आगे बढ़कर समाजिक चिन्तन पर छा गये और वैदिक परम्पराओं के स्थान पर प्रतिष्ठित हो गये । यह पौराणिक उत्कर्ष का काल था । इसमें वेदों का विल्ला लगाकर अनेकों अवैदिक प्रथाओं का चलन हुआ जो वैदिक मानकर गृहीत कर ली गयीं । वे वस्तुत: पौराणिक थीं और वैदिक केवल इस अर्थ में कि वैदिक उत्कर्ष के युग में भी वे समाज के निम्न वर्ग में प्रचलित थीं । कालिदास पूर्णतया पौराणिक संस्कृति से प्रभावित थे । उनका युग ही पौराणिक था । इसलिये उनकी रचना पर इन मान्यताओं का प्रभाव स्पष्ट है और पिण्ड दान अर्थात् पुत्रवत्ता का अतिशय महत्त्व पद पद पर देखने को मिलता है ।

अपुत्रता

पुत्र वंश को अविच्छिन्न रखता है । वह पिता के रूप में जन्म लेकर उसे सारे कष्टों से मुक्त रखता है । इस अर्थ में ही उसे पुंनाम नरक से बचाने वाला कहा है । वही श्राद्ध और निवाप के द्वारा परलोक में पूर्वजों को तृप्ति प्रदान करता है । यह इस युग में दृढ़ मूल था । तभी तो दिलीप गुरु से कहते हैं—

लोकान्तर-सुखं पुण्यं तपोदान-समुद्भवम् ।

सन्ततिः शुद्ध-वंश्याहि परत्रेह च शर्मणे ।। रघु. १-६९

इसीलिये दशरथ भी सन्तानाभाव से दुःखी है—

न चोपलेभे पूर्वेषामृण-निर्मोक्ष-साधनम् ।

सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोपहम् ।। रघु. १०-२

यह विश्वास था कि पुत्र को उत्पन्न करने से ही मनुष्य पितृ ऋण से मुक्ति होता है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रघुवंश का तो प्रारम्भ ही अपुत्रता की पीडा से के साथ होता है। महाराज दिलीप के कोई सन्तान नहीं है। वह सन्तान की कामना से अपने कुलगुरु वसिष्ठ के पास जाकर कहते हैं—भगवन्! मैं निकटवर्ती द्वीपों के सहित सारी भारत भूमि का, जो रत्न गर्भा है, स्वामी हूँ किन्तु अभी तक आप की इस बहू से मुझे मेरे सदृश सन्तति का मुख देखने का सौभाग्य नहीं मिला है और सन्तति के अभाव में यह सब कुछ अच्छा नहीं लगता क्योंकि मेरे पूर्वज श्राद्ध में जी भर कर भोजन नहीं करते। मैं उन्होंने जो कुछ अर्पित करता है उसका कुछ भाग वे आगे के लिये बचा कर रख लेते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि मेरे सन्तान न होने से भविष्य में तो कोई उन्हें पिण्ड देने वाला रहेगा नहीं—

नूनं मत्तःपरं वंश्याः पिण्ड-विच्छेद-दर्शिनः

न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधा-संग्रह-तत्पराः॥ रघु. १-६६

और जो जलाञ्जलि मैं उन्हें देता हूँ उसका जल वे कुछ कुछ उष्ण ही पी पाते हैं क्योंकि पीना प्रारम्भ करते ही उन्हें लगना है कि आगे से तो यह जल मिलेगा नहीं। तब उनके शरीर से उष्ण निःश्वास निकलते हैं जो मेरे द्वारा अर्पित शीतल जल को भी कुछ उष्ण बना देते हैं—

मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया।

पयः पूर्वैः स्वनिःश्वासैः कवोष्णमुपभुज्यते॥ रघु. १-६७

पितृऋण से मुक्ति

सन्तति की प्रशंसा करते हुए दिलीप कहते हैं कि इस लोक में तप और दान कीजिये तो उसका पुण्य- फल परलोक में प्राप्त होता है किन्तु शुद्ध वंशीय सन्तान परलोक के साथ साथ इस लोक में भी सुख दायक होती है। यह जो अन्तिम (पितृ ऋण) ऋण है, वह बड़ा पीड़ादायी है। उससे मुक्त होना बहुत आवश्यक है—

असह्यपीडं भगवन्नृणमन्त्यमवेहि मे।

तस्मान्मुच्ये यथा तात! संविधातुं तथा ऽर्हसि। वही ७१

इस ऋण से मुक्ति दिलाने वाला एक मात्र पुत्र है क्योंकि कन्या तो विवाहोपरान्त पितृवंश से बाहर हो जाती है। पति का वंश ही उसका वंश हो जाता है। इस मान्यता ने कन्या के जन्म का महत्त्व बहुत कम कर दिया और पुत्र की प्रतिष्ठा कहीं अधिक बढ़ा दी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शाकुन्तलम् में दुष्यन्त अपनी अपुत्रता पर दुःख प्रकट करता हुआ कहता है कि हमारे पिण्डपात्र पूर्वजों की स्थिति तो संशयापन्न ही हो गयी। वे सोचते हैं कि मेरे बाद उन्हें कोई पिण्डदान करने वाला है नहीं। इससे व्यथित हो कर वे रो पड़ते हैं और मेरे द्वारा अर्पित किये श्राद्धजल से वे पहले अपने आँसूओं को धोते हैं और फिर बचा हुआ जल पीते हैं—

अहो दुष्यन्तस्य संशयमारुढाः पिण्डभाजः—

अस्मात् परं वत यथाश्रुति संभृतानि को नः कुले निवपनानि प्रयच्छतीति।

नूनं प्रसूति-विकलेन मया प्रसिक्तं धौताश्रुसेकमुदकं पितरः पिवन्ति।

शाकु.६-२५

वंशपरम्परा के उच्छेद के भय के साथ अपने ही बालरूप को देखने और प्यार करने की जो शाश्वत चाह मनुष्य में होती है वह भी अपत्य के प्रति दुर्दम्य आकर्षण का कारण बनती है। दुष्यन्त कहता है—

आलक्ष्य-दन्त-मुकुलाननिमित्त-हासै

रव्यक्त-वर्ण-रमणीयवचः-प्रवृत्तीन्,

अङ्काश्रय-प्रणयिनस्तनयान् वहन्तो

धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति॥ शाकु. ७-१७

मन में आया तो अकारण ही छोटी छोटी दँतुलियाँ निकालकर हँस पड़े। बोलने के इच्छुक किन्तु स्पष्ट अक्षर मुँह से निकाल पाने में असमर्थ होकर तुतलाते हैं। चाहें कि कोई गोद में लिये रहे किन्तु धूल में सने घूमते हैं। भाग्यवान् है वे लोग जिनका शरीर ऐसे बच्चों को गोद में लेने के कारण मैला बना रहता है।

मनुष्य में जन्मजात प्रवल इच्छा होती है अपने अस्तित्व को बनाये रखने की किन्तु वह स्वयं तो सदा जीवित नहीं रह सकता। अतः वह अपने प्रतिरूप पुत्र को देखकर उसमें ही अपने अस्तित्व की कल्पना कर लेता और उसके द्वारा स्वयं को जीवन्त मान लेता है। पुत्र की कामना के पीछे यह भावना काम करती है। इसीलिये पुरुरवा के मुख से कवि ने पुत्र को वार वार 'वंशकर' और 'वंशस्थिति' कहलाया है—

किं सुन्दरि प्ररुदितासि ममोपनीते वंश स्थितेरधिगमान्महति प्रमोदे?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा—जदा सो मे पिअसहो राएसीतुइ समुप्पण्णस्स वंसकरस्स मुहं पेक्खिस्सदि तदातुए भूओं वि मंसमीवं आअनव्वंत्ति । विक्रमों. ५-१५

उपर्युक्त पिण्ड दान और तर्पण क्रियायें सामान्य प्रेतों के लिये आवश्यक मानी जाती थीं, योग द्वारा शरीर त्याग करने वाले महापुरुषों के लिये नहीं । रघु ने योगसमाधि के द्वारा मृत्यु का वरण किया था अत: उसके अनन्य श्रद्धावान् पुत्र ने, उसका और्ध्वदैहिक कर्म केवल पितृभक्ति के कारण ही किया । वैसे वह जानता था कि इसकी कोई आवश्यकता नहीं है

अकरोत् स तदौर्ध्व-दैहिकं पितृभक्त्या पितृकार्य-कल्पवित्

नहि तेन तथा तनुत्यजस्तनयावर्जितपिण्ड-काङ्क्षिणः ।रघु. ८-२६

कन्या की स्थिति

पुत्रों की तुलना में कन्या का स्थान परिवार में गौण था । इसका प्रमाण यह है कि किसी कवि ने स्वयं कालिदास ने भी किसी कन्या के जन्मोत्सव का उल्लेख नहीं किया । पार्वती के सम्बन्ध में उनका यह कहना कि पुत्रवान् होने पर भी पार्वती के पिता उसे बहुत प्यार करते थे, इसी धारणा की पुष्टि करता है—

महीभृतः पुत्रवतोपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम् । कुमार. १-२७

न जाने कैसा दुर्भाग्य है कि राजाओं को पुत्र के अतिरिक्त सब कुछ सहज प्राप्त होता है । कालिदास में सभी नृप पुत्र के लिये बेचैन दिखते हैं । पुरुरवा को लक्ष्य कर विक्रमोर्वशीय का विदूषक कहता है—

असन्तानत्वं वर्जयित्वा अस्य न किमपि शोचनीयम् । अंक ५ (आरम्भ)

और दशरथ तथा उसके पुत्रों को छोड़कर और किसी के एकाधिक पुत्र नहीं है । स्वयं दशरथ भी पुत्र न होने से व्यथित मिलते हैं—

न चोपलेभे पूर्वेषामृण-निर्मोक्ष-साधनम् ।

सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोक- तमोपहम् ।। रघु. १०-२

यहाँ पुत्र को पूर्वजों के ऋण से मुक्त होने का साधन, नेत्र ज्योति और तुरन्त शोकहन्ता कहा है । दशरथ को ऋष्यश्रृङ्ग आदि ऋषियों के द्वारा सम्पादित पुत्रीय इष्टि के बाद ही पुत्र की प्राप्ति होती है । दशरथ तो सन्तान के लिये यहाँ तक व्यग्र थे कि उन्हें मुनिदम्पति द्वारा दिया गया 'पुत्र वियोगज- मृत्यु,' का शाप भी वरदान ही जान पड़ रहा था—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शापोऽप्यदृष्टतनयानन-पद्मशोभे सानुग्रहो भगवता मयि पातितोयम् ।।रघु. ९-८०

पुत्र- जन्मोत्सव

इसीलिये पुत्रजन्म राजप्रासादों के लिये बहुत बड़ी घटना होती थी । दिलीप के जब पुत्र का जन्म हुआ तो सारे राज्य में बड़ा उत्सव मानाया गया था—

सुखश्रवा मङ्गलतूर्य- निस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम् ।

न केवलं सद्मनि मागधीपतेः पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि ।

न संयतस्तस्य वभूव रक्षितु र्विसर्जयेद्यं सुत-जन्म-हर्षितः ।

ऋणाभिधानात् स्वयमेव केवलं तदा पितृणां मुमुचे स बन्धनात् ।रघु. ३,१९

सुश्रव मङ्गल वाद्य, वारयोषितों का प्रमोद नृत्य तो ऐसे अवसरों पर सामान्य बात थी । वन्दी भी काराओं से मुक्त कर दिये जाते थे क्योंकि पुत्र जन्म का अर्थ पिता के लिये पितरों के ऋण से मुक्ति माना जाता था और लगता था कि अव मेरी वंश परम्परा अक्षुण्ण बन गयी ।

अमंस्त चानेन परार्ध्य-जन्मना स्थितेरभेत्ता स्थितिमन्तमन्वयम् ।

पुत्र सुख का मधुर चित्र कालिदास ने निम्न श्लोक मे दिया है—

तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैः निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि ।

उपान्त-संभीलित-लोचनो नृपश्चिरात् सुतस्पर्श- रसज्ञतां ययौ ।

उसने पुत्र को गोद में लिया तो उसे ऐसा लगा कि उसकी त्वचा पर अमृत छिड़क गया है । और उसने आनन्द से आँखें वन्द कर ली । पुत्र के स्पर्श का आनन्द कैसा होता है, यह अनुभव उसे पहली बार हुआ ।

कन्या के प्रति ममत्व

कालिदास की कृतियों में कन्याजन्म का उल्लेख नहीं है । इसका कारण यह है कि उन्होंने वंश को आगे बढ़ाने वाले सन्तान पर ही दृष्टि केन्द्रित की है । अतः युवराजों का ही वर्णन उनकी सीमा में आया है किन्तु जहाँ प्रसंग आया है उन्होंने बड़े प्यार से पुत्रियों का उल्लेख किया है । शकुन्तला के प्रति कण्व का वात्सल्य तो जगद् प्रसिद्ध है । उनके कण्व कहते हैं—

वैक्लव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पीड्यन्ते गृहिणः कथन्नु तनया-विश्लेष-दुःखै र्नवैः। शाकु. ४-६

और शकुन्तला के वियोग से वह इतने उद्वेलित हो जाते हैं कि उटज में घुसने का साहस तक नहीं कर पाते। शकुन्तला की सखियाँ कहती हैं कि पिताजी, शकुन्तला के बिना आश्रम तो सूना है। कैसे इसमें प्रवेश करें—ताद ! सउन्दला-विरहिदं सुण्णं विअ तपोवणं कहं पविसावो ? तो कण्व भी बोल पड़ते हैं—

शममेष्यति मम शोकः कथन्नु वत्से। त्वया रचित-पूर्वम्

उटजद्वार-विरूढं नीवारबलिं विलोकयतः। शाकु. ४-२१

वह कहते हैं—"अर्थो हि कन्या परकीय एव" अर्थात् बेटी तो पराया धन होता है। और विदर्भ राज ने जिस उत्साह के साथ अपनी बहिन का स्वंयवर रचा उसका तो कालिदास ने भव्य वर्णन किया ही है। उन्होंने विदर्भ राज के उत्साहातिरेक को भी दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया है। उन्होंने विवाह का सम्पादन किया, पर्याप्तधन बहिन को दिया और उसे भेजने के लिये तीन दिन तक साथ में रहे—

भर्तापि तावत्क्रथकैशिकानामनुष्ठितानन्तरजा-विवाहः।

सत्त्वानुरुपाहरणीकृतश्रीः प्रस्थापयद्राघवमन्वगाच्च ॥

तिस्रस्त्रिलोकप्रथितेन सार्धमजेन मार्गे वसतीरुषित्वा।

तस्मादपावर्तत कुण्डिनेशः ॥ रघु. ७-३२,३३

यही बेटी को विदा करते समय जनक ने भी किया। वह भी तीन दिन तक दशरथ के साथ उनके अयोध्या जाते समय रहे—

अध्वसु त्रिषु विसृष्ट-मैथिलः स्वां पुरीं दशरथो न्यवर्तत ॥

इससे स्पष्ट है कि परिवार में कन्या को पुत्र के समान प्यार और सम्मान तो मिलता था किन्तु परिवार का स्थायी अंग न होने से उसकी चर्चा पितृपरिवार के अङ्ग के रूप में नहीं मिलती। पतिगृह में वह स्वामिनी बनकर रहती थी।

शुभाशुभ शकुन

पिण्डोदक क्रिया के समान शकुनों पर भी सामान्य अप्रबुद्ध जनता का विश्वास रहता चला आया है। अथर्व वेद के अनेक सूक्तों मे इसकी चर्चा है। कालिदास ने, जिनकी विशेष आस्था पौराणिक मान्यताओं पर थी, स्थान स्थान पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भले बुरे शकुनों का वर्णन किया है । पार्वती का जन्म होता हैं तो दिशायें स्वच्छ निर्मल हो जाती हैं । वायु धूलिकणों से रहित वहती है । आकाश में शङ्ख वजने लगते हैं और पुष्पवृष्टि होती है । ये पार्वती के जीवन से होने वाले लोककल्याण के सूचक हैं—

प्रसन्न-दिक्पांसु विविक्तवातं शङ्खस्वनानन्तर-पुष्पवृष्टि ।

शरीरिणां स्थावर-जङ्गमानां सुखाय तज्जन्मदिनं वभूव ॥ कुमार. १-२३

कौसल्या को गर्भावस्था में नाना शुभ स्वप्न दिखायी देते थे—

गुप्तं ददृशुरात्मानं सर्वाः स्वप्नेषु वामनैः ।

जलजासि-गदा-शार्ङ्ग-चक्रलाञ्छित-मूर्तिभिः । रघु. १०-६०

कालिदास ने चार श्लोकों में ऐसे शुभ शकुनों का वर्णन किया है ।

शकुन- विद्या

शकुनों की पहचान एक स्वतन्त्र विद्या थी । व्याकरण महाभाष्य में इसकी गणना विशिष्ट विद्याओं में की गयी है । शकुनों को निमित्त भी कहते थे और इनके जानकार शकुनज्ञ या निमित्तज्ञ । वसिष्ठ भी शकुनज्ञ थे । वह पुत्रोत्पत्ति के लिये दिलीप और सुदक्षिणा को नन्दिनी गोकी सेवा का उपदेश दे ही रहे थे कि दिन भर वन में चरने के पश्चात् आश्रम में लौटती नन्दिनी उनके सामने आ गयी । वसिष्ठ ने इसे कार्य सिद्धि के लिये शुभ शकुन माना । नाम लेते ही यदि कोई आ जाय तो शुभ शकुन गिना जाता है । यहाँ भी ऐसा ही हुआ तो वसिष्ठ ने राज- दम्पती से कहा कि यह शुभ शकुन है । अब अपनी सिद्धि निकट ही समझो—

तां पुण्यदर्शनां दृष्ट्वा निमित्तज्ञस्तपोनिधिः ।

याज्यमाशंसिताबन्ध्य-प्रार्थनं पुनरव्रवीत् ॥ रघु. १-८६

अदूरवर्तिनीं सिद्धिं राजन् विगणयात्मनः ।

उपस्थितेयं कल्याणी नाम्नि कीर्तित एवते ॥ वही ८७

ऐसे ही शुभ शकुन रघु के जन्म के समय भी हुए । कालिदास कहते हैं—

दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखाः प्रदक्षिणार्चि र्हविरग्निराददे ।

वभूव सर्वं शुभशंसि तत् क्षणं भवोहि लोकाभ्युदयाय तादृशाम् ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब दिशायें निर्मल हो गयी, वायु सुखद चलने लगा। यज्ञाग्नि की ज्वाला दक्षिण की ओर घूम कर हविष् स्वीकार करने लगी। इनमें प्रथम दो बातों का उल्लेख कवि ने पार्वती के जन्म के अवसर पर भी किया है और तृतीय शकुन रघु की विजय यात्रा के अवसर पर भी हुआ—

तस्मै सम्यग्घुतो वह्नि र्वाजिनीराजनाविधौ।

प्रदक्षिणार्चिर्व्याजेन हस्तेनेव जयं ददौ॥ रघु. ४-२५

राजा लोग अश्वयुज् (क्वाँर) मास में जब विजय यात्रा के लिये प्रस्थान करते थे तो पहले याज्ञिक अनुष्ठान करते थे। रघु ने भी वह्नि-नीराजना विधि पूर्ण की और उनके द्वारा हुताग्नि ने प्रदक्षिणार्चिष् के द्वारा यात्रा की सफलता का संकेत दिया। यज्ञाग्नि का प्रदक्षिण होकर ज्वलित होना शुभ सूचक माना जाता था।

अपशकुन

अशुभ शकुनों का उल्लेख कालिदास ने राम परशुराम संघर्ष के प्रसंग मे किया है। रामादिचारों भाई विवाहोपरान्त पिता के साथ मिथिला से अयोध्या लौट रहे हैं। तीन पड़ाओंतक जमक उनके साथ आते हैं। जनक के जाते ही दशरथ को अपशकुन होने लगते हैं। पहले प्रतिकूल चलता हुआ तीव्र वायु वृक्षो और साथ ही उनकी पताकाओं को छिन्न छिन्न कर देता है। फिर सूर्य भयंकर परिवेशमण्डल से घिरा दिखायी देता है जैसे गरुड़ के द्वारा मारे गये सर्प के शरीर से लिपटी उसकी मणि हो। दिशायें रजस्वला स्त्रियों के समान दुर्दर्शनीय लग रही है। चारों ओर उड़ते हुए गीधों के पंख ही पंख दिखायी दे रहे हैं मानो रजस्वला के विखरे रुखे केश हों। सान्ध्य मेघ रुधिर- सने वस्त्र के समान प्रतीत हो रहे हैं। सान्ध्य मेघ असमय उदित हो गये हैं। शृगालियाँ सूर्य की ओर मुख करके रोती जा रही थीं—

तस्य जातु मरुतः प्रतीपगावर्त्मसु-ध्वजतरुप्रमाथिनः।

चिक्लिशु र्भृशतया वरुथिनीमुत्तटा इव नदीरयाः स्थलीम्॥

लक्ष्यते स्म तदन्तरं रविर्वद्धभीम-परिवेश-मण्डलः।

वैनतेयशमितस्य भोगिनो भोगवेष्टित इव च्युतो मणिः॥

श्येनपक्ष-परिधूसरालकाः सान्ध्यमेघ-रूधिरार्द्रवाससः।

अङ्गना इव रजस्वला दिशो नो वभुवुरवलोकनक्षमाः॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भास्करश्च दिशमध्युवास यां तां श्रिताः प्रतिभयं ववासिरे।

क्षत्रशोणित-पितृक्रियोचितं चोदयन्त्य इव भार्गवं शिवाः ।।रघु. ५८-६१

बाहुस्पन्दन

दक्षिण वाहु का स्पन्दन भी शुभ का सूचक होता है। दुष्यन्त वाहुस्पन्दन होने पर भी मनोरथ की पूर्ति न होने से उपालम्भ देता हुआ कहता है—

मनोरथाय नाशंसे किं वाहो स्पन्दसे वृथा। शाकु. ५-८७

पुरुष का दक्षिण-वाहु-स्पन्दन प्रियालङ्गन का सूचक होता है। इसीलिये कण्वाश्रम में प्रविष्ठ होते ही दुष्यन्त कहता है।

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च वाहुः कुतः फलमिहास्य।

अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र। शाकु. १-१४

भुजा स्पन्दित हो रही है जिसका फल होता है प्रियालिङ्गन। किन्तु यह तो शान्त आश्रम है। भला यहाँ इसका फल कैसे ? फिर भी भवितव्य अपना द्वार सर्वत्र पा लेता है।

कालिदास के नाटकीय पात्र प्रायः शकुनों पर विश्वास करते हैं। मालविका कहती है—"जाणामि णिमित्तं को दुआलंकार स्सात हवि में हिअअं विसिणी पत्त गदं विअ सलिलं वेपदि। अविअ दक्खिणेदरं विमे णअणं वहुसो फुरदि"। अंक ५। स्त्रियों के वामाङ्ग में स्फुरण शुभ का सूचक है, यह मालविका जानती है।

वायु की अनुकूलता

वायु का अनुकूल चलना कार्य सिद्धि का सूचक माना जाता था। इसी लिये शकुन्तला को विदा करते हुए कण्व मार्ग में उसके लिये "शान्तानुकल पवन'' की आशंसा करते हैं—

भूयात् कुशेशयरजो-मृदुरेणुरस्याः शान्तानुकूलपवनश्चशिवश्च पन्थाः।

शाकु. ६-११

दिलीप भी वसिष्ठाश्रम को जाते हुये पवन की अनुकूलता को सिद्धि का सूचक मानते हैं—

पवनस्यानुकूलत्वात् प्रार्थनासिद्धिशंसिनः। रघु. १-४२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मङ्गलकार्य में रोना अशकुन माना जाता है । विदा की तैयारी में सखियाँ शकुन्तला का मण्डन करती हैं तो यह सोचकर कि अब आगे कभी इन सहेलियों का ऐसा सांनिध्य नहीं प्राप्त हो सकेगा, वह रोने लगती हैं । इस पर दोनों सहेलियाँ उसे समझाती हुई कहती हैं—सहि ! उ इणं ण दे मंगल काले रोइदुं । शाकु. अंक४

किन्तु पुण्य तिथि में पवित्र नदी, विशेषत: गङ्गा और यमुना के संगम में स्नान कल्याणकारी समझा जाता था । विक्रमोर्वशीय के पंचम अंक के प्रारम्भ में विदूषक पुरुरवा के विषय में कहता है—"अद्य तिथिविशेष इति भगवत्यो: गङ्गा यमुनयो : सङ्गमे देव्या सह कृताभिषेक: साम्प्रतमुपकार्यामुपविष्ट: ।"

यहाँ सरस्वती नदी का उल्लेख नहीं है । अन्यत्रभी इस रूपक में संगम गङ्गा और यमुना का बताया है, सरस्वती का नहीं—

न तथा नन्दयसि मां सख्या विरहिंता तया

सङ्गमे पूर्वदृष्टेव गङ्गा यमुनया यथा ।। विक्रमो. २-१४

यह भी महत्त्वपूर्ण है कि इन दोनों नदियों के प्रति कवि ने 'भगवत्योः' कहकर सम्मान प्रकट किया है । यह देवत्व भावना समाज में अब तक विद्यमान है । साथ ही पर्वों में सपत्नीक तीर्थ स्नान की प्रथा भी कालिदास के समय के प्रचलित थी, यह इस श्लोक से स्पष्ट है ।

आकाशवाणी

कालिदास ने अनेकश: अतिमानवीय क्रियाओं का उल्लेख किया है । उनमें एक है आकाशवाणी और भविष्यत्कथन । कामदहन के पश्चात् रति मृत्यु वरण के लिये प्रस्तुत होती है । वह पति के मित्र मधु को अपनी अन्त्य क्रिया और और्ध्व दैहिक कर्मों के विषय में निर्देश देती हैं । इसी बीच आकाशवाणी आती है—'हे रति तुम्हारा पति तुम्हें शीघ्र मिल जायगा । इसलिये इस शरीर को बचा कर रखो'—

इति देहविमुक्तये स्थितां रतिमाकाशभवा सरस्वती ।

शफरीं ह्रदशोषविक्लवां प्रथमावृष्टिरिवाभ्यनन्दयत् ।।

कुसुमायुधपत्नि दुर्लभस्तव भर्ता न चिराद भविष्यति ।

तदिदं परिरक्ष शोभने भवितव्यप्रियसंगमं वपु: । कुमार ४-४०,४४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुमार संभव में पार्वती की तपस्या का प्रारम्भ भी ऐसी भविष्यवाणी से होता है किन्तु वह वाणी आकाश से नहीं, कामचारी नारद के मुख से प्रकट होती है—

तां नारदः कामचरः कदाचित्कन्यां किल प्रेक्ष्य पितुः समीपे।

समादिदशैकवधूं भवित्रीं प्रेम्णा शरीरार्धहरां हरस्य ।। कुमार. १-५०

नारद ने हिमालय से कहा कि आप की यह बेटी शिव की अर्धाङ्गिनी बनेगी और तब हिमालय ने सखियों के साथ पार्वती को शिव की आराधना में लगा दिया।

आराधनायास्य सखी- समेतां समादिदेश प्रयतां तनूजाम्। कुमार. १-५८

आकाशभाषी गन्धर्व

स्वयंवर में भाग लेने के लिये अज सेना के साथ क्रथकैशिक को प्रस्थान करता है। मार्ग में विश्राम के लिये नर्मदा तट पर ठहरता है। इतने में नर्मदा के जल से एक मत्त गज बाहर निकलता है जिसे देखकर सेना के सारे गज डरकर भागने लगते हैं। अज उसे भगाने के लिये उसकी कर्णपटी में वाण मारता है। वाण से विद्ध होते ही वह गज- रूप का परित्याग कर सुन्दर व्योमचारी बन जाता है और अज के ऊपर कल्पवृक्ष के पुष्प वरसाता हुआ कहता है कि मैं प्रियदर्शन नामक गन्धर्वराज का पुत्र प्रियंवद हूँ। मतङ्ग मुनि के शाप के कारण गज बन गया था। वाद में उन्होंने ही प्रसन्न होकर मुझे आशीर्वाद दिया था कि इक्ष्वाकु वंश का कुमार लोहे के वाण से तुम्हारी कनपटी को फोड़ेगा तब तुम पुनः अपने शरीर को प्राप्त कर लोगे। सो अब मैं पुनः गन्धर्व हो गया हूँ।

निर्धौत-दानामलगण्डभित्ति र्वन्यःसरित्तो गज उन्ममज्ज। रघु. ५-४३

तमापतन्तं नृपतेरवध्यो वन्यः करीति श्रुतवान् कुमारः।

निवर्तयिष्यन् विशिखेन कुम्भे जघान नात्यायत-कृष्टशार्ङ्गः ।। वही ५०

स्फुरत्प्रभा-मण्डल-मध्यवर्ति कान्तं वपुर्व्योमचरं प्रपेदे ।। वही ५१

मतङ्गशापादवलेपमूलादवाप्तवानस्मि मतङ्गजत्वम्।

अवेहि गन्धर्वपते स्तनूजं प्रियंवदं मां प्रियदर्शनस्य ।। वही ५३

इक्ष्वाकुवंश-प्रभवो यदाते भेत्स्यत्यजः कुम्भमयोमुखेन।

संयोक्ष्यते स्वेन वपुर्महिम्ना तदेत्यवोचत् स तपोनिधिर्माम्। वही ५५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मङ्गलकार्य में रोना अशकुन माना जाता है । विदा की तैयारी में सखियाँ शकुन्तला का मण्डन करती हैं तो यह सोचकर कि अब आगे कभी इन सहेलियों का ऐसा सांनिध्य नहीं प्राप्त हो सकेगा, वह रोने लगती हैं । इस पर दोनों सहेलियाँ उसे समझाती हुई कहती हैं—सहि ! उ इणं ण दे मंगल काले रोइदुं । शाकु. अंक४

किन्तु पुण्य तिथि में पवित्र नदी, विशेषतः गङ्गा और यमुना के संगम में स्नान कल्याणकारी समझा जाता था । विक्रमोर्वशीय के पंचम अंक के प्रारम्भ में विदूषक पुरुरवा के विषय में कहता है—"अद्य तिथिविशेष इति भगवत्योः गङ्गा यमुनयो : सङ्गमे देव्या सह कृताभिषेकः साम्प्रतमुपकार्यामुपविष्टः ।"

यहाँ सरस्वती नदी का उल्लेख नहीं है । अन्यत्रभी इस रूपक में संगम गङ्गा और यमुना का बताया है, सरस्वती का नहीं—

न तथा नन्दयसि मां सख्या विरहिंता तया

सङ्गमे पूर्वदृष्टेव गङ्गा यमुनया यथा ॥ विक्रमो. २-१४

यह भी महत्त्वपूर्ण है कि इन दोनों नदियों के प्रति कवि ने 'भगवत्योः' कहकर सम्मान प्रकट किया है । यह देवत्व भावना समाज में अब तक विद्यमान है । साथ ही पर्वों में सपत्नीक तीर्थ स्नान की प्रथा भी कालिदास के समय के प्रचलित थी, यह इस श्लोक से स्पष्ट है ।

आकाशवाणी

कालिदास ने अनेकशः अतिमानवीय क्रियाओं का उल्लेख किया है । उनमें एक है आकाशवाणी और भविष्यत्कथन । कामदहन के पश्चात् रति मृत्यु वरण के लिये प्रस्तुत होती है । वह पति के मित्र मधु को अपनी अन्त्य क्रिया और और्ध्व दैहिक कर्मों के विषय में निर्देश देती हैं । इसी बीच आकाशवाणी आती है—'हे रति तुम्हारा पति तुम्हें शीघ्र मिल जायगा । इसलिये इस शरीर को बचा कर रखो'—

इति देहविमुक्तये स्थितां रतिमाकाशभवा सरस्वती ।

शफरीं हृदशोषविक्लवां प्रथमावृष्टिरिवाभ्यनन्दयत् ॥

कुसुमायुधपत्नि दुर्लभस्तव भर्ता न चिराद भविष्यति ।

तदिदं परिरक्ष शोभने भवितव्यप्रियसंगमं वपुः । कुमार. ४-४०,४४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुमार संभव में पार्वती की तपस्या का प्रारम्भ भी ऐसी भविष्यवाणी से होता है किन्तु वह वाणी आकाश से नहीं, कामचारी नारद के मुख से प्रकट होती है—

तां नारदः कामचरः कदाचित्कन्यां किल प्रेक्ष्य पितुः समीपे।

समादिदशैकवधूं भवित्रीं प्रेम्णा शरीरार्धहरां हरस्य ॥ कुमार. १-५०

नारद ने हिमालय से कहा कि आप की यह बेटी शिव की अर्धाङ्गिनी बनेगी और तब हिमालय ने सखियों के साथ पार्वती को शिव की आराधना में लगा दिया।

आराधनायास्य सखी- समेतां समादिदेश प्रयतां तनूजाम्। कुमार. १-५८

आकाशभाषी गन्धर्व

स्वयंवर में भाग लेने के लिये अज सेना के साथ क्रथकैशिक को प्रस्थान करता है। मार्ग में विश्राम के लिये नर्मदा तट पर ठहरता है। इतने में नर्मदा के जल से एक मत्त गज बाहर निकलता है जिसे देखकर सेना के सारे गज डरकर भागने लगते हैं। अज उसे भगाने के लिये उसकी कर्णपटी में वाण मारता है। वाण से विद्ध होते ही वह गज- रूप का परित्याग कर सुन्दर व्योमचारी बन जाता है और अज के ऊपर कल्पवृक्ष के पुष्प वरसाता हुआ कहता है कि मैं प्रियदर्शन नामक गन्धर्वराज का पुत्र प्रियंवद हूँ। मतङ्ग मुनि के शाप के कारण गज बन गया था। वाद में उन्होंने ही प्रसन्न होकर मुझे आशीर्वाद दिया था कि इक्ष्वाकु वंश का कुमार लोहे के वाण से तुम्हारी कनपटी को फोड़ेगा तब तुम पुनः अपने शरीर को प्राप्त कर लोगे। सो अब मैं पुनः गन्धर्व हो गया हूँ।

निर्धौत-दानामलगण्डभित्ति र्वन्यःसरित्तो गज उन्ममज्ज। रघु. ५-४३

तमापतन्तं नृपतेरवध्यो वन्यः करीति श्रुतवान् कुमारः।

निवर्तयिष्यन् विशिखेन कुम्भे जघान नात्यायत-कृष्टशार्ङ्गः ॥ वही ५०

स्फुरत्प्रभा-मण्डल-मध्यवर्ति कान्तं वपुर्व्योमचरं प्रपेदे ॥ वही ५१

मतङ्गशापादवलेपमूलादवाप्तवानस्मि मतङ्गजत्वम्।

अवेहि गन्धर्वपते स्तनूजं प्रियंवदं मां प्रियदर्शनस्य ॥ वही ५३

इक्ष्वाकुवंश-प्रभवो यदाते भेत्स्यत्यजः कुम्भमयोमुखेन।

संयोक्ष्यते स्वेन वपुर्महिम्ना तदेत्यवोचत् स तपोनिधिर्माम्। वही ५५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृतज्ञ गन्धर्व ने आग्रह पूर्वक अज को संमोहन नाम का अस्त्र दिया। इस गान्धर्व के प्रयोग और संहार के लिये पृथक् पृथक् मन्त्र का उपयोग करना पड़ता था। उसने अज को अस्त्र का प्रयोग करना सिखाया और अज ने उत्तराभिमुख बैठकर और नर्मदा-जल से आचमन कर मन्त्र-प्रयोग सीखा—

संमोहनं नाम सखे ममास्त्रं प्रयोगसंहार- विभक्तमन्त्रम्।

गान्धर्वमादत्स्व यतः प्रयोक्तुर्न चारिहिंसा विजयश्च हस्ते।

तथेत्युपश्पृश्य पयः पवित्रं सोमोद्भवायाः सरितो नृसोमः

उदङ्मुखः सोऽस्त्रविदस्त्रमन्त्रं जग्राह तस्मान्निगृहीतशापात्। वही ५७, ५९

ऐसी ही एक सूचना आकाशवाणी राम को देती है। एक ब्राह्मण अपने मृत पुत्र को राम के द्वार पर रखकर चिल्लाने लगता है कि ऐसा कभी नहीं हुआ। नह्यकालभवो मृत्युरिक्ष्वाकु- पदमस्पृशत्। रघु. १५-४४

शोचनीयासि वसुधे यात्वं दशरथाच्च्युता॥

रामहस्तमनुप्राप्य कष्टात् कष्टतरं गता॥ रघु. १५-४३

राम को यम पर क्रोध आया और वह कुबेर का विमान लेकर यम को जीतने के लिये चल दिये। तभी आकाशवाणी हुई—राजन तुम्हारी प्रजाओं में कुछ अपचार हो रहा है। उसे शान्त करो—

उच्चचार पुरस्तस्य गूढरूपा सरस्वती।

राजन् प्रजासु ते कश्चिदपचारः प्रवर्तते। वही १५-४६

दुष्यन्त के साथ शकुन्तला के गान्धर्व विवाह और शकुन्तला के गर्भवती होने की सूचना कण्व को बिना शरीर की छन्दोमयी वाणी से ही हुई थी—"प्रियंवदा—अग्गिसरणं पविट्ठस्य सरीर विणाछन्दोमई एवाणि आए सूइदो नातकण्णस्स वुतान्तो—दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः—अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव। शाकु. ४-४

अबवैज्ञानिको के द्वारा सारे आकाश पर अधिकार कर लिये जाने से आकाशवाणी नहीं होती। अव आकाशवाणी पृथ्वी से होने लगी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शाप और वर

शाप और आशीर्वाद की भूमिका कालिदास की कृतियाँ में बहुत महत्त्वपूर्ण है। उनके मेघदूत का प्रारम्भ कुबेर के शाप से होता है—

शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येन भर्तुः। मेघ. १-१

शाकुन्तल की सारी कथा ही शाप की भित्ति पर खड़ी है। दुर्वासा के शाप के कारण ही शकुन्तला का अङ्गुलीयक पुष्कर में गिर गया और दुष्यन्त उसे भूल बैठा—

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।

स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन् कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव॥ शाकु. ४-१

उर्वशी के साथ भी ऐसा ही होता है। मुनि भरत द्वारा निवद्ध अष्टरसाश्रयी लक्ष्मीस्वयंवर नामक नाटक में उर्वशी लक्ष्मी की भूमिका में अभिनय कर रही थी। सारे देव-गन्धर्व नाटक देखने के लिये एकत्र थे। इन्द्र की रंगशाला पूरे साज में थी। वारुणी की भूमिका में वर्तमान मेनका ने लक्ष्मी की भूमिका में वर्तमान उर्वशी से पूछा—यहाँ तीनो लोकों के महापुरुष, केशव और सब लोकपाल पधारे हैं। इनमें तुम्हारा मन किसे चाहता है?

इसके उत्तर में उर्वशी को कहना था—"पुरुषोत्तम को" किन्तु उसने कह दिया "पुरुरवा' को। इस पर क्रुद्ध होकर भरत मुनि ने उसे शाप दे दिया—तुमने मेरे सिखाये हुए का अनादर किया है, अतः अब तुम्हें दिव्यलोकमें स्थान नहीं मिलेगा—

"लक्ष्मी-भूमिकायां वर्तमाना उर्वशी वारुणी-भूमिकायां वर्तमानया मेनकया पृष्टा।रग्मागताः त्रैलोक्यपुरुषाः सकेशवा लोकपालाः।कतमस्मिस्ते हृदयाभिनिवेश इति।तस्याः पुरुषोत्तम इति वक्तव्ये पुरुरवसीति निर्गतावाणी।शप्ता उपाध्यायेन—येन मम त्वयोपदेशो लङ्घितस्तेन ते दिव्यं स्थानं न भविष्यतीति" विक्रमो. ३

शाप से विर्मुक्ति

और जैसे हिमालय पर बिच्छू के समान काट लेने वाले बिछुआ नामक पौधे के नीचे के पत्ते ही उस दंश की ओषधि होते हैं वैसे ही प्रत्येक शाप से मोक्ष का उपाय भी उसी के साथ जुड़ा रहता है। अज की कथा के प्रसङ्ग में जो गन्धर्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मतङ्ग ऋषि के शाप से गज बना था उसके उद्धार का उपाय भी मतङ्ग ने ही उसे बताया था क्योंकि—

सचानुनीतः प्रणतेन पश्चान्मया महर्षि मृदुतामगच्छत्।

उष्णत्वमग्न्यातप- संप्रयोगाच्छैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य॥ रघु. ५-५४

जल अग्नि या आतप के सम्पर्क से भले ही गर्म हो जाये किन्तु उसकी प्रकृति तो शीतल ही है—

शकुन्तला के शाप का निराकरण शापकृदुर्वासा ने ही बतलाया था—"मे वचनमन्यथाभवितुं नार्हति किन्त्वभिज्ञानाभरण- दर्शनेनशापो निर्वर्तिष्यत इति मन्त्रयन् स्वयमन्तर्हितः। अभि. ४। और उर्वशी को भरत ने शाप दिया तो इन्द्र ने उसकी पुष्टि करते हुए भी उसे मनोवाञ्छित प्रसाद दे दिया कि तुम जिससे प्रेम करती हो वह राजर्षि मेरा युद्ध- सहायक है। जाओ, जब तक तुम्हारे सन्तान न हो तब तक उसी के साथ रहो—"यस्मिन् बद्धभावासि त्वं तस्य मे रणसहायस्य राजर्षेः प्रियंकरणीयम्। तत्तावत्त्वं पुरुरवसं यथाकाममुपतिष्ठस्व यावत् स परिदृष्ट- सन्तानो भवति इति। विक्रमो. अंक ३। यहाँ तोशाप वरदान ही बन गया।

और दशरथ को जोशापमुनि ने दिया, उसके पीछे भी वरदान ही छिपा था—"दिष्टान्तमाप्स्यति भवानपि पुत्रशोकादन्त्ये वयस्यहमिव" रघु. ९-७९ उसके विषय में तो शाप के पात्र दशरथ ने ही कहा—

शापोप्यदृष्ट-तनयानन-पद्मशोभे सानुग्रहो भगवतामयि पातितोयम्।रघु. ९-८०

राम विश्वामित्र के साथ वन में जाते हैं तो मार्ग में शिलीभूत अहल्या मिलती है जिसे इन्द्र के साथ क्षणिक सम्भोग करने के कारण उसके पति गोतम ने शिला बना दिया था किन्तु शापोद्धार का मार्ग भी उन्हींने बता दिया था—

प्रत्यपद्यत चिराय यत् पुनश्चारु गौतमवधूः शिलामयी।

स्वंवपुः सकिल किल्विषच्छिदां रामपादरजसामनुग्रहः। रघु. ११-३४

कामधेनु का शाप

दिलीप की अनपत्यता का कारण कामधेनु का शाप है। दिलीप शुक्र के पास से पृथ्वी को लौट रहे थे। उनकी पत्नी ने ऋतु स्नान किया था। राजा उसका ध्यान कर धर्मलोप से बचने के लिये जल्दी में थे सो उन्होंने मार्ग में कल्प वृक्ष के नीचे बैठी कामधेनु को नहीं देखा। कामधेनु ने इसे अपना अपमान समझ कर शाप दे दिया—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति।

मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा। रघु. १-७७

तुम सन्तान के लिये मेरा तिरस्कार कर पत्नी से समागम करने जा रहे हो। तो मैं शाप देती हूं कि तुम्हारे सन्तान नहीं होगी। यह तो हुआ शाप, किन्तु इसी के साथ उसके निवारण का भी उपाय जोड़ दिया—हाँ यदि तुम मेरी पुत्री नन्दिनी की आराधना कर उसे प्रसन्न कर लो तो तुम्हें सन्तान प्राप्त हो जायगी। और दिलीप ने वैसाकर रघु को पुत्र रुप में पा लिया।

लक्ष्मण और शाप

लक्ष्मण की तो मृत्यु ही शाप के भय से हुई। राम मुनिवेषधारी काल में रहस्य चर्चा कर रहे थे। दोनों के मध्य इस बात की सन्धि थी कि हमारी चर्चा के बीच यदि कोई हमें देखेगा तो उसका परित्याग कर दिया जायगा। लक्ष्मण को द्वार रक्षा का भार सौंपा गया था। इसी बीच दुर्वासा पधारे तो शाप के भय से लक्ष्मण ने उन्हें भीतर जाने दिया और स्वयं जाकर सरयू में शरीर त्याग दिया—

उपेत्य मुनिवेषोथ कालः प्रोवाच राघवम्।

रहः संवादिनौ पश्येद्वां यस्तंत्यजेरिति॥ रघु. १५-९२

विद्वानपि तयोर्द्वास्थः समयं लक्ष्मणोऽ भिनत्।

भीतो दुर्वाससः शापाद् रामसंदर्शनार्थिनः॥ वही ९४

सगत्वा सरयूतीरं देह- त्यागेन योग वित्।

चकारावितथां भ्रातुः प्रतिज्ञां पूर्वजन्मनः॥ ९५

वरदान

वरदान पर भारत का सुदीर्घकालीन विश्वास है। आशीर्वाद भी वर का ही लघुरूप है। ये शाप के विपर्यास हैं। सत्यनिष्ठ सत्पुरुषों की वाणी कभी वितथ नहीं होती। वे जो बोलते हैं, सत्य होता है—चाहे वह शाप हो या वरदान अर्थात् आशिष्। शाप के समान वर के भी अनेक उदाहरण कालिदास में मिलते हैं। उदाहरणार्थ प्रसन्न नन्दिनी दिलीप से कहती है—भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीतास्मि ते पुत्र वरं वृणीष्व। रघु. २-६३। अर्थात् तुम्हारी गुरुभक्ति और मेरे प्रति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करुणा से मैं प्रसन्न हूँ। तुम वर माँगो बेटा। तो दिलीप अपनी पत्नी सुदक्षिणा के द्वारा वंशकविस्तारक यशस्वी पुत्र माँगते हैं और वह उन्हें मिलता है। इसी प्रकार रघु और इन्द्र के बीच होमतुरङ्ग की रक्षा को लेकर जब युद्ध होता है तो रघु के वीर्यातिशय से प्रसन्न होकर इन्द्र उन्हें वर माँगने को कहता है—"अवेहि मां प्रीतमृते तुरङ्गमात् कि मिच्छसीति स्फुटमाह वासवः।" रघु. ३-६३। और रघु ने वर माँगा—

अजस्रदीक्षा-प्रयतः स मद्गुरुः क्रतोरशेषेण फलेन युज्यताम्' ।रघु. ३-६५

ऐसे ही प्रियंवद गन्धर्व अज को संमोहन अस्त्र प्रसादरुप में देता है—गान्धर्वमादत्स्व यतः प्रयोक्तुर्न चारिहिंसा विजयश्च हस्ते। कभी कभी देवताओं के द्वारा दिये हुए वर लोक के प्राणों को संकट में डाल देते थे। फिर अन्य कोई उस वर का प्रतिरोध नहीं कर पाता। त्रिदेवों में से किसी में एक के द्वारा दिये वर को खण्डित करने की शक्ति नहीं थी। रावण को ब्रह्मा ने वर दिया था कि देवता तुम्हारा वध नहीं कर सकेंगे। मनुष्यों से अवध्यता उसने इस कारण नहीं माँगी क्योंकि उसने मनुष्यों से भय की कल्पना ही नहीं की थी। ये वर उसने ब्रह्मा को अपने तपस् के द्वारा प्रसन्न करके माँगे थे—

धातारं तपसा प्रीतं ययाचे स हि राक्षसः।

दैवात् सर्गादवध्यत्वं मर्येष्वास्था-पराङ्मुख।। रघु. १०-४३

और इसीलिये विष्णु को मनुष्य के रूप में जन्म लेना पड़ा। ऐसे ही लवण नामक असुर को शिव ने शूल प्रदान दिया था अपने प्रसाद के रूप में। औरवर दिया था कि जब तक शूल उसके पास रहेगा उसे कोई मार नहीं सकेगा। इसीलिये यमुनातट वासी मुनि लक्ष्मण से कहते है—

दुर्जयो लवणः शूली विशूली पार्थ्यतामिति। रघु. १५-५

माया

माया की चर्चा रघुवंश के प्रारम्भ में मिलती है जहाँ नन्दिनी मायासिंह की सृष्टि के द्वारा दिलीप की परीक्षा लेती है। वह स्वयं कहती है —

तं विस्मितं धेनुरुवाच साधो मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोसि।

ऋषि-प्रभावान्मयि नान्तकोपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्य- हिंस्राः ।रघु. २-६२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजन् ! मैंने तो माया के द्वारा सिंह की सृष्टि कर तुम्हारी सेवा- भावना की परीक्षा ली थी । ऋषि का इतना प्रभाव है कि अन्य हिंसक जीवों की तो बात ही क्या, मुझ पर यम तक प्रहार नहीं कर सकता । विश्वजित् यज्ञ से मृत्पात्र- मात्र शेष रह जाने पर जब कौत्स रघु से गुरु को प्रदेय दक्षिणा माँगने आया तो रघु के कोष गृह में आकाश से सुवर्ण की वर्षा हो गयी । यह भी माया का ही एक रूप है—

प्रातः प्रयाणाभिमुखाय तस्मै सविस्मयाः कोषगृहे नियुक्ताः ।

हिरण्यमयीं कोषगृहस्य मध्येवृष्टिं शशंसुः पतितां नभस्तः । रघु. ५-२९

रघु. के पञ्चम सर्ग के गज का गन्धर्व बन जाना भी ऐसी ही घटना है—

स विद्धमात्रः किल नागरुपमुत्सृज्य तद्विस्मित-सैन्य- दृष्टः ।

स्फुरत्प्रभा-मण्डल-मध्यवर्ति कान्तं वपुः व्योमचर-प्रपेदे: ॥ रघु. ५-५१

शूर्पणखा की माया के दर्शन हमें रघुवंश के १२वें सर्ग में होते हैं । पहले उसने सुन्दरी के रूप और कोकिला की मञ्जु वाणी की माया- सृष्टि की किन्तु फिर अपमानित होकर अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो गयी—

लक्ष्मणः प्रथमंश्रुत्वा कोकिला-मञ्जुवादिनीम् ।

शिवाघोर-स्वनां पश्चाद् विवुधे विकृतेति ताम् । रघु. १२-३९

सा वक्रनख-धारिण्या वेणुकर्कश-पर्वया

अङ्कुशाकारयाङ्गुल्या तावतर्जयदम्बरे ॥ वही ४१

अशोक वाटिका में निरुद्ध सीता में ऐकान्तिक निराशा उत्पन्न कर उन्हें अपने वश में लाने के लिये रावण ने माया के द्वारा राम के छिन्न शिर की रचना कर उसे देखने के लिये सीता के पास भेजा था और सीता तो वेदना से भर ही गयी होती यदि त्रिजटा उन्हें 'यह माया है' ऐसा बताकर जिला न लेती । कवि ने बड़े कलापूर्ण ढंग से इस घटना का प्रतिपादन किया है—

अथ रामशिरश्छेद-दर्शनोद्-भ्रान्तचेतनाम् ।

सीतां मायेति शंसन्ती त्रिजटा समजीवयत् ॥ रघु. १२-७४

कामंजीवति मे नाथ इतिसा विजहौ शुचम् ।

प्राङ्मत्वा सत्यमस्यान्तं जीवितास्मीति लज्जिता । वही ७५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहले तो सीता यह जानकर कि मेरे पति अभी जीवित है, प्रसन्न हुई किन्तु बाद में यह सोचकर कि मैं राम के मरण की बात जानकर भी जीवित कैसे बनी रही, लाज से भूमि में गड़ गयी । पृथ्वी का राम सीता को नागफनों पर स्थित सिंहासन पर बिठाकर पाताल में ले जाना भी इसी प्रकार की घटना है जिसे माया कहा जा सकता है । प्रश्न यह है कि वे कौन से नाग थे जो पाताल से रसातल तक सिंहासन को अपने फनों पर लेकर आये थे और पृथ्वी जब स्वयं साक्षात् प्रकट हुई तो इस धरा का क्या हुआ ? तीसरे यदि पृथ्वी इसी धरा की अधिदेवता है तो पाताल पर उसका अधिकार कैसे ? फिर क्या भू लोक छोड़ने के पश्चात् सीता पाताल वासिनी हो गयी ? पुण्यात्मा तो द्यौलोक को जाते हैं । पाताल तो व्याल लोक है—तक्षक और वासुकि का लोक । कालिदास कहते हैं—

तत्र नागफणोत्क्षिप्त-सिंहासन-निषेदुषी,

समुद्र-रशना साक्षात् प्रादुरास वसुन्धरा ।

सा सीतामङ्कमारोप्य भर्तृ-प्रणिहितेक्षणाम्

मा मेति व्याहरत्येव तस्मिन् पातालमभ्यगात् ।। रघु. १५-८३,८४

राम यही कहते रह गये—मत जाओ, मत जाओ । वैसे उन्हें यह कहने का कोई अधिकार शेष नहीं रह गया था ।

अधिदेवता की कल्पना

प्राचीन भारत में प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु और स्थान की एक अधिदेवता रहती है, ऐसा विश्वास था । ग्राम देवता, कुल देवता, वन देवतादि की चर्चा प्राय: साहित्य में हुई है । राजधानी अयोध्या की भी अधिदेवता थी । कुश ने अयोध्या छोड़कर कुशावती को राजधानी बनाया और राम- सहित चारों भाइयों ने सरयू में समाधि ली तो अयोध्या निर्जन उजाड़ हो गयी । एक दिन अयोध्या की अधिदेवता कुशावती पहुँची और अर्धरात्रि के समय जब दीप वुझ चुके थे और सारे लोग निद्रामग्न थे, तो वह कुश के शय्यागृह में प्रविष्ट हो गयी । कुश जाग गये और उन्होंने परदेशिनी कलत्र के वेष में अपरिचित स्त्री को पास में देखा । नारी जय कहकर अञ्जलि बाँधे खड़ी थी । कुश ने कहा—तुम वेष और और आकृति से सांसारिक लग रही हो । योग की शक्ति तुम्हारे पास नहीं दिखती फिर चारों ओर से बन्द कक्ष में कैसे घुस आयीं ? कौन हो ? किसकी पत्नी हो । और क्यों आयी हो । रघुवंशी परायी स्त्रियों में मन नही लगाते । तब नारी बोली कि मैं उस अयोध्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरी की अधिदेवता हूँ जिसके निवासियों को आपके पिता परलोक प्रयाण करते समय साथ ले गये हैं। अधिदेवता के प्राकट्य की घटना अलौकिक नहीं तो क्या है?

अथार्धरात्रे स्तिमित-प्रदीपे शय्यागृहे सुप्तजने प्रवुद्धः।
कुशः प्रवासस्थ-कलत्रवेषामदृष्टपूर्वां वनितामपश्यत्॥रघु. १६-४
लब्धान्तरा सावरणेपि गेहे योग-प्रभावो न च लक्ष्यते ते।
विभर्षि चाकारमनिर्वृतानां मृणालिनी हैममिवोपरागम्॥ वही ७
कात्वं शुभे कस्य परिग्रहोवा किं वा मदभ्यागमकारणं ते।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्री-विमुख-प्रवृत्ति॥वही ८
तमवव्रीत् सा, गुरुणानवद्या या नीतपौरा स्वपदोन्मुखेन,
तस्याः पुरः संप्रति वीतनाथां जानीहिराजन्नधिदेवतां माम्॥वही ९

कुश और नाग

कुश अवरोध के साथ सरयू में जल विहार कर रहे थे। जब वह जल से बाहर निकले तो देखा कि उनका वलय बाहु में नहीं है। वह कंकण राम का था जो उन्होंने अपने हाथ से उतारकर कुश को पहना दिया था। इस कारण उसका खो जाना सह्य नहीं था। फिर क्या उनके लोगों ने सरयू का चपा-चपा छान मारा किन्तु कंकण का पता नहीं चल सका। तब जालिकों ने कुश से कहा—देव! सरयू के भीतर एक बड़ा कुण्ड है जिसमें एक कुमुद नामक नाग रहता है। हो न हो, उसी ने आपका कंकण लिया है। तब कुश ने कुमुद के वध के लिये प्रत्यञ्चा पर वाण चढ़ाया और नदी के तट पर पहुँचे ही थे कि कुमुद एक कन्या को साथ लिये हुए कन्दुक ह्रद से वाहर निकला और वोला कि जब यह कन्या अपने उछाले हुए को हाथ में लेने के लिये ऊपर देख रही थी तो उसने आप के हाथ से गिरे हुए कन्दुक को आकाश से टूटा तारा समझकर पकड़ लिया। कुमुद ने कंकण लौटा दिया और साथ अपनी वहिन कुमुद्वती भी कुश को अर्पित करदी—

दिव्येन शून्यं वलयेव वाहुमुपोढ- नेपथ्य- विधिर्दहदर्श। रघु. १६-७३
जयश्रियः संवननं यतस्तदामुक्तपूर्वं गुरुणा च यस्मात्।
सेहेऽस्य न भ्रंशमतो न लोभात् सतुल्य पुष्पाभरणोहि धीरः। वही ७४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ततः स कृत्वा धनुराततज्यं धनुर्धरः कोपविलोहिताक्षः ।

गारुत्मतं तीरगतस्तरस्वी भुजङ्गनाशाय समाददेऽस्त्रम् । वही ७७

तस्मात् समुद्रादिव मथ्यमानादुद्वृत्त- नक्रात् सहसोन्ममज्ज,

लक्ष्म्येव सार्धं सुरराजवृक्षः कन्यां पुरस्कृत्य भुजङ्गराजः ॥ वही ७९

कराभिघातोत्थितकन्दुकेयमालोक्य वालातिकुतूहलेन ।

ह्रदात् पतज्ज्योतिरिवान्तरिक्षादादत्त जैत्राभरणं त्वदीयम् ॥ वही ८३

इमां स्वसारं च यवीयसीं मे कुमुद्वतीं नार्हसि नानुमन्तुम् ॥ वही ८५

दुष्यन्त शकुन्तला का प्रत्याख्यान कर देता है और शारङ्गरव गौतमी के वाक्य की अवहेलना कर पीछे आती शकुन्तला को झिड़ककर वहीं छोड़ देता है, यह कहकर कि यदि दुष्यन्त का कथन सत्य है तो पितृ कुल की मर्यादा को तोड़ने वाली का पिता से क्या लेना देना ? और यदि तू पतिव्रता है तो पतिगृह में चाकरी करते हुए भी तेरा पड़ा रहना अच्छा—

यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा त्वमसिकिं पितुरुत्कुलया त्वया ।

अथ तु वेत्सि शुचिव्रतमात्मनः पति- कुलेतव दास्यमपिक्षमम् ॥शाकु. ५-२७

तब शकुन्तला निराश होकर कहती है—भगवति वसुधे, मुझे विवर दो जिसमें मैं समा जाऊँ—"भअवदि वसुहे ! दिहि में विवरं" । तभी अदभुत् घटना घटित होती है । एक ज्योतिष्मती स्त्री देह झपटकर और उसे ऊपर उठाकर पास के अप्सरस्तीर्थ को चली गयी—

स्त्री-संस्थानं चाप्सरस्तीर्थमारादुत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम । शाकु. ५-३०

और इसे आप क्या कहेंगे ?

प्राचीन काल से ही लोगों में प्रत्येक स्थली में अधिदेवता की धारणा विद्यमान रही है । एक अतिमानवीय शक्ति का अधिष्ठान वे गृह, कूप, वापी, नदी, वृक्ष, वन, ग्राम आदि में मानते रहे हैं । कालिदास में भी यत्र-तत्र इस विश्वास के दर्शन होते हैं । मेघदूत में यक्ष कहता है—

मामाकाश-प्रणिहित-भुजं निर्दयाश्लेषहेतेः

लंब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्न-सन्दर्शनेषु ।

पश्यन्तीनां न खलु वहुशो न स्थली-देवताना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्ता- स्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥ उत्तर. मेघ० ४३

स्वप्नों में जब तुम मुझे दिख जाती हो और तुम्हारे दृढ़ आलिङ्गन के लिये मैं आकाश में अपने हाथ ऊपर उठाता हूँ किन्तु तुम वहाँ नहीं होतीं और मैं मन मारकर रह जाता हूँ। मेरी यह दयनीय स्थिति देखकर वनस्थली के अधिदेवताओं के भी नेत्रों से मुक्ताओं जैसे बड़े बड़े अश्रु बिन्दु वृक्षों के किसलयों पर गिरने लगते हैं। यहाँ कवि ने एक नहीं अनेक देवताओं की बात कही है। सम्भवतः ये भिन्न भिन्न वृक्षों की अधिदेवता हैं। यहाँ कवि ने अश्रु बिन्दुओं के पल्लवों पर गिरने की बात कही है, भूमि पर नहीं। यह एक पारम्परिक विश्वास का सूचक है कि महात्मा, गुरु और देवता के अश्रु का भूमि पर गिरना देशभ्रंश, महादुःख और मरण का सूचक होता है—

महात्मगुरु-देवानामश्रुपातः क्षितौ यदि।

देशभ्रंशो महद्दुःखं मरणं वाभवेद् ध्रुवम् ॥

कुमारसम्भव का मधु भी वनस्थलियों की देवताओं के समान अतिमानव होकर मानववत् आचरण करता है। काम उसकी सहायता लेकर शिव तक की धैर्य-च्युति के लिये उद्यत है और मधु प्रकट होकर उसकी सहायता करता भी है—

संकल्पयोने रभिमानभूतमात्मानमाधार्य मधुर्जजृम्भे ।कुमार.३-२४

और भस्मीभूत काम की पत्नी रति भी उससे ऐसे बात करती है जैसे वह उसका शरीरी सखा हो। वह काम के श्राद्ध में उससे विलोल पल्लवों वाली सहकार मञ्जरी का निवाप देने की प्रार्थना करती है—

परलोक विधौ च माधव स्मरमुद्दिश्य विलोल-पल्लवाः।

निवपेः सहकार-मञ्जरीः प्रियचूत-प्रसवो हिते सखा ॥ कुमार. ४-६८

रघुवंश मे सिंह मनुष्य के समान वार्तालाप करता है—

विस्मापयन् विस्मितमात्मवृत्तौ सिंहोरुसत्त्वं निजगाद सिंहः। रघु. २-३३

एक ही बार नहीं वह बार-बार प्रत्युक्ति प्रदान करता है—

भूयः स भूतेश्वर-पार्श्ववर्ती किञ्चिद् विहस्यार्थपतिं वभाषे ॥ रघु. २-४६

गो (नन्दिनी) भी मनुष्य ने समान भाषण करती है—

तं विस्मितं धेनुरुवाच साधो मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोसि। रघु. २-६२

रघु अपने पिता द्वारा छोड़े हुए अश्वमेध तुरंग की रक्षा में नियुक्त है। उसके सामने से ही गूढ़- विग्रह शक्र अश्व का हरण कर लेता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धनुर्भृतामग्रत एव रक्षिणां जहारशक्रः किल गूढ-विग्रहः । रघु. ३-३९

आश्चर्य यह कि नन्दिनी भी यदृच्छा से वहाँ आ पहुँचती है । रघु उसके मूत्र से नेत्र धोकर अतीन्द्रिय वस्तुओं को भी देखने की शक्ति प्राप्त कर लेता है जैसे उसे पहले से ही विदित हो कि गोमूत्र से अतीन्द्रिय दृष्टि प्राप्त हो जायगी—

तदङ्ग-निष्यन्द जलेनलोचने प्रमृज्य पुण्येन पुरस्कृतः सताम् ।

अतीन्द्रियेष्वप्युपपन्न-दर्शनो वभूव भावेषु दिलीप-नन्दनः ॥ रघु. ३-४१

ये सब अविश्वसनीय जादुई बाते हैं—

ऐसा ही चमत्कार रघुवंश के पञ्चम सर्ग में देखने को मिलता है जहाँ बताया गया है कि वसिष्ठ ने अभिमन्त्रित कर जोजल रघु के रथ पर छिड़का उसके प्रभाव से उदन्वान्, आकाश और पर्वतों पर भी चलने में उसके रथ को बाधा नहीं हुई वह बात के द्वारा उड़ाकर ले जाते मेघ के समन निर्विघ्न विचरण कर सकता था—

वसिष्ठ-मन्त्रोक्षणजात् प्रभावादुदन्वदाकाश-महीधरेषु ।

मरुत्सखस्येव वलाहकस्य गतिर्विजघ्ने नहि तद्रथस्य ॥रघु. ५-२७

इसी सर्ग में एक और चमत्कार की बात कही गयी है । रघु विदर्भ के लिये ससैन्य प्रस्थान कर रह थे । मार्ग में उन्होंने नर्मदा के तट पर विश्राम किया । इसी बीच एक मद- दुर्दम गज नर्मदा की धारा से ऊपर निकला । उसके भय से रघु के सैन्य में हाहाकार मच गया । तब रघु ने उसकी कनपटी में वाण से प्रहार किया । वाण के लगत ही वह करी अपने रूप को त्याग कर आकाश चारी गन्धर्व वन गया । है न अदभुत चमत्कार !

सविद्धमात्रः किल नागरूपमुत्सृज्यतद्विस्मित-सैन्य-दृष्टः ।

स्फुरत्-प्रभामण्डल-मध्यवर्ति कान्तं वपुर्व्योमचरं प्रपेदे ॥रघु.५-५१

नारद की वीणा के मुख भाग पर रखी माला आकाश से इन्दुमती के वक्ष पर गिरकर उसका प्राण हरण कर लेती है और राजा केवल विलाप करता रह जाता है—**स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्तिमाम्** ॥ रघु. ८-४६

यह भी अलौकिक चमत्कार ही है । और क्या यह भी चमत्कार नहीं कि इन्दुमती के पति की अभिषङ्ग- जड़ अवस्था का ज्ञान उनके गुरु-पुरोहित को बिना किसी के बताये केवल प्राणधान क्रिया से ही हो जाता है—"प्रणिधानाद् गुरु राश्रमस्थितः अभिषङ्ग- जड़ं विजिज्ञिवान्" । रघु. ८-७५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजा दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ में पायस चरु हाथ में लेकर पुरुष का उत्पन्न होना भी कम आश्चर्य जनक नहीं है—

अथतस्यविशां पत्युरन्ते कार्य्यस्य कर्मणः।

पुरुषः प्रवभूवाग्नि र्विस्मयेन सहर्त्विजाम्।। रघु. १०-५०

दशरथ उस पुरुष के द्वारा प्रदत्त चरु को ग्रहण कर उसे रानियों को खिलाते है। कालिदास के अनुसार राक्षस आकाश में उड़ा करते थे। राम ने उनकी उड़ने वाली सेना को आकाश में देखा था। उसके साथ अपना ध्वज भी था जो ऊपर उड़ते हुए गीधों के पंखों की वायु से फहरा रहा था—

रक्षसां वलमपश्यदम्वरे गृध्रपक्ष पवनेरितध्वजम्। रघु. ११-२६

राम के चरण रज से शिला का गौतम वधू के रूप में परिवर्तित हो जाना अमानवीय कृत्य ही है जिसका उल्लेख कालिदास ने भी किया है—

प्रत्यपद्यत चिराय यत्पुनश्चारु गौतम-वधूः शिलामयी।

स्वं वपुः स किल किल्विषच्छिदां रामपाद-रजसामनुग्रहः।। रघु. ११-३४

ऊपर अधिदेवताओं का उल्लेख हुआ है। कालिदास की इन पर दृढ़ आस्था जान पड़ती है। उन्होंने बार-बार उनकी चर्चा की है और वह भी इस प्रकार जैसे हमारे समान अस्थि मांस के श्वसन् पिण्ड हों।

वह सर्वथा पुराणानुयायी कवि हैं। वह शाप और वर पर विश्वास करते थे और अलौकिक अमानवीय शक्तियों पर भी। उनकी रचनायें ऐसी ही घटनाओं के सहारे टिकी हैं। अभिज्ञान शाकुन्तल का पूरा ढाँचा दुर्वासा के शाप पर आश्रित है तो विक्रमोर्वशीयम् की कथा उर्वशी के लता रूप में परिणत हो जाने पर। कुमारवन में प्रविष्ट होते ही उर्वशी लतावन जाती है—"साभहिणो अणुणअं अप्पडिवज्जमाणा गुरुसावं समूढ हिअआ विसुमरिद-देवदा-णिअमा इत्थिआजण-परिहरणिज्जं कुमारवनं पविट्ठा। पवेसाणंन्तरं अकाणणोवंत वत्तिलदाभावेण परिणदंसे रुवम्"। विक्रमो. अंक ३

राक्षसों और अधिदेवताओं का आश्रय तो अभि० शाकु० में भी लिया गया है। महर्षि कण्व के आश्रम में सायंकाल होते ही राक्षसों की सान्ध्य कालिक मेघों के समान कपिश छायाएँ मँडराने लगती हैं--

सायन्तने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते वेदीं हुताशनवतीं परितः प्रकीर्णाः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छायाश्चरन्ति वहुधा भयमादधानाः सन्ध्या-पयोदकपिशाः पिशिताशनानाम्।

अभि. ३-२४

राक्षस शोणितपायी हैं और यज्ञवेदियों पर रक्त की वर्षा करते हैं। वे कुणपाशन हैं— शव का मांस खाने वाले हैं। शाकुन्तल में राजा कहता है—

एष त्वामभिनव-कण्ठशोणितार्थी

शार्दूलः पशुमिव हन्मि चेष्टमानम्।

तिष्ठ, कुणपाशन! त्वमिदानीं न भविष्यति। शाकु० ६-२७

वे आकाश में उड़ते और अदृश्य रहकर प्रहार कर सकते हैं।

कालिदास की रचनाओं के राक्षस प्रायः आकाश में उड़ते हैं। केशी भी उर्वशी को आकाश में ही पकड़ता है। इन रचनाओं में आकाश और पृथिवी के बीच आवागमन अत्यन्त सामान्य बात है। रथ आकाश में दौड़ते हैं और राजा लोग उनमें बैठकर इन्द्रलोक में आतें जाते हैं। ये यात्रायें ऐसी ही हैं जैसी आजकल विमान यात्रायें। लङ्का विजय के पश्चात् राम कामचारी विमान के द्वारा अयोध्या लौटते हैं। लङ्का युद्ध के समय इन्द्र राम के लिये रथ भेजता है। उसके सारथि मातलि और सुमन्त्र मे कोई अन्तर नहीं दिखता। कई बार हमारी उसमें भेंट होती है।

शाकुन्तल में भी दुष्यन्त मातलि के साथ आकाश यान से ही मरीचि के आश्रम में पहुँचता है—

ततः प्रविशत्याकाशयानेन रथाधिरुढ़ो राजा मातलिश्च। अभि. शाकु.७ अंक

और अधिदेवताओं का साहचर्य कितनी आत्मीयता से ओतप्रोत है। शकुन्तला की विदा के समय वे परिवार-जनों के समान व्यवहार करती हैं। कोई वृक्ष देवता उसे अत्यन्त श्वेत मङ्गल- क्षौभ प्रदान करती है तो कोई चरणों में लगाने के लिये लाक्षारस। अनेक देवतायें टहनियों से अपने हाथ निकाल कर किसलयों से भी अधिक सुन्दर और मृदु अलंकरण भेंट करती हैं—

क्षौमं केनचिदिन्दु-पाण्डुतरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतम्

निष्ठ्यूतश्चरणोपभोग-सुलभो लाक्षारसः केनचित्।

अन्येभ्यो वन-देवता-करतलैरापर्व-भागोत्थितै

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेद-प्रतिद्वन्द्विभिः । अभि. ४-५

अतिथि के राज्याभिषेक के अवसर पर अयोध्या के अधिदेवता प्रतिमाओं के सन्निधि बनकर उसे उपकृत कर रहे थे—

अयोध्या-देवताश्चैनं प्रशस्तायतनार्चिताः ।

अनुदध्युरनुध्येयं सांन्निध्यैः प्रतिमागतैः ।। रघु. १७-३६

आस्था और विश्वास

(१) कालिदासकालिक समाज में धार्मिक विश्वासों और निजी आस्थाओं की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी । जीवन दैवाश्रित माना जाता था किन्तु प्रतिकूल दैव के शमन के लिये अनेक आथर्वण विधानों का प्रचलन था । शकुन्तला की दुर्नियति के शमन के लिये महर्षि कण्व सोमतीर्थ को जाते हैं । इसका अर्थ यह कि शान्तिकर्म तीर्थों में सम्पादित किये जाते थे—

"वैखानसः—इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथि- सत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः" । शाकु० अंक. १

(२) उपवास (नियम और व्रत पूर्वक देवचर्या) भी दुर्दैव के शमन के साधन माने जाते थे । उनकी समाप्ति पारणा से होती थी । दुष्यन्त की माता पुत्र- कल्याण के निमित्त से उपवास करती है और उसकी पारणा के समय पुत्र की उपस्थिति को आवश्यक मानती है—"**आआमिणि चउत्थ दिअहे पउत्थ पारणो में उववासो भविस्सदि, तहिं दीहाउणा अवस्सं संभाविदव्वा त्ति**" शाकु० अंक २ । यह उपवास अनेकदिन- संपाद्य था । सौभाग्य देवता का अर्चन भी दुदैव के शमन और सुख शान्ति का साधन था । शकुन्तला की सहेलियाँ उसके सौभाग्य की अर्चना के लिये पुष्प चयन करती हैं । ये पुष्प देवता पर चढ़ाने (वलि कर्म) के लिये थे—

प्रियंवदा—(पुष्प- भाजनं विलोक्य) सहि अवइदाइं वलिकम्म पज्ञताइं कुसुमाइं । अनसूया—णं सहीए सउन्दलाए सोहग्ग देवआ अच्चणीप्या । शाकु. अंक ४

(३) मङ्गलकार्यों में वकुलादि की माला, पुष्प, मृगरोचना या गोरोचना, तीर्थ स्थान की मृत्तिका और दूर्वा- किसलयों का प्रयोग किया जाता था— "**अनसूया- कालान्तरक्खमा एतण्णिमित्तं एव्व णिखित्ता मए केसर मालिआ । ता इमं हत्थ संणिहिदं करेहि । जाव अहंपि से मअलोअणं तित्थ णित्तिअं दुव्वाकि सलआणि**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्ति मङ्गल समालम्भणाणिविरएमि" शाकु. अंक ४ । ये थे मङ्गल पदार्थ । आहुताग्नि की प्रदक्षिणा विघ्न हारिणी और मङ्गल कारिणी मानी जाती थी । पति गृह के लिये विदा लेते समय कण्व शकुन्तला से सद्योहुत यज्ञानि की परिक्रमा करने को कहते हैं और कामना करते हैं कि ये यज्ञाग्नियाँ (दक्षिण, प्राजापत्य, गार्हपत्य) जिनमें समिधायें डाली गयी हैं जो वेदि के चारों ओर प्रतिष्ठित हैं और जिनके किनारे किनारे दर्भ फैले हुए हैं, तुम्हें पवित्र करें—

अमीं वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्ण दर्भाः ।

अपघ्नतो दुरितंहव्यगन्धैर्वैतानास्त्वांवह्नयः पावयन्तु ।।शाकु. ४-८

(४) गण्डा, तावीज और शारीरिक लक्षणों पर लोगों को श्रद्धा थी । न केवल सामान्य घरों में, प्रत्युत ऋषिआश्रमों तक में इनका प्रचार था । शकुन्तला के पुत्र भरत के हाथ में रक्षा करण्डक बँधा रहता था । मणि- बन्ध (कलाई) में वँधा यह करण्ड (गण्डा) सारे कष्टों का निवारक माना जाता था । मरीचि आश्रम में सिंह शावक के साथ क्रीडा करते हुए भरत के प्रकोष्ठ से वह भूमि पर गिर पड़ा और जब दुष्यन्त ने उसे उठाने का यत्न किया तो तापसी ने उसे रोक दिया । इस पर राजा ने पूछा आप मुझे रोक क्यों रही हैं तो तापसी ने बताया कि भरत के जन्मकाल में भगवान् मारीच ने अपराजिता नामक औषधि से यह मणि बनाकर उसके मणि बन्ध (कलाई) में बाँध दी थी । भूमि पर गिर जाय तो स्वयं या इसके माता पिता ही इसे छू सकते हैं । अन्य किसी के छूने पर यह साँप बनकर उसे डस लेता है—

"सुणादु महाराओ, एसा अवराजिदा णाम ओसही इमस्स जातकम्मसमए भअवदा मारिएणदिण्णा । एदं किल मादापिदरो अप्पाणं च वज्जिअ अवरोभूमि पडिदं न गएहादि"

इस पर राजा प्रश्न करता है कि अगर पकड़ ले तो ? (अथ गृह्णति ?) तब तापसी उत्तर देती है—"तदो तं सप्पो भविअदंसइ" अर्थात् तो उसे सर्प बनकर काट लेती है । औषधि के ऐसे चमत्कारों में कालिदास के दर्शक विश्वास करते रहे होंगे ।

कालिदास हस्तरेखाओं पर भी विश्वास करते थे । तभी तो उनका नायक राजा भरत के हाथ को देखकर बोल पड़ता है—

कथं चक्रवर्ती- लक्षणमप्यनेन धार्यते ।

तथा ह्यस्य—विभाति जालग्रथिताङ्गुलिः करः । शाकु. ७-१६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५) ध्यान के द्वारा दूरस्थ घटनाओं की बात पहले कही गयी है। मारीच भी शकुन्तला परित्याग के कारण दुर्वासा-शाप की बात पहले ही जान चुके थे। वह कहते भी हैं—"यदैवाप्सरस्तीर्थवतरण प्रत्यक्ष- वैक्लव्यां शकुन्तलामादाय मेनका दाक्षायणीमुपगता तदैव ध्यानादवगतोस्मि, दुर्वाससः शापादियं तपस्विनी सहधर्म चारिणी त्वया प्रत्यादिष्टा, नान्यथेति"। शाकु. ७

(६) पूर्व जन्म में विश्वास और इस जन्म में किसी का प्रथम दृष्ट्या आत्मीय सा लग जाना और किसी का इसके विपरीत लगना, यह पूर्व जन्म के संस्कार के कारण होता है। यह बात भी भारतीय मान्यता का एक अंग है। इसे निम्नश्लोक में कहा है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुराणि निशम्य शब्दान् पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तर-सौहृदानि॥

शाकु. ५-२

पूर्व जन्म की मैत्री भावना का स्थिर रहना, भारतीय दार्शनिक मान्यता के अनुरूप है।

(७) पूर्व जन्म में उपार्जित विद्याका इस जन्म में सहज ही प्राप्त हो जाना भी पुनर्जन्म में प्रमाण होता है। कालिदास ने यह बात कुमार संभव में व्यक्त की है—

स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तन-जन्म विद्याः। कुमार. १-३०

ऐसे ही राज्य में अकाल पड़ जाना, वृक्षों में समय पर फल न आना, पिता के सामने पुत्र की मृत्यु राजा के अपचरित का फल माना जाता था। कण्व के द्वारा प्रेषित मुनियों के आगमन का समाचार सुनकर दुष्यन्त चिन्तित हो उठता है। वह सोचता है—कहीं किसी ने मुनियों का तपोभङ्ग तो नहीं किया ? किसी ने आरण्यक प्राणियों के साथ तो असद् व्यवहार नहीं किया ? अथवा कहीं ऐसा तो नहीं कि मेरे अनाचरणों के कारण वृक्षों में फल न आये हों—

(८) **आहोस्वित् प्रसवो ममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरुधाम्।** शाकु. ५-९

सदाचारी राजा के राज्य में समय पर वर्षा होती है, उसके सप्ताङ्गों में सदा शिव रहता है, प्रजा पुरुषायुषजीविनी, निरातङ्क और निरीति रहती है। इसमें कल्पवित्, आथर्वण शान्ति पौष्टिक क्रियाओं में निपुण पुरोहित का बड़ा योगदान रहता था। दिलीप के मुख से कवि ने यह बात कहलायी है जो धार्मिक विधियों के प्रति आस्था की द्योतक है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरुषायुषजीविन्यो निरातङ्का निरीतयः ।

यन्मदीयाः प्रजास्तस्य हेतुस्त्वद्ब्रह्मवर्चसम् ।। रघु. १-६३

दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्ता त्वमापदाम् ।। ६०

अथर्वविद् गुरु के द्वारा धार्मिक अनुष्ठानों को सम्पन्न कर दशरथ अप्रतिरथ बन गये थे—

स बभूव दुरासदः परै गुरुणाथर्वविदा कृत- क्रियः । रघु. ८-४

(९) प्रास्थानिक स्वस्त्ययम से मार्गस्थ विघ्न दूर होते हैं और यात्री अपने उद्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाता है । इस विश्वास से प्रयाण के समय मङ्गलाचार, यज्ञाग्नि तथा देवालयों एवं गुरुजनों की प्रदक्षिणा का चलन था—

प्रातर्यथोक्तव्रत-पारणान्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य ।

तथा—

प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशमनन्तरं भर्तुररुन्धतीं च ।

धेनुं सवत्सां च नृपः प्रतस्थे सन्मङ्गलोदग्रतर-प्रभावः ।।रघु. २-७०

(१०) परलोक में विश्वास की जो बात शाकु. ५-२ में कवि ने कही थी उसी की पुष्टि रघुवंश में भी प्रकारान्तर से की गयी है । अज पत्नी के वियोग में कुछ वर्ष विताकर रोगाक्रान्ति के कारण गङ्गा और सरयू के संगम पर देह त्याग कर देते हैं तो पहले से अधिक कान्तिमान हो जाते हैं और नन्दन के भीतर के लीलागृहों में कान्ता के साथ रमण करते हैं । कालिदास की यह उक्ति कई प्रश्नों को जन्म देती है—(१) क्या मृत्यु के पश्चात् अन्त्येष्टि में शरीर के हुत दिये जाने के पश्चात् भी आत्मा पुनः वही शरीर प्राप्त कर लेता है ? और क्या वह पूर्व जन्म के शरीर से अधिक सुन्दर हो सकता है ? ऐसा है तो क्या मरणान्तर सूक्ष्म शरीर की कल्पना मिथ्या है ? (२) क्या इस लोक के ऊपर इसी प्रकार का और एक लोक है जहाँ वही सब होता है जो प्राणी इस लोक में भोगता है । वहाँ भी ऐसे ही आवास और भोग-साधन होते हैं ? (३) क्या मृत्यु के उपरान्त प्राणी उस लोक में जाकर रहते हैं ? पुनर्जन्म नहीं लेते ? क्या वहाँ जाकर मनुष्य अपने प्रिय जनों के साथ इसी प्रकार रहने लगते हैं जैसे वे यहाँ रहते थे ? कालिदास का प्रस्तुत श्लोक तो इसी विश्वास को जन्म देता है—

तीर्थे तोय-व्यतिकर भवेजह्नुगङ्गा-सरय्वो

र्देहत्यागा दमर-गणनालेख्यमासाद्य सद्यः ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वाकाराधिकतररुचा संगतः कान्तयासौ

लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ॥ रघु. ८-९५

क्या कालिदास का विश्वास, जैसा इस श्लोक से ज्ञात होता है, इस बात पर भी था कि गंगा-सरयू संगम जैसे तीर्थों में देह त्याग करने से अमरत्व की प्राप्ति होती है। यह मान लिया जाय तो भारतीय दर्शनों के कर्म- फल सिद्धान्त का क्या होगा ?

(११) शकुनों पर विश्वास भी कालिदास ने कई स्थानों पर व्यक्त किया है। राम-लक्ष्मणादि के जन्म के साथ संसार का दुर्भिक्षादि से रहित हो जाना, गुणों का उत्कर्ष और दोष- राहित्य तथा दिशाओं की विरजस्कता शुभ शकुन है। अग्नि का धूम रहित होकर जलना और सूर्य का निर्मल हो जाना, ये राम जन्म के शुभ लक्षण हैं—

निर्दोषमभवत् सर्वमाविष्कृत-गुणं जगत्। रघु. १०-७२

तथा—

कृशानुरपधूमत्वान्निर्मलत्वात् प्रभाकरः ॥ रघु. १०-७४

दूसरी ओर रावण के यहाँ इसी समय अपशकुन हुआ—

दशानन-किरीटेभ्यस्तत्क्षणं राक्षसश्रियः।

मणिव्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रु-विन्दवः। रघु. १०-७५

कालिदास की नारी

कालिदास पौराणिक आस्था के कवि थे। स्त्रियों और शूद्रों के प्रति उनकी दृष्टि वही थी जो उनके युग में थी। (१) इस समय पर्दे की व्यापक प्रथा का तो संकेत नहीं मिलता किन्तु स्त्रियाँ पति को साथ लेकर माता-पिता के सामने जाने में लज्जा का अनुभव करती थीं। शकुन्तला अपने पति से कहती है—

हिरिणामि अज्जपुत्तेण सह गुरु-समीपं गन्तुं। शाकु. ७-२६

यह प्रथा आज भी प्रचलित है। (२) इसी प्रकार विवाहित स्त्री का अधिक समय तक मातृगृह में बना रहना अपवाद का कारण माना जाता था। पति चाहे पसन्द करे या निषेध, स्त्री का पति के साथ रहना ही श्रेयस्कर था—वह भले ही सदाचारिणी हो, अपने ही परिवार या कुलजनों के साथ रह रही हो किन्तु उसका पति जीवित है और वह युवती है तो लोग उसके चरित्र पर सन्देह करने लगते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सतीमपि ज्ञाति-कुलैकसंश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते।

अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाऽप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः॥ शाकु.५-१७

(३) कालिदास ने पुत्री, स्वसा और माता के रूप में नारी की मनोभावनाओं को चित्रित नहीं किया। एक तो उनकी रचनाओं में इसके लिये अवकाश ही नहीं था और यदि था भी तो उन्होंने उनका उपयोग नहीं किया। राम की माताओं को उन्होंने उपेक्षित ही कर दिया। शकुन्तला के लिये गौतमी उसकी माता से कम नहीं थी। फिर भी दुष्यन्त के द्वारा उसके प्रत्याख्यान के समय उसने उतनी भी ममता प्रदर्शित नहीं की जितनी समान्य माता करती है। सान्त्वना के स्थान पर वह कहती है—"इत्थमप्रतिहतं चापलं दहति। अज्ञात- हृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम्" (५-२४)। शार्ङ्गरव की यह उक्ति भी सामाजिक मान्यता की प्रतिध्वनि मात्र है—"उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी" (शाकु. २-२६) और 'पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम्' (वही २७)। सामान्य नारी के प्रति पुरुषों की धारणा दुष्यन्त के निम्न कथन में व्यञ्जित हुई है—

राजा—एवमादिभिरात्म-कार्य-निर्वर्तिनीनाममृतवाङ्- मधुभिराकृष्यन्ते विषयिणः। तथा

स्त्रीणामशिक्षित- पटुत्वममानुषीषु संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः

प्रागन्तरिक्षगमनात् स्वमपत्य जातमन्यैर्द्विजैः परभृताः परिपालयन्ति।शाकु.५-२२

(४) यह 'प्रतिबोधवत्यः' इस पद से इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि उच्च वर्ग की स्त्रियों में पढ़ने-लिखने का प्रचार था। यद्यपि उनका कार्य क्षेत्र परिवार तक ही सीमित था फिर भी उनमें विद्या का प्रचार था। इन्दुमती स्वयंवर के समय अपने व्यापक ज्ञान और विवेक का परिचय देती है। सुदक्षिणा धार्मिक विधियों में पति का हाथ बँटाती है। इन्दुमती तो पति की सचिव, सखी और कला-शिष्या भी है। शकुन्तला अपने प्रेमी राजा को नलिनी दल पर पत्र लिखती है। इस काल की स्त्रियों की स्थिति वर्तमान से किसी प्रकार कम नहीं है। वे संन्यास ले सकती थी, आचार्या हो सकती थीं और कलाविवाद में निर्णायिका का स्थान ग्रहण कर सकती थीं। संकट वेला में ज्येष्ठ जनों के वीच एकाकिनी निरापद रह सकती थीं। मालविकाग्निमित्र की परिव्राजिका ने वैधव्य काल में काषाय ग्रहण किया था—

भ्रातुः शरीरमग्निसात् कृत्वा पुनर्नवीकृत- वैधव्यदुःखया मया त्वदीयं देशमवतीर्य इमे काषायेगृहीते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेमिका और पत्नी के रूप को छोड़कर भी (इनकी चर्चा पृथक् की गयी है)

(५) नारी के जितने रूप कालिदास में मिलते हैं—चाहे वे राजमहिषी के हों या परिचारिकाओं के, सबके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया गया है। ऋतुपर्ण की महिषी उसकी मृत्यु के पश्चात् जब तक उसका गर्भस्थ बालक जन्म लेकर युवा नहीं होता, पति के राज्य का शासन सम्हालती है—

तं भावार्थं प्रसव-समयाकाङ्क्षिणीनां प्रजाना

मन्तर्गूढं क्षितिरिव नभोवीज-मुष्टिं दधाना।

मौलैः सार्धं स्थविर-सचिवै हैंम सिंहासनस्था

राज्ञो राज्यं विधिवदशिषद् भर्तुरख्याहताज्ञा॥ रघु. १९-५७

(६) इस समय राजाओं में अनेक- पत्नी प्रथा थी। पत्नियाँ परस्पर मिल जुलकर रहती थीं। सबके कर्तव्य और अधिकार परम्परा से सुनिश्चित थे। कालिदास के तीनों नाटक द्वितीया या तृतीया पर ही टिके हैं। उनके आदर्श रघुवंश के राजाओं में अनेक बहुपत्नीक हैं। स्वयं रघु के भी कई पत्नियाँ हैं।

नरेन्द्रकन्या स्तमवाप्य सत्पतिं तमोनुदं दक्षसुता इवावभुः। रघु. ३-३३

और कुश के पुत्र अतिथि के भी कई स्त्रियाँ थी—

तमादौ कुलविद्यानामर्थमर्थ- विदांवरः।

पश्चात् पार्थिव-कन्यानां पाणिमग्राहयत् पिता॥ रघु. १७-३

फिर भी युवराजत्व ज्येष्ठ पत्नी के पुत्र को ही प्राप्त होता था। वसिष्ठ के माध्यम से नन्दिनी से दिलीप ने जो वर माँगा वह पत्नी के प्रति उनके सम्मान भाव का निदर्शक है—

वंशस्य कर्तारमनन्तकीर्तिं सुदक्षिणायां तनयं ययाचे। रघु. २

दिलीप भी बहुपत्नीक थे, भले ही वह मागधी सुदक्षिणा को प्रमुख पत्नी मानते रहे हों—

कलत्रवन्त मात्मानमवरोधे महत्यपि।

तया मेने मनस्विन्या लक्ष्म्या च वसुधाधिपः॥ रघु. १-३२

कालिदास के मत से राजा का मनु-प्रतिपादित प्रथम कर्तव्य है वर्णाश्रम का पालन "नृपस्य वर्णाश्रम पालनं यत् स एव धर्मो मनुना प्रणीतः" रघु. १४-६७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आश्रमों में गृहस्थ सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि अन्य आश्रम इसी के सहारे टिके हैं। मनु कहते हैं—

यथा नदी-नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।

तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥ ६-९०

कालिदास ने गृहस्थाश्रम को सर्वोपकारक्षम कहा। विद्या की समाप्ति के पश्चात् आचार्य युवा स्नातक को विवाह करने का आदेश देता था। और तब वह द्वितीय आश्रम में प्रवेश करता। रघु कौत्स से प्रश्न करते हुए कहते हैं—

अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग् विनीयानुमतो गृहाय।

कालो ह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकार-क्षममाश्रमंते॥ रघु. ५-१०

रघुवंश में कई स्थानों पर विवाह का उल्लेख है रघु का विवाह गोदान विधि के पश्चात् हुआ था। विद्या-समाप्ति के पश्चात् जो कि राजकुमार की अपेक्षा कृत कम आयु में हो जाती है थी (क्योंकि उन्हें कुछ वर्ष अस्त्र विद्या तथा राजनीति सीखने में लग जाते थे) उनका विवाह कर दिया जाता था—एक नहीं अनेक कन्याओं के साथ—

अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाह-दीक्षां निरवर्तयद् गुरुः।

नरेन्द्र कन्यास्तमवाप्य सत्पतिं तमोतुदं दक्षसुता इवावभुः। वही ३-३३

इससे इस काल के राजाओं में बहुपत्नी प्रथा का पता चलता है। अभि. शाकु. में दुष्यन्त भी कहता है शकुन्तला की सखियों से—

परिग्रह बहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य नः।

समुद्रवसना चोर्वी सखी च युवयोरियम्॥ शाकु. ३-१७

महाराज दिलीप के भी अनेक पत्नियाँ थी कहा है—

कलत्रवन्तमात्मानमवरोधे महत्यपि।

तयामेने मनस्विन्या लक्ष्म्या चवसुधाधिपः॥ रघु. १-३२

महाराज कुश ने भी अपने पुत्र अतिथि को कुल विद्याओं के दक्ष बनाया और फिर अनेक राजकुमारियों के साथ उसके विवाह कर दिये—

तमादौ कुल विधानामर्थ मर्थ विदांवरः।

पश्चात् पार्थिव कन्यानां पाणिम मग्राहयत् पिता॥ रघु. १७-३०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार के उल्लेख कालिदास में यत्र तत्र विखरे हैं । उनके नायक प्रायः बहुपत्नीक हैं । राजा ही नहीं, प्रायः समृद्ध लोगों में बहु- पत्नीत्व की प्रथा थी—संभवतः यह समृद्धि और शक्ति का लक्षण माना जाता था । (७) हाँ, सहधर्म-चारित्री, धर्म पत्नी और वंशकरी प्रथम अर्थात् ज्येष्ठा मानी जाती थी और उसी की सन्तान उत्तराधिकारिणी । दिलीप के भी कई पत्नियाँ भी किन्तु राज- महिषी पद सुदक्षिणा को ही प्राप्त था । राज्य पद की अधिकारिणी उसी की सन्तान हो सकती थी । इसीलिये कहा है—

ततः समानीय स मानितार्थी हस्तौ स्वहस्तार्जितवीर- शब्दः ।

वंशस्य कर्तारमनन्तकीर्त्ति सुदक्षिणायां तनयं ययाचे ॥ रघु. २-६४

यही बात अग्निवर्ण के विषय में कही जा सकती है ।

(८) बहुपत्नीकत्व का सीधा अर्थ है धर्म पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों के साथ भी काम- सम्बन्ध रखना । राजा लोग तो अनिर्वाध रुप से ही ऐसा करते थे । वे कुमारियों के साथ प्रणय लीला करने में भी स्वतन्त्र थे, यद्यपि इस विषय में वे राज महिषी से डरते रहते थे और उनके प्रणयव्यापार प्रच्छन्न रूप से ही चलते थे । जब राज महषी पर यह भेद खुल जाता था तो ऐसी प्रणयपात्र कन्याओं को कठोर दण्ड सहन करना पड़ता था । कालिदास के तीनों नाटकों में यह सब प्रत्यक्ष देखा जा सकता है । (९) फिर भी मेघदूत का यक्ष और उसकी पत्नी दोनों परस्पर-समर्पित प्रणयी हैं जो अन्य स्त्री या पुरुष की कल्पना तक नहीं कर सकते । शिव एक पत्नी की मृत्यु के पश्चात् दूसरा विवाह कर लेते हैं, भले ही ऐसा बाहरी दबाव के कारण करना पड़ा हो । रघुवंश इस विषय में बहुत संयत था । दिलीप, रघु, अज, राम, कुश और उनकी परम्पराओं में किसी राजा की दूसरी पत्नी का हमें ज्ञान नहीं है । केवल दशरथ इसके अपवाद हैं । इस वंश में पत्नी का बहुत सम्मान था । सुदक्षिणा की प्रतिष्ठा तो सच्चे अर्थ में धर्म- पत्नी के अनुकूल है । कवि ने उसके लिये पुनः पुनः देवी, वधू, प्रयत परिग्रह और धर्मपत्नी शब्द का प्रयोग किया है (रघु. २-२, २०, ७२) देवी पद भी इस काल में व्यवहतथा (रघु. ३-५०, ५-३६) । पत्नी की स्थिति का वास्तविक रूप अज विलाप में स्पष्ट हुआ है, जहाँ वह कहता है—

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलानिधौ ।

करुणाविमुखेन मृत्युनाहरता त्वां वद किन्न मेहृतम् ।

धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सवः ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गतमाभरण- प्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्यमे ।। रघु. ५,६६-६७

(१०) घर पत्नी से ही बनता है । आवश्यक विषयों में उसी से परामर्श किया जाता है । एकान्त की पीडा को दूर करने वाली संगिनी या सखी भी वह होती है । कला के विषयों-संगीत, चित्र, काव्य—में वह पति से सीखती है । उसके न रहने से मनुष्य का धैर्य नष्ट हो जाता है, आनन्द नष्ट हो जाता है, संगीत शाला शून्य हो जाती है, ऋतूत्सव बन्द हो जाता है, अच्छे वस्त्र पहनने और स्वयं को सुन्दर दिखाने की इच्छा मर जाती है । शयन कक्ष तो शून्य हो ही जाता है । पति-पत्नी इस बात का ध्यान रखते हैं कि किसी के आचरण से अन्य को कष्ट न हो । अज कहते हैं—

मनसापि नविप्रियं मया कृतपूर्वं तव किं जहासि माम्। रघु. ८-५२

और रति पति को उद्दिष्ट कर कहती है—

कृतवानसि विप्रियं न मे प्रतिकूलं न च ते मया कृतम्। कुमार. ४-७

रति का यह कथन महत्त्वपूर्ण है—

शशिना सहयाति कौमुदी सह मेधेन तडित् प्रलीयते।

प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नंहिविचेतनैरपि ।। वही ४-३३

मदनेन विनाकृता रतिः क्षणमात्रंननु जीवितेतिमे।

वचनीयमिदं व्यवस्थितं रमणत्वामनुयामि यद्यपि ।। वही ४-२१

(११) इन कथनों से इस काल में सती प्रथा के प्रचलन का पता चलता है यद्यपि ऐसा सामान्य विधान नहीं था । दशरथ की पत्नियाँ पति-मरण के पश्चात् सती होने का प्रयत्न नहीं करतीं और न अग्निवर्ण की पत्नी ही करती है । वह तो अन्तर्वत्नी भी थी । इधर अज भी पत्नी के लिये करुण विलाप करता रहा किन्तु उसके साथ चिता पर न ही चढ़ा—

विलपन्निति कोसलाधिपः करुणार्थ-ग्रथितं प्रियां प्रति ।रघु. ८-७

तथा—

प्रमदामनु संस्थितः शुचा नृपतिः सन्निति वाच्यदर्शनात्।

न चकार शरीरमग्निसात् सहदेव्या नतु जीविताशया ।। वही ७२

(१२) इससे यह संकेत मिलता है कि पति भी प्रेमातिरेक में पत्नी के साथ चिता में जल जाते थे यद्यपि ऐसी घटनाओं की संख्या स्त्रियों के सती होने की तुलना में कम थी । कवि ने 'प्रमदा-पतिवर्त्मगा' कहकर स्त्रियों के लिये इस मार्ग की सहजता का अनुमोदन किया है किन्तु पुरुषों के लिये यह बात सामान्य नहीं थी ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अज ने यदि प्राण- त्याग नहीं किया तो इसका कारण राजा होने के कारण उसकी विवशता थी । उस पर प्रजा का दायित्व था । व्यक्ति पीडा को प्रजारक्षण से अधिक महत्त्व देना निन्दा का कारण बनता । गुरु ने सन्देश में कहा था—

वसुधेयमवेक्ष्यतां त्वया वसुमत्या हिनृपाः कलत्रिणः । वही ८३

राजा की प्रथम पत्नी वसुधा होती है । फिर भी किसी प्रकार अज ने आठ वर्ष पत्नी के वियोग में काटे किन्तु शरीर के प्रति औदासीन्य से उनके शरीर को रोगों ने जकड़ लिया और अन्त में उन्होंने अन्न जल कापरिहार कर शरीर त्याग दिया—

रोगोपसृष्टतनु दुर्वसतिं मुमुक्षुः प्रायोपवेशन-मति र्नृपतिर्वभूव ।वही ८-९४

(१३) पत्नी का एक नाम जाया भी है । जिसमें या जिसके द्वारा सन्तान उत्पन्न की जाय उसे जाया कहते हैं । इसलिये पत्नी की सार्थकता अन्ततोगत्वा उसके प्रसूतिमती होने में है । शास्त्रों ने इसी कारण यह व्यवस्था दी थी कि स्वस्थ मनुष्य को ऋतु- स्नाता पत्नी के साथ सहवास अवश्य करना चाहिये क्योंकि यह काल गर्भधारण के लिये उपयुक्त होता है । इसीलिये मनु ने गृहस्थों के लिये नियम बनाया था—"ऋतुकालाभिगामी स्या!त् स्वदारनिरतः सदा" ३-४५ । गौतम स्मृति ने कहा—"ऋतावुपेयादनृतौच पर्ववर्जम्" (५-९) याज्ञकल्य स्मृति का मत है—

"यथाकामी भवेद् वापि स्त्रीणां वरमनु स्मरन्" (आचारा० १२-८१

इस प्रकार इस विषय में तीन विधान थे—"ऋतावुपेयात्"- "अन्यभार्यां नोपगच्छेत्"- "अनृतावपि भार्याप्रीतयेगच्छेत्" । इसीलिये सन्तान का अभाव दिलीप और सुदक्षिणा को व्यथित करता था ।

गर्भवती स्त्री की सारी सुखसुविधाओं तथा स्वास्थ्य का ध्यान रखा जाता था । स्त्रियाँ प्रायः संकोच वश अपनी इच्छाओं को व्यक्त नहीं करती, यह सोचकर दिलीप पत्नी की सखियों से उसकी अभिलाषा पूछता था । कालिदास ने गर्भवती स्त्री की बदलती स्थिति का ब्यौरेवार वर्णन किया है । यथा—पहले शरीर में दुर्बलता आने लगती है । मुख पीला पड़ने लगता है । फिर मुख से ऐसी सुगन्ध आने लगती है जैसी पानी गिरने से पीली मिट्टी में आती है । फिर मन में विविध तीव्र इच्छायें उत्पन्न होने लगती हैं जिन्हें दोहद कहते हैं । फिर शरीर फूलने लगता है । अङ्ग भर जाते हैं । फिर स्तनों का परिणाह बहुत बढ़ जाता है और उनका अग्रभाग नीलवर्ण का हो जाता है । तदनन्तर उदर के भीतर सजीव गर्भ की प्रतीति होने लगती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है । इस काल में कुशल वैद्यों, से जो कुमार भृत्या का विशिष्ट ज्ञान रखते हों, गर्भ की देखभाल (गर्भ कर्म) कराना आवश्यक होता है और समय (दशमें मासि) पर प्रसव होता है । कालिदास ने विशेषज्ञ के समान इन सब अवस्थाओं का वर्णन किया है—

(१) शरीर- सादादसमग्रभूषणा मुखेन साऽलक्ष्यत लोध्रपाण्डुना।

(२) तदाननं मृत्सुरभिक्षितीश्वरो रहस्युपाघ्राय न तृप्तिमाययौ।

(३) न मे ह्रिया शंसति किंचिदीप्सितं स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी।

(४) क्रमेण निस्तीर्यचदोहद- व्यथां प्रचीयमानावयवा रराज सा।

(५) दिनेषु गच्छत्सु नितान्त- पीवरं तदीयमानीलमुखं स्तन- द्वयम्।

(६) नदीमिवान्तः सलिलां सरस्वतीं नृपः ससत्वां महिषीममन्यत।

(७) कुमार- भृत्या- कुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भ कर्मणि

(८) असूत पुत्रं समये शचीसभा। रघु. ३-२ से १२

(१४) सन्तान में भी पुत्र का विशेष महत्त्व था, जैसा आज भी है । कालिदास ने एक वार भी कन्या जन्म का उल्लेख नहीं किया है । हाँ, कन्या के विवाह की बड़े उत्साह के साथ चर्चा की है । विदर्भ या क्रथ कैथिक के नरेश भोज ने अपनी बहिन का स्वयंवर बड़े ठाठवाट से किया था। यहाँ उन्होंने यह संकेत भी दिया है किवालकों का विवाह उनके पूर्ण युवा हो जाने के अनन्तर ही होता था ।

तं श्लाध्यसम्बन्ध मसौ विचित्य दारक्रिया-योग्य-दशंचपुत्रम्।

तथा—

उपात्तविद्यं विधिवद् गुरुभ्यस्तं यौवनोद्भेद विशेषकान्तिम्। रघु.५-४०,३८

(१५) ऐसे ही कन्या किसी के प्रति अनुरागवती होती तो भी बिना पिता की अनुज्ञा के पति का वरण नहीं करती थी—

श्रीः साभिलाषाऽपिगुरोरनुज्ञांधीरेव कन्या पितुराचकाङ्क्ष। वही ३८

यह भी उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि विवाह चाहे पुत्र का हो या पुत्री का, निर्णय पिता के ही हाथ में रहता था । और विवाह की सफलता स्त्री के पुत्रवती होने में मानी जाती थी । स्त्री यदि राज्ञी हुई तो केवल पुत्रवती होना पर्याप्त नहीं था, वीर प्रसू होना भी आवश्यक था—

क्षितिरिन्दुमती च भामिनी पतिमासाद्य तमग्र्य पौरुषम्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथमा बहुरत्नसूरभूदपरा वीरमजीजनत् सुतम्॥ रघु. ८-२८

पत्नियों का एक साथ अनेक होना इस युग में सामान्य बात थी। यह पीछे कहा जा चुका है। कितनी सहजता से तीन स्त्रियों के समान पति का होने की बात कवि ने कही है क्योंकि पत्नी पुरुष के सुख का उपकरण मात्र होती थी—

तमलभन्त पतिं पतिदेवताः शिखरिणामिव सागरमापगाः।

मगध-कोसलकेकयशासिनां दुहितरोहितरोपितमार्गणम्।।वही १७

प्रियतमाभिरसौ तिसृभिर्वभौ तिसृभिरेव भुवं सह शक्तिभिः। वही १८

इन श्लोकों में 'पति देवता' तथा 'प्रियतमाभिरसौ तिसृभि र्वभौ' ये पद ध्यान देने योग्य है। पति ही स्त्री का सब कुछ होता था। उसके न रहने पर उसकी स्थिति छिन्न मूल वल्लरी के सदृश हो जाती थी। स्त्री की श्रेष्ठता की कसौटी उसका पतिव्रत अर्थात् परपुरुष के साथ असंसर्ग था। इसीलिये राम की माताओं का वर्णन करते हुए कवि ने इसी बात पर अधिक जोर दिया है। राम वन से लौटकर माताओं से मिलते हैं—

भर्तुः प्रणाशादथ शोचनीयं दशान्तरं तत्र समं प्रपन्ने।

अपश्यतां दाशरथी जनन्यौ छेदादिवोपघ्नतरो र्व्रतत्यौ।रघु. १४-१

अब उनकी स्थिति ही बदल गयी है। पुत्रों को देखते ही उनकी आँखों में अश्रु छलछला आते हैं। वे उन्हे आँखभर देख भी नहीं पाती फिर भी उनके स्पर्श से प्राप्त सुख को जान जाती है और आनन्द से प्रवाहित उनके अश्रु शोकज वाष्प को भी शीतल कर देते हैं। वे अपने पोरों से पुत्रों के शरीर पर लगे व्रणों के चिह्नों को देखती हैं तो उन्हें वीरसू कहलाने की कामना व्यर्थ लगती हो और जब सीता उन्हें प्रणाम करती है और सारे कष्टो का कारण स्वयं को बताती है तो वे कहती हैं कि तुम्हारे ही शुचिव्रत (पतिव्रत्य) के प्रभाव से ये दोनों बेटे कष्ट को पार कर सके हैं।

क्लेशावहा भर्तुरलक्षणाहं सीतेति नाम स्वमुदीरयन्ती।रघु. १४-५

उत्तिष्ठ वत्से ननु सानुजोसौ वृत्तेन भर्ता शुचिना तवैव।

कृच्छ्रं व्रतंत्तीर्ण इति प्रियार्हां तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिथ्याः।वही ६

(१६) कालिदास की सम्पूर्ण कृतियों में एक मात्र यहीं पर माता के वात्सल्य की हलकी सी झलक देखने को मिलती है। कवि के सम्मुख ऐसे अनेक अवसर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपस्थित थे जब वह मातृवात्सल्य का चित्रण कर सकता था, पुत्री और पिता या माता, तथा भाई बहन के बीच भावनात्मक सम्बन्धों को वाणी दे सकता था, किन्तु उसकी दृष्टि ही उस ओर नहीं गयी। हाँ कुमार सम्भव में पुत्री के प्रति माता पिता के स्नेह का यत्र-तत्र चित्रण अवश्य हुआ है। भोजराज अपनी स्वसा इन्दुमती को खूब प्यार करते हैं। विवाह के पश्चात् वह पति के साथ उसे तीन पड़ावों तक भेजने जाते हैं, बहिन को पर्याप्त दहेज भी देते हैं किन्तु उससे प्यार के दो शब्द नहीं बोलते—

भर्ताऽपि तावत् क्रथकैशिकानामनुष्ठितानन्तरजा विवाहः।

सत्त्वानुरूपाहरणीकृतश्रीः प्रास्थापयद्राघवमन्वगाच्च ॥

तिस्रस्त्रिलोक-प्रथितेन सार्धमजेन मार्गे वसतीरुषित्वा।

तस्मादपावर्तत कुण्डिनेशः पर्वात्यये सोम इवोष्ण रश्मेः ॥रघु. ७-३२, ३

मेना और हिमालय अपवाद हैं। वे वेटी के जन्म पर आनन्द मनाते हैं—

शरीरिणां स्थावर-जङ्गमानां सुखाय तज्जन्मदिनं वभूव।

तया दुहित्रा सुतरां सवित्री स्फुरत्प्रभामण्डलया चकाशे। कुमार. १-२३

माँ उमा को तप से भी रोकती है—

उमेति मात्रा तपसो निषिद्धा पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम। वही २६

शिव जब काम को भस्मसात् कर देते हैं और पार्वती लज्जा तथा भय से काँपती घर को लौटने लगती हैं तो उसका पिता ही उसे हाथों में उठाकर ले जाता है—

सपदि मुकुलिताक्षीं रुद्रसंरम्भ-भीत्या

दुहितरमनुकम्प्यामद्रिरादाय दोर्भ्याम्

. . . .प्रतिपथगति रासीत्। वही ४-७६

और जब पार्वती पुनः तप की ओर प्रवृत्त होती है तो भी माता वात्सल्य वश उसे कृच्छ्र तप से रोकती है। तर्क भी देती है। यह सब माता की कोमल भावनाओं को व्यक्त करता है। कवि कहता है—

निशम्य चैनां तपसे कृतोद्यमां सुतां गिरीश-प्रतिसक्त-मानसाम्।

उवाच मेनापरिरभ्य वक्षसा निवारयन्ती महतोमुनिव्रतात्।

मनीषिताः सन्ति गृहेपु देवतास्तपः क्व वत्से क्व च तावकं वपुः ॥ कुमार.५-३४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माता-पिता अपनी बेटी को कितना प्यार करते हैं, यह इस श्लोक में स्पष्ट है—

एकैव सत्यामपि पुत्रपङ्क्तौ चिरस्य दृष्टेवमृतोत्थितेव

आसन्नपाणि ग्रहणेति पित्रारुमा विशेषोच्छसितं वभूव ॥ वही ७-४

मेना पुत्री के परिणय संस्कार में सोत्साह भाग लेती है—वह पुत्री के द्वारा कुलदेवताओं को प्रणाम कराती है और सधवा पतिव्रताओं का पाद वन्दन भी—

तामर्चिताभ्यः कुलदेवताभ्यः कुलप्रतिष्ठां प्रणमय्य माता।

चकार यत् कारयितव्यदक्षा क्रमेण पादग्रहणं सतीनाम् ॥ वही ७-२७

माँ की प्रवल इच्छा होती है कि उसकी बेटी पति के साथ रतिसुख प्राप्त करे। विवाह के पश्चात् जब बेटी श्वसुरगृह से पहली बार लौटकर आती है तो माँ प्रथम दृष्टि में ही समझ लेती है कि बेटी के यौवन का पति ने ठीक उपयोग किया है या नहीं। माँ की दृष्टि में विवाह की सफलता इसी पर निर्भर होती है। पार्वती की माँ की तीव्र दृष्टि इस बात को तुरन्त ताड़ लेती है। कालिदास ने इस प्रसंग में कन्या की माता के बड़े कोमल मर्म को छुआ है—

नीलकण्ठ-परिभुक्त-यौवनां तां विलोक्य जननी समाश्वसत्।

भर्तृवल्लभतया हि मानसीं मातुरस्यति शुचं वधूजनः ॥ वही १२

यह इस कारण और भी महत्त्वपूर्ण है कि विवाह से पूर्व माता का मन कन्या के विषय में बड़ा चिन्ता- संकुल रहता है। मेना भी पार्वती का विवाह निश्चित हो जाने पर आसुओं को रोक नहीं पाती। तब अरुन्धती उसे धैर्य बँधाती है—

तन्मातरं चाश्रुमुखीं दुहितृस्नेह विक्लवाम्।

वरस्यानन्यपूर्वस्य विशोकामकरोद् गुणैः ॥ वही ६-९२

(१७) परिवार में कन्या के विवाह तथा अन्य कार्यों में माता की सम्मति अवश्य ली जाती थी, यद्यपि यह भी निश्चित माना जाता था कि यदि पति ने कोई निश्चय कर लिया तो पत्नी उसका विरोध नहीं करेगी। उमा के विवाह के विषय में भी उसकी माता से परामर्श किया गया था—

शैलः संपूर्ण-कामोपि मेनामुखमुदैक्षत।

प्रायेण गृहिणी-नेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः ॥ वही ६-८५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवाह के लिये प्रायः कन्या की स्वीकृति की चिन्ता नहीं की जाती थी। कुमुद अपनी बहिन का विवाह पल भर के परिचय के बाद ही कुश के साथ कर देता है—

इमां स्वसारं च यवीयसीं मे कुमुद्वतीं नार्हसि नानुमन्तुम्। रघु. १६-८५

मानों वह कोई उपहार में देने की वस्तु हो। राजनीतिक लाभ के लिये बेटियों को व्याह देने की प्रथा सामान्य थी।

(१८) कन्या परकीय धन मानी जाती थी। भर्ता मिल गया कि माता-पिता की चिन्ता दूर हुई। शकुन्तला को पतिगृह भेजकर कण्व ने कितनी शान्ति का अनुभव किया था। विवाहिता शकुन्तला उनके आश्रम में न्यास के समान थी। तभी तो वह कहते हैं—

अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य संप्रेष्य परिगृहीतुः।

जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पित-न्यास इवान्तरात्मा॥ शाकु. ४-२२

कालिदास इसी बात को पार्वती के विषय में सप्तर्षि मुख से कहते हैं—

अशोच्या हि पितुः कन्या सद्भर्तृ-प्रतिपादिता। कुमार. ६-७९

कालिदास के समय में स्त्री का सम्मान दो बातों पर निर्भर था—पातिव्रत्य और वीर- प्रसविता। पति को प्रसन्न रखना उसका प्रथम कर्तव्य था। नारी का सम्पूर्ण सौन्दर्य और रूप सज्जा पति या प्रिय के लिये थी। शिव के द्वारा स्वीकार न किये जाने पर पार्वती अपने रूप को व्यर्थ मानती है—

निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्य-फला हि चारुता। कुमार. ४-१

इसीलिये मारीच शकुन्तला को आशीर्वाद देते हुए कहते हैं—

आखण्डल-समोभर्ता जयन्त-प्रतिमःसुतः।

आशीरन्या न ते योग्या पौलोमी-सदृशीभव॥ शाकु. ७-२८

कण्व का भी आशीर्वाद यही है—

ययातेरिव शर्मिष्ठा पत्युर्बहुमताभव।

सुतं त्वमपि सम्राजं चक्रवर्तिनमाप्नुहि॥ शाकु. ४-७

कहीं स्त्री को चारित्रिक कलंक न लग जाय, इसलिये विवाहिता कन्या को माता-पिता अधिक दिनों अपने घर नहीं रोकते थे। स्त्री सदा ही शङ्का की दृष्टि से देखी जाती रही है। भवभूति ने कहा—"यथास्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः" यही बात प्रकारान्तर से कालिदास ने कही है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सतीमपि ज्ञाति-कुलैक-संश्रयां जनोन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते।

अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाऽप्रियावा प्रमदा स्वबन्धुभिः ।। शाकु. ५-१७

पत्नी पर पति का एकाधिकार माना जाता था। पतिगृह में उसका दासी बन कर रहना भी समाज को सह्य था। शारङ्गरव के अनुसार—

उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी। शाकु. ५-२६

चाहे वह उसे पास रखे या छोड़ दे। एक प्रकार से वह उसकी सम्पत्ति होती थी। इसीलिये तो कहता है—"तदेषा भवतःकान्ता त्यजवैनां गृहाणवा"। वही

तथा—

यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा त्वमसि पितुरुत्कुलया त्वया।

अथ तु वेत्सि शुचिव्रतमात्मनः पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम्। शाकु. ५-२७

उत्कुल कन्या को पिता भी घर में नहीं रखना चाहते थे। पति के कुल में दासी बनकर रहना मातृकुल में रहने से अच्छा माना जाता था। सम्भवतः यह विश्वास था कि नारी जाति ही अपेक्षाकृत अधिक चालाक होती है—

स्त्रीणामशिक्षित- पटुत्वममानुषीषु संदृश्यते किमुत याः प्रतिवोधवत्यः।

शाकु. ५-२२

पति की आज्ञाकारिणी होना और विधवा होने पर भी उसके चरण चिह्नों पर चलना नारी का धर्म था। अप्रतिम कामी राजा अग्नि वर्ण की विधवा भी पति की आज्ञाकारिणी वनी रहने में ही अपना कल्याण देखती है—

राज्ञी राज्यं विधिवदशिषद भर्तुरव्याहताज्ञाः। रघु. १९-५७

(२०) स्तियाँ पति के द्वारा तिरस्कृत होकर भी उनके प्रति उनकी निष्ठा को नहीं डगमगातीं। निर्वासित होने पर सीता को क्षणभर के लिये रोष होता है किन्तु तुरन्त ही वह स्वयं अपने ही ऊपर सारा दोष लेकर सन्तोष कर लेती है—

कल्याण-बुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शङ्कनीयः।

ममैव जन्मान्तर-पातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः ।। रघु. १४-६२

साहं तपः सूर्य-निविष्ट-दृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुंयतिष्ये।

भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेवभर्ता न च विप्रयोगः ।। वही ६६

और मारीच आश्रम में दुष्यन्त को देखकर शकुन्तला कहती है—"हृदय ! आश्वसिहि ! आश्वसिहि। परित्यक्त मत्सरेण अनुकम्पितास्मि दैवेन। आर्यपुत्रः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खल्वेष:" शकु. ७। किन्तु पुरुष हैं कि नारी पर विश्वास नहीं करना चाहते। यहाँ तक कि वे सीता के विषय में भी मिथ्या- प्रवाद प्रचारित करते हैं और राम को कहना पड़ता है—

पौरेषु सोऽहं वहुली भवन्तमपां तरङ्गेष्विव तैल विन्दुम्।

सोढुं न तत्पूर्वमवर्णमीशे ह्यालानिकं स्थाणुमिव द्विपेन्द्रः॥ रघु. १४-३८

अवैमि चैनामनघेतु किन्तु लोकापवादो वलवान् मतो मे। वही ४०

न जाने कितनी स्त्रियाँ इस प्रकार के प्रवादों की वलि पर चढ़ी होंगी किन्तु पुरुषों को छूट थी कि वह चाहे जितनी स्त्रियों के साथ रमण करें। अग्निमित्र, दुष्यन्त, पुरुरवा सभी तो विवाहित हैं फिर भी नवयुवतियों के साथ प्रेम लीला करते हैं। इनमें अग्निमित्र तो युवा पुत्र का पिता है और प्रौढ़ भी। प्रवादों से बचने के लिये ही स्त्रियाँ पति के परदेस चले जाने पर या किसी प्रकार उससे वियुक्त हो जाने पर अलंकार शून्य, मलिन वस्त्र- धारिणी तथा एक वेणी- धरा बनकर रहती थी। सीता वाल्मीकि के आश्रम में ऐसे ही रहती थी—

तत्राभिषेक-प्रयता वसन्ती प्रयुक्त-पूजा-विधिनाऽतिथिभ्यः।

वन्येन सा वल्कलिनी शरीरं पत्युः प्रजासन्ततये वभार॥

रघु. १४-८२

वह सीता जो लंका में रावण द्वारा कृत्रिम राम के छिन्न शिर को देखकर मूर्च्छित हो गयी और फिर त्रिजटा द्वारा यह बतलाये जाने पर कि यह सब माया थी, राम तो स्वस्थ हैं, तो उसकी चेतना लौटी तव वह यह सोचकर लज्जित हो गयी कि यह कुसमाचार सुनते ही मैं मर क्यों न गयी—

अथ राम शिरश्छेददर्शनोदभ्रान्त-चेतनाम्।

सीतां मायेति शंसन्ती त्रिजटा समजीवयत्॥

कामं जीवति मे नाथ इति सा विजहौशुचम्।

प्राङ्मत्वा सत्यमस्यान्तं जीविताऽस्मीति लज्जिता॥ रघु. १२-७४, ५

राम तो फिर भी चरित्रवान् व्यक्ति थे। किन्तु पुरुरवा जो उर्वशी के प्रेम में पागल था और उसे साथ लेकर गन्धमादन वन में विहार करने गया था, विद्याधर की पुत्री उदयवती को देखकर उर्वशी को तो क्या स्वयं अपनी ही सुधबुध खो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बैठा—"तत स्तत्र मन्दाकिनीतीरे सिकता- पर्वतैः क्रीडमानोदयवती नाम विधाधर-दारिकातेन राजर्षिणा चिरनिध्यातेतिकृत्वा कुपिता उर्वशी" विक्रमो. ४

(२१) स्त्री वध निषिद्ध था । उसे मृत्यु दण्डु नहीं दिया जाता था । राम ने जो ताड़का का वध किया वह अपवाद मात्र था । इसी मर्यादा के कारण लक्ष्मण ने शूर्पणखा का वध न करके उसके नाक कान काटे थे । ताडका वध के प्रसंग में कहा है—

उद्यतैकभुजयष्टिमायतीं श्रोणिलम्बि-पुरुषान्त-मेखलाम् ।

तां विलोक्य वनितावधे घृणां पत्रिणा सह मुमोच राघवः ।।रघु. ११-१७

(२२) फिर भी समाज स्त्रियों के विषय में क्रूर रहा है । युद्ध वर्णन के प्रसंग में शत्रु स्त्रियों की पीडा, उनके रोदन और वैधव्य का रस ले- लेकर वर्णन करना इस कठोर सत्य का प्रमाण है—

(१) **भयोत्सृष्ट-विभूषाणां तेन केरल-योषिताम् ।**

अलकेषु चमूरेणुश्चूर्ण-प्रतिनिधीकृतः ।। रघु. ४-५४

(२) **यवनी मुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः ।** वही ६१

(३) **तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्त- विक्रमम् ।**

कपोल पाटलदेशि वभूव रघु- चेष्टितम् । वही ६८

(४) **लङ्कास्त्रीणां पुनश्चक्रे विलापाचार्यकं शरैः ।** रघु. १२-७८

(२२) कालिदास गार्हस्थ्य जीवन के कुशल शिल्पी हैं । उन्होंने अपनी रचनाओं में दाम्पत्य, प्रणय (संभोग और वियोग दोनों) के मनोरम चित्र दिये हैं । ऋतु संहार में ऐसे चित्रों की भरमार है । वास्तव में यह तब विवाहिता तरुणियों के आनन्द और मस्ती भरे जीवन की कला वीथिका है । जिनमें उनके आङ्गिक और वेशालंकार के साथ उनकी नाना विध श्राङ्गारिक मुद्राओं की एक से बढ़कर एक झाँकियाँ हैं । और कुमार संभव का तो कहना ही क्या । यही स्थिति नाटकों की है । ये सुखी सम्पन्न और स्निग्ध परिवारों के चित्र हैं । सम्पन्न परिवारों से अलग उनकी दृष्टि सामान्य पौर वधुओं की ओर भी गयी है और पार्वती तथा अज के विवाह के अवसर पर उन्होंने इन्हें भी अपने पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है ।

शिव की बारात आती है तो पौर-सुन्दरियाँ सब काम छोड़कर उन्हें देखने दौड़ पड़ती है । गवाक्ष तक पहुँचने की हड़बड़ी में किसी का केशपाश खुल जाता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और उसमें लगे फूलों के गजरे बिखर जाते हैं। कोई महावर लगवा रही होती है तो एक पाँव में बिना लगाये ही गीले पाँवों दौड़ पड़ती है और गवाक्ष के मार्ग को महावर से रंग देती है। कोई जो आँखों मे अञ्जन लगा रही होती है, एक नेत्र को बिना ही आँजे और शलाका हाथ में ही पकड़े दौड़ पड़ती है। जल्दी भागने में किसी किसी का नीविबन्ध (कमर का नारा) ही खुल जाता है और वह एक हाथ से अधोवस्त्र थामे-थामे ही दौड़ जाती है। झटके से उठने के कारण किसी की रशना (कटिभूषण) की गूँथन छिन्न हो जाती है और रशना के रत्न पद-पद पर नीचे टपकते जाते हैं। यहाँ तक कि जाल मार्ग तक पहुँचते-पहुँचते उसके हाथ में खाली सूत्र रह जाता है। गवाक्षों पर सुहागिन स्त्रियों की इतनी भीड़ हो जाती है कि हर जाल छिद्र कमल से अंलकृत दिखने लगता है।(कुमार. ७-५६ से ६२) अज के विवाह कौतुक के अवसर पर भी कवि ने इन्हीं पाँच श्लोकों को दोहराया है—रघु० ६ से ११ तक श्लोक इस प्रकार हैं—

आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टन-वान्तमाल्यः।
वन्धुं न संभावित एवतावत् करेण रुद्धोपि च केशपाशः॥
प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाकृष्य काचिद् द्रवरागमेव।
उत्कृष्ट-लीलागतिरागवाक्षादालक्तकाङ्कां पदवीं ततान॥
विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभाव्य तद्वञ्चित-वामनेत्रा।
तथैव वातायन-संनिकर्षं ययौ शलाकामपरां वहन्ती॥
जालान्तर-प्रेषित दृष्टिरन्या प्रस्थान-भिन्नां न ववन्ध नीवीम्।
नाभि-प्रविष्टाभरण-प्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः॥
अर्धाचिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती।
कस्याश्चिदासीद् रसना तदानीमङ्गुष्ठ-मूलार्पित सूत्र-शेषा॥
तासां मुखैरासवगन्धगर्भै व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम्।
विलोलनेत्र-भ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्त्रपत्राभरणा इवासन्॥

नृत्य, संगीत, नाट्य आदि की शिक्षा कन्याओं को दी जाती थी। उच्चकुलों की स्त्रियाँ इन विषयों की सूक्ष्म जानकारी रखती थीं। स्त्रियाँ परिव्राजिका भी होती थी। पण्डिता कौशिकी परिव्राजिका है। कण्वाश्रम की गौतमी भी विदुषी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिदास ने स्त्रियों के सम्बन्ध में कई बार गम्भीर व्यावहारिक जानकारी प्रदर्शित की है। यथा—शिव विवाह के प्रसंग में सप्तर्षियों के रहते हुए भी वह अरुन्धती का विशेष उपयोग करते हैं। वह जानते हैं कि इन विषयों में स्त्रियाँ प्रगल्भ होती हैं। वह कहते हैं—

आर्याप्यरुन्धती तत्र व्यापारं कर्तुमर्हति।

प्रायेणैवंविधे कार्ये पुरन्ध्रीणां प्रगल्भता॥ कुमार. ६-३२

विक्रमोर्वशीयम् में आयुष के राजतिलक की वेला में वह पुरुरवा की प्रथम पत्नी काशिराज दुहिता को नहीं भूलते। प्रणामार्थ राजकुमार को ही उसके पास नहीं भेजते, उर्वशी और स्वयं भी सम्मान प्रकट करने के लिये उसके पास जाते हैं—

(कुमारं हस्तेगृहीत्वा) एहिवत्स ! ज्येष्ठमातरमभि वन्दस्व (कुमारः प्रतिष्ठते)

राजा—तिष्ठ। सममेव तत्रभवत्याः। समीपं यास्यामस्तावत्। विक्रमो. ५-२२

(२४) कालिदास संस्कृत के एकमात्र कवि हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं में स्त्रियों के प्रति उचित सम्मान ही नहीं, समान व्यवहार भी प्रदर्शित किया है। जो प्रथायें समाज में प्रचलित थीं (और वे आज तक उसी प्रकार प्रचलित हैं) उनका तो विपरीत या अन्यथा चित्रण वह कर नहीं सकते थे किन्तु यह चेष्टा तो उन्होंने अवश्य की है कि वह यथा शक्ति उसके श्रेष्ठ रूप को वाणी दे सके। उनके सारे नायक अपनी प्रमुख पत्नी का सम्मान करते हैं—चाहे वह दिलीप हों या रघु, पुरुरवा हों या दुष्यन्त या अग्निमित्र। अग्निवर्ण की पत्नी को तो वह राजसिंहासन पर भी प्रतिष्ठित करते हैं। माता, स्वसा और पुत्री सभी को उनकी लेखनी ने गरिमा प्रदान की है। उनकी सपत्नियों में ज्येष्ठा और कनिष्ठा की मर्यादा है और राजा भी उसका पालन करता है। रति और अज के विलाप वर्णन के द्वारा भी उन्होंने पत्नी और पति में समानता स्थापित की है। दोनों एक ही छन्द में विलाप करते हैं और प्रणय की समान तीव्रता का प्रदर्शन करते हैं। उनमें भी अज की पीड़ा अधिक गहरी है। कालिदास स्वयं ने ही कहा है—

स्त्री- पुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम्। कुमार. ६-१२

यह क्रान्तिकारी वाक्य है। कालिदास को छोड़कर अन्य किसी कवि ने सामान्य स्त्री को इतना गौरव नहीं प्रदान किया। पत्नी के प्रति भी उनके मन में जितना सम्मान था वह भवभूति को छोड़कर अन्यत्र कही परिलक्षित नहीं होता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गृहस्थाश्रम के प्रति आदर होने का सीधा अर्थ ही था पत्नी के प्रति आदर और यह उनकी सारी रचनाओं में निरपवाद रूप से मिलता है। पूर्वोक्त वाक्य के समान उनका यह कथन भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

क्रियाणामथ धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्। कुमार. ६-१३

माता, स्वसा और पत्नी के अतिरिक्त नारी का चौथा रूप है पुत्री का। पार्वती के प्रसंग में हम इसे देख ही चुके हैं। कण्व का भी सम्पूर्ण व्यक्तित्व और चरित्र पुत्री के प्रति ममता का अद्भुत उदाहरण है। इसकी परिणति निम्न उक्ति में हुई है। कण्व कहते हैं—

यास्यत्यद्यशकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्ट मुत्कण्ठया,

कण्ठः स्तम्भित-वाष्पवृत्ति-कलुषश्चिन्ता-जडंदर्शनम्।

वैक्लव्यं मम तावदीद्दशमहो स्नेहादरण्यौकसः

पीड्यन्ते गृहिणः कथन्नु तनया-विश्लेषदुःखै र्नवैः। शाकु. ४-६

(२५) कालिदास ने सामान्य सधवा स्त्रियों के आकर्षक परिधानों, प्रसाधनों एवं अलंकार-भूषा का विस्तृत वर्णन किया है किन्तु विरहिणी या वियोगिनी स्त्रियों को संयमपूर्वक जीवन विताने की ओर भी उसी प्रकार ध्यान दिया है। यों तो पति के प्रवास या अन्य कारणों से दूर रहने की स्थिति में स्त्री स्वयं ही सज- धजकर नहीं रहती थी किन्तु सामाजिक प्रथा के अनुसार उसके लिये वाध्यता भी थी। दोनों प्रकार की स्थितियाँ उनकी रचनाओं में मिलती हैं। शकुन्तला मारीच के आश्रम में जिस प्रकार रहती थी उसे दुष्यन्त ने स्वयं अपने मुख से व्यक्त किया है—

वसने परिधूसरे वसाना नियम-क्षाममुखी धृतैकवेणिः।

अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला ममदीर्घं विरहव्रतं विभर्ति। शाकु. ७-२१

मैले कुचैले वस्त्र पहने रहना, एक वेणी धारण करना और यम-नियम-संयम पूर्वक जीवन विताना—जिसमें भूमि- शयन, फल मूलादि सात्त्विक भोजन, वृक्ष सेचन आदि क्रियायें सम्मिलित थीं। स्वयं स्मृतियों ने ऐसी स्त्रियों के लिये नियमों विधान किया है। ये नियमादि शरीर को कृश बनाने तथा उसे सब प्रकार की उत्तेजनाओं से बचाने के लिये थे। उसके शारीरिक सौन्दर्य को दूसरों के आकर्षण से बचाना भी उनका उद्देश्य था। वाल्मीकि के आश्रम में सीता भी ऐसे नियमों का पालन करती थी। तमसा नदी में नित्य स्नान और उसके बालुकामय तीर पर इष्ट देवताओं का पूजन-अर्चन करना, घड़ों में जल भर-भरकर वृक्षों को सींचना,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियम-पूर्वक रहना, अतिथियों की सेवा का भार वहन करना, वल्कल के वस्त्र पहनना और कन्दमूल खाकर शरीर वृत्ति चलाना, यह उनकी चर्या थी—

अशून्य-तीरां मुनिसन्निवेशैस्तमोपहन्त्रींतमसां वगाह्य।

तत्सैकतोत्सङ्गवलि-क्रियाभिः संपत्स्यते ते मनसः प्रसादः। रघु. १४-७६

पयोघटै राश्रमवालवृक्षान् संवर्धयन्ती स्ववलानुरुपैः। वही ७८

तत्राभिषेक-प्रयतावसन्ती प्रयुक्त-पूजाविधिनाऽतिथिभ्यः।

वन्येन सा वल्कलिनी शरीरं पत्युः प्रजा-सन्ततये वभार॥ वही ८२

विरहिणी की चर्या का विस्तृत वर्णन मेघदूत में मिलता है। अलका की यक्षी पति के वियोग में प्रायः रोती रहती है। यहाँ तक कि रोते रोते उसकी आँखें सूज जाती हैं और श्वासों की उष्णता से उसके ओठ फट जाते हैं। खुले, बिना सँवारे केश उसके मुख पर लटकते हैं। वह अपना सयम या तो देवार्चन में बिताती हैं या कल्पना द्वारा पति का चित्र बनाती हैं। कभी पाली हुई मैना से पति के विषय में बातें करती हैं। कभी वीणा को गोद में रखकर पति के द्वारा रचित गीत को गाने का यत्न करती है तो भावावेग से स्वयं अपने द्वारा बनायी मूर्च्छना को भूल जाती है और आँखों से टपटप गिरते आँसू उसकी वीणा को गीला कर देते हैं। वह देहली पर रखे पुष्पों को शेष वियोग-दिवसों की गिनती के हिसाब से विछाती है। दिन में तो उसे वियोग-व्यथा उतना पीडित नहीं करती किन्तु रात्रि के समय वह अत्यन्त वेचैन हो उठती है। पति की विदाई के दिन उसने पुष्प माला उतार कर चोटी में जो गाँठ लगायी थी उसमें बहुत सी ग्रन्थियाँ पड़ जाने से वह उलझ गयी है। उससे वालों को वह अपने बिना काटे हुए लम्बे नखों से कनपटी पर से हटाने का प्रयत्न करती है—

नूनं तस्या-प्रवल-रुदितोच्छूननेत्रं प्रियाया

निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम्।

हस्तन्यस्तं मुखमसकल-व्यक्ति लम्वालकत्वा

दिन्दोर्दैन्यं त्वदनु-सरण-क्लिष्ट-कान्तेर्व्यनक्ति॥ मेघ. २-११

और—

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्यवीणां

मदगोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातु कामा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथञ्चिद्
भूयोभूयः स्वयमपिकृतां मूर्च्छनां विस्मरन्तीम्॥ वही २३
आद्येवद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा
शापस्यान्ते विगलित-शुचा तां मयोद्वेष्टनीयाम्।
स्पर्श क्लिष्टामयमितनखेनासकृत् सारयन्तीम्
गण्डाभोगात् कठिन-विषमामेकवेणीं करेण॥ वही २९

'एक वेणी' विरहिणों की मुख्य पहचान थी। यद्यपि यक्षी की यह चर्या स्वयं वृता है और प्रणय- जन्य भी है किन्तु उसके विरही पति की चर्या से कितनी भिन्न। एक ही स्थिति का सामना दोनों कितनी भिन्नता के साथ करते हैं। यह जानने के लिये ही यह प्रसंग यहाँ प्रस्तुत किया गया है। इससे समाज द्वारा नारी पर आरोपित बन्धनों का पता चलता है।

(२६) वेश्यायें, संभवतः कालिदास के समय में समाज का अनुपेक्षणीय अंग थी। वे आनन्द प्रमोद के अवसर पर धनिकों और प्रतिष्ठित परिवारों में नृत्य गान के लिये बुलायी जाती थी और उनका आना शुभ माना जाता था। वे रघु के जन्मोत्सव के समय- राज प्रासाद में नृत्य के लिये बुलायी गयी थी—

सुखश्रवाः मङ्गलतूर्य-निस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम्।
न केवलं सद्मनि मागधी-पतेः पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसमापि॥ ३-१९

यहीं नहीं, वेश्याओं का नृत्य देवलोक तक में प्रचलित था। वे मन्दिरों में सान्ध्य पूजा-आरती के समय नृत्य करती थी। उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर में उनका नृत्य होता था। संभवतः वे हाथ में चँवर लेकर देशीनृत्य करती थी। ये देव दासियाँ नहीं थीं। उत्तर भारत में यह प्रथा प्रचलित नहीं थी। ये सामान्य वेश्यायें थीं जिनके शरीर पर प्रेमियों द्वारा किये नखक्षत विद्यमान रहते थे। ये कटि में किंकिणीदार रशना और हाथों में रत्न जड़े कंगन पहने रहती थीं। वे आंखों में चौड़ा अँजन आँजती थीं—

पादन्यास-क्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतैः
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्त- हस्ताः।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान् प्राप्य वर्षाग्रविन्दू—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकर-श्रेणि-दीर्घान्कटाक्षान् ।। मेघ. १-३०

उज्जयिनी और विदिशा में इन दिनों में वेश्यावृत्ति का व्यापक प्रचार था और समाज इसे गर्हित दृष्टि से नहीं देखता था। उलटे यह समाज में बड़े और प्रतिष्ठित होने का लक्षण माना जाता था। निम्न उद्धरण इसका निदर्शन है—

नीचैराख्यं गिरिमधिवसे स्तत्र विश्राम- हेतो
स्त्वत्संपर्कात् पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः
यः पण्यस्त्री-रतिपरिमलोद् गारिभि र्नागराणा–
मुद्दामानि प्रथयति शिला वेश्मभि र्यौवनानि ।। वही २५

स्पष्ट है कि नागरजनों का पण्य स्त्रियों के साथ विदिथा के नीचै गिरि की गुफाओं में निशा-विहार सामान्य जीवन का भाग बन गया था।

इस प्रकार कुल मिलाकर देखें तो लगेगा कि वर्तमान में मध्य या उच्च वर्ग में स्त्रियों की जो स्थिति है या समाज में उनका जो स्थान है उसकी परम्परा कालिदास के समय से चली आ रही है।

शूद्र

कालिदास पर रामायण का विशेष प्रभाव है विशेषतः, राम कथा प्रसंग तो रामायण से ज्यों का त्यों ले लिया गया है। घटनायें रामायण की हैं और काव्य भाषा कालिदास की। रामायण की जिन दो घटनाओं पर आरम्भ से ही मत वैभिन्य चला आया है और चलता भी रहेगा, वे हैं सीता निर्वासन और शम्बूक वध। सीता परित्याग जिस प्रकार तत्कालीन नारी की दयनीय स्थिति को उजागर करता है शम्बूक वध उसी प्रकार शूद्रों की। 'राजा प्रकृति- रञ्जनात्' का सिद्धान्त सीता परित्याग के लिये उत्तरदायी है तो 'नृपस्य वर्णाश्रमपालनंयत् स एवधर्मो मनुनाप्रणीतः' (रघु. १४-६७) यह विश्वास शम्बूक वध के लिये। रघुवंशियों का आदर्श ही था—"रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वत्मनः परम्- न व्यतीयुः प्रजा स्तस्यनियन्तुर्नेमिवृत्तयः"—रघु. १-१७। सब वर्णों के कर्तव्य निश्चित थे। पहले तो एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण की वृत्ति ग्रहण कर सकता था और भिन्न वर्ण की कन्या से विवाह भी कर सकता था किन्तु सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् इन नियमों में कठोरता आ गयी। स्ववर्ण की कन्या से विवाह और स्वधर्म का पालन इन दोनों से विचलन का अर्थ समाज व्यवस्था का अतिक्रमण माना जाने लगा। शूद्र वे लोग होते थे जो न तो पढ़ते लिखते थे और न युद्ध कुशल थे। खेती उनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पास थी नहीं सो वे केवल तीन वर्णों के यहाँ नौकरी चाकरी या शारीरिक श्रम से जीविको पार्जन करते थे । पहले तो शूद्र यज्ञ का हविष्यान्न तैयार करते थे—"शूद्रा वा संस्कर्तारः स्युः" । किन्तु बाद में उन्हें सारे यज्ञ कार्यों से वहिष्कृत मान लिया गया । उच्च वर्णों की सेवा और परिचर्या ही उनके लिये तप मान लिया गया । इस प्रकार की कठोरता अन्य कार्यों के लिये भी थी । ऐसी स्थिति मे जहाँ यह विश्वास था कि इक्ष्वाकुओं के राज्य मे किसी की अकाल मृत्यु नहीं होती—"नह्यकाल-भवोमृत्यु रिक्ष्वाकु- पदमस्पृशत्"- रघु. १५-४४; एक ब्राह्मण का अपने किशोर पुत्र के शव को राज प्रसाद के सामने लाकर रख देना और चिल्लाने लगना—

शोचनीयासि वसुधे या त्वं दशरथाच्चयुता ।

रामहस्तमनुप्राप्य कष्टात् कृष्टतरं गता ॥ रघु. १५-४३

राजा को विचलित कर देने के लिये पर्दा पर्याप्त था । राम भी 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' पर आस्था रखने वाले व्यक्ति थे । जनता में यह विश्वास वद्ध मूल था कि अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, और अकाल मृत्यु का कारण राजा का पाप-कर्म होता है । उसने चिल्लाना प्रारम्भ किया—"राजन् प्रजासु ते कश्चिदपचारः प्रवर्तते"- रघु. १४-४७ । तो राम "वर्ण- विक्रिया" का पता लगाने स्वयं रथ से चल दिये, और उन्होंने कहा—

अथ धूमाभिताम्राक्षं वृक्षसाखावलम्बिनम् ।

ददर्श कञ्चिदैक्ष्वाकस्तपस्यन्तमधोमुखम् ॥ रघु. १४-४९

पृष्ठ नामान्वयो राज्ञा सकिलाचष्ट धूमपः ।

आत्मानं शम्वुकं नाम शूद्रं सुरपदार्थिनम् ॥ वही ५०

तपस्यनधिकारित्वात् प्रजानां तमघावहम् ।

शीर्षच्छेद्यं परिच्छेय नियन्ता शस्त्रमाददे ॥ वही ५१

स तद्-वक्त्रं हिम-क्लिष्ट किञ्जल्कमिवपङ्कजम् ।

ज्योतिष्कणाहत-श्मश्रु कण्ठनालादपातयत् ॥ वही ५२

शम्बुक धूमपायी तपस्वी था । महाभारत में ऐसे नानाविध तपश्चारियों का उल्लेख है । वह दाढ़ी रखे था और वृक्ष की शाखा में उलटा लटका था । राम ने उसका सिर काट लिया क्योंकि वह वर्ण मर्यादा के विरुद्ध तप कर रहा था ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शम्बुक का वध कठोर सामाजिक मर्यादा और उससे विचलन पर कड़े शारीरिक दण्ड का एक मात्र उदाहरण प्राचीन भारतीय साहित्य में मिलता है। यह सर्वथा अमानवीय है जिसका किसी प्रकार समर्थन नहीं किया जा सकता। यह रामायण में द्वितीय शताब्दी के लगभग जोड़ा हुआ प्रक्षिप्त अंश है। बाद में उसे कालिदास और भवभूति ने भी ग्रहण कर लिया।

कालिदास की भारत यात्रा

दक्षिण भारत

कालिदास के नाटकों के रथ इसी प्रकार आकाश में चलते हैं जैसे आजकल विमान। उन्होंने विमान द्वारा यात्रा का भी वर्णन किया है। राम लङ्का से अयोध्या विमान के द्वारा ही लौटते हैं। सर्वप्रथम वह विमान से अपने साथियों के द्वारा बनाया हुआ समुद्र सेतु, जो मलय पर्वत तक विस्तृत था, सीता को दिखाते हैं। "वैदेहि पश्यामलयाद् विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्वुराशिम्" रघु. १३-२१। इससे पता चलता है कि बाँध के दोनों ओर से टकराती हुई महोर्मियाँ फेन की सृष्टि करतीं थीं। दो घड़ी में उनका विमान समुद्र के उस कूल पर पहुँच गया जहाँ सुपारी के वृक्ष फल भार से झुक गये थे—

प्राप्ता मुहूर्तेन विमान वेगात् कूलं फलावर्जित- पूगमालम्। रघु. १३-१७

ऐसा लग रहा था जैसे भूमि समुद्र में से निकलती आ रही है—

एषा विदूरीभवतः समुद्रात् सकानना निष्पततीवभूमिः। १८

राम के विमान को चलाने के लिये आयास की आवश्यकता नहीं थी वह बिना बताये उनकी इच्छा के अनुसार जा रहा था—

यथाविधो मे मनसोभिलाषः प्रवर्तते पश्य तथा विमानम्। १९

सीता विमान के बाहर हाथ निकाल मेघ का स्पर्श कर रही थीं (वही २१)। मार्ग में उन्होंने उन स्थानों में मुनियों को निर्भय होकर पर्ण शालायें बनाते देखा। जिन्हें वे पहले राक्षसों के भय के कारण छोड़कर चले गये थे। वह स्थान भी देखा जहाँ उन्हें सीता द्वारा रावण-रथ से गिराया हुआ उनका नूपुर मिला था। वह स्थान जहाँ मृगियों ने नेत्र-संकेत से सीता को अपहृतकर ले जाने की दिशा बतायी थी। ऊँचे शिखर वाला माल्यवान्, पम्पासर, गोदावरी, पञ्चवटी, अगस्त्याश्रम, शातकर्णि का पञ्चाप्सरस्तीर्थ, सुतीक्ष्ण की पर्णकुटी, शरभङ्ग का तपोवन, ककुद्मान् चित्रकूट,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन्दाकिनी नदी, अत्रि का तपोवन, गङ्गा यमुना का संगम, निषादराज का नगर शृङ्गवेर पुर, और फिर सरयू इन सब को पार करता हुआ राम का विमान अयोध्या में जा रुका। इस प्रकार लंका से अयोध्या तक जो यात्रा राम ने की वह ठीक वैसी ही थी जैसी लङ्का जाते समय थी। इस प्रसंग में कालिदास ने दक्षिण की जो भौगोलिक जानकारी प्रस्तुत की है वह सुनी सुनायी बातों के आधार पर ही है। सम्भवत: उन्हें चित्रकूट से आगे का ठीक ज्ञान नहीं था अन्यथा कुछ अन्य नदियों, छोटे-मोटे पर्वतों, नगरों आदि वर्णन अवश्य करते। फिर भी उन्होंने आकाश से पृथिवी का जो दृश्य अंकित किया है, वह उनकी उर्वरा कल्पना शक्ति का परिचायक तो है ही। वस्तुत: राम की नहीं, अपितु कालिदास के कल्पना-विमान की यात्रा है।

मध्य देश

अमरकण्टक से मन्दसोर तक

यक्ष का संदेशहर मेघ भी कालिदास का मनोभिलाषचारी विमान ही है। उसी पर बैठकर उन्होंने मध्य उत्तर भारत का वैहङ्गिक दर्शन किया है। यह उड़ान रामगिरि (जिसकी स्थिति के विषय में विद्वानों में ऐक मत्य नहीं है) से प्रारम्भ होती है और अलका में पहुँचकर समाप्त होती है। मेघ जिस स्थान से यात्रा का प्रारम्भ करता है वह सिद्धाङ्गनाओं की निवास स्थली थी। निचुलों के हरे भरे पादपों का वाहुल्य वहाँ था और थोड़ा आगे बढ़ते ही बड़े-बड़े गजों वाला वन्य प्रदेश मिलता था। थोड़ा ही आगे माल क्षेत्र था उन्नत भूमि वाला जिसमें ग्रामीण हल के सहारे खेत जोतते थे। आगे बढ़कर ऊँची चोटियों वाला आम्रकूट पर्वत था जिसमें निदाघ काल में दावाग्नि फैल जाती थी। इस पर्वत पर आमों के जंगल थे। वह क्षेत्र वनवासी जनों का है। यहीं विन्ध्य पर्वत की चट्टानों पर विछलती रेवा पर्वत के प्रान्त भाग में प्रवाहित होती है। वन्य गज यहाँ विहार करते हैं और जामुनों के कुञ्ज विखरे हुए हैं। आगे दशार्ण जनपद हैं जिनमें केतकी फूलती है, वन प्रान्त जम्बू वृक्षों से भरे हैं। साँची का प्राचीन नाम काकनाद है। संभवतः कवि ने ग्राम चैत्यों और पक्षि कोटरों से उसी की ओर संकेत किया है। दशार्ण की राजधानी है विदिशा जिसके समीप वेत्रवती नदी बहती है। वहीं नीचैः नाम का गिरि है। कदम्ब के पुष्प इस पर खिलते हैं। शिला- वेश्म हैं जिनमें वेश्यायें अपने प्रेमियों के साथ विहार करने आती हैं और सुगन्ध बिखेर जाती हैं। विदिशा से आगे अनेक वन नदियाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं, यूथिका के उद्यान हैं। इस क्षेत्र में पुष्प लावियों की बड़ी संख्या है। यद्यपि उज्जयिनी इस मार्ग में नहीं मिलती। उसका मार्ग टेढ़ा है फिर भी वह दर्शनीय नगरी है। उसमें बड़े-बड़े सौध हैं, लोल अपाङ्गों वाली आकर्षक पौराङ्गनायें हैं। उस नगरी को जाते हुए मार्ग में निर्विन्ध्या नदी मिलती है। इसके किनारों पर पक्षियों के वृन्द बैठे रहते हैं और मध्य में अनेक आवर्त हैं। इसके ग्रामों में वृद्धजन उदयन की कथा में प्रवीण हैं। यहीं अत्यन्त समृद्ध विशाला (उज्जयिनी) नगरी है। यह इतनी सुन्दर है जैसे स्वर्ग का ही एक खण्ड हो। इसमें प्रातः कालीन शिप्रावात सारी ग्लानि को दूर कर देता है। कमलों की गन्ध से युक्त इस पवन में सारसों में आनन्द भर देने की शक्ति है। उज्जयिनी के भवनों में स्त्रियाँ अपने केशों का संस्कार धूप-द्रव्य से करती हैं। उनमें पालतू मोर नृत्य करते रहते हैं। कुसुमों की सुवास भरी रहती है और तल ललित वनिताओं के पादराग से अंकित है। यहाँ गन्धवती नदी के पास ही चण्डीश्वर का धाम है जिसके उद्यानों में स्त्रियों के स्नान द्रव्यों की सुगन्धि से मिश्रित कुवलय रजो गन्ध से युक्त वायु बहती रहती है। चण्डीश्वर महाकाल के मन्दिर में सन्ध्या के समय पटह ध्वनि के साथ पूजा होती है और वेश्यायें नृत्य करती हैं। भवनों की वलभियों पर पारावत सोते हैं। विशाला नगरी से आगे जाने पर गम्भीरा नदी मिलती है। इसका जल स्वच्छ है। इसके आगे देवगिरि है। इसमें उदुम्बर (गूलर) के वन हैं। देवगिरि पर स्कन्द का मन्दिर है जहाँ लोग श्रद्धा से पूजा करते हैं। रन्तिदेव की कीर्ति का गान करती चर्मण्ववती नदी आगे मिलती है जिसका प्रवाह विस्तार अधिक है। यह नदी पृथिवी के मुक्ताहार सी लगती है। चम्बल पार करने पर दशपुर नगर है। यह रन्तिदेव का पुर है।

ब्रह्मावर्त से अलका तक

आगे ब्रह्मावर्त जनपद है। यह कौरवों के क्षत्र युद्ध का क्षेत्र है। यहीं गण्डीवधारी अर्जुन ने अपने वाणों से राजन्यो के सिर काट-काटकर भूमि पर विछा दिये थे। यहीं सरस्वती नदी है। युद्ध की इच्छा न रखते हुए भी बलराम ने वन्धु प्रेम के कारण इसके किनारे रहकर इसके जल का सेवन किया था। कुरुक्षेत्र से चल कर कनखल में गंगा के दर्शन होते हैं जो हिमालय से नीचे उतरकर सगर पुत्रों की स्वर्ग प्राप्ति का कारण बनी थी। कनखल के पश्चात् हिमालय का प्रारम्भ हो जाता है जिसकी शिलायें नाभिगन्ध मृगों के बैठने से सुरभित रहती हैं। यहाँ चमरी मृगियाँ निचरती हैं। कभी-कभी सरल (देवदारू) वृक्षों के तनों की परस्पर रगड़ से उत्पन्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दवाग्नि चमरियों के बालों को जला देती है। यहाँ अष्टापद शरभ रहते हैं। शरभ बहुत ऊँची छलाँग मारने वाले शक्तिशाली मृग होते हैं। यहीं एक शिला पर शिव के चरण बने हुए हैं। सिद्ध लोग उनकी पूजा करते हैं। हिमाद्रि पर कीचकों का मधुर स्वर सुनायी देता है। किंनरियाँ यहाँ शिव की प्रशंसा में त्रिपुर- विजय के गीत गाती हैं। हिमालय के किनारे कौञ्चरन्ध्र है। इसी से होकर हंस मानस ह्रद को जाते-आते हैं। यह क्रौञ्च द्वार भगवान् परशुराम की कीर्ति का स्मारक है। भगवान् शिव से धनुर्विद्या सीखते समय उन्होंने स्कन्द की प्रतिस्पर्धा से हिमालय के इस भाग को अपने वाण के द्वारा मिट्टी के पिण्ड के समान भेद दिया था। आगे कैलास है जिसकी सन्धियों (जोड़ों) को रावण ने हिला दिया था। यह इतना शुभ्र है कि जैसे भगवान् शिव का अट्टहास ही पुञ्जीभूत होकर जम गया हो। आगे बढ़कर मानस ह्रद है जिसके जल में स्वर्ण कमल खिलते हैं। यह कल्पवृक्षों का प्रदेश है। उसी के पास अलका नामक नगरी कुबेर की राजधानी है।

अब तक इन्द्रलोक से हेमकूट एवं हिमालय के प्रान्तरों, लंका से लेकर अयोध्या तथा रामगिरि से लेकर अलका तक का जो कालिदास कृत वर्णन प्रस्तुत किया गया, वह आकाश से लिया गया भारत के कुछ भागों का भौगोलिक चित्र है। अब आइये, कुछ अधिक निकटता के साथ भारत के प्रमुख जनपदों और नगरों के दर्शन करें। कालिदास ने रघुवंश के षष्ठसर्ग में इन्दुमती स्वयंवर के बहाने भारत के विभिन्न जनपदों और उनके शासकों की विशेषताओं का वर्णन किया है, जो इस प्रकार है—

मगधराज—मगध का राजा शरणागतों को अश्रय देने वाला, गम्भीर प्रकृति का, प्रजारञ्जन के लिये विख्यात और शत्रुओं का पीडक था। उसका नाम था परन्तप। उसका राज्य सुशासित और सुखी था। यज्ञों के सतत् अनुष्ठान के लिये उसकी प्रसिद्धि थी। इन्द्र उसके यज्ञ में बार-बार आहूत होता था। उसकी राजधानी पुष्पपुर थी जहाँ स्त्रियाँ अपने प्रासादों के वातायन में बैठकर उसके दर्शन को आतुर रहती थीं—

असौशरण्यः शरणोन्मुखानामगाध- सत्त्वो मगध- प्रतिष्ठः।

राजा प्रजारञ्जन- लब्ध- वर्णः परन्तपो नाम यथार्थनामा। रघु. ६-२१

कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्। वही २२

क्रियाः- प्रवन्धादयमध्वराणामजस्रमाहूत सहस्रनेत्रः। वही २३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अङ्गराज—अङ्गराज की शरीराकृति इतनी आकर्षक थी कि देवाङ्गनायें तक उसे पाने की कामना करती थीं। उसके राज्य में गजशास्त्र के प्रणेता पालक आदि महर्षि स्वयं उसके गजों कों प्रशिक्षित करते थे। उसका राज्य सब प्रकार इन्द्रलोक के तुल्य था। उसने अनेक बड़े राजाओं को युद्ध में पराजित किया था। भिन्न स्वभाव की होने पर भी उसके पास लक्ष्मी और सरस्वती दोनों मैत्रीपूर्वक रहती रहीं। वह जितना बड़ा श्रीमान् था उतना ही बड़ा विद्वान्—

जगादचैनामयमङ्गनाथः सुराङ्गनाप्रार्थित-यौवनश्रीः।

विनीतनागः किलसूत्र-कारैरैन्द्रं पदं भूमिगतोऽपि भुङ्क्ते।

निसर्ग-भिन्नास्पद मेकसंस्थास्मिन् द्वयं श्रीश्च सरस्वती च॥रघु. ६-२७,२९

अवन्तिराज—अवन्तिनाथ की भुजायें अधिक लम्बी थीं, वक्ष विशाल कटि प्रदेश तनु, और गोलाकार था। उसके शरीर का गठन इतना सुन्दर था जैसे स्वयंत्वष्टा ने उसे चक्र पर रखकर गढ़ा हो। इसके पास प्रभु- शक्ति, मन्त्र- शक्ति और उत्साह- शक्ति—ये तीनों शक्तियाँ हैं। इतनी बड़ी सेना है कि उसके अश्वों की धूलि प्रयाण- काल में दिशाओं को रज से आच्छादित कर देती है। यह महाकाल वासी शिव के समीप रहने से कृष्ण पक्ष में भी उनके मौलिस्थ चन्द्र का प्रकाश प्राप्त करता है। इसके उद्यानों की श्रेणियाँ शिप्रा नदी की वायु से आन्दोलित रहती हैं—

अवन्ति-नाथोयमुदग्रवाहु र्विशालवक्षा स्तनुवृत्तमध्यः।

असौ महाकाल-निकेतनस्य वसन्नदूरेकिलचन्द्र-मौलेः।

अस्य प्रयाणेषु समग्रशक्तेरग्रेसरैर्वाजिभिरुत्थितानि।

कुर्वन्ति सामन्त-शिरवामणीनां प्रभाप्ररोहास्तमयं रजांसि॥

सिप्रातरङ्गानिल-कम्पितासु विहर्तुमुद्यान-परम्परासु

किंच्चिन्मनसो रुचिस्ते। रघु. ६-३२, ३३, ३५

अनूपराज—जो द्विभुज होकर भी संग्राम में सहस्रवाहु दिखायी देते थे। नाना यज्ञों के कर्ता जिस राजा के यज्ञ यूप अठारह द्वीपों में गड़े मिलते हैं। ऐसा सर्वक्रतु याजी और सार्वभौम राजा जिसके लिए सर्वभूत- रञ्जक होने के कारण राजा शब्द सार्थक था। वह कृतवीर्य का पुत्र सहस्रार्जुन वस्तुतः योगी ही था। कार्तवीर्य के राज्य में शारीरिक कदाचारण की बात तो दूर, कोई मानसिक अपराध तक नहीं करता था। इन्द्रजयी लङ्केश्वर तक को उसने अपने धनुष की डोर में कस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर अपने कारागृह में डाल दिया था। उसी कार्यवीर्य के वंश में उत्पन्न प्रतीप नामक राजा वेदों शास्त्रों और वृद्धजनों का सेवक था। लक्ष्मी उसे छोड़कर कभी नहीं गयी। क्षत्रियों के संहारक परशुराम तक इसे नहीं जीत पाये। इसकी राजधानी माहिष्मती रेवा के प्रवाह की काञ्ची पहने दिखायी देती है। राजा बड़ा प्रिय- दर्शन था—

संग्राम-निर्विष्ट-सहस्त्रवाहुरष्टादशद्वीप-निखातयूपः।

अनन्य-साधारण-राजशब्दोवभूवयोगी किलकार्तवीर्यः।

(यस्य) कारागृहे निर्जित वासवेनङ्केश्वरेणोषितमा प्रसादात्।

तस्यान्वये भूपतिरेषजातः प्रतीप इत्यागमवृद्ध-सेवी।

धारां शितां रामपरश्वधस्य संभावयत्युत्पल पत्रसाराम्।।रघु. ६-३८-४२

शूरसेन नरेश—शूरसेन के राजा सुषेण ने अपने सदाचार से मातृ कुल और पितृकुल दोनों को उज्ज्वल किया। उसकी कीर्ति देशान्तरों में भी पायी जाती थी। सुषेण नीपवंश में उत्पन्न हुआ परम याज्ञिक था। उसके पास परस्पर विरोधी गुणों ने भी मैत्री स्थापित कर ली थी। इस कान्तिमान् राजा ने बड़े-बड़े वीर राजाओं को पराभूत किया। यमुना के किनारे बसे इसके प्रासाद की रानियाँ जब यमुना में जल विहार करती थीं तो उनके छूटे हुए चन्दनादि अंगरागों से यमुना का जल गंगाजल के समान श्वेत दिखने लगता था। कालिय नाग द्वारा उपहार में दी गयी मणि को वक्ष पर पहने वह कौस्तुभधारी कृष्ण को लजाता था। उसका कुबेरोद्यान सदृश वृन्दावन अत्यन्त मनोरम था। गोवर्धन पर्वत सुषेण के राज्य में था जिसके सुगन्धित शिलातलों पर बैठ कर वर्षा में मयूरों का मादक नृत्य देखा जा सकता था—

नीपान्वयः पार्थिव एष यज्वा गुणैर्यमाश्रित्य परस्परेण।

सिद्धाश्रमं शान्तमिवैत्य सत्त्वै नैंसर्गिकोऽप्युत्ससृजे विरोधः॥

यस्यावरोधस्तन-चन्दनानां प्रक्षालनाद् वारि-विहारकाले।

कलिन्दकन्या मथुरां गताऽपि गङ्गोर्मिसंसक्त-जलेव भाति॥

त्रस्तेन ताक्ष्यात् किल कालियेन मणिं विसृष्टं यमुनौकसा यः।

वक्षः स्थलव्यापि रुचं दधानः सकौस्तुभंह्रेपयतीवकृष्णम्॥

वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरियौवनश्रीः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धन कन्दरासु ।।रघु. ६-४५-५१

कलिङ्ग राज—कलिङ्ग जनपद का राजा था हेमाङ्गद । वह अपने भुज में अङ्गद पहनता था । उसने अपने शत्रु पक्ष को नष्ट कर दिया था । महेन्द्र पर्वत तथा समुद्र पर उसका अधिकार था । इसकी सेना में हाथियों का वाहुल्य था । सतत वाण चलाने के कारण उसकी भुजाओं में मौर्वी की रेखायें बन गयी थीं । प्रासाद समुद्र के निकटवर्ती होने से प्रातःकाल उसकी निद्रा लहरों की ध्वनि से भङ्ग होती थी । यामों को सूचित करने के लिये तूर्य बजाने की आवश्यकता नहीं होती थी—

अथाङ्गदाश्लिष्ट-भुजं भुजिष्या हेमाङ्गदंनाम कलिङ्गनाथम् ।

आसेदुषीं सादित-शत्रुपक्षं वालामवालेन्दु-मुखीं वभाषे ।।

असौ महेन्द्राद्रि-समानसारः पतिर्महेन्द्रस्य महोदधेश्च ।

ज्याघात रेखे सुभुजो भुजाभ्यां विभर्ति यश्चापभृतां पुरोगः ।

यस्यात्मनः सद्मनि संनिकृष्टो मन्द्रध्वनित्याजित-यामतूर्यः ।

प्रासादवातायन-दृश्य-वीचिः प्रवोधयत्यर्णव एव सुप्तम् ।।रघु. ६-५३-५६

इसके प्रासाद के समीप समुद्र का तट ताली वनों से घिरा था और वायु निकटस्थ द्वीपों से लवङ्ग के पुष्प उडाकर वहाँ लाती थी ।

उरगपुर नरेश—पाण्ड्य जनपद तथा उसकी राजधानी उरगपुर का पाण्ड्य राज चन्दनादि का लेप करता था । विन्ध्याचल के संस्तम्भक, समुद्रपायी ऋषि इस नृपति से जब वह अश्वमेघ के पश्चात् अवभृथ स्नान कर आर्द्रवस्त्र ही पहने होता था, सौस्नातिक पूछने आते थे । इसने शिव से ब्रह्मशिरा नामक दुर्लभ अस्त्र प्राप्त किया था जिससे डरकर रावण ने इसके साथ सन्धि कर ली थी जिससे वह उसके जनस्थान पर आक्रमण न करे । यह बड़ा कुलीन माना जाता था । वह रत्नपूर्ण समुद्र की मेखला वाली भूमि का स्वामी था—

पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन ।

प्रीत्याश्वमेधावभृथार्द्रमूर्तेः सौस्नातिको यस्यभवत्यगस्त्यः ।।

असुं हरादाप्तवता दुरापं येनेन्द्रलोकावजयाय दृप्तः ।

पुरा जनस्थान-विमर्द-शङ्की सन्धायलङ्काधिपतिः प्रतस्थे । रघु. ६-६०-६३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्दुमती की प्रतीहारी ने उसे पाण्ड्य नरेश से विवाह करने पर 'रत्नानु विद्धार्णव मेखला, पृथिवी की सपत्नी बनने का प्रलोभन दिया और कहा कि इस नृप का आधिपत्य सम्पूर्ण मलय प्रदेश पर है जहाँ ताम्बूल वल्लियों से वेष्टित सुपारी के वृक्ष हैं और इलायची की लतायें चन्दन वृक्षों से लिपटी रहतीं है और तमाल के पत्तों की चादर बिछी रहती है। यह राजा इन्दीवर के समान श्याम वर्ण था—

ताम्बूल-वल्ली-परिणद्ध-पूगास्वेलालतालिङ्गित-चन्दनासु।

तमालपत्रास्तरणासु रन्तुं प्रसीद शश्वन्मलय-स्थलीषु॥

इन्दीवर-श्यामतनु नृपोसौ त्वं रोचना-गौर-शरीरयष्टिः। वही ६४, ६५

उत्तर कोसल नरेश—इक्ष्वाकु वंशीय राजाओं के अधीन कोसल जनपद की राजधानी अयोध्या थी। इस वंश का राजा गुणों में श्रेष्ठ होने के कारण ककुत्स्थ कहलाता था। इससे उसकी सन्तान स्वयं को काकुत्स्थ कहने लगी। आगे चलकर यह इस वंश का विरुद ही बन गया। पौराणिक मान्यता के अनुसार राजा ककुत्स्थ ने महोक्ष रुपधारी इन्द्र के ककुद् पर सवार होकर असुरों की सेना का विनाश किया था और इन्द्र के साथ उसके अर्धासन का भागी बना था।

कुकुत्स्थ के वंश में अति प्रसिद्ध कुलदीपक राजा दिलीप उत्पन्न हुए। उन्होंने इन्द्र के द्वेष से बचने के लिये केवल निन्यानवे अश्वमेघ यज्ञ कर विराम ले लिया। दिलीप के शासन काल में सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में बीच मार्ग पर सो गयी कामिनियों के वस्त्र सरकाने का साहस वायु तक नहीं करता था फिर मनुष्य की तो गिनती ही किया? उसका पुत्र रघु उस कोसल के पैतृक राज्य का शासन कर रहा है। रघु ने विश्वजित् नामक महाक्रतु का अनुष्ठान किया और उसमें चारों दिशाओं से संचित धन सम्पत्ति दान कर स्वयं मृत्पात्र शेष रह गये। उन रघु का यश पर्वतों पर, पाताल में, सामुद्रिक प्रदेशों, ऊर्ध्वलोकों और समग्र पृथिवी पर फैला हुआ है। वस्तुतः उसके विस्तार को नाप पाना संभव नहीं है। जैसे इन्द्र का पुत्र जयन्त है, वैसे ही रघु का राज कुमार अज। यह भी पिंता के समान पृथिवी के गुरु भार को अपने स्कन्धों पर वहन कर रहा है। कुल, कान्ति, चढ़ती आयु और विनयादि प्रमुख गुणों में सर्वथा श्रेष्ठ था। अज—

इक्ष्वाकु-वंश्यः ककुदं नृपाणां ककुत्स्थ इत्याहित-लक्षणोभूत।

काकुत्स्थ शब्दं यत उन्नतेच्छाः श्लाध्यं दधत्युत्तरकोसलेन्द्राः॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काकुत्स्थ शब्दं यत उन्नतेच्छाः श्लाध्यं दधत्युत्तरकोसलेन्द्राः ॥

महेन्द्रमास्थाय महोक्षरुपं यः संयति प्राप्त-पिनाकिलीलः ।

उपेयुषः स्वामपि मूर्तिमग्र्यामर्धासनं गोत्रभिदोऽधि तस्थौ ।

जातः कुलेतस्य किलोरुकीर्तिः कुलप्रदीपो नृपतिर्दिलीपः ।

अतिष्ठदेकोनशतक्रतुत्वे शक्राभ्यासूयाविनिवृत्तये यः ॥

तस्मिन् मही शासति वाणिनीनां निद्रांविहारार्ध-पथे गतानाम् ।

वातोपि नासंस्त्रयदंशुकानि को लम्वयेदाहरणाय हस्तम् ॥

पुत्रोरघुस्तस्य पदं प्रशास्ति महाक्रतो र्विश्विजितः प्रयोक्ता ।

चतुर्दिगावर्जित-सम्भृतं यो मृत्पात्र-शेषामकरोद् विभूतिम् ॥

ऊर्ध्वं गतं यस्यन चानुवन्धि यशः परिच्छेतुमियत्तयालम् ।

असौ कुमारस्तमजोऽनुजात स्त्रिविष्टपस्येव पतिर्जयन्तः ।

कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्च तैस्तैर्विनय- प्रधानैः ।

त्वमात्मनस्तुल्यममुं वृणीष्व रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन ॥ रघु. ६-७१ से ७९

कालिदास ने इन्दुमती स्वयंवर के सम्बन्ध में भारत की चारों दिशाओं के जनपदों और उनके शासकों की चर्चा की है किन्तु वह न तो ऐतिहासिक या पौराणिक तथ्यों को ही प्रकाशित करती है और न इन जनपदों या उनके शासकों के विषय में ही जानकारी देती है । ऐसा भी नहीं लगता कि कालिदास का उनसे प्रत्यक्ष परिचय था । उन्होंने मगधराज की प्रशस्ति ४, अङ्ग की ३, अवन्ति की ४, अनूप की ६, शूरसेन की ७, कलङ्ग की ४, पाण्ड्य की ६ और उत्तर कोसल के नरेश की प्रशस्ति-१० श्लोकों में प्रस्तुत की है । उनके इन वर्णनों में न्यूननाधिक्यों का कारण पुराणों में प्राप्त न होने या होने वाले उल्लेख हैं । हाँ, उन्हें इन राज्यों की राजधानियों और राज्य की विशिष्ट नैसर्गिक सुषमा के विषय में स्थूल जानकारी थी । सम्बन्धित राजाओं का जो वर्णन उन्होंने किया है उससे नहीं प्रतीत होता कि एक दो को छोड़कर अन्य किसी राजा का ठीक नाम तक उन्हें ज्ञात था । अतः इसके आधार पर उनकी भौगोलिक जानकारी के विषय में कोई निष्कर्ष निकाल पाना कठिन है । और जो बातें उन्होंने कही हैं उन्हें प्रवुद्धजन प्रायः जानते थे । इन बातों की जानकारी तीर्थ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यात्रियों और व्यापारियों के मुख से सामान्य लोगों तक को इस युग में मिल जाती थी।

कालिदास के भौगोलिक ज्ञान का पता उनके द्वारा रघु दिग्विजय से चल सकता है। प्राचीन प्रथा के अनुसार राज-धुरा सम्हालने से पूर्व राजकुमार दिग्विजय के लिये निकलते थे। वे या तो अश्वमेघ यज्ञ के अश्व के साथ जाते थे या स्वयं ही चतुरङ्गिणी सेना लेकर राज्य की सीमाओं से लगे अन्य राज्यों को अपनी अधीनता स्वीकार कराकर उन्हें अपना करद बनाने के लिये निकलते थे। किसी भी प्रकार सिंहासन पर बैठने से पूर्व उन्हें अपनी शक्ति का प्रमाण देना होता था। यदि राज्य बड़ा हुआ और निकटस्थ राजाओं से युद्ध की आवश्यकता न हुई तो उनकी विजय यात्रा का क्षेत्र बड़ा हो जाता था। रघु की विजय यात्रा सारे देश की परिक्रमा जैसी थी। कालिदास के अनुसार रघुवंशीय राजा आसमुद्र क्षितीश थे। वे "अनन्यशासनामुर्वी" का एक पुरी के समान शासन करने वाले थे—अर्थात् एकच्छत्र शासक। रघु इस वंश का सर्वश्रेष्ठ चक्रवर्ती सम्राट था। इसीलिये कवि ने उनकी विजय यात्रा का विस्तार के साथ वर्णन किया है। दिलीप ने अपने पुत्र रघु को राज्य का भार सौंपा तब वह अपने वीर्य की परीक्षा इन्द्र के साथ होमतुरंग की रक्षा के लिये युद्ध करके दे चुका था। इसीलिये उसे शक्ति का और प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं थी किन्तु उसके गद्दी पर बैठते ही विरोधी राजाओं ने सिर उठाना प्रारम्भ कर दिया—

दिलीपानन्तरं राज्ये तं निशम्य प्रतिष्ठितम्

पूर्वं प्रधूपितो राज्ञां हृदये ऽग्निरिवोत्थितः ।। रघु. ४-२

अतः यह आवश्यक हो गया कि चक्रवर्तित्व के दृढ़ीकरण के लिये चारों दिशाओं के राज्यों को अपने छत्र के नीचे लाया जाय। उस समय शरद ऋतु के आने पर विजय यात्रा का प्रारम्भ होता था। सो शरद आ गयी और रघु को "लब्ध प्रशमन- स्वस्थ" बनाकर द्वितीय पार्थिव श्री के रूप में प्रकट हुई—

लब्ध-प्रशमन-स्वस्थमथैनं समुपस्थिता।

पार्थिव-श्रीर्द्वितीयेव शरत् पङ्कजलक्षणा। वही ४-१४

और रघु दिग्विजय के लिये चल पड़ा। सर्वप्रथम वह प्राची की ओर बढ़ा। यह दिशा यों भी मङ्गल- सूचक मानी जाती रही हैं। छोटे-छोटे पौरस्त्य जनपदों को जीतता हुआ वि महोदधि के तालीवनों से श्यामतट के समीप पहुँच गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पौरस्त्य जनपद

पौरस्त्यानेवमाक्रामंस्ताँस्ताञ्जनपदाञ्जयी

प्राप तालीवनश्याममुपकण्ठं महोदधेः ॥ रघु. ४-३४

सुह्म

वहाँ उसका सामना सुह्मजनपद से हुआ किन्तु सुह्म नरेश ने वेतस के समान उसकी सेना के पूर के सामने झुककर स्वयं को बचा लिया—

आत्मा संरक्षितः सुह्मैर्वृत्तिमाश्रित्य वैतसीम्। वही ३५

वंग

फिर रघु ने वंग जनों को जो नावों के सहारे प्रतिरोध करने गये थे, उखाड़ फेंका और गाङ्गेय क्षेत्र में अपने जय- स्तम्भ गाड़ दिये—

वङ्गानुत्खाय तरसा नेता नौ-साधनोद्यतान्।

निचखान जयस्तम्भान् गङ्गास्त्रोतोन्तरेषु सः ॥ वही ३६

उन लोगों ने रघु को पर्याप्त उपहार दिये और बड़े धान की पौध की तरह जो एक स्थान से उखाड़कर अन्यत्र प्रतिरोपित की जाने पर अधिक उपज देती है, उन्होंने पैरों तक झुककर रघु को सर्वर्धित किया—

आपाद-पद्म-प्रणताः कलमा इव ते रघुम्।

फलैः संवर्धयामासुरुत्खात-प्रतिरोपिताः ॥ वही ३७

कलिङ्ग

उसने हाथियो से सेतु बनाकर कपिशा नदी को पार किया। उत्कल लोगों ने उसे आगे मार्ग बताया। तब वह कलिङ्ग की ओर चल दिया—

सतीर्त्वा कपिशां सैन्यैर्वद्ध-द्विरदसेतुभिः।

उत्कलादर्शितपथः कलिङ्गाभिमुखं ययौ ॥ वही ३८

और उससे महेन्द्र पर्वत पर अपना झण्डा गाड़ दिया। वहाँ कलिङ्ग राज ने हाथियों की सेना लेकर अस्त्रों से उसका सामना किया किन्तु शत्रुओं की भयंकर नाराच वाणों की वर्षा को सहन कर रघु ने जयश्री का वरण किया। वहाँ उसके योद्धाओं ने आपानभूमि का निर्माण कर ताम्बूल के पत्तों में नारिकेलासव (ताड़ी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का पान किया। रघु ने महेन्द्रनाथ को पकड़कर छोड़ दिया। उसकी श्री का तो हरण कर लिया किन्तु भूमि पर उसी का स्वामित्व बना रहने दिया।

प्रतिजग्राह कालिङ्ग स्तमस्त्रै र्गजसाधनः। वही ४०

द्विषां विषह्य काकुत्स्थ स्तत्रताराचदुर्दिनम्।

सन्मङ्गल-स्नातइव प्रतिपेदेजय-श्रियम्॥ वही ४१

ताम्बूलानां दलैस्तत्र रचितापान-भूमयः

नारिकेलासवं योधाः शात्रवंचपपुःर्यश। वही ४२

गृहीत- प्रतिमुक्तस्य स धर्म-विजयी नृपः।

श्रियं महेन्द्रनाथस्यजहार नतु मेदिनीम्। वही ४३

पाण्ड्य

पूर्व दिशा को विजित कर फलयुक्त सुपारी के वृक्षों से वेष्टित समुद्र के किनारे किनारे रघु ने दक्षिण दिशा की ओर प्रयाण किया। उसके हाथियों ने कावेरी नदी को पार किया तो नदी के जल का हाथियों के मद से गन्ध और स्वाद ही बदल गया। उसने मलयगिरि की उपत्यका में जहाँ मरीच के वनों में उद्भ्रान्त हारीत पक्षी उड़ रहे थे, डेरा डाला। यहाँ इलायची के फलों की रेणु की अधिकता थी। और चन्दन के वृक्षों में सर्प लिपटे रहते थे। पाण्ड्य देश के अधिपति रघु के प्रताप को नहीं सह सके। पाण्ड्य लोगों ने समुद्र से तथा ताम्रपर्णी नदी से एकत्र किये हुए मोती रघु के चरणों पर लाकर रख दिये—

मारीचोद्भ्रान्त-हारीता मलयाद्रेरुपत्यकाः।

ससञ्जुरश्व-क्षुण्णानामेलानांफलरेणवः।

योगिवेष्टन-मार्गेषु चन्दनानां समर्पितम्।

नास्त्रसत् करिणां ग्रैवे त्रिपदीच्छेदिनामपि।

तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे।

ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव संचितम्। रघु. ४-४६ से ४९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपरान्त

तत्पश्चात् रघु के सैन्य ने चन्दन वृक्षों से व्याप्त मलय और दर्दुर पर्वतों पर विहार किया और क्रमशः सह्य पर्वत को पार कर गये। मलय और दर्दुर पृथिवी के चन्दन- लिप्त स्तनों के समान लग रहे थे और समुद्र रुप अंशुक से मुक्त सह्य पृथिवी के नितम्ब के समान लग रहा था। और रघु की सेनायें अपरान्त के विजय के लिये बढ़ती जा रहीं थीं। उन्हें देखकर केरल में भय व्याप्त हो गया। स्त्रियाँ इधर उधर भागने लगीं। सैनिकों के वस्त्र मुरला नदी के वायु से उड़ाये हुए केतकी के रज से सुगन्धित हो गये। एक ओर दौड़ते हुए अश्वों के कवच झनझना रहे थे तो दूसरी ओर ताल वृक्षों की ध्वनि आकाश को गुँजा रही थी। हाथी खजूरों के वृक्षों में बाँध दिये गये तो भ्रमर नाग केसर के वृक्षों को छोड़कर उनकी मदवासित कनपटी पर आ बैठे। अन्ततः अपरान्त के राजा ने पराजय स्वीकार कर रघु का करद बनना भी अंगीकार कर लिया। यहाँ रघु ने त्रिकूट को अपना जय स्तम्भ बनाया—

स निर्विश्य यथाकामं शैलौ मलय-दर्दुरौ।

स्तनाविव दिशस्तस्यास्तटेष्वालीनचन्दनौ॥ वही ५१

असह्य विक्रमासह्यं दूरान्मुक्तमुदन्वता।

नितम्बमिव मेदिन्याः स्रस्तांशुकमलङ्घयत्॥ वही ५२

भयोत्सृष्ट-विभूषाणां तेन केरलयोषिताम्।

अलकेषु चमूरेणु श्चूर्ण-प्रतिनिधीकृतः॥ वही ५४

मुरला-मारुतोद्धूतमगमत् कैतकं रजः।

तद्योध-वारवाणाना मयत्नपट-वासताम्॥ वही ५५

अवकाशं किलोदन्वान् रामायाभ्यर्थितो ददौ

अपरान्त-महीपाल-व्याजेन रघवे करम्॥ वही ५८

त्रिकूटमेव तत्रोच्चैर्जयस्तम्भं चकार सः। वही ५९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पारसीकराज्य

तत्पश्चात् रघु ने स्थल मार्ग से पारसीक प्रदेश को जीतने के लिये प्रस्थान किया और वहाँ जाकर यवनी स्त्रियों के मुख के मधुमद जनित सौन्दर्य का अपहरण कर लिया। उसका अश्व- सेना से सज्जित यवनों के साथ तुमुल संग्राम हुआ जिसमें धूलि के कारण कुछ दिखायी भी नहीं पड़ रहा था। इस युद्ध में रघु के सैन्य ने भल्लों (विशेष वाणों) से यवनों के दाढ़ी वाले सिरों को काटकर उनसे भूमि को पाट दिया। वे सिर मधुमक्खियों से भरे मधु के छत्तों जैसे दिख रहे थे। जो मरने से बच गये वे अपने शीर्षत्राण उतार कर रघु की शरण में आ गये—

पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थल- वर्त्मना। वही ६०

यवनी- मुख- पद्मानां सेहे मधुमदं न सः। वही ६१

संग्रामस्तुमुलस्तस्य पाश्चात्यैरश्व- साधनैः।

शार्ङ्ग- कूजित- विज्ञेयप्रतियोधे रजस्यभूत्॥ वही ६२

भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम्।

तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव॥ वही ६३

अपनीत- शिरस्त्राणाः शेषास्ते शरणं ययुः॥ ६४

और उसके योद्धाओं ने उस द्राक्षा के लिये प्रसिद्ध भूभाग में चर्मासन बिछाकर अङ्गूरी मद्य से अपनी थकान दूर की।

हूण राज्य

पश्चिम दिशा के राजाओं पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् रघु ने उत्तर दिशा के राज्यों को जीतने के लिये प्रस्थान किया—

ततः प्रतस्थे कौवेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम्। वही ६६

सिन्धु नदी के किनारे पहुँचकर उसके अश्वों ने लोट-पोट कर मार्ग की थकावट दूर की और अपने कन्धों में लगे कुंकुम- केसरों को झाड़ा। वहाँ रघु ने हूणों का वध किया। जिसके कारण उनकी स्त्रियाँ छाती और कपोल पीट-पीट कर रो रही थीं—

विनीताध्व-श्रमास्तस्य सिन्धुतीर-विचेष्टनैः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धाँल्लग्नकुङ्कुमकेसरान्।। वही ६७

तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्त-विक्रमम्।

कपोल-पाटलादेशि वभूव रघु-चेष्टितम्।। वही ६८

कम्बोज

कम्बोज अखरोटों का प्रदेश है। वहाँ के लोग रघु की शक्ति का सामना करने में स्वयं को असमर्थ पाकर ऐसे ही झुक गये जैसे वहाँ के अखरोट गजों के सामने झुक गये थे। वहाँ के राजा ने बढ़िया घोड़े और बहुमूल्य सुवर्ण राशि रघु को भेंट की—

कम्बोजाः समरे जेतुं तस्य वीर्यमनीश्वराः।

गजालान-परिक्लिष्टै रक्षोटैः सार्धमानताः।। वही ६८

तेषां सदश्वभूयिष्ठा स्तुङ्गा द्रविण-राशयः।

उपदा विविशुः शश्वन्नोत्सेकाः कोसलेश्वरम्।। वही ७०

पर्वतीय गण

कम्बोज विजय के पश्चात् रघु ने हिमालय पर चढ़ाई प्रारम्भ की जहाँ गुफाओं में सिंहों का आवास था। मार्ग में उसका स्वागत गंगा की ठण्ढी वायु ने किया जो भूर्ज वृक्षों में मर्म- ध्वनि करती और कीचकों में संगीत-स्वर उत्पन्न करती हैं। वहाँ की भूमि उसके कस्तूरी मृगों के बैठने से सुगन्धमयी हो गयी थी।

हिमालय में रात्रि को दीपक के समान प्रकाश देने वाली ज्योतिर्लतायें थीं। उनके प्रकाश से हाथियों के गले की शृंखलायें चमक उठती थीं। एक पड़ाव को छोड़कर रघु जब दूसरे पड़ाव की ओर बढ़ा तो वहाँ के निवासी किरातों ने देवदारू की उखड़ी छाल की, जिनसे उसके हाथी बाँधे गये थे, ऊँचाई को देखकर सेना के गजों की ऊँचाई का अनुमान कर लिया। यहाँ रघु का पर्वतीय गणों के साथ घोर युद्ध हुआ। ऐसा युद्ध जिसमें नाराचवाणों और फेंके जाते हुए पत्थरों की परस्पर रगड़ से अग्नि उत्पन्न जाती थीं—

ततो गौरी-गुरुं जेतुमारुरोहाश्व-साधनः। रघु. ४-७१

भूर्जेषु मर्मरीभूताः कीचक-ध्वनि-हेतवः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गङ्गा- शीकरिणो मार्गे मरुतस्तं सिषेविरे ।। ७३

विशश्रमुर्नमेरुणां छायामध्यास्य सैनिकाः । ७४

आसन्नोषधयो नेतुर्नक्तमस्नेदीपिकाः । ७५

तत्रजन्यं रघोर्घोरंपर्वतीयैर्गणैरभूत् ।

नाराचक्षेपणीयाश्म-निष्पेष-प्रवितानलम् ।। ७७

उत्सव संकेत

उत्सव- संकेत गण के किन्नरों को पराजित कर रघु ने उनके अस्त्र छुड़वा कर उनसे उनके परम्परागत गान के रूप में अपनी भुजाओं द्वारा अर्जित विजय के गीत गवाये । वे लोग हाथों में भेंटें लेकर रघु के सम्मुख उपस्थित हुए । जब रघु को हिमालय की सम्पत्ति और हिमालय को रघु के वीर्य का ज्ञान हुआ तब वह रावण द्वारा तुलित कैलास की उपेक्षा कर हिमाद्रि पर अपनी कीर्ति राशि को रखकर नीचे उतरा—

शरैरुत्सव- संकेतान् स कृत्वा विरतोत्सवान् ।

जयोदाहरणं बाह्वो र्गापयामास किन्नरान् ।। रघु. ४-७८

परस्परेण विज्ञातस्तेषूपायन- पाणिषु ।

राज्ञो हिमवतः सारो राज्ञः सारो हिमाद्रिणा । ७९

तत्राक्षोम्यं यशोराशिं निवेश्यावरुरोह सः । ८०

कामरुप प्राग्ज्योतिष

जब रघु की सेना ने लौहित्य नद पार कर लिया तो प्राग्ज्योंतिष का राजा घबरा गया । राजा ही नहीं, वे कालागुरु वृक्ष भी जिनसे उसके हाथी बाँधे गये थे, काँपने लगे । काम रूप के उस राजा ने रघु को बहुत गज भेंट किये- वे गज जिनसे वह अन्य शत्रुओं की सेना का प्रतिरोध करता था । उसने रत्नों से रघु के चरणों की पूजा की—

चकम्पे तीर्ण-लौहित्ये तस्मिन् प्राग्ज्योतिषेश्वरः । रघु. ४-८१

तमीशः कामरुपाणामत्याखण्डल-विक्रमम् ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भेजे भिन्न-कटैर्नागैरन्यानुपरुरोध यैः ॥ ८२

कामरूपेश्वरस्तस्य छायामानर्च पादयोः ।

रत्नपुष्पोपहारेण हेमपीठाधिदेवताम् ॥ ८४

उपर्युक्त ग्यारह जनपदों के वर्णन में कवि ने स्थानीय भूगोल और वहाँ के निवासियों की प्रामाणिक जानकारी प्रस्तुत की है । इनमें कलिङ्ग और पाण्ड्य का उल्लेख इन्दुमती-स्वयंवर के प्रकरण में भी हुआ है । कालिदास के समय में ये दोनों विस्तृत और शक्तिशाली जनपद थे । सम्भवतः हिमालय पर कोई एक राजा नहीं था, प्रत्युत विभिन्न किरात जातियों के पृथक्-पृथक् गण थे, जिनका एक प्रधान होता था ।

113486

राज्य व्यवस्था

मनु- प्रतिपादित मार्ग

कालिदास मनु द्वारा प्रतिपादित समाज व्यवस्था और राज तन्त्र के समर्थक हैं । वह ऐसी प्रजा की कल्पना करते हैं जो मनु के मार्ग पर चलती हो । मनु विधि-पूर्वक शासन करने वाले राजाओं में प्रथम थे । वह विवस्वान् के पुत्र और मनीषियों द्वारा समादृत थे—

वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम् ।

आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव ॥ रघु. १-११

मनु का मार्ग है श्रुति-स्मृति- प्रतिपादित वर्ण-व्यवस्था । धर्म और नीति के विषय में कालिदास स्वयं लीक-लीक चलने वालों में थे । इसीलिये उनके राजा, राज्य और शासन पद्धति भी क्षुण्ण मार्ग से इधर-उधर नहीं होते । अशोक के बाद भारत की सुबद्धता को खण्ड-खण्ड होते उन्होंने देखा था । पुष्यमित्र के पश्चात् गुप्तवंशीय राजा प्रथम थे जिन्होंने फिर से देश को सुगठित और सुसम्बद्ध किया था । कालिदास इन चार साढ़े चार सौ वर्षों के आन्तरिक कलह और उससे जन्य जन-वेदना को समझते थे । इसीलिये उन्होंने शुंग वंशीय पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र को अपने नाटक का नायक बनाया । यह शुंग वंश ही था जिसने विदेशी आक्रान्ताओं से मर्दित उत्तर प्रदेश और राजस्थान को मुक्त किया तथा देव मूर्तियों का व्यापार करने वाले वेदनिन्दक मौर्यों को समाप्त कर भारत में फिर से उदार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शासन और वैदिक यज्ञयाग की परम्परा को केवल पुनरुज्जीवित ही नहीं किया, अपितु स्वयं भी दो दो अश्वमेध किये थे। पतञ्जलि के व्याकरण महाभाष्य से इस बात का स्पष्ट पता चलता है[१]। स्वयं 'मालविकाग्निमित्र' के पंचम अंक में कवि ने इस बात को दोहराया है। इस नाटक के निर्माण के पीछे कवि की इच्छा ग्रीकों को पराजित कर भारत को एक सूत्र में बाँधने वाले मनुवर्त्मानुयायी शुङ्ग राजाओं के प्रति सम्मान व्यक्त करने की रही है। अन्यथा वह पुरुरवा और दुष्यन्त के समान किसी पौराणिक राजा को नायक चुन सकता था।

मनु ने राजा के लिये जिन गुणों और अर्हताओं का विधान किया है, वे ही कालिदास ने रघुवंश के नायकों-दिलीप, रघु और कुश के पुत्र अतिथि में विस्तार के साथ गिनायी हैं। ये राजा लोग 'आसमुद्र क्षितीश' थे। इनका रथ नाक तक जाता था। ये अपराधी को उसके अपराध के अनुसार दण्ड देते थे। व्यक्तिगत जीवन में समय पर सोने और उठने वाले, यज्ञानुष्ठाता, अतिथि परायण, दानी, मितभाषी, यशस्वी, लोकजित् तथा आश्रम-मर्यादा-पालक थे—(रघु. १-५ से ८)। ये शारीरिक दृष्टि से सब प्रकार बलिष्ठ और प्रज्ञावान थे। प्रजा के कल्याण के लिये ही उससे कर लेते थे। सेना रखते अवश्य थे किन्तु निर्भर अपनी बुद्धि तथा शास्त्रों पर ही रहते थे। उनकी बातों का पता किसी को नहीं चल पाता। आकार और इंगितों से उनके मन की बात जानना कठिन था। परिणाम से पूर्व उनके उपक्रम का बोध किसी को नहीं हो पाता था। राजा अपने सन्तान के समान प्रजा की देख रेख करता था। उनके भरण पोषण, रक्षण और शिक्षण (विनयाधान) की व्यवस्था करता था। किसी को दण्ड देता था तो समाज में मर्यादा वनाये रखने के लिये। उसके धर्म, अर्थ और काम सम्बन्धी कार्यों में परस्पर सन्तुलन और समन्वय रहता था। राज्य में तस्कर नहीं थे। यह शब्द केवल शब्द कोश में मिलता था—(रघु. १-१३ से २९)।

इस प्रकार कालिदास राजा में बुद्धिमता, वीरता तथा अन्य श्रेष्ठ मानवीय गुणों के साथ साथ प्रजा के रंजन और कल्याण की भावना को अपरिहार्य मानते हैं। वह उसके सारे गुणों का पर्यवसान 'परार्थ' में देखना चाहते हैं। उनके लिये राजन् शब्द की अन्वर्थता ही प्रजारंजन में है—

तथा हि सर्वे तस्यासन् परार्थैक-फलागुणाः। रघु. १-२९

---

१. देखिये लेखक कृत "पतंजलिकालीन भारतवर्ष"।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा—

यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा।

तथैव सो ऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृति-रञ्जनात्॥ रघु. ४-१२

एकच्छत्र राज्य

उदार राजतन्त्र के साथ वह देश को एक छत्र के अधीन देखना चाहते थे। उन्हें बौद्धकाल के गणतन्त्रों की दुरवस्था और उनके बीच चलने वाले कलह का ज्ञान था। इस लिये वह ऐसी व्यवस्था चाहते थे जिसके अन्तर्गत जनपदों के अपने अपने शासक या राजा भले ही रहें किन्तु वे सब एक सम्राट् के नियन्त्रण के अन्तर्गत हों और विवादास्पद विषयों में निर्णायक स्वर सम्राट् का हो जिससे सारा देश एक नगर-सा लगे—

स वेला-वप्रवलयां परिखीकृत-सागराम्।

अनन्य-शासनामुर्वीं शशासैकपुरीमिव॥ रघु. १-३०

पूर्वजों के समान कुश भी चक्रवर्ती सम्राट् था—

पौत्रः कुशस्यापि कुशेशयाक्षः ससागरां सागर-धीर-चेताः।

एकातपत्रां भुवमेकवीर पुरार्गला-दीर्घ-भुजो बुभोज॥ रघु. १८-४

कालिदास ने अभि. शाकु. में दो बार इस बात को दोहराया है। दुष्यन्त की तेजस्विता को लक्ष्य कर ऋषि कुमार कहता है—

नैतच्चित्रं यदयमुदधि-श्याम-सीमां धरित्री-

मेकः कृत्स्नां नगर-परिघ प्रांशुवाहु र्विभर्ति॥ शाकु. २-१६

और काश्यप शकुन्तला को आशीष देते हुए उसे 'चतुरन्त मही- सपत्नी' तथा उसके भावी पुत्र को 'अप्रतिरथ' कहते हैं जिसका समग्र भारत पर एकच्छत्र शासन है।

लोक कल्याण की भावना

कालिदास का इष्ट राजा नहीं, प्रजा है। राजा उनके लिये साधन मात्र है। वह किसी सम्राट् की विभव-सम्पदा से प्रभावित नहीं होते। उनका माप- दण्ड है, प्रजा का कल्याण। अपने भरत- वाक्यों तक में वह इसका ध्यान रखते हैं। मालविकाग्निमित्र में कहते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आशास्यमीति-विगम-प्रभृति प्रजानां

संपत्स्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे। ५-२

विक्रमोर्वशीयम् में वह—

सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु। ५-२५

के द्वारा जन कल्याण की कामना करते हैं तो जरावस्था में लिखे शाकुन्तल के अन्त में भी वह सम्राट् से प्रजाहित की आशा करते हैं—

प्रवर्ततां प्रकृति-हिताय पार्थिवः। ७-३५

राजा का प्रमुख कर्तव्य जनता के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करना है। कालिदास ने इसे क्षत से रक्षा कहा है—दिलीप शिव के अनुचर से कहते हैं—

क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दः भुवनेषु रूढः। रघु. २-५३

और जब देखते हैं कि बल के द्वारा वह अपने न्यास-नन्दिनी को नहीं छुड़ा सकते तो उसके बदले अपने शरीर तक का त्याग करने को प्रस्तुत हो जाते हैं—

सेयं स्वदेहार्पण-निष्क्रयेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः। वही ५५

रघु भी पिता के न्यास की रक्षा के लिये इन्द्र के विरुद्ध शस्त्र उठाता है—

गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते न खल्वनिर्जित्य रघुंकृती भवान्। ३-५१

राजा और शस्त्र- विद्या

राज्य तथा प्रजा की रक्षा के लिये राजा का शस्त्र- विद्या में निपुण होना आवश्यक था। उसका शरीर बलवान् एवं प्रभावशाली हो तभी वह एकाकी भी विरोधी का सामना करने में समर्थ हो सकता है। कालिदास ने राजा के बलिष्ठ शरीर एवं शस्त्राभ्यास पाटव दोनों पर बल दिया है। उनके राजा आवश्यक होने पर अकेले ही संकट का सामना करने चल पड़ते हैं। उनकी उँगलियों में प्रत्यञ्चा के चढ़ाने से किण (चिह्न) बन गये हैं। राजाओं के आदर्श देवराज इन्द्र के हाथ की अंगुलियाँ ऐरावत को चलाने के लिये थामे प्रतोद या अंकुश से अंकित है—

सुरद्विपास्फालन-कर्कशाङ्गुलौ. . . स्वनाम-चिह्नं चिचखान सायकम्।

शाकुन्तल में वैखानस दुष्यन्त के भुज को 'मौर्वी किणाङ्क" बतलाता है।

रम्यास्तपोधनानामपहत-विघ्नाः क्रियाः समवलोक्य।

ज्ञास्यसि कियद् भुजो मे रक्षति मौर्वी-किणाङ्क इति। १-१२

और शरीर-सम्पत्ति के विषय में वह कहते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यूढोरस्को वृष-स्कन्धः शाल-प्रांशुर्महाभुजः।

क्षात्रकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इव श्रितः॥ रघु० १-१३

क्षात्र कर्म के सम्यक् सम्पादन के लिये ऊँचा कद, चौड़ा वक्ष, उठे हुए कन्धे और लम्बी भुजायें आवश्यक हैं। अन्यत्र भी वह कहते हैं—

युवा युग-व्यायत-वाहुरंसलः कपाट-वक्षाः परिणद्ध-कन्धरः।

वपुः- प्रकर्षादजयद् गुरुं रघुस्तथापि नीचै र्विनयाददृश्यत॥ वही ३-३४

व्यायाम के द्वारा अपचित (व्यर्थ मेदोरहित) शरीर में शक्ति का आधिक्य रहता है। वह ग्रीष्मातप को सरलता से सहन कर लेता है। मोटापा न होने के कारण पसीना नहीं आता। रात्रिन्दिव परिश्रम के कारण कष्ट सहिष्णु बन जाता है। पर्वतीय गज के समान बाहर से तो नहीं दिखता किन्तु उसमें बड़ा सत्त्व रहता है। साथ ही धनुष की प्रत्यञ्चा का निरन्तर ताडन करते रहने से उसकी उँगलियों के अग्रभाग कठिन हो जाते हैं।

अनवरत- धनुर्ज्यास्फालन- क्रूरपूर्व–रविकिरण सहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम्।

अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं गिरिचर इव नागः प्राणसारं विभर्ति॥

शाकु. २-४

इसीलिये दिलीप के विषय में कवि ने कहा है—

सर्वातिरिक्त-सारेण सर्व-तेजोऽभिभाविना।

स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वीं क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना। वही १-२४

ऐसे सर्वोत्कृष्ट शक्तिमान् राजा में यदि विनय न हों तो वह बड़ा अनर्थ भी कर सकता है। इसलिये मनु के समान कालिदास ने भी शासक के विनीत होने पर बहुत बल दिया है। युवराज अज अत्यन्त विनय शील है—

अधिकं शुशुभे शुभंयुना द्वितयेन द्वयमेव संगतम्।

पदमृद्धमजेन पैतृकं विनयेनास्य नवं च यौवनम्॥ रघु. ८-६

कालिदास के सारे नायक विनयशील और मर्यादा परायण हैं। संस्कृत नाटकों ने भी, जिनका नायक प्रसिद्ध राजा होता था, नेता के गुणों का उल्लेख करते हुए विनय को महत्त्व दिया है—"नेता विनीतो मधुर स्त्यागीदक्षः प्रियंवदः" दशरूपक २-१। इसीलिये दुष्यन्त कण्वाश्रम की सीमा से पूर्व ही रथ से उतर जाता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और कहता है—"तपोवन- निवासिनामुपरोधो माभूत । एतावत्येव रथं स्थापय । यावदवतरामि । सूत ! विनीत-वेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम"(शाकु. अंक १) ।

आर्त-रक्षा

बल प्रयोग की एक मर्यादा यह थी कि वह पीडित की सहायता के लिये अथवा आत्मरक्षा के लिये ही प्रयुक्त होता था । दुष्यन्त को संबोधित कर वैखानस कहता है—

आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तु मनागसि । शाकु. १-११

स्वयं विनीत किसी के अविनय को भला कैसे सहन कर सकता है । दुष्यन्त आश्रम कन्याओं को त्रस्त होता देखकर ललकार उठता है—

कः पौरवे वसुमतीं शासति शासितारि दुर्विनीतानाम् ।
अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्वि-कन्यासु । शाकु. १-२१

तपोवनों की रक्षा का दायित्व राजा पर और भी अधिक था—"राज-रक्षितव्यानि तपेवनानि नाम" शाकु. १ । इसी कारण आश्रमस्थ मुनि और विद्यार्थी अपना कार्य निश्चिन्त भाव से करते थे । वे जानते थे—

आपन्न भय-सत्रेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः । वही २-१७

अतः ज्यों ही आश्रम-कुमार आकर राजा से कहते हैं—"तत्र भवतः कुलपेतरसांनिध्याद् रक्षांसि नः इष्टि- विघ्न मुत्पादयन्ति" तो वह बिना एक क्षण ठहरे आदेश देता है—"रैवतक ! मद्वचनादुच्यतां सारथिः सवाणासनं रथमुप स्थापयेति ।" इसीलिये कण्वाश्रम से मुनिशिष्यों को आया देख राजा उनसे पूछता है—"अपि निर्विघ्न- तपसो मुनयः ?" तो वे उत्तर देते हैं—

कुतो धर्म-क्रियाविघ्नः सतां रक्षितरि त्वयि । शाकु. ५-१४

रघु और कौत्स का संवाद विख्यात ही है । विदूषक जब भयभीत होकर सहायता के लिये पुकारता है तो सबसे पहले राजा ही—'न भेतव्यं, न भेतव्यम्' कह कर यवनी से कहता है—'धनुस्तावत्' और यवनी तुरन्त हस्तावाप सहितधनुष् लाकर देती है—"भर्तः एदं हत्थावाव सहितं सरासणं ।" धनुष चलाते समय वायें हाथ को प्रत्यंचा के आघात से बचाने के लिये उसमें चर्म से बना हस्ताबाप पहनने की प्रथा थी । राजा बिना एक भी क्षण नष्ट किये धनुष् वाण ले सहायता के लिये चल पड़ता है, यह कहता हुआ—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्तानां भयमपनेतुमात्तधन्वा दुष्यन्त स्तव शरणं भवत्विदानीम् ।शाकु. ६-२७

ऐसे ही जब कुबेर- भवन से लौटती अप्सराओं को मार्ग में केशी ने पकड़ लिया और वे सहायतार्थ चिल्लायीं तो तुरन्त पुरुरवा ने कहा—"अलमा क्रन्दितेन । मामेत्य कथ्यतां कुतो भवत्यः परित्रातव्याः ? और फिर वह तुरन्त ही उर्वशी तथा चित्र लेखा को छुड़ाने चल दिया और केशी से मुक्त कराकर उन्हें सान्त्वना देता हुआ बोला—"गतं भयं भीरु सुरारि- संभवं... तदेतदुन्मीलय चक्षुरायतम्" विक्रमो. १-६ । और चित्रलेखा कृतज्ञता व्यक्त करती हुई कहती है—"आपन्नानुकम्पिना महाराजेन प्रतिहताः खलु ते त्रिदश- परिपन्थिनो हताशा दानवाः" (वही. अंक १)

राजा की दिनचर्या और तप

राजाओं की दिनचर्या कौटिल्य और मनु ने निश्चित कर दी थी । कालिदास के राजा उसका दृढ़ता के साथ पालन करते दिखायी देते हैं ।

रात्रिन्दिव-विभागेषु यथादिष्टं महीक्षिताम् ।
तत् सिषेवे नियोगेन स विकल्प-पराङ्मुखः ।। रघु. १७-४९

मन्त्रियों के साथ महत्त्व पूर्ण विषयों पर प्रतिदिन विचार करना, पूर्वाह्ण में प्रजाओं की प्रार्थना, विवादों तथा अन्य कठिनाइयों की सुनकर धर्माध्यक्ष तथा प्रधान मंत्री की सहायता से उनका निराकरण, सूर्योदय से पूर्व गुप्तचरों के समाचार, वैदेशिक विषय, राजकोष सेना आदि की व्यवस्था में राजा को अवकाश ही नहीं मिल पाता था । फिर किसी भी समय कोई आर्तजन आकर उससे अपनी व्यथा कह सकता था । अभिज्ञान शाकुन्तलम् का कञ्चुकी राजा की व्यस्तता के विषय में ठीक ही कहता है—

"कामं धर्ममनतिपात्यं देवस्य । तथापीदानीमेव धर्मासनादुत्थिताय पुनरुपरोधकारि कण्व- शिष्यागमनमस्मै नोत्सहे निवेदयितुम् । अथवा अविश्रमोयं लोकतन्त्राधिकारः"

भानुः सकृद् युक्त-तुरङ्ग एष रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति ।
शेषः सदैवाहित-भूमि-भारः षष्ठांश-वृत्तेरपि धर्म एषः ।। शाकु.५-४

चाणक्यादि नीतिविदों ने राजा का दिन बारह भागों में बाँटा है और प्रत्येक भाग के लिये कर्तव्य कर्म निर्धारित किये हैं । षष्ठ भाग विश्राम के लिये नियत है । 'षष्ठे स्वैर विहारो मन्त्रो वा सेव्यः' । याज्ञवल्क्य ने कहा है—"व्यवहाराँस्ततो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्ट्वा स्नात्वा भुञ्जीत कामतः।" व्यवहार दर्शन के पश्चात् उसे विश्राम के लिये थोड़ा समय मिलता है। वैतालिक उसकी तुलना सूर्य के साथ करता हुआ कहता है—

आलोकान्तात् प्रतिहत-तमोवृत्तिरासां प्रजानां,

तुल्योद्योगस्तव च सवितुश्चाधिकारो मतो नः।

तिष्ठत्येकः क्षणमधिपति ज्योतिषां व्योममध्ये,

षष्ठे काले त्वमपिलभसे देव विश्रान्तिमह्नः॥

सूर्य मध्याह्न वेला में क्षणभर विराम लेता हैं और राजा भी। इसी समय वह धर्मासन से उठता है। इसीलिये दुष्यन्त का कंचुकी कण्व- शिष्यों के आने पर राजा को सूचना देना नहीं चाहता। इन सब बातों को ही ध्यान में रखकर कवि ने कहा है कि राजा को क्या-क्या नहीं करना पड़ता। कुमार्ग पर चलने वालों को दण्डित कर सन्मार्ग से लगाना, पारस्परिक विवादों को शान्त करना, लोगों के प्राणों और सम्पत्ति की रक्षा करना उसी का दायित्व है। जाति विरादरी के लोग तो तभी तक साथ देते हैं जब तक आर्थिक संपन्नता रहती है किन्तु राजा तो धनी निर्धन सभी का भाई बन्धु होता है। विनयाधान द्वारा वह पिता का, कलह- शमन के द्वारा सुहृत् का और पालन के द्वारा पुत्र के कार्य का सम्पादन करता है—

नियमयसि कुमार्ग-प्रस्थितानात्तदण्डः

प्रशमयसि विवादं कल्पसेरक्षणाय।

अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम,

त्वयि तु परिसमाप्तं वन्धु-कृत्यं प्रजानाम्। शाकु. ५-८

और अपनी सन्तति के समान प्रजाओं को अपने अपने कार्य में लगाकर यह राजा दुष्यन्त शान्त मन से कुछ समय एकान्त में बिताता है। इसीलिये कञ्चुकी उसके विश्राम में विघ्न डालना उचित नहीं समझता—

प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वानिषेवतेऽशान्तमना विविक्तम्। वही ५

क्योंकि यहाँ भी उसके मन को शान्ति नहीं मिल पाती। उसकी स्थिति उस वृक्ष के समान होती है जो सूर्य के तीव्र आतप को सिर पर झेलता है किन्तु आगन्तुक के परिताप को छाया प्रदान कर दूर करता है—

स्वसुख-निरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिदिनमथवा ते वृत्ति रेवंविधैव।

अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं

शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्।। शाकु. ५-७

इसीलिये ऋषि लोग उससे कहते हैं कि आपके रहते भला धर्म- क्रिया में विघ्न कैसे हो सकता है । सूर्य के तपते हुए भला कहीं अन्धकार रह सकता है—

कुतो धर्म-क्रियाविघ्नः सतां रक्षितरि त्वयि।

तमस्तपति धर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति।। वही ५-१४

वह अपने सुख की चिन्ता न कर लोक के लिये कष्ट उठाता रहता है और यह एक दिन की बात नहीं, यह उसका प्रतिदिन का कार्य होता है । राज्य प्राप्ति से जो अभिलाषित भोग्य वस्तुएँ प्राप्त होती हैं वे मन की उत्कण्ठा या इच्छा को तो शान्त करती है किन्तु उनके परिरक्षण के लिये जो क्लेश सहने पड़ते हैं वे भी अनल्प होते हैं । इस प्रकार राज्य अपने हाथ में पकड़े हुए छत्र के समान हैं जो आतप से तो रक्षा करता है किन्तु हाथ और कन्धे को पीडा भी देता है—

औत्सुक्यमात्रमवसादयति प्रतिष्ठा क्लिश्नाति लब्ध-परिपालन-वृत्तिरेव।

नातिश्रमापनयनाय न च श्रमाय राज्यं स्वहस्त-धृत दण्डमिवातपत्रम्।।

शाकु. ५-६

मुनि कुमार इन बातों को समझते हैं । इसीलिये वे राजा को मुनि- तुल्य मानते हैं । वे उसे राजमुनि या राजर्षि कहते हैं । वे कहते हैं—"अहोदीप्तिमतो ऽपि विश्वसनीयता ऽस्य वपुषः । अथवोपपन्नमेतदृषिभ्यो नातिभिन्ने राजनि—

अध्याक्रान्ता वसतिरमुना ऽप्याश्रमे सर्वभोग्ये,

रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं संचिनोति।

अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारण द्वन्द्वगीतः

पुण्यः शब्दोमुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः।। शाकु. २-१५

मुनि लोग सब के द्वारा (अध्ययन, तप आदि) उपयोग में आने वाले आश्रम में रहते हैं तो राजा सब के काम या उपयोग के योग्य या सब भोग्य पदार्थों के आश्रय भूत गृहस्थाश्रम में निवास करता है । मुनि तप करते हैं तो यह भी प्रजा की रक्षा के लिये कष्ट सहनरूप तप करता है । मुनियों का यश स्वर्ग तक पहुँचता है तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसकी भी चारण-प्रगीत कीर्ति द्यौ तक पहुँचती है। अन्तर केवल इतना है कि वैखानस लोग ऋषि कहलाते हैं तो यह राजर्षि कहा जाता है।

दण्ड-प्रयोग

कालिदास ने रघुवंश के प्रारम्भ में महाराज दिलीप के वैयक्तिक गुणों और राजा के रूप में उनकी विशेषताओं और कार्य- पद्धति का विशद् वर्णन किया है। राजकीय दृष्टि से वे उन लोगों में थे जो दण्ड का न्यूनतम प्रयोग करने में विश्वास रखते हैं और उतना ही दण्ड-प्रयोग करते हैं जितना समाज में व्यवस्था बनाये रखने के लिये आवश्यक होता है। वह कामुकता के वशीभूत होकर एकाधिक विवाह करने वालों में नहीं थे। उनके निकट विवाह का अर्थ था सन्तान की प्राप्ति। इस प्रकार उनके द्वारा सेवित अर्थ और काम भी वस्तुतः धर्म ही बन गये थे। अर्थ के विषय में वह लोलुप नहीं थे। यदि प्रजा से कर लेते भी थे तो उस प्रजा के ही कल्याण में लगा देते थे। सेना का प्रयोग कम से कम करना और यथा संभव शास्त्रीय बुद्धि से काम लेना और अनिवार्य स्थिति में अपने शस्त्रों का प्रयोग करना उनकी नीति थी। इसी के बल पर वह समुद्र पर्यन्त भूभाग पर एक नगर के समान शासन करते थे। सम्पूर्ण देश में एक समान नियम और व्यवस्था प्रचलित थे—

स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान् परिणेतुः प्रसूतये।

अप्यर्थकामौ तस्यासन् धर्म एव मनीषिणः॥ रघु. १-२५

तथा—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो वलिमग्रहीत्। वही १८

अग्रघ्नुराददे सो ऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत्। वही २१

कालिदास ने रघु की शासन पद्धति का वर्णन करते हुए कई बातें कहीं है जो एक प्रकार से उन्हीं की राजनीतिक मान्यताओं पर प्रकाश डालती हैं। उदाहरणार्थ रघु की युक्त- दण्डता अर्थात् अपराध के अनुकूल दण्ड देना—न कम और न अधिक, दण्ड्य को दण्डित करना और अदण्ड्य की रक्षा करना तथा इस विषय में सबके साथ निष्पक्ष समान व्यवहार। ऐसा करने वाला सबका मन जीत लेता है—

स हि सर्वस्य लोकस्य युक्त-दण्डतया मनः।

आददे नाति-शीतोष्णो नभस्वानिव दक्षिणः॥ रघु. ४-८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अज के लिये भी कवि ने कहा है—

न खरो न च भूयसा मृदुः पवमानः पृथिवी-रुहानिव। रघु. ८-९

इस समय नवाभिषिक्त राजा को अपने शासन की पुष्टि के लिये विजय यात्रा करनी पड़ती थी और चतुर्दिक् राजाओं से अपने प्रति निष्ठा और विश्वासपात्रता की पुष्टि करनी पड़ती थी क्योंकि नये युवा राजा को दुर्बल समझकर उसके गूढ़द्वेषी शत्रु आक्रमण कर देते थे। कालिदास इस तथ्य से परिचित थे—

अचिराधिष्ठितराज्यः शत्रुः प्रकृतिष्वरुढ-मूलत्वात्।

नवसंरोपण-शिथिलस्तरुरिव शक्यः समुद्धर्तुम्॥ माल. १-८

इसीलिये कालिदास प्रकृतियों की प्रसन्नता पर सर्वाधिक बल देते हैं। रघु ने भी यही किया था—

मन्दोत्कण्ठाः कृतास्तेन गुणाधिकतया गुरौ।

फलेन सहकारस्य पुष्पोद्गम इव प्रजाः॥ रघु. ४-९

आज भी सरकारें आक्रमण की स्थिति में जनता को साथ रखने के लिये अधिक प्रयत्न करती हैं। राज्य के शंकास्पद सीमान्तों पर अन्तपाल नियुक्त करने की प्रथा थी। मौर्य-शुंग काल में ऐसे सीमादुर्ग- रक्षकों का पता मालविकाग्निमित्र से चलता है—

"भवतः पितृव्य- पुत्रः कुमारो माधवसेनः प्रतिश्रुत सम्बन्धो ममोपान्तिकमुपसर्पन् अन्तरा त्वदीयेतान्त- पालेनावस्कन्द्य गृहीतः"। अंक १

यह पत्र विदर्भराज द्वारा अग्निमित्र को संबोधित है। ऐसी स्थिति में दो ही मार्ग होते थे—अभिसन्धि या युद्ध। विदर्भ नरेश ने अग्निमित्र के समक्ष अभिसन्धि की जो शर्त प्रस्तुत की, वह थी कि आप मेरे साले मौर्य सचिव को जिसे आपने बन्दी बनाया है, छोड़ दें तो माधव सेन को छोड़ दूँगा। ऐसी अभिसन्धियाँ समानबल राजाओं के बीच होती है। यही सामान्य सन्धि और अभिसन्धि में अन्तर है। अग्निमित्र स्वयं को वैदर्भ राजा से बड़ा मानता है। अतः ऐसे प्रस्ताव भेजने पर उसे अनात्मज्ञ (अपनी औकात न समझने वाला) कहता है। इस प्रसंग में अग्निमित्र राजनीति के कई पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करता है। यथा- प्रकृत्यमित्र, प्रतिकूल कारी, यातव्य, पक्ष, दण्डचक्र और प्रकृति। कहता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"प्रकृत्यमित्रः प्रतिकूलकारी च मे वैदर्भः। तद यातव्यपक्षे स्थितस्य पूर्व संकल्पित समुन्मूलनाय वीरसेन प्रमुखं दण्ड चक्रमाज्ञापय"। मालविका. अंक१

कालिदास कौटिलीय अर्थशास्त्र से परिचित थे। इसीलिये उनका राजा पूर्वोक्त "अचिराधिष्ठित राज्यः" आदि वचन को सुनकर कहता है—'तेन ह्यवितथं तन्त्रकार वचनम्'। कौटिल्य राजनीति के तन्त्रकार है। ऐसा लगता है कि राजपुत्रों को विधिवत् कूटनीति और उसके अंग परातिसन्धान का शिक्षण दिया जाता था। सन्धि, विग्रह, यान आदि तथा शत्रु की वञ्चना मे चतुर होना राजा के लिये आवश्यक था। उनके वचन द्व्यर्थक तथा भ्रम में डालने वाले होते थे। चीते के समान छिपकर चालाकी से, जब शत्रु असावधान हो तब उस पर आक्रमण करना, सामदामादि के द्वारा उसके मंत्रियों और सेना प्रमुखों को अपनी ओर फोड़ लेना, गुप्तचरों के द्वारा प्रजा में विद्रोह उत्पन्न करना—यह सब राजनीति में क्षम्य था। इसीलिये शाकुन्तल में शाङ्र्गरव कहता है—

आजन्मतः शाठ्यमशिक्षितो यस्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य।

परातिसन्धानमधीयते यै र्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः। ५-२४

विजय- यात्रा की तैयारी

विजय यात्रा के लिये निकलते समय राजा को राज्य की व्यवस्था का भार विश्वस्त अमात्यों को सौंपना और इस प्रकार अपने मूल स्थान की ओर से निश्चिन्त हो जाना आवश्यक था। इसी प्रकार प्रान्त दुर्गों की रक्षा व्यवस्था भी सुदृढ़ करनी होती थी। यात्रा से पृष्ठ भाग में स्थित शत्रु को समाप्त करना होता था जिससे राजा की अनुपस्थिति में कोई पृष्ठभाग से आक्रमण न कर सके। इतनी तैयारी हो जाने पर षड्विध वल के साथ जिसमें पीढ़ी दर पीढ़ी चले आने वाले सैनिक (मौल), भृत्य वर्ग, सुहृद् राजा लोग, शत्रु के शत्रु, तथा श्रेणी (विशिष्ट वर्ग) और आटविक रहते थे, राजा प्रस्थान करता था—

स गुप्त-मूल-प्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः।

षड्विधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया॥ रघु. ४-२६

कालिदास ने 'अयान्वितः' कहकर यात्रा काल में धार्मिक कृत्यों—यथा वाजि- नीराजना- विधि आदि की ओर संकेत किया है। ये मंगल कृत्य विजयाशंसी को होते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तस्मै सम्यग्घुतो वह्निर्वाजिनीराजनाविधौ ।

प्रदक्षिणार्चि र्व्याजेन हस्तेनेव जयं ददौ ।। वही २५

यह विजययात्रा- विधान मनु के अनुसार है । मनु कहते हैं—

कृत्वा विधानं मूलेतु यात्रिकं च यथाविधि ।

उपगृह्यास्पदं चैव चारान् सम्यग् विधाय च ।।

संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम् ।

सांपरायिक- कल्पेन यायादरि-पुरं शनैः ।। ७-१८४, ५

मनु के टीकाकार कुल्लूकभट्ट के अनुसार षड्विध बल है—हस्ती, अश्व, रथ, पदाति, सेना और कर्म कर । विजित राजाओं के राज्य पर अधिकार कर लेने या उनके कोष आदि को आत्मसात् कर लेने की प्रथा इस समय नहीं थी । एक बार उस की महत्ता स्वीकार कर लेने और प्रतीक स्वरूप उपहार देने के पश्चात् दोनों में मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो जाता था । वंग लोगों ने नौकाओं द्वारा रघु का सामना किया किन्तु वे उखड़ गये । वहाँ रघु ने अपनी विजय पताका फहरा दी किन्तु उन्हें क्षति नहीं पहुँचायी । महेन्द्र नाथ से युद्ध हुआ । उसे बन्दी भी बनाया किन्तु तुरन्त छोड़ दिया । उसकी भूमि उसे ही दे दी—

गृहीत-प्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः ।

श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम् ।। रघु. ४-४३

चक्रवर्तित्व के लिये की गयी यात्रा की विजयपूर्ण सफलता के पश्चात् सम्राट् अश्वमेघ या विश्वजित् यज्ञ करता था जिसमें देश के सारे राजा आमन्त्रित किये जाते थे । ये लोग सम्राट को अवसरोचित उपहार देते थे । सम्राट् भी इन्हें सत्क्रिया, सम्मान और उपायन प्रदान करता था जिससे उनकी पराजय की कसक मिट जाय । कालिदास कहते हैं—

स विश्वजितमाजह्रे यज्ञं सर्वस्व-दक्षिणम् । रघु. ४-८६

सत्रान्ते सचिव- सखः पुरस्क्रियाभि गुर्वीभिः शमित- पराजय- व्यलीकान् ।

काकुत्स्थश्चिर- विरहोत्सुकावरोधान् राजन्यान् स्वपुरनिवृत्तयेऽनुमेने ।।

ते रेखाध्वजनकुलिशातपत्र- चिह्नं सम्राजश्चरण युगं प्रसाद- लभ्यम् ।

प्रस्थान प्रणति भिरङ्गुलीषु चक्रु मौलिस्रक् च्युत-मकरन्द-रेणु-गौरम् ।वही७७,७८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजा के कर्तव्य और आदर्श

कालिदास ने दशरथ का जिस प्रकार वर्णन किया है उससे उनकी राजनीतिक मान्यताओं पर भी प्रकाश पड़ता है। उन्होंने दशरथ को 'यमवतामवतां च धुरि स्थितः' (रघु. १०-१) कहा है। यह इस बात का संकेत है कि वह राजा को संयमी और प्रजारक्षक देखना चाहते थे। "अपालयत् प्रकृति-मण्डल मात्मकुलोचितम्" (वही २) में भी वही बात दोहरायी गयी है। प्रकृति मण्डल से आशय है—जनपद, नगर और प्रजा जनों से। वह उन्हें 'मनुदण्डधरान्वय' कहकर मनुवर्त्म का स्मरण दिलाते हैं।

जनपदे न गदः पदमादधावभिभवः कुत एव सपत्नजः ।रघु. १०-४

यह कह कर वह उस राज्य को श्रेष्ठ होने का प्रमाण पत्र देना चाहते हैं जिस पर शत्रु आक्रमण करने का साहस न कर सके और जिसमें प्रजा रोग हीन स्वस्थ हो। ऐसा होने के लिये राजा का शान्त होने के साथ तेजस्वी होना भी आवश्यक है और दशरथ 'शमरत' तथा 'अमर तेजस्' है।

मनु ने दण्ड द्वारा के प्रजा के नियमन की बात भी कही है—'दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति' (७-१८)। साथ ही वह विनय पर भी बल देते हैं—"विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित्" (वही ३९), तो कालिदास भी दशरथ को सम्पूर्ण प्रजा को समान दृष्टि से देखने वाला उसे धन धान्य से सन्तुष्ट रखने वाला और साथ ही दुष्टों को दण्ड के द्वारा नियन्त्रण में रखने वाला बतलाते हैं—

'समतया वसुवृष्टि-विसर्जनै र्नियमनादसतां च नराधिपः' ।। रघु. ९-६

मनु ने राजा के लिये दशकामज दोषों से बचे रहने का उपदेश दिया है। ये हैं—

मृगया ऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।

तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ।। मनु. ७-४७

और कालिदास दशरथ को इन से मुक्त बतलाते हैं। वह न मृगया में रुचि रखते थे, न द्यूत में। न मधुपान के व्यसनी थे, न स्त्री- सेवन के। स्वाभिमानी इतने कि कभी इन्द्र के आगे भी दीन वचन नहीं बोले, सत्यवादी ऐसे कि परिहास के अवसर पर भी कभी झूठ नहीं बोला और न कभी शत्रुओं तक से परुष बात कही—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"न मृगयाभिरति र्न दुरोदरं न च शशि- प्रतिमाभरणं मधु।

तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत्॥ रघु. ९-७

न कृपणा प्रभवत्यपि वासवे न वितथा परिहास- कथास्वपि।

न च सपत्नजनेष्वपि तेन वागपरुषा परुषाक्षरमीरिता॥ वही ८

इन गुणों के कारण दशरथ ने समुद्र तक फैली हुई पृथिवी जीतकर उसे एक सूत्र में बाँध लिया—"अजयदेक रथेन स मेदिनीमुदधिनेमिमधिज्य- शरासनः"। वही १०

दशरथ अपने समय के एकच्छत्र शासक थे। उनके रहते अन्य कोई श्वेत छत्र नहीं लगा सकता था। वह द्वादश राज- मण्डल के नाभिस्थानीय अर्थात् मध्यवर्ती थे। उनका प्रताप अग्नि के समान उष्ण और चन्द्र के समान शीतल था। फिर भी वह कभी निश्चिन्त होकर आलस्य के वश में नहीं होते थे क्योंकि वह जानते थे कि राजलक्ष्मी एक को छोड़कर अन्य का वरण करने के लिये अवसर ढूँढती रहती है और जैसे छोटा सा भी रन्ध्र या छिद्र (दोष, दुर्बलता) मिला कि निकल भागती है—

उपगतोपि च मण्डलनाभितामनुदितान्यसितातप-वारणः।

श्रियभवेक्ष्य च रन्ध्र- चलामभूदनलसो ऽनलसोमसमद्युतिः॥ वही १५

मृगया को मनु ने कामज दोष कहा है। इसीलिये दशरथ उससे बचते रहे। किन्तु एक बार कुछ स्वेच्छा और कुछ मन्त्रियों के प्रोत्साहन से वह मृगया के लिये निकल ही पड़े—

परिचयं चल-लक्ष्य-निपातने भय-रुषोश्च तदिङ्गित-बोधनम्।

श्रमजयात् प्रगुणां च करोत्यसौ तनुमतो ऽनुमतः सचिवैर्ययौ। वही ४९

इसका पर्यवसान मुनिशाप में हुआ और वही दशरथ की मृत्यु का कारण बना। यह भावी राजाओं के लिये पूर्वनिर्देश भी था।

आदर्श शासक अतिथि

राम के पौत्र की राज्य व्यवस्था कालिदास की दृष्टि से आदर्श थी। उसने राज्याभिषेक के साथ ही अपने हृदय की विशालता का परिचय देते हुए वन्दियों को कारा से मुक्त कर दिया, मृत्य दण्ड पाये हुओं को प्राणदान कर दिया, भारवाही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पशुओं के कन्धे से जुएँ उतरवा दिये और गायों का दूध केवल बछड़ों के लिये छोड़ दिया (रघु. १७-१९)। इतना ही नहीं उसने पिंजरों में पाले हुए शुक सारिकादि पक्षियों को भी यथेच्छ उड़ने के लिये स्वतन्त्र कर दिया। (वही २०) वह स्वयं वीर होते हुए भी सदा गुरु वसिष्ठ से परामर्श करता था—

वसिष्ठस्य गुरोर्मन्त्राः सायकास्तस्य धन्विनः। रघु. १७-३८

यही बात कवि ने अज के विषय में भी कही है—

स वभूव दुरासदः परैर्गुरुणा ऽथर्वविदा कृत- क्रियः। रघु. ८-४

वह धर्म सभा में बैठकर वादी- प्रतिवादियों के व्यवहारों (मुकदमों) को सुना करता था और कार्य के सम्पादन के अनन्तर भृत्यों को उचित पारितोषिक देता था—

ददर्श संशयच्छेदान् व्यवहारानतन्द्रितः। वही ३९

तथा—

युयोज पाकाभिमुखै र्भृत्यान् नीराजनाफलैः॥ वही ४०

वह जो बोलता वह सत्य ही होता था, जो कुछ किसी को दे देता उसे लौटाता नहीं था और शत्रु को एक बार उखाड़ कर उसे फिर वहीं प्रतिरोपित कर देता था। इन गुणों के कारण वह नया होकर भी दृढ़- मूल बन गया था। वह जानता था केवल कूटनीति कायरता का चिह्न है और केवल वीरता पशुओं का स्वभाव। अतः वह अपने कार्यों की सिद्धि के लिये यथावसर दोनों का प्रयोग करता था—

कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापद- चेष्टितम्।

अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः॥ वही ४७

वह शास्त्रकारों द्वारा राजाओं के लिये निर्दिष्ट दिनचर्या का निश्चित रूप से और दृढ़ता के साथ पालन करता था—

रात्रिन्दिव-विभागेषु यथादिष्टं महीक्षिताम्।

तत् सिषेवे नियोगेन स विकल्प-पराङ्मुखः॥ वही ४९

कौटिल्य ने नियोग और विकल्प को परिभाषित करते हुए कहा है—"कार्याणां नियोग- विकल्प- समुच्चया भवन्ति। अनेनैवोपायेन नान्येनेति नियोगः। अनेन वान्येन वेति विकल्पः। अनेनै वेति समुच्चयः।" अतिथि प्रतिदिन मन्त्रियों के साथ गुप्त परामर्श करता था और वह परामर्श व्यवहार में आने पर भी गुप्त ही बना रहता था। कर्मचारियों और शत्रुओं का भेद जानने के लिये सुदृढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुप्तचर व्यवस्था थी—ऐसी सुदृढ़ कि गुप्तचरों में भी कोई एक दूसरे को नहीं पहचानता था। साथ ही उसके दुर्ग पूर्णतया शत्रुओं के लिये दुःष्प्रवेश्य थे—

मन्त्रः प्रतिदिनं तस्यवभूव सह मन्त्रिभिः।

स जातु सेव्यमानो ऽपि गुप्तद्वारो न सूच्यते॥ वही ५०

परेषु स्वेषु च क्षिप्तैरविज्ञात-परस्परैः।

सोपसर्पै र्जजागार यथाकालं स्वपन्नपि॥ वही ५१

दुर्गाणि दुस्तराण्यासंस्तस्य रोद्धुरपि द्विषाम्। वही ५२

इसमें इतनी क्षमता थी कि प्रजा में व्याप्त असन्तोष को तुरन्त शान्त कर सके। फिर भी वह कभी असन्तोष उत्पन्न नहीं होने देता था। वह केवल शक्तिमन्तों के ही विरुद्ध आक्रमण करता था। उसने न कभी अर्थ और काम के लिये धर्म को छोड़ा और न धर्म के लिये अर्थ और काम की ही उपेक्षा की। वह उन तीनों को समान महत्त्व देता रहा—

कामं प्रकृति-वैराग्यं सद्यः शमयितुं क्षमः।

यस्य कार्यः प्रतीकारः स तन्नैवोदपादयत्॥ वही ५५

शक्येष्वेवाभवद् यात्रा तस्य शक्तिमतः सतः। वही ५६

न धर्ममर्थ-कामाभ्यां ववाधे न च तेन तैः। वही ५७

नीच लोग मित्र बनकर भी हित नहीं कर पाते, उलटे दुष्प्रवृत्तियों की ओर ढकेलते हैं और ऋद्धों को मित्र बनाइये तो वे अन्त में विरुद्ध चेष्टा ही करते हैं। इस लिये वह मध्यम शक्ति के लोगों को मित्र बनाता था(वही ५८)।यह नीति सर्वजनीन है। आज भी प्रत्येक शासन अपने अस्तित्व के लिये जनता के मध्य्य वर्ग ही पर आश्रित रहता है।

किसी शत्रु पर आक्रमण करने से पूर्व अपने बल को तोल लेना तथा शत्रु के छिद्रों (दुर्बलताओं) को सम्यक् जान लेना आवश्यक होता है। यह नीति है और अतिथि इसका पालन करता था। वह यह भी जानता था कि समृद्ध कोष आदर का कारण बनता है और दीनों की सहायता के लिये आवश्यक होता है। अतः वह कोष- वृद्धि के उपाय करता था—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परात्मनोः परिच्छिद्य शक्त्यादीनां बलाबलम्।

ययावेभिर्वलिष्ठश्चेत् परस्मादास्त सोन्यथा। वही ५९

कोशेनाश्रयणीत्वमिति तस्यार्थ संग्रहः। वही ६०

वह साम, दाम, दण्ड और भेद पर आधारित चतुर्विधा राजनीति में इनका क्रमिक प्रयोग करता था और इसे इसका फल भी मिला। कपट युद्ध में निपुण होने पर भी वह धर्मयुद्ध ही करता था। यों शत्रु उसके प्रताप से ही भीत होकर रण से भाग जाते थे और लड़ने की स्थिति ही नहीं आती थी। स्तुत्य कार्य करता था, पर स्तुति से शरमाता था। उसने अपनी प्रजा को सब प्रकार की स्वतन्त्रता दे रखी थी—

इति क्रमात् प्रयुञ्जानो राजनीतिं चतुर्विधाम् स तस्याः फलमानश। वही ६८

प्रायः प्रतापभग्नत्वादरीणां तस्य दुर्लभः। वही ७०

कूट- युद्ध- विधिज्ञोपि तस्मिन् सन्मार्ग- योधिनि। वही ६९

स्तूयमानः स जिह्राय स्तुत्यमेव समाचरन्। वही ७३

प्रजाः स्वतन्त्रयाञ्चक्रे शश्वत् सूर्य इवोदितः। वही ७४

अतिथि के व्याज से कालिदास ने उस आदर्श राजा और राज्यतन्त्र का वर्णन किया है जो उनकी दृष्टि में आदर्श हो सकता था। यह समकालीन गुप्त राज्य व्यवस्था का रेखाचित्र है। इन राजाओं ने अश्वमेघ यज्ञ का अनुष्ठान करने पर भी शत्रु विजय के लिये अनुचित साधनों का प्रयोग नहीं किया यद्यपि अन्य राजा ऐसा करते थे। निम्न श्लोक में यह बात ध्वनित है—

पराति-सन्धानपरं यद्यप्यस्य विचेष्टितम्।

जिगीषोरश्वमेधाय धर्म्यमेव वभूव तत्॥ वही ७६

निजी प्रभाव, उत्साह और सचिवों तथा वृद्ध जनों से प्राप्त गुप्त परामर्श ये तीन राजा की प्रमुख शक्तियाँ मामी जाती हैं—(शक्तयस्तिस्त्रः प्रभावोत्साह मन्त्रजाः)। इन तीनों को उससे कोई नहीं छीन सका, उलटे उसी ने शत्रुओं की इन शक्तियों को अपनी ओर खींच लिया। वह सन्धि, विग्रह, यान, संश्रय, द्वैधीभाव और आसन इन राजगुणों तथा छै मूल बातों—मौल पुरुष, भृत्य, सुहृद, शत्रु, आटविक और सैन्य- का उचित उपयोग जानता था। फलतः राज्य आन्तरिक और वाह्य विपत्तियों से मुक्त था। उसके राज्य में व्यापारी नदियों वनों और पर्वतों से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होकर बेरोक टोक विचरण करते थे। वह तप को विघ्नों से और प्रजा को तस्करों से सुरक्षित रखता था और बदले में आश्रमों से उनके तप का तथा वर्णों से उनकी उपज का छठा भाग बलि के रूप में पाता था। उसे खानों से रत्न, खेतों से अन्न और वनों से गज प्राप्त होते थे—

सर्पस्येव शिरोरत्नं नास्य शक्तित्रयं परः (चकर्ष) । वही ६३

स गुणानां वलानां च षण्णां षण्मुख- विक्रमः ।

वभूव विनियोगज्ञः साधनीयेषुवस्तुषु ॥ वही ६७

वापीष्विव स्रवन्तीषु वनेषूपवनेष्विव ।

सार्थाः स्वैरं स्वकीयेषु चेरुर्वेशमस्विवाद्रिषु ॥ वही ६४

तपो रक्षन् स विघ्नेभ्यस्तस्करेभ्यश्च संपदः ।

यथास्वमाश्रमैश्चक्रे वर्णैरपि षडंशभाक् ॥ वही ६५

खनिभिः सुषुवे रत्नं क्षेत्रैः सस्यं वनै र्गजान्

ददर्श वेतनं तस्मै रक्षा- सद्दशमेव भूः ॥ ६६

अतिथि को अपनी सेना का विश्वास प्राप्त था। वह उसे अपने शरीर के समान प्यार करता था—

तस्य दण्डवतो दण्डः स्वदेहान्न व्यशिष्यत । वही ६२

ऐसे राज्य के विषय में कवि ने जो कहा—'श्रुतौ तस्करता स्थिता' वह यथार्थ ही था। यह कवि की समकालिक परिस्थिति का चित्रण है। रघु के विषय में उसने एक अन्य प्रसंग में भी कहा है—

यस्मिन् महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम् ।

वातोपि नास्त्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय वस्त्रम् ॥ रघु. ६-७५

यह रघु अन्य कोई नहीं चन्द्रगुप्त द्वितीय है। समकालीन गुप्त नरेशों का व्यक्तिगत चरित्र और उनकी शासन पद्धति कवि के मन में इतना घर गयी थी कि वह अवसर मिलते ही उसका उल्लेख करने लगता है। इसका उद्देश्य सामयिक शासन को उसके कर्तव्यों का स्मरण कराना भी रहता होगा। अज को राजपद मिला कि कवि का ध्यान उसके राजकीय कार्यों की ओर गया। उसे उसमें ये बातें दिखायी दीं—(१) विनय (२) राज्य श्री का मृदुता से उपभोग (३) लोक में सर्वप्रियता (४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न कठोरता न अति कोमलता (५) प्रभु शक्ति के द्वारा सीमावर्ती राजाओं को वश में लाना (६) शत्रुओं के करे धरे को नष्ट कर देना (७) सन्धि विग्रहादि नीतियों का देश कालानुसार प्रयोग (८) फल प्राप्ति से पूर्व आरम्भ किये हुए कर्मों से विरत न होना (९) निषिद्ध व्यापारों की ओर खींचने वाली इन्द्रियों और शत्रुओं के विषय में सदा जागृत रहना।

(१) पदमृद्धमजेन पैतृकं विनयेनास्य नवं च यौवनम्। रघु. ८-६

(२) सदयं वुभुजे महाभुज. . . अचिरोपनतां स मेदिनीम्। वही ७

(३) अहमेव मतो महीपते रिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत्। ८

(४) न खरो न च भूयसा मृदुः—नमयामास नृपाननुद्धरन्। ९

(५) अनयत् प्रभुशक्ति- संपदा वशमेको नृपतीनन्तरान्। १९

(६) अकरोदचिरेश्वरः क्षितौ द्विषदारम्भ- फलानि भस्मसात्। २०

(७) पणवन्ध- मुखान् गुणानजः षडुपायुड्क्त समीक्ष्य तत्फलम्। २१

(८) न नवः प्रभुराफलोदयात् स्थिरकर्मा विरराम कर्मणः। २२

(९) इति शत्रुषु चेन्द्रियेषुच प्रतिषिद्ध प्रसरेषु जाग्रतौ। २३

मन्त्री और सचिव

राज्य में मंत्रियों का बड़ा सम्मान था। वे न केवल महत्त्वपूर्ण विषयों में राजा को परामर्श ही देते थे प्रत्युत नीति विषयक निर्णयों को छोड़कर राज्य का शेष शासन उन्हीं के निर्देशन में चलता था। राजा प्रतिदिन उनके साथ गुप्त मंत्रणा करता था। उनकी इतनी प्रतिष्ठा थी कि राम ने वनवास से लौटकर पहले उन्हीं का प्रणाम स्वीकार किया और उन्हीं से सर्वप्रथम बात की थी (रघु. १३-७१)। राजा किसी कार्य से बाहर जाता तो प्रशासन का दायित्व इन्हीं पर रहता था। वसिष्ठाश्रम को जाते हुए दिलीप राज्य का भार उन्हीं के कन्धों पर डाल जाते हैं—

सन्तानार्थाय विधये स्वभुजादवतारिता।
तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिक्षिपे॥ रघु. १-३४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और ध्रुव सन्धि जब अपने पीछे अपने सुदर्शन नामक शिशु पुत्र को छोड़कर स्वर्ग सिधारे तो अमात्यों ने ही सोच विचार कर उस बालक को राज्य पर अभिषिक्त कर दिया था—

स्वर्गामिनस्तस्य तमैकमन्त्यादमात्यवर्गः कुल-तन्तुमेकम्।

अनाथ-दीनाः प्रकृतीरवेक्ष्य साकेतनाथं विधिवच्चकार॥ रघु. १८-३६

तब वह बालक लगभग छै वर्ष का था। फिर भी उसका राज्य जो पूर्णतया सुरक्षित रहा वह मंत्रियों की देशभक्ति का ही परिणाम था। कवि ने कहा है—

अनश्नुवानेन युगोपमानमवद्धमौर्वी- किणलाञ्छनेन।

अस्पृष्ट-खड्गत्सरुणापि चासीद् रक्षावती तस्य भुजेन भूमिः॥रघु. १८-४८

और इस वंश का अन्तिम राजा अग्निवर्ण जब सब कुछ छोड़कर "स्त्री विधेय- नव- यौवनः" बन जाता है तो वह भी शासन का भार सचिवों पर ही डाल कर निश्चिन्त हो जाता है—

संनिवेश्य सचिवेष्वतः परं स्त्री-विधेयनव-यौवनो ऽभवत्। वही १९-४

और जब राजयक्ष्मा से अग्निवर्ण की मृत्यु हो जाती है तो मंत्री लोग ही उसकी बीमारी को बहाना बनाकर प्रासाद के उपवन में गुप्त रूप से उसकी अन्त्येष्टि कर देते हैं और वे ही समाज्ञी के पेट में पल रहे अग्निवर्ण के गर्भ का विधिवत् अभिषेक कर उसके बड़े होने तक शासन का भार सम्राज्ञी को ही सौंप देते हैं और राज्य संचालन में उसकी सहायता करते हैं—

तं गृहोपवन एव संगताः पश्चिम-क्रतु-विदा पुरोधसा।

रोगशान्तिमपदिश्य मन्त्रिणः संभृते शिखिनि गूढमादधुः॥ वही ५४

तथा—

निर्वापितः कनक-कुम्भ-मुखोज्झितेन

वंशाभिषेक-विधिना शिशिरेण गर्भः।

मौलैः सार्धं स्थविर-सचिवै र्हेमसिहांसनस्था

राज्ञी राज्यं विधिवदशिषद् भर्तुरव्याहताज्ञा॥ वही ५६, ५७

कालिदास ने मंत्री, सचिव और अमात्य शब्दों का प्रायः समानार्थ में प्रयोग किया है। फिर भी प्रयोग स्थलों से ऐसा संकेत मिलता है कि इन तीनों के कार्यों में अन्तर था। मंत्री राजा को गुप्त परामर्श देते और सामान्य नीति निर्धारण में प्रमुख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दायित्व निभाते थे। उनका मुख्य काम समवेत या व्यक्ति गत रूप में राजा को वर्तमान से अवगत करना और भावी के लिये निर्णय लेने में सहायता देना था। निर्णय प्राय: मंत्री ही लेते थे किन्तु उन पर राजा की स्वीकृति अनिवार्य थी। राजा उनके निर्णयों को पलट भी सकता था। सचिवों का पद संभवत: मंत्रियों से कुछ नीचे था। वे सामान्य दैनन्दिन कार्यों में राजा को परामर्श देते रहते थे। कालिदास ने पत्नी को भी सचिव कहा है जो पति को याचित अयाचित परामर्श देती है। अमात्यों काम निर्णयों और नीतियों को कार्यान्वित करना था। फिर भी कालिदास ने इन तीनों के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा न खींचकर उन्हें लगभग एकार्थी बना दिया है। कालिदास ही क्या, प्राय: कवियों ने ऐसा ही किया है।

मंत्री प्राय: आनुवंशिक होते थे। पिता की मृत्यु के उपरान्त, पुत्र भी, यदि वह अयोग्य न हुआ तो मंत्री बना दिया जाता था। मनु और कौटिल्य ने राजा के समान मंत्री की अर्हता का भी स्पष्ट उल्लेख किया है। ऐसे वंशानुगत मंत्री तथा अन्य अधिकारी मौल कहलाते थे। ये अपेक्षा कृत अधिक विश्वस्त होते थे। मौलों में भी स्थविरों (आयुर्वृद्धों) का अधिक सम्मान होता था।

वंशानुगत राज- पद

कालिदास के समय राजपद वंशानुगत था। राजा का ज्येष्ठ पुत्र जिसे युवराज कहते थे स्वभावत: इस पद का अधिकारी होता था। विवादास्पद स्थिति उत्पन्न होने पर मंत्रि- परिषद् अन्तिम निर्णय करती थी। परिषद् में स्थविर या वृद्ध मंत्रियों के मत को विशेष महत्त्व दिया जाता था। वंशानुक्रम के साथ राजपुरोहित की स्वीकृति भी आवश्यक थी और प्रजा का अनुमोदन भी, क्योंकि राजा का प्रथम धर्म था प्रजा- रंजन। कालिदास ने प्रत्येक अवसर पर इस बात को दाहराया है। उनके प्रत्येक राजा का प्रथम वैशिष्ट्य है, प्रजा का श्रद्धा- भाजन होना। दिलीप वसिष्ठाश्रम को जाते हैं तो मार्ग में घोषवृद्ध हैयंगवीन लेकर उनका स्वेच्छ स्वागत करते हैं और दिलीप तथा उनकी पत्नी उनसे वन्य वृक्षों के विषय में बातचीत करते हैं (रघु. १-४५)। जब वे आश्रम से घर लौटते हैं तो प्रजा आनन्द के मारे फूली नहीं समाती—

तमाहितौत्सुक्यमदर्शनेन प्रजाः प्रजार्थव्रत-कर्शिताङ्गम्।

नेत्रैः पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदयं नाथमिवौषधीनाम्॥ रघु.२-७३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रघु के विषय में भी यही बात कवि ने कही है—

तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृति-रञ्जनात्। रघु. ४-१२

यह राजा तो इतना लोक प्रिय था कि गाँवों में खेत रखाने वाली लड़कियाँ तक उसके यश के गीत गाया करती थीं—

इक्षुच्छाय-निषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।

आकुमार-कथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः। रघु. ४-२०

मगधेश्वर की भी दो प्रमुख विशेषतायें हैं—"शरण्यः शरणागतानाम्" तथा 'प्रजारञ्जन- लब्ध- वर्णः' (रघु. ६-२१)। और अज के विषय में तो प्रत्येक यही सोचता था कि वह मुझे ही सर्वाधिक प्यार करते हैं—"अहमेव मतो महीपते रिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत्" रघु. ८-८। और राम तो प्रजा का मन रखने के लिये पत्नी तक का परित्याग कर देते हैं, यह जानते हुए भी कि सीता निर्दोष है—

अवैमि चैनामनघेति किन्तु लोकापवादो बलवान् मतो मे। रघु. १४-४०

राज्य सिंहासन किसी भी स्थिति में शून्य नहीं रहने दिया जाता था। इसीलिये प्रजा की अनुमति से मंत्रियों ने छै वर्ष के बालक सुदर्शन और अग्निमित्र की राज्ञी को सिंहासन पर बिठा दिया। व्रत सब का एक ही प्रजारंजन। ब्रह्मिष्ठ के विषय में कवि कहता है कि उसके शासन काल में प्रजा आनन्द के अश्रुओं से उनका अभिनन्दन करती सुख भोगती रही—

तस्मिन् कुलापीडनिभे विपीडं सम्यङ्महीं शासति शासनाङ्कम्।

प्रजाश्चिरं सुप्रजसि प्रजेशे ननन्दुरानन्द-जलाविलाक्ष्यः। रघु.१-२

राज-वलि

कालिदास ने राजा को कि षष्ठांश- वृत्ति कहा है—"शेषः सदैवाहित भूमि भार षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः" (शाकु. ५-४)। वह उपज का छठा भाग कर रूप में पाता था किन्तु कर से प्राप्त धन जिसे बलि भी कहते थे, प्रजा के ही कल्याण में लगा देता था—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो वलिमग्रहीत्।

सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥ रघु. १-१८

एक स्थान पर उन्होंने इसे राजा का वेतन कहा है जिसके बदले में वह प्रजा के प्राणों और सम्पत्ति की रक्षा करता है। तपोवनों की रक्षा के लिये उसे तप के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षष्ठ भाग की प्राप्ति होती थी । अतः आश्रमों में होने वाली उपज कर से मुक्त थी । मान्यता थी कि—

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम् ।

तपः-षड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः ।। शाकु. २-१३

फिर भी मुनि लोग आश्रम में उत्पन्न होने वाले नीवारादि अन्नों का षष्ठ भाग नदी के पुलिनों पर रख देते थे अपना कर्तव्य मानकर । दिलीप ने नन्दिनी का दुग्ध पीने से पहले उसके बछड़े को पिलाया, फिर यज्ञ के लिये आवश्यक भाग निकाल दिया और शेष को अपना अधिकार मानकर पृथिवी के षष्ठ भाग के समान ग्रहण किया । नन्दिनी भी उर्वी के समान दिलीप के द्वारा रक्षित थी—

वत्सस्य होमार्थ-विधेश्च शेषं गुरोरनुज्ञामधिगम्य मातः ।

औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः ।। रघु. २-६६

धर्म-विवाद और न्याय

राजा जिस आसन पर बैठकर अभियोगों पर विचार करता था उसे धर्मासन और जनता की प्रार्थनायें सुनकर उन पर विचार करने के स्थान को धर्म- सभा कहते थे । कण्व के शिष्य जिस समय राज- दरवार में पहुँचे उस समय राजा धर्मासन से उठा ही था । उसके कार्य में अमात्य उसका हाथ वँटाते थे । अभियोगों की जाँचकर तथ्यों को राजा के समक्ष प्रस्तुत करने के लिये पृथक् अमात्म होता था और मार्ग दर्शन के लिये धर्माध्यक्ष रहता था । इसका पद विधि- मंत्री जैसा था । एक दिन दुष्यन्त का अमात्य केवल एक ही विवाद- स्थान की छान बीनकर सका क्योंकि वह विभिन्न कोषागारों के अधिकरणिकों के द्वारा प्रेषित धन की गणना में व्यापृत रह गया । इससे राज्य की सुव्यवस्थित अर्थ- व्यवस्था का पता चलता है । जो प्रकरण राजा के निर्णयार्थ उसने लेख द्वारा प्रस्तुत किया उसकी सूचना देता हुआ प्रतीहारी कहता है—

'देव ! अमच्चो विण्णवेदि—अत्थजादस्स गणनावहुलदाए एक्कं एव्व पोरकज्जं अवेक्खिदं, तं देवो पत्तारुढं पच्चक्खी करेदुत्ति ।। शाकु. ६

राजा पत्र लेकर स्वयं पढ़ता है । पत्र में लिखा था कि समुद्रमार्ग में व्यापार करने वाला धनमित्र नामक सार्थवाह नाव डूब जाने से मर गया है । वेचारे के कोई सन्तान नहीं है । अतः उसकी सम्पत्ति राजकोष में जमा की जायगी । इस पर राजा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहता है कि बहुत धनी था तो उसके कई पत्नियाँ होंगी। पता लगाओ कि क्या उनमें कोई गर्भवती है? प्रतीहारी सूचित करता है कि सुना है कि उसकी पत्नियों में एक साकेत के सेठ की पुत्री है। उसका पुंसवन संस्कार हो चुका है अर्थात् उसके पाँच महीनों का गर्भ है। तब राजा मन्त्री से कहलाता है कि पिता के धन पर गर्भ का अधिकार होता है। अत: श्रेष्ठी की सम्पत्ति उसके भावी सन्तान को दे दी जाय। वह यह भी घोषणा करता है कि पातकियों को छोड़कर यदि किसी परिवार का वन्धु जन (प्रमुख) मर जाय तो वह दुष्यन्त को अपना वन्धु मान सकता है। प्रजा के प्रति: राज्य के सहृदय भाव का यह एक उदाहरण है।

पुलिस व्यवस्था

लगता है कि कालिदास के समय में भी पुलिस बल की स्थिति लगभग ऐसी ही थी। वे इधर उधर घूम कर अपराधों का पता लगाते और अपराधी को बन्दी बनाते थे। सामान्य सिपाही रक्षी कहलाते थे और नगर पुलिस के प्रमुख को श्याल कहते थे। यह कोट्टपाल (वर्तमान कोतवाल) पद को अलंकृत करता था। वर्तमान गाली 'साला' श्याल का ही अपभ्रंश रूप है। श्याल राजा की सबके छोटी रानी का भाई होता था जो केवल सौन्दर्य के कारण किसी सामान्य परिवार से लायी जाकर राजप्रासाद में राज्ञी पद पायी हुई होती थी। राजा इसके परिवार को छोटी मोटी जागीर देकर समाज में प्रतिष्ठित बना देता था। यह रानी रूप गर्विता तो होती ही थी पति के जरठत्व की ओर बढ़ने के कारण उस पर शासन करती थी। उसे प्रसन्न करने के लिये राजा नगर का रक्षा- प्रशासन उसके भाई को सौंप देता था जिससे रनिवास के बाहर उसका शासन चल सके। निम्न वर्ग से आकर सहसा इतने बड़े पद पर प्रतिष्ठित हो जाने के कारण श्याल प्राय: मद्यप, चरित्र हीन और स्वेच्छाचारी बन जाते थे। राजा का साला होने से उसके विरुद्ध बोलने का साहस किसी को नहीं होता था। इन सब कारणों से मधुर सम्बन्ध का बोधक यह शब्द ही घृणा का सूचक बन गया। श्याल की पत्नी उद्दण्ड और कठोर होती थी जिसे लेकर "सैयाँ भये कोतवाल हमें डर काको।" यह कहावत चल पड़ी। मृच्छकटिक श्याल के वास्तविक रूप को प्रकट करता है। कालिदास ने श्याल का जो रूप प्रस्तुत किया है वह उतना निम्नस्तरीय नहीं है फिर भी पुलिस द्वारा सरल धीवरों को सताने जैसे दृश्य भारत के हर थाने में देखे जा सकते हैं। अपराधी घोषित कर दुर्बल धीकर को जूते की ठोकर पर नचाने वाले रक्षी और श्याल का व्यवहार राजा का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रसाद पाते ही धीवर के साथ सहसा कैसे बदल जाता है । जिस बेचारे धीवर की जीविका का वे उपहास उड़ा रहे थे और जिसकी जिह्वा चाटुकारिता वश श्याल को आवुत्त (जीजा जी) कहते-कहते सूख रही थी, उसी से वे कहने लगे—"—धीवर ! महत्तरो तुमं पिअवअस्सो दाणिं मे संवुत्तो । कादंवरी सक्खिअं अम्हाणं पढम सोहिदं इच्छीअदि—" । और इस प्रकार श्याल उसे सुरा-साक्षिक सुहृद् बना लेता है । यह सारा प्रसंग अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है और इसे अद्यतनीन कहकर भी प्रस्तुत कर दिया जाय तो स्वाभाविक लगेगा । डेढ हजार वर्ष बीत जाने पर भी रक्षिवर्ग (पुलिस) का चरित्र जैसा था, वैसा ही बना हुआ है ।

इस संवाद से ऐसा लगता है कि उस युग में चौर्य के लिये कठोर दण्ड दिया जाता था, यद्यपि इस युग के विदेशी यात्रियों के अनुसार चोरी होती ही नहीं थी । कठोर दण्ड का भय भी इसमें कारण रहा होगा क्योंकि एक रक्षी कहता है कि मेरी उँगलियाँ इसके लिये वध्यमाला गूँथने को फड़क रही हैं—

जाणुअ ! फुल्लन्ति मे हत्था इमश्श वहस्स शुमणा पिनद्धुं (शाकु. ६)

और दूसरा कहता है—गिद्धवली भविश्शशि शुणो मुहं वा देक्खिवश्शशि । वही ।

इससे स्पष्ट है जीवित अपराधी को गिद्धों के सामने नोचते खाने के लिये डाल देना या मारकर उसे इनका आहार बना देने तथा शिकारी कुत्तों के सामने खाने के लिये छोड़ दिये जाने जैसे क्रूर दण्डों का प्रचलन इस युग में था । आधा धड़ भूमि में गाड़कर शेष पर शिकारी कुत्ते छोड़ देने की प्रथा प्राचीन काल से अनेक देशों में प्रचलित रही है । धर्मासन द्वारा दिये जाने वाले दण्ड के अतिरिक्त राजमहषी को अन्तःपुर के किसी भी व्यक्ति को दण्डित करने का अधिकार था । राजमहिषी धारिणी मालविका को अन्धी कोठरी में बन्द कर देती है । यह काल कोठरी भूमि के नीचे दण्डित अपराधियों के लिये होती थी । इसमें सूर्य की किरणों तक का प्रवेश नहीं होता था । अपराधी हाथ पाँव बाँधकर इनमें डाल दिये जाते और बिना महिषी की अङ्गुलीयक मुद्रा दिखाये काराध्यक्ष न किसी को उससे मिलने देता था और न बन्दी को बाहर ही जाने देता था । यहाँ केवल रानी का शासन होता था जिसके सम्मुख स्वयं राजा तक विविश रहता था । मालविका और उसकी सखी वकुलावलिका को पैरों में बेड़ी डाल कर रानी ने इसी पाताल काल- कोठरी में डलवा दिया था । विदूषक राजा अग्निमित्र को सूचित करता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"सा खु तवस्सिणी तए पिंगलच्छिए सार- भांड घरए गुहाए कि अनिक्खिन्ता।"

तथा—"किं अवरं। मालविआ वडलावलिआ अपादालवासं णिगलपदीओ अदिट्ठ सुज्जपादं णाग कण्ण आओ कि अनुहोंति।" मालविका. ४

तथा—"जं सारभांडघर व्यापारिदा माहविआ देविए संदिट्ठा—मह अंगुलीअमुददिअं अदेक्खिअण मोत्तव्वातुए हदासा मालविआ वउलावलिआ अत्ति। वही ४

यह वन्दी गृह 'सार-भाण्ड' कहलाता था और अन्धकारमय भूगर्भ स्थान होता था।

युद्ध-प्रसंग

युद्ध की आशंका हर जनपद में प्राचीन काल से ही बनी रहती थी। युद्ध कभी राज्य- विस्तार के लिये होते थे तो कभी केवल शक्ति- प्रदर्शन के लिये। कालिदास की रचनाओं में दोनों प्रकार के युद्धों का उल्लेख है। मनु ने युद्ध के लिये उपयुक्त काल, तैयारी व्यूह-रचना और नैतिक नियमों पर विचार किया है। वह कहते हैं—

मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद् यात्रां महीपतिः।

फाल्गुनं वाथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथा वलम्॥ मनु० ७-१८२

कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि।

उपगृह्यास्पदं चैव चारान् सम्यग् विधाय च॥ वही १८४

संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम्।

सांपरायिक कल्पेन यायादरिपुरं शनैः॥ वही १८५

दण्ड- व्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा।

वराह मकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेनवा॥ वही १८७

यतश्च भयमाशङ्केत्ततो विस्तारयेद् वलम्। वही १८८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिदास में केवल एक ही स्थान पर विजय यात्रा का वर्णन मिलता है और वह बहुत कुछ मनु के अनुसार ही है—राम रावण युद्ध में इन सब बातों पर विचार के लिये अवकाश ही नहीं है । रघु की विजय के प्रसंग में कवि कहता है—

सरितः कुर्वती गाधाः पथश्चाश्यान कर्दमान् ।

यात्रायै चोदयामास तं शक्तेः प्रथमंशरत् ॥ रघु. ४-२६

स गुप्त-मूल-प्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः ।

षड्विधं वलमादाय प्रतस्थे दिग्- जिगीषया ॥ वही २६

कालिदास के द्वारा वर्णित युद्धों में अतिमानवीय हैं, आकस्मिक हैं, वैवश्यजनित हैं और सुनियोजित भी । आगे इनकी चर्चा की जाती है—

रघु महेन्द्र- युद्ध

कालिदास ने कई प्रसंगप्राप्त युद्धों का वर्णन किया है । कुमार संभव का स्कन्द- तारक युद्ध कालिदास से भिन्न किसी अन्य कवि की रचना मानकर छोड़ दिया जाय तो रघुवंश का रघु- महेन्द्र युद्ध सर्वप्रथम दृष्टिपथ में अवतरित होगा । यह युद्ध दो भद्र जनों के बीच है जिनमें एक दूसरे के प्रति वद्ध-वैरता का अभाव है । इसीलिये इसमें प्रभावोत्पादकता की कमी है । यह शिष्ट-युद्ध है और किसी प्रकार पाठक में वीर रस का संचार नहीं करता । उसकी ललकार "गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते न खल्विनिर्जित्य रघुं कृती भवान् (रघु. ३-५०)" में कितना मार्दव है । और जब रघु धनुष पर वाण चढ़ाता है तो कालिदास की दृष्टि उसके रोष और स्फूर्जित पर न जाकर स्थिति-मुद्रा के सौन्दर्य पर जाती है—"अतिष्ठदालीढ- विशेष शोभिना वपुः प्रकर्षेण् विडम्वितेश्वरः" वही ५२ । वह बरावर उपमाओं और सुन्दर स्थलों की खोज में रहते हैं । धनुष पर वाण चढ़ाते हैं तो भी उनकी दृष्टि धनुष और वाण की प्रहार क्षमता पर न होकर 'नवाम्बुदानीक मुहूर्त लाञ्छने धनुषि' रहती है । जिस भुजा में वाण मारता है उसमें लगने वाले क्षत, रक्तस्राव और पीडा को पीछे कर वह सुरद्विपा स्फालन कर्कश अंगुलियों और शचीपत्र- विशेष-काङ्कित भुज की सुन्दरता को ही निहारते हैं । वास्तविक युद्ध तो कवि ने एक ही श्लोक में समाप्त कर दिया है—

तयोरुपान्त-स्थित-सिद्ध सैनिकैः गरुत्मदाशी-विषभीमदर्शनैः ।

वभूव युद्धं तुमुलं जयैषिणोरुधो मुखैरुर्ध्व-मुखैश्च पत्रिभिः ॥ रघु.३-५७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सारा युद्ध आठ श्लोकों में समाप्त हो जाता है। यह किसी भी पक्ष में वास्तविक क्रोध की सृष्टि नहीं कर पाता। किन्तु इसका कारण कवि की अक्षमता नहीं, प्रत्युत रघु और इन्द्र दोनों का पारस्परिक स्नेह-सम्बन्ध ही है।

अज-राजन्य-गण-युद्ध

युद्ध का वास्तविक वर्णन देखना हो तो रघुवंश के सप्तम सर्ग को देखें। अज विदर्भ नरेश की स्वसा इन्दुमती को व्याह कर लौटते हैं कि मार्ग में स्वयंवर में असफल राजन्यगण उन्हें घेर लेते हैं और अज उनका सामना करता है और फिर क्या था। पैदल पैदल से, रथी रथी से, अश्वारोही अश्वारोही से और (गज़ारोही) गजस्थ से भिड़ गये। रणदुन्दुभि बजने लगी उसकी ध्वनि इतनी तीव्र थी कि किसी को किसी की बात नहीं सुनाई दे रही थी। इसलिये कोई योद्धा अपना नाम और कुल बता कर शत्रु को नहीं ललकारता था। केवल नामाङ्कित वाणों से ही शत्रु के कुल- नामादि का पता चलता था—

पत्तिः पदातिं रथिनं रथेशस्तुरङ्गसादी तुरगाधि-रूढम्।

यन्ता गजस्याभ्यपतद् गजस्थं तुल्य-प्रतिद्वन्द्वि वभूव युद्धम्॥ रघु. ७-३७

नदत्सु तूर्येष्वविभाव्यवाचो नोदीरयन्ति स्म कुलोपदेशान्।

वाणाक्षरैरेव परस्परस्य नामोर्जितं चापभृतः शशंसुः। वही ७-३८

घोड़ों की टापों और रथों के पहियों से उठी धूल एक साथ मिलकर दूनी हो गयी और फिर हाथियों के कानों के हिलने से चारों ओर विखरकर सूर्य को ढंकने लगी। धूल के कारण पहियों के शब्द को सुनकर ही रथ का बोध हो पाता था और घण्टों की ध्वनि ही हाथियों का परिचय देती थी। कौन किस पक्ष का है, यह पता तभी चल पाता था जब योद्धा अपने राजा का नाम ले लेकर लड़ते थे—

रथो रथाङ्गध्वनिना विजज्ञे विलोल-घण्टा-क्वणितेन नागः।

स्वभर्तृ-नामग्रहणाद् वभूव सान्द्रे रजस्यात्मपराववोधः॥ वही ४१

उत्थापितः संयति रेणुरश्वैः सान्द्रीकृताः स्यन्दन-वंशचक्रैः।

विस्तारितः कुञ्जर-कर्णतालै नेंत्र-क्रमेणोपरुरोध सूर्यम्॥वही ३९

युद्धि भूमि में शस्त्रों से कटे वीरों और अश्वों, गजों के शरीर से निकला रक्त प्रातः कालीन सूर्य की लाली का भ्रम उत्पन्न करता था। इतना रक्त वहा कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमि की धूल नीचे दबगयी और वायु के सहारे ऊपर फैली धूल अँगारों से ऊपर उठते धुएँ के सदृशलग रही थी—

शस्त्र-क्षतश्व द्विप-वीरजन्मा वालारुणोभूद् रुधिर-प्रवाहः ।

स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुतस्योपरिष्टात् पवनावधूतः ।

अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवावभासे ॥ वही ७-४२, ४३

गजारोहियों के मध्य युद्ध में तेज धार वाले चक्रास्त्रों तथा क्षुरों की धार से महावतों के मस्तक कटकर गिर जाते थे और श्येन उन्हें लेकर उड़ जाते थे । तब उनके लम्बे बाल श्येनों के नखों में फँस जाने के कारण वे देर पृथिवी पर गिर जाते थे । यदि किसी घुड़सवार के प्रहार से कोई घुड़सवार चोट खाकर गिर जाता था तो फिर उसका शत्रु उस पर दोबारा प्रहार नहीं करता था । क्योंकि वह विक्षत होकर घोड़े की पीठ पर औंधा गिरा रहता था । तब उसका शत्रु युद्ध-नियमों के अनुसार केवल उसके जीते रहने की कामना करता था क्यों घायल पर प्रहार करना निमय विरुद्ध है—

आधोरणानां गजसन्निपाते शिरांसिचक्रै र्निशितैःक्षुराग्रैः ।

हतान्यपि श्येननखाग्रकोटि व्यासक्तकेशानि चिरेण पेतुः ॥

पूर्वं प्रहर्तान जघान भूयः प्रतिप्रहाराक्षममश्वसादी ।

तुरङ्गम-स्कन्ध-निषण्ण-देहं प्रत्याश्वसन्तं रिपुमाचकाङ्क्ष ॥ वही ४६, ४७

योद्धा तलवारों से प्रहार करते तो हाथियों के दाँतों से चिनगारियाँ निकलने लगतीं और वे उन्हें अपनी सूँड में भरे पानी से बुझाते । युद्ध भूमि में अचेत पड़े योद्धाओं के दोनो हाथ सियारिनें चबातीं तो उनकी भुजा में बँधे केयूर सियारों के तालु में छिद जाते और वे उन्हें छोड़कर हट जाते । सारथियों के मारे जाने पर योद्धा स्वयं अपना रथ हाँकने लगते किन्तु जब उनके अश्व भी आहत होकर गिर जाते तो वे गदा से युद्ध करते और गदा टूट जाने पर मल्ल युद्ध करने लगते । उस समय सारी रणक्षिति मृत्यु की पानभूमि सी लग रही थी जिसमें वाणों से कटे सिर बिखरे फलों से और उलटे गिरे हुए मुकुट पान पात्रों से लग रहे थे और वहता हुआ रुधिर मदिरा-सदृश दिख रहा था—

शिलीमुखोत्कृत्त-शिरः-फलाढ्या च्युतैः शिरस्त्रैश्चषकोत्तरेव ।

रणक्षितिः शोणित- मद्यकुल्या रराज मृत्योरिवपानभूमिः ॥ रघु. ७-४९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिदास के ये वर्णन बड़े ओजस्वी, अलंकृति रहित, प्रत्यक्ष देखे हुए दृश्यों के प्रभावोत्पादक चित्रण हैं । उपर्युक्त श्लोक तो सर्वथा अपूर्व है- निम्न श्लोक भी उनकी अन्तर्भेदी दृष्टि का परिचायक है—

उपान्तयो र्निष्कुषितं विहङ्गैराक्षिप्य तेभ्यः पिशितप्रियापि ।

केयूरकोटि-क्षत-तालुदेशा शिवा भुजच्छेदमपाचकार ।। वही ५०

यों तो रघुवंश का यह पूरा सर्ग युद्ध को ही समर्पित है किन्तु उसमें लगभग तीस श्लोकों में कालिदास ने वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स और अदभुत रसों के बीच मनोरम सामञ्जस्य बिठाकर तथा विषयानुकूल भाषा के साथ युद्ध के समग्र दृश्यों का ऐसा प्रभावोत्पादक वर्णन किया है कि उसे देखकर कवि की प्रतिभा को नमन करने इच्छा होती है ।

रघुदिग्विजय युद्ध

रघु के दिग्विजय के प्रसंग में उसकी भारत-व्यापी युद्ध यात्रा को कवि ने केवल सामान्य वक्तव्यों के ही साथ समाप्त कर दिया है । वह चाहता तो नमूने के तौर पर किसी दाँततोड़ संघर्ष का वर्णन कर सकता था पर उसने उसका उल्लेख उस आँधी के समान कर के काम चला लिया है जो तीव्र गति से आगे बढ़ती हुई धूल धक्कड़ उड़ाती, लता वल्लरियों को कँपाती और अक्खड़ वृक्षों को जड़ मूल से उखाड़ती बिना प्रतिरोध आगे बढ़ जाती है । उसने कह भी दिया है—

त्याजितैः फलमुत्खातै र्भग्नैश्च वहुधानृपैः ।

तस्यासीदुल्ल्वणो मार्गः पादपैरिव दन्तिनः ।। रघु. ४-३४

जैसे हाथी सामने पड़ने वाले वृक्षों के फल तोड़कर वृक्षों को जड़ से उखाड़ कर या तोड़ फाड़कर अपना मार्ग सरल बना लेता है वैसे ही रघु ने मार्ग के राजाओं से भेंटे लेकर उन्हें नष्ट-भ्रष्ट या अस्त-व्यस्त करके किया । वङ्गों ने नौकाओं से युद्ध किया, कलिङ्गों के विरुद्ध आक्रमण के लिये उसने हाथियों से पुल बनाकर कपिशा नदी को पार किया । उसे कलिङ्गों की गज सेना तथा उनके शस्त्रों का सामना करना पड़ा । महेन्द्रनाथ, पाण्ड्य और केरल और फिर अपरान्त, पारसीक आदि अनेक देशों की विजय की चर्चा तो कवि ने की, उन राज्यों की विशेषताओं का भी उल्लेख किया किन्तु युद्ध का वर्णन नहीं किया । पारसीकों की दाढ़ी मधु के छत्तों के समान थी । वे सिर पर टोप या शिरस्त्राण पहनते थे । उनके दाढ़ी मूछों भरे चेहरों के रघु-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सैन्य के वाणों से कट- कटकर भूमि पर लोटने की बात कवि ने कही है किन्तु युद्ध का चित्रण टाल दिया है—

भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम्।

तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव ।। रघु. ४-६३

केवल पर्वतीय गणों के साथ रघु के युद्ध का हलका सा विवरण कालिदास ने दिया है—

नाराच-क्षेपणीयाश्म-निष्पेष-पतितानलम् ।। वही ७७

अर्थात् पर्वतीय गणों के साथ उसके युद्ध में नाराच, वाण, भिन्दिपाल आदि तथा पत्थर के टुकड़ों से विरोधियों पर प्रहार किया गया। इसमें अस्त्रों की परस्पर रगड़ से अग्नि उत्पन्न हो जाती थी। कवि ने इसका स्पष्टीकरण भी प्रारम्भ में ही दे दिया है सेना चतुर्व्यूहा थी जिसके आगे-आगे उसका प्रताप चलता था, फिर सेना का कोलाहल, फिर उससे उठी धूल और उसके पीछे रथादि। इस प्रकार उसका प्रताप (धाक) उसके लिये मार्ग बनाता चला गया। युद्ध की आवश्यकता ही नहीं हुई। कितनी चतुराई से कवि ने स्वयं को युद्ध की विभिषिका का सामना करने से बचा लिया है।

राम- रावण- युद्ध

लङ्का का राम-रावण युद्ध तो सुविख्यात है किन्तु दशरथ के बाद कवि की रुचि रघुवंश में कम होती गयी है और उसने प्रायः प्रसंगों को संक्षिप्त कर चलता कर दिया है। लङ्का युद्ध भी इसी प्रकार का है। इसे उसने निम्न श्लोकों से प्रारम्भ किया है—

रणः प्रववृत्ते तत्र भीमः प्लवगरक्षसाम्।

दिग्विजृम्भित-काकुत्स्थ-पौलस्त्य-जय-घोषणः ।। रघु. १२-७२

पादपाविद्ध-परिघः शिला-निष्पिष्ट-मुद्गरः।

अतिशस्त्र-नख न्यासः शैल-रुग्ण मतङ्गजः ।। वही ७३

वानरों और राक्षसों के बीच युद्ध प्रारम्भ हुआ। दोनों ओर से राम और रावण के जय जयकारों से दिशायें गूँज उठीं। वानर वृक्षों और उनकी बड़ी शाखाओं को मारकर राक्षसों के परिघ (लोहवद्धकाष्ठ वाले अस्त्र) तोड़ने लगे और शिलाओं के प्रहार से मुदगर। वे अपने नखों से ऐसे बड़े-बड़े घाव कर रहे थे जैसे शस्त्रों से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी नहीं हो पाते। वे बड़ी-बड़ी चट्टानें ऊपर गिरा कर हाथियों का कचूमर निकाल रहे थे।

गरुडापात-विश्लिष्ट-मेघनादास्त्र-वन्धनः।

दाशरथ्योः क्षणक्लेशः स्वप्रवृत्त इवाभवत्। वही ७६

ततो विभेद पौलस्त्यः शक्त्या वक्षसि लक्ष्मणम्॥ वही ७७

तभी मेघनाद ने राम और लक्ष्मण को नागपाश से बाँध लिया किन्तु तुरन्त ही गरुड ने आकर पाश को काट दिया। तभी मेघनाद ने शक्ति से लक्ष्मण के वक्ष पर प्रहार किया जिससे वह अचेत हो गये। फिर कुम्भकर्ण ने आकर राम के मार्ग को इस प्रकार रोक लिया जैसे पत्थर तोड़ने की टाँकी से गिरी मैनसिल रोकती है—

(कुम्भकर्णः) रुरोध रामं शृङ्गीव दङ्कच्छिन्न मनःशिलः।वही ८०

फिर राम और रावण के बीच सीधे युद्ध का अवसर आया। रावण अकेला होकर भी अनेक शिरों और भुजाओं के कारण बहुत से राक्षसों से घिरा मालूम पड़ता था। उसन क्रुद्ध होकर राम की शुभ की सूचक स्फुरित (फड़कती) भुजा में वाण मारा किन्तु राम ने जो वाण छोड़ा वह रावण की छाती को छेदकर पताल में ले चला गया—

अन्योन्य-दर्शन-प्राप्त विक्रमावसरं चिरात्।

राम-रावणयो र्युद्धं चरितार्थमिवाभवत्॥ रघु. १२-८७

भुजमूर्घ्नोरुवाहुल्यादेकोऽपि धनदानुजः।

ददृशे ह्ययथापूर्वो मातृवंश इव स्थितः॥ वही ८८

तस्य स्फुरति पौलस्त्यः सीता-संगम-शंसिनि।

निचखानाधिक-क्रोधः शरं सव्येतरे भुजे॥ वही ९०

रावणस्यापि रामास्त्रो भित्त्वा हृदयमाशुगः।

विवेश भुवभाख्यातुमुरगेभ्य इव प्रियम्॥ वही ९१

रावण ने राम पर शतघ्नी से प्रहार किया। इस शतघ्नी के चारों ओर लोहे की काँटियाँ लगी थीं और जो सक्षात् यमराज की शाल्मलि नामक गदा के समान भयंकर थी। राक्षसों को लगा कि अब राम गये किन्तु राम ने अर्ध चन्द्राकार फलों वाले वाणों से शतघ्नी को केले के समान काट दिया—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अयः शङ्कुचितां रक्षः शतघ्नीमथ शत्रवे।

हृतां वैवस्वतस्येव कूटशाल्मलिमक्षिपत्। वही ९५

राघवो रथमप्राप्तां तामाशांच सुरद्विषाम्।

अर्धचन्द्र- मुखै र्वाणै श्चिच्छेद कदलीमुखम्। वही ९६

और इसके पश्चात्—

अमोघं संदधे चास्मै धनुष्येक-धनुर्धरः।

ब्राह्ममस्त्रं प्रियाशोकशल्य-निष्कर्षणौषधम्॥ वही ९७

तदव्योम्नि शतधाभिन्नं ददृशे दीप्तिवन्मुखम्।

वपुर्महोरगस्येव करालफण-मण्डलम्॥ वही ९८

तेन मन्त्रप्रयुक्तेन निमेषार्धादपातयत्।

स रावणः-शिरः पङ्क्तिमज्ञात- व्रणवेदनाम्। वही ९९

धनुर्धर राम ने एक ब्राह्म अस्त्र धनुष पर रखा। वह ब्रह्मास्त्र आकाश में प्रकाश के सैंकड़ों पुँजों के रूप में चमकने लगा। लग रह था कि अपने कराल फन मण्डल के साथ शेषनाग आ गये हैं। उस मन्त्र- प्रयुक्त ब्रह्मास्त्र से रावण के शिरों की पङ्क्ति निमेषार्ध में ही कटकर पृथिवी पर गिर गयी।

लङ्का का यह युद्ध वस्तुतः राम- रावण का ही युद्ध है। उत्तेजना से रहित, भुज दण्ड कड़काने वाली दर्पोक्तियों से सर्वथा शून्य, शान्त। यह केवल दो व्यक्तियों के मध्य हुए युद्ध का ही आभास देता है।

कालिदासकालीन शासन-व्यवस्था

महाकवि कालिदास के काल में विषय में विद्वानों में चाहे कितना ही मतभेद क्यों न हो, इस विषय में प्रायः सभी सहमत हैं कि उनकी लीला-भूमि वर्तमान मध्य प्रदेश ही थी। म.म. डा. मिराशी अवश्य उन्हें गुप्तयुगीन मानते हैं और वाकाटक राजा प्रवरसेन द्वितीय के दरबार में दूत के रूप में उनकी स्थिति स्वीकार कर उनका रामटेक से उनका सम्बन्ध जोड़ते हैं किन्तु यह रामटेक भी इस प्रदेश की सीमा पर अवस्थित है और प्राचीन मध्य प्रदेश में उसकी सीमा के अन्तर्गत ही था। सरगुजा जिले के रामगिरि अथवा चित्रकूटतीर्थ से लेकर (जहाँ से मेघदूत के यक्ष की यात्रा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रारम्भ होता है) दशपुर (मन्दसोर) तक के सारे प्रदेश इसी भू-भाग के अन्तर्गत हैं। इससे यह अनुमान निकलना स्वाभाविक है कि जिस प्रकार उनके प्रकृति-वर्णनों पर इस प्रदेश की छाप है उसी प्रकार उनकी कृतियों में चित्रित राजनीतिक व्यवस्था पर भी स्थानीय एवं युगीन प्रभाव है। इस बात की पुष्टि अनेक तर्कों से की जा सकती है किन्तु इस लेख का यह उद्देश्य नहीं है।

कालिदास चाहे विक्रमादित्य के समकालीन हों या चन्द्रगुप्त द्वितीय के, दोनों ही युगों में देश की राजनीतिक स्थिति प्रायः समान थी। छोटे-छोटे जनपदों में विभक्त हो जाने के कारण कालिदास-पूर्व भारत सैन्य एवं संगठन की दृष्टि से दुर्बल हो चुका था। परिणामस्वरूप विदेशी आक्रान्ता जब चाहे आक्रमण करते और जनपदों के शासकों को पराभूत कर देते थे। देश में एक ऐसे चक्रवर्ती सम्राट की आवश्यकता थी जो हिमालय के मानसरोवर और काश्मीर से लेकर समुद्र पर्यन्त देश को एक सूत्र में बाँध सके। कालिदास के काव्यों में सर्वत्र यही कल्पना मुखरित है—

अनन्य- शासनामुर्वी शशासैकपुरीमिव।

स्पष्ट है कि वह ऐसे एक-तन्त्रीय और एक-केन्द्रीय शासन की आवश्यकता का अनुभव करते थे जिसमें सारा देश एक नगर के समान शासित हो सके। किन्तु इतना बड़ा देश किसी सामान्य व्यक्ति के हाथों में नहीं सौंपा जा सकता था। सौभाग्य से उनके समक्ष न केवल ऐसे अधिकारी व्यक्ति उपस्थित थे, प्रत्युत ऐसी राज्य-व्यवस्था भी विद्यमान थी जो जन-सामान्य को सन्तोष दे सके। कालिदास की कृतियों में हम इस व्यवस्था का स्पष्ट रूप देख सकते हैं।

इस काल में 'राजा' राज्य का सर्वोपरि व्यक्ति था जिसका जन्मना नहीं, अपितु कर्मणा क्षत्रिय होना आवश्यक था। 'मालविकाग्निमित्र' का नायक अग्निमित्र, जो विदिशा का राष्ट्रिय (गवर्नर) था स्वयं ब्राह्मणवंशीय सम्राट् पुष्यमित्र शुङ्ग का पुत्र था। इस वंश के पश्चात् भी भारत में ६०० वर्षों तक ब्राह्मण और वैश्य सम्राटों की एक शृंङ्खला मिलती है। ये शासक कर्मणा क्षत्रिय थे और इसका प्रमुख कर्तव्य था आर्तों का परित्राण। शाकुन्तल का वैखानस स्पष्ट ही कहता है—

आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि।

रघुवंश में भी दिलीप का कथन है कि क्षत्रिय उसे कहते हैं जो प्रहार या चोट से रक्षा करे—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दः भुवनेषु रूढः ।

किन्तु राजा का कर्तव्य सामान्य क्षत्रिय से कहीं आगे था । उसका प्रमुख धर्म था प्रकृति (प्रजा) का रंजन । कालिदास ने राजा शब्द की व्युत्पत्ति ही बदल दी है और इस शब्द को एक नया अर्थ दिया है । जैसे चन्द्र (आनन्दित करना) धातु से बने चन्द्र का अर्थ है, सब को आह्लाद देने वाला, तप् धातु से बने तपन शब्द का अर्थ है सब को तपाने वाला, इसी प्रकार रञ्ज (प्रसन्न करना) धातु से वने राजन् शब्द का अर्थ है जनता को प्रसन्न करने वाला । निश्चित ही कालिदास राजा का प्रमुख धर्म मानते हैं 'प्रजारञ्जन' ।

यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा ।

तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात् ॥

इसीलिये तपस्वी के मुख से यह सुनकर कि आप जैसे रक्षक के विद्यमान होने पर भला सत्कार्यों में विघ्न कैसे हो सकता है, दुष्यन्त कह उठता है—"अर्थवान् खलु में राजशब्दः" अर्थात् मेरे नाम के साथ लगा हुआ 'राजा' यह विशेषण सार्थक हो गया । इस रञ्जन का प्रथम अङ्ग था विनयाधान, अर्थात् शिक्षण और दूसरा अङ्ग था कष्टों या सङ्कटों से संरक्षण । तृतीय अङ्ग था भरण अर्थात् प्रजा की जीविका का प्रबन्ध करना । इस प्रकार शासन तीन मौलिक अवश्यकताओं का दायित्व अपने ऊपर लेता था । पिता के भी ये ही तीन कार्य होते हैं । इसीलिये सन्तान को प्रजा कहते हैं और शासित जनता को भी । शासक का वास्तविक मूल अर्थ है शिक्षित या शिष्ट बनाने वाला । इसीलिये प्रजा को मर्यादा से बाहर न जाने देना भी राजा का कार्य था । जैसे वाहक पहिये को लीक से बाहर नहीं जाने देता, वैसे ही राजा भी प्रजा को मानवीय मर्यादाओं के उल्लंघन से रोकता था । ऐसे शासन में धर्म और अर्थ-काम का समान सम्मान था । वे परस्पर विरोधी नहीं, पूरक बनकर रहते थे । इस काल में विद्या-केन्द्रों की बहुत प्रतिष्ठा थी । उनकी सुरक्षा और सुख सुविधा का ध्यान अपेक्षाकृत अधिक चिन्ता से रखा जाता था । शकुन्तला को त्रस्त देखकर दुष्यन्त दपट कर कहता है—

कः पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम् ।

अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्वि-कन्यासु ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरा काम उद्दण्डों को अनुशासित रखना है । फिर मेरे रहते हुए यह किसका साहस है कि मुग्ध तपस्वि-बालाओं (छात्राओं) के साथ अशिष्ट आचरण करे । (काश आज किसी की वाणी में यह ओज होता और हमारी बालिकाएँ निःशङ्क निरापद सड़कों पर घूम सकतीं !) इस काल में राजा का पद केवल सम्मान और प्रतिष्ठा के लिये नहीं था । उसका प्रतिक्षण राज्य-कल्याण के लिये समर्पित था । सबेरे से कार्य करते-करते थक कर अभी-अभी न्यायासन से उठा कि तुरन्त कोई आ गया । अब कञ्चुकी (सेवक) को तरस आ रहा है कि कैसे इतने थके राजा को यह समाचार दे किन्तु स्वयं वही इसका समाधान भी खोज लेता है कि 'लोकतन्त्र' के अधिकारी को भला विश्राम कहाँ ?' और वह फिर राजा को वापिस बुला लाता है । शाकुन्तल का कञ्चुकी कहता है—

"कामं धर्म-कार्यमनतिपात्यं देवस्य । तथापीदानीमेव धर्मासनादुत्थिताय पुनरुपरोधकारि कण्वशिष्यागमनं नोत्सहे निवेदितुम् । अथवा अविश्रमोऽयं लोकतन्त्राधिकारः ।"

लोकतन्त्र के इस सेवक को कभी और कहीं चैन न था । उसे एकान्त में भी प्रजा के सुख की चिन्ता पीड़ित करती थी ।

प्रजाः प्रजाःस्वा इव तन्त्रयित्वा निषेवते शान्तमना विविक्तम् ।

अन्य प्राणी तो अर्थित वस्तु पाकर शान्ति का अनुभव कर सकते थे किन्तु राजतन्त्र के प्रमुख की एक सफलता दूसरे अधिक कठिन कार्य को हाथ लेने का निमन्त्रण देती थी— "सर्वः प्रार्थितमधिगम्य सुखी संपद्यते जन्तुः । राज्ञां तु चरितार्थता दुःखान्तरैव ।"

कालिदास ने शासनाधिकार की उपमा हाथ में सधे हुए छाते से दी है जो छाया तो देता है किन्तु पकड़ने वाले के हाथ को थकाता भी है ।—"राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम्" । एक हाथ में दण्ड लेकर कुमार्ग पर चलने वालों का नियमन करना, लोगों के विवादों को शान्त करना, निर्बल की रक्षा करना और जब परिवार या जाति के सारे लोग साथ छोड़ दें तो भी सहायता देकर व्यक्ति को सम्हालना, ये कार्य यदि ईमानदारी से किये जायँ तो शासन कुटुम्बियों से किसी बात में कम न हो । कालिदास इसीलिये शासन और बन्धु कार्य में अन्तर नहीं मानते । बन्धुजन तो केवल समृद्धि के समय ही काम आते हैं—

नियमयसि कुमार्ग-प्रस्थितानात्तदण्डः—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय।

अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम—

त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धु-कृतं प्रजानाम्।।

इसीलिये इस काल में राजा का स्थान मुनि के समकक्ष था। उसकी साधना और तपस्या किसी मुनि से कम न थी। राजपद उपभोग की नहीं, तप की माँग करता है। कालिदास की कल्पना के शासक के मुख पर जहाँ एक ओर तेज वहाँ दूसरी ओर शान्ति और विश्वासोत्पादकता भी थी क्योंकि वह ऋषियों की श्रेणी का व्यक्ति होता था—

"अहो दीप्तिमतोपि विश्वसनीयतास्य वपुषः। अथवोपपन्नमेतट्टऋषिभ्यो नातिभिन्ने राजनि" कालिदास ने साम्य का कारण निम्न शब्दों में स्पष्ट किया है :

अध्याक्रान्ता वसति रमुनाप्याश्रमे, सर्वभोग्ये,

रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं सञ्चिनोति।

अद्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारण-द्वन्द्व-गीतः,

पुण्यः शब्दो मुनिरिति परं केवलं राजपूर्वः।।

दोनों ऐसे आश्रमों में रहते हैं जहाँ हर एक की पहुँच हो सकती थी। दोनों ही प्राणियों की रक्षा कर प्रतिदिन तप संचित करते हैं। दोनों का ही स्वयं पर नियन्त्रण होता है। दोनों की ही कीर्ति लोगं गाते हैं। अन्तर केवल इतना है कि एक को केवल मुनि कहते हैं दूसरे को राजमुनि। ऐसे शासक की कीर्ति लोक-गीतों में गूँथ कर खेत रखाने वाली लड़कियाँ तक गाया करती थीं—

इक्षुच्छाय-निषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्,

आकुमार-कथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः।।

मनु के काल से 'वर्णाश्रम-पालन' राजा का प्रमुख कर्तव्य माना जाता रहा और पालन बिना दण्ड-शक्ति के सम्भव नहीं। इसीलिये दण्ड्य को दण्डित करना धार्मिक कर्तव्य था "स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान्।" इस बात का भी ध्यान रखा जाता था कि दण्ड अपराध के अनुकूल हो, न कम और न अधिक- "यथापराधदण्डानाम्"। मनु ने कहा था—"अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशो महदाप्नोति"। इस विषय में उदारता का प्रदर्शन अव्यवस्था को आमन्त्रित करता था। दण्ड की ठीक व्यवस्था होने के कारण इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युग में बड़े अपराधों का उल्लेख नहीं मिलता। केवल पाटच्चर, कुम्भीरक, गण्डभेदक जैसे शब्द जो कि चोर के पर्याय हैं, इस युग में मिलते हैं। इन सामान्य अपराधों के लिए भी इस युग में कड़े इस युग में दण्ड का विधान था। शाकुन्तल में अँगूठी के चोर से आरक्षी कहता है "शुनो मुखं द्रक्ष्यसि; गृध्रवलिर्वा भविष्यसि"। कुतों से चिथवाया जाना या गीधों के सामने फेंक दिया जाना, ये उस युग के सामान्य दण्ड थे। इस समय श्याल राजधानी का बड़ा पुलिस, अधिकारी होता था। वर्तमान साला शब्द जो अब गाली के रूप में प्रयुक्त होता है, इसी का अपभ्रंश है। मूल अर्थ में यह शब्द राजा की सबसे छोटी पत्नी के भाई के लिए प्रयुक्त होता था, किन्तु धीरे-धीरे श्याल लोग मद्यपी एवं अनाचारी होते गये और जनसामान्य की घृणा के पात्र बन गये। कालिदास की कृतियों में पुलिस शराबी, रिश्वत लेने वाली और गाली देने में निष्णात मिलती है।

कालिदास ने राजा को बार-बार 'षष्ठांशवृत्ति' कहा है। इससे स्पष्ट है कि इस युग में उपज का छठा भाग कर के रूप में लिया जाता था। दण्ड के रूप में कभी-कभी अन्न भी लिया जाता था किन्तु यह अपवाद-स्वरूप था। राजपरिवार के विवाहादि उत्सवों के अवसर पर विशेष कर लेने की प्रथा इस समय नहीं थी। शासन लालची नहीं था। मौर्य राजा हर प्रकार से, यहाँ तक कि देव-मूर्तियाँ ढलवाकर उनका शासकीय स्तर पर व्यापार करते थे किन्तु कालिदास-कालीन व्यवस्था इससे भिन्न थी। "अगृध्नुराददे सोऽर्थम्" राजा कर लेता था किन्तु लालचवश नहीं। जो कर लिया ज़ाता था, उसका प्रजा के कल्याणार्थ व्यय कर दिया जाता था। जिस प्रकार सूर्य नदियों और तालाबों से जल खींचता है और सौ गुना कर उन्हें लौटा देता है वैसी ही स्थिति राज्य की थी।

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।

सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥

प्रजा को यह विश्वास था कि उससे लिये गये कर का दुरूपयोग नहीं होगा, इसलिये वह प्रसन्नता से अपना देय चुका देती थी। इस षष्ठांश से आश्रमवासी तपस्वी भी मुक्त न थे। राज-कर्मचारी आश्रमों में कर वसूलने न पहुँचते, तो भी वे अपना षष्ठांश नदी किनारे टीलों पर निकाल कर रख देते थे। सुरक्षित आश्रमों के तप का छठा भाग राजा को प्राप्त होता है, यह सामान्य विश्वास था। इसीलिये दुष्यन्त कहता है। यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तपः षड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः।

अर्थात् दूसरे लोगों का दिया हुआ कर तो नाशवान् है, किन्तु तपस्वी लोग अपने तप का जो छठा भाग कर रूप में देते हैं, उसका फल अक्षय होता है। इसीलिए शासन आश्रमों अर्थात शिक्षा संस्थाओं का अतीव सम्मान करता था। राजदरबार में आश्रम के सामान्य विद्यार्थी को भी विशेष आदर प्राप्त होता था। इस पुण्य के परिणामस्वरूप राज्य में अकाल-मृत्यु का नाम नही सुनायी पड़ता था—

न ह्यकाल-भवो मृत्युरिक्ष्वाकु कुलमस्पृशत्।

यदि कहीं अकाल मृत्यु होती अथवा विद्या या तप में विघ्न उपस्थित होता तो शासन को उसका दोषी ठहराया जाता था। कालिदास का एक नायक (राजा) ऋषि-पुत्रों से उनका कुशल-क्षेम पूछते हुये कहता है:—

किन्तावद् व्रतिनामुपोढ-तपसां विघ्नैस्तपो दूषितम् ?

आहोस्वित् प्रसवो ममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरूधाम् ?

क्या मेरी असावधानी के कारण तपस्वियों के तप में कोई विघ्न उपस्थित हो गया है अथवा मेरे किन्हीं पापों के कारण वृक्षों में फल नहीं लगे है ? इस काल में ऐसा नहीं था। राजा तो क्या, चारों वर्णो के अर्न्तगत कोई अपकृष्ट भी कुमार्ग पर नहीं चलता था।

इन सब कार्यों में राजा की सहायता के लिये मन्त्रिपरिषद् थी। मन्त्री और अमात्य शब्द कालिदास की दृष्टि में पर्यायवाची थे। प्रधानामात्य सामान्यतः ब्राह्मण होता था। इस प्रकार बौद्धिक एवं आत्मिक शक्ति अधिकार एवं सता को संयमित रखती थी। यों भी भारतीय शासन व्यवस्था की एक बड़ी विशेषता यह रही है कि उसमें विधायिका और कार्य-पालिका शक्ति एक ही स्थान पर केन्द्रित नहीं थी। विधि अथवा कानून बनाते थे निःस्पृह, गृहत्यागी तापस और उनका पालन कराने वाला था शासन। अमात्य हर प्रकार से राज्य के प्रति ईमानदार थे। राजा राज्य का सारा भार मन्त्रियों पर डाल कर कभी-कभी विशिष्ट कार्य में लग जाता था तो भी राजकार्य यथावत् चलते थे। ऐसी स्थिति भी आती थी जब राजा पाँच छै वर्ष के ही राजकुमार के छोड़ कर दिवंगत हो जाता या अपुत्र ही मर जाता था। ऐसी स्थिति में मन्त्रिगण बालक का ही अभिषेक कर उसके नाम पर शासन करते रहते थे और यदि बालक गर्भस्थ तक हुआ तो भी जन्म के साथ उसे राजा के रूप में स्वीकार कर उसके नाम पर शासन-भार वहन करते थे। यों राजा सामान्तया राज्य का काम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वंय देखता और शास्त्र के आदेश के अनुसार प्रजा के विवादों पर निर्णय देता था। जनता की बेरोकटोक पहुँच उस तक थी:—"अर्थि-प्रत्यर्थिनां स्वयं-ददर्श संशयच्छेदान् व्यवहारानतन्द्रितः" वह अर्थी और प्रत्यर्थी के विवादों को स्वंय सावधानी से देखता था और उन पर इस प्रकार निर्णय देता था कि दोनों का संशय दूर हो जाय। निःस्पृह विद्वानों का सत्परामर्श और शासक का भुजबल दोनों मिल कर शासन को स्थायित्व प्रदान करते थे :—

वसिष्ठस्य गुरोर्मन्त्राः सायकास्तस्य धन्विनः।

इसके परिणामस्वरूप इस युग की प्रजा पूरी आयु तक जीती थी, आतंक एवं ईति से रहित होकर। राजा विनयवश इस सौराज्य का कारण विद्वानों की अनुकम्पा को मानता था

पुरूषायुष-जीविन्यो निरातङ्का निरीतयः।

यन्मदीयाः प्रजास्तस्य हेतुस्त्वद्-ब्रह्मवर्चसम्।

और ब्रह्मवर्चस्-युक्त विद्वान राज्याकांक्षी नहीं होते थे। चाणक्य इसका लोक प्रसिद्ध उदाहरण है। कालिदास ने एक विपरीत स्थिति का भी उल्लेख किया है जब कि शासक विलासी था। राजभवन के भीतर पान और प्रियाओं में आसक्त होकर यह प्रजा से सर्वथा विमुख था और मन्त्रियों पर निर्भर था। मन्त्रियों के आग्रह पर कभी-कभी अपना पाँव वातायन से बाहर निकाल कर प्रजा को दिखा देता था जिससे उसके जीवित होने का पता चलता रहे। स्वाभाविक था कि कालान्तर में ऐसे राज्य का विनाश हो जाता। इस युग में राजकुमारों के लिए भी निश्चित नियम थे। वे ८ वर्ष की आयु में उपनयन संस्कार के साथ विद्याध्ययन के लिए गुरूकुल भेज दिये जाते थे। वहाँ वे अन्य छात्रों के साथ ब्रह्मचर्याश्रम के समस्त नियमों का पालन करते हुए न केवल विद्याध्ययन करते थे, अपितु युद्ध-विद्या का भी अभ्यास उन्हीं आचार्यो के साथ करते थे। यह एक मनोरंजक बात है कि विद्यालयों के आचार्य जहाँ एक ओर शास्त्राध्ययन कराते थे वहाँ दूसरी ओर उन्हें राजनीति और युद्ध-कला की भी शिक्षा देते थे। जब ये राजकुमार वर्महर या कवचहर हो जाते तो१८ या आयु में २० वर्ष की घर लौट आते थे। घर आने पर उन्हें विशिष्ट अमात्य का पद दिया जाता था। राजगद्दी प्राप्त करने से पूर्व उन्हें अपनी पात्रता सिद्ध करनी होती थी। यह पात्रता सामान्यतः किसी महान शौर्य पूर्ण कार्य की सिद्धि के द्वारा प्राप्त की जाती थी। रघु ने पिता के यज्ञाश्व की रक्षा के लिए युद्ध किया था और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अग्निमित्र के पुत्र ने सिन्धु तक मिनाण्डर की सेना का सामना कर उसे परास्त किया था।

राजपुत्रों के अभिषेक की विशिष्ट पद्धति थी। एतदर्थ चार स्तम्भों पर स्थित ऊँची वेदी का विमान (उच्च मण्डप) बनाया जाता था जिसमें भद्रपीठ पर राजकुमार को बिठाकर प्रमुख् प्रजाजन राज्य के विभिन्न तीर्थों (जलाशयों, कूपों और नदियों) से जल-लाकर सुवर्ण-कलशों से स्नान कराते थे। अभिषेक शब्द का अर्थ ही है स्नान। इस समय तूर्य (अनेक संयुक्त वाद्य) और पुष्कर बजते थे। जातिवृद्ध लोग दूर्वाड्.कुर,यवाङ्कुर, प्लक्ष की छाल, वालपल्लव आदि से नीराजना करते थे और ऋत्विक् लोग अथर्व के मन्त्रों से अभिषेकक्रिया सम्पन्न करते थे। इस समय बन्दी लोग स्तुति पाठ करते थे। स्नातकों को दान दिया जाता था। कैदियों को छोड़ दिया जाता था। गायों का दूध नहीं दुहा ज़ाता था। शुकादि पक्षी तक छोड़ दिये जाते थे। अभिषेक के बाद राजकुमार को दूसरी कक्ष्या में गजदन्त के आसन पर अधिष्ठित किया जाता था। वहाँ विशिष्ट प्रकार के धूपद्रव्यों से उसके केश सुखाये जाते थे, साज-सज्जा की जाती थी, मुक्ता-गुणमय पद्मराग का प्रभा-मण्डल-शोभी मुकुट पहनाया जाता था। कस्तूरी-सुगन्धित चन्दन से अङ्गराग किया जाता था, पत्र-रचना की जाती थी, और हंस-खचित दुकूल ओढ़ाया जाता था। तब वह वितान-सहित पैतृक आसन पर बैठता था। राजपत्नी के लिए भी इस प्रकार के पृथक् नियम थे। यात्रा के समय वह एक पृथक् वाहन 'कर्णीरथ'पर चलती थी।

राजधानी के निर्माण के विषय में चाणक्य ने ब्योरेवार और विस्तृत नियम दिये हैं। जैसे अभिषेक- वेदी आदि के लिये, वैसे ही राजधानी के निर्माण के लिए विशेष शिल्पी होते थे। राजधानी वृक्षों से भरी-पूरी स्थली में बनायी जाती थी। नगर शब्द का अर्थ ही है नग (वृक्षों) के मध्य अवस्थित। कालिदास ने तक्षशिला, पुष्कलावती, सिन्धु, कारापथ, शरावती, कुशावती आदि राजधानियाँ बसाने का उल्लेख किया है। राज्य की सीमा के समीप अन्त-दुर्ग बनाये जाते थे जिनका अधिकारी अन्तपाल होता था। अग्निमित्र के समय वीरसेन नर्मदा के तीर पर अन्तपाल दुर्ग का अधिकारी था। दूत, गुप्तचर, सैन्याधिकारी सभी यथास्थान निवेशित होकर शत्रु से, जो कि सदा रन्ध्रान्वेषण में तत्पर रहते थे, राज्य की रक्षा करते थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजा लोग तन्त्रकारों (राजनीति के आचार्यो) द्वारा निश्चित किये गये सिद्धान्तों के आधार पर शासन चलाते थे। मूल निर्देशक नीति थी।

कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापद-चेष्टितम्।

अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः ।।

केवल नीति कायरता है और केवल शौर्य पाशविकता। अतः श्रेष्ठ राजा दोनों का सम्मिलित रूप में अनुसरण करता था। वह जानता था कि नया राज्य नये पौधे के समान होता है। नयी शासन व्यवस्था की जड़ें जब तक जनता में गहरी नहीं बैठ जातीं तब तक उसे सरलता से उखाड़ फेंका जा सकता है। इसीलिये योग्य शासक प्रजाओं के प्रति अनुराग दृढ़ करने का प्रयत्न करता था। साथ ही वह प्रतिदिन मन्त्रियों से परामर्श करता था और यह परामर्श इतना गुप्तद्वार होता था कि किसी को किसी प्रकार इसकी सूचना नहीं मिल पाती थी–

इत्थं जनितरागासु प्रकृतिष्वनुवासरम्।

अक्षोभ्यः स नवोऽप्यासीद् दृढ़मूल इव द्रुमः

मन्त्रः प्रतिदिनं तस्य बभूव सह मन्त्रिभिः

स जातु सेव्यमानोऽपि गुप्तद्वारो न सूच्यते ।।

गुप्तचर विभाग इतना सुगठित था कि शासक एक स्थान पर बैठ कर भी सब कुछ देखता था। प्राचीन भारत की शासन-पद्धति में गुप्तचर-विभाग का संगठन सदा ही दृढ़ रहा है। इसी कारण राजा लोग् चारचक्षुष कहलाते थे। ये चार राजभवन से लेकर अन्तदुर्ग तक इस प्रकार बिखरे रहते थे कि परस्पर एक दूसरे को पहचानते तक न थे। ये लोग 'अपसर्प' कहलाते थे। इनके कारण ही दुर्ग 'दुर्ग्रह' रह पाते थे। जो कार्य करने होते थे उनका सामान्यतः तब चल पाता था जब वे पूर्ण हो जाते थे। तुष के भीतर जैसे चुपचाप धान पकता रहता है, ऐसे ही उनकी प्रगति होति रहती थी। प्रारम्भ से पहले ही उनका ढिंढोरा नहीं पीट दिया जाता था।

भव्यमुख्याः समारम्भाः प्रत्यवेक्ष्या निरत्ययाः।

गर्भशालि सधर्याणः गूढं तस्य विषेचिरे।

कुल मिला शासन का प्रयत्न यह रहता था कि सीमायें सुरक्षित रहें और राज्य के भीतर प्रजा विरक्त न होने पाये। यदि किसी कारणवश प्रकृति (प्रजा)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अप्रसन्न भी हो जाय तो उसे तुरन्त मना लेना चाहिये। कौटिल्य ने भी कहा है कि प्रजा यदि दरिद्र हो तो वह लोभ की ओर बढ़ती है और राज्य से विरक्त हो जाती है। विरक्त होकर वह शत्रुत्व की ओर बढ़ती है और या तो शासन को पलट देती है या गृह- युद्ध की ओर अग्रसर होकर आत्म-विनाश कर लेती है—

क्षीणाः प्रकृतयो नित्यं लुब्धा यान्ति विरागताम्।

विरक्ता यान्ति शत्रुत्वं भर्तारं घ्नन्तिति वा स्वयम्॥

इसी प्रकार राष्ट्रों को मित्रामित्र बनाने के विषय में मध्यम मार्ग का अवलम्बन श्रेयस्कर माना जाता था—

हीनान्यनुपकर्तृणि प्रवृद्धानि विकुर्वते।

तेन मध्यमशक्तीनि मित्राणि स्थापितान्यतः॥

दुर्बल राष्ट्रों की मैत्री से कोई लाभ नहीं। उलटे वे भारभूत होते हैं। साथ ही यदि अधिक शक्तिशाली राष्ट्रों से मैत्री की जाय तो वे सदा आँखें तरेरते रहते हैं और अपने इशारे पर चलाने का प्रयत्न करते हैं। इसलिये अपने समान अर्थात् मध्यमशक्ति वाले राष्ट्रों के साथ मैत्री स्थापित करना चाहिये।

इस प्रकार नीति शास्त्र के अनुसार चलने वाले प्रशासन में वीहड़वन, समतल भूमि, एकान्त पन्थ कहीं भी न चोरी का डर था न डकैती का। व्यापारी लोग पर्वतीय या वन्य स्थानों पर घर के समान ही स्वतन्त्रता पूर्वक विचरण करते थे।

सार्थाः स्वैरं स्वकीयेषु चेरु र्वेश्मस्विवाद्रिषु॥

तथा—

तपोरक्षन् स विघ्नेभ्यः तस्करेभ्यश्च संपदः।

खनिभिः सुषुवे रत्नं क्षेत्रैः सस्यं वनैर्गजान्॥

विद्या तप तथा अन्य शुभ कार्यों को विघ्नों से बचाने का यत्न किया जाता था। चोरी से सम्पत्ति की रक्षा की जाती थी। खानों से भरपूर बहुमूल्य धातु निकाले जाते थे। खेतों की उपज बढ़ी-चढ़ी थी और वनों से गजादि संपत् का दोहन किया जाता था।

इस प्रकार साधनों के भरपूर दोहन और उनके समुचित विनियोग के कारण देश सुखी और समृद्ध था। इसी सुव्यवस्था के कारण भारत के आलवाल में कालिदास जैसे वरेण्य कलाकार पुष्पित और फलित हो सके।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मृगया

मनु आदि नीतिकारों ने राजाओं के लिये मृगया का निषेध किया है। मनु दश कामज और आठ क्रोधज व्यसनों का वर्णन करते हुए उन्हें दुरन्त बतलाते हैं। उनके अनुसार मद्यपान, द्यूत क्रीडा, स्त्री- सेवन, मृगया, दिन में सोना, पर निन्दा, नाचगान, व्यर्थ घूमना ये सब राजा के लिये हानिकारक है और इनमें भी चार सुरापान, द्यूत, स्त्री सेवन और मृगया क्रमशः अधिक कष्टदायी हैं—

पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मगया च यथाक्रमम्।

एतत्कष्टतमं विधाच्चतुष्कं कामजो गणः॥ मनु. ७-५०

इसका अर्थ यह कि कामज व्यसनों में मृगया सर्वाधिक दुरन्त व्यसन है। कामन्दक भी इसका समर्थन करते हैं। उन्होंने कहा है—

मृगयाऽक्षास्तथापानं गर्हितानि महीभुजाम्।

दृष्टास्तेभ्योऽपि विपदः पाण्डुनैषध- वृष्णिषु॥ १-५६

कालिदास को इस बात का पूरा ज्ञान था। वह पाण्डु की कथा से भी परिचित थे। पाण्डु ने मृगया काल में मृग के धोखे से किन्दम ऋषि को वाण मार दिया था और फिर उन्ही के शाप से मृत्यु को प्राप्त हुए। इसीलिये वह दशरथ की चर्चा करते हुए कहते हैं—

न मृगयाभिरति र्नदुरोदरं न च शशि- प्रतिमाभरणं मधु।

तमुदयाय नवा नवयौवना प्रियतमा यतमामनपाहरत्॥ रघु. ९-७

युवा दशरथ की आसक्ति मृगया, द्यूत, मद्यपान और स्त्री सेवन में नहीं थी। कालिदास का यह कथन इस बात का सूचक है कि मनु द्वारा निर्दिष्ट इन चार कष्टतम कामज व्यसनों से वह सम्यक् परिचित थे। किन्तु श्लोक का 'अभिरति' पद ध्यान देने योग्य है। मनु का आशय भी यही है। यदा- कदा इनके सेवन से बच पाना राजा के लिये कठिन था फिर भी इनमें अभिरति या आसक्ति अर्थात् विशेष रूचि होना कष्टप्रद माना जाता था। अधिक सेवन वर्जित था।

मृगया की परम्परा

बात यह है कि जबसे इस देश का सांस्कृतिक इतिहास मिलता है, मृगया, अक्ष और पान यहाँ की सामन्य जीवन चर्या के अभिन्न अङ्ग के रूप में प्राप्त होते हैं। आखेट जन जातियों के जीवन निर्वाह का प्रमुख साधन था। आदि काल से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य की जीविका का यह महत्त्वपूर्ण साधन रहा है। यहाँ तक कि कुछ लोगों के लिये आखेट व्यवसाय था। शैल गुहाओं में प्राप्त प्रागैतिहासिक चित्रों में से अधिकांश आखेट से ही सम्बन्धित हैं। पाणिनि का 'पक्षिमत्स्य मृगान् हन्ति' (४-४-३५) इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि प्राचीन भारत में मृगया का बहुत प्रचलन था। इस सूत्र की व्याख्या में वैयाकरणों ने जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं उनसे पता चलता है कि भिन्न-भिन्न लोग विशिष्ट पशुओं और पक्षियों के आखेट में निष्णात होते थे और यह भी कि किन किन प्राणियों का आखेट किया जाता था। इनमें मीन, पक्षी, शकुनि, मयूर, शकुन्त, मृग और सारङ्ग प्रमुख हैं जिन्हें मारने वाले पाक्षिक शाकुनिक, मायूरिक, मात्स्यिक, शौनिक, शाकुन्तिक, मार्गिक, हारिणिक और सारङ्गिक आदि कहलाते थे।

मृगचर्म धारण की प्रथा

कालिदास ने कुमार सम्भव के प्रारम्भ (१-१५) में ही किरातों का उल्लेख किया है जो सबेरे से ही मृगों की खोज में निकल जाते थे—

यद्-वायुरन्विष्ट-मृगैः किरातैरासेव्यते भिन्न-शिखण्डिवर्हः।

मृगों के आखेट का दोहरा उपयोग था। उनका मांस वे लोग स्वयं खा लेते और चर्म सम्पन्न गृहस्थों और आश्रमियों के हाथ बेच देते थे। मृग चर्म पवित्र माना जाता था। ब्रह्मचारी और मुनि आसन के रूप में उसका उपयोग करते थे। यह अजिन और दण्ड ब्रह्मचारियों के लक्षण थे। शिव जब ब्रह्मचारी के वेष में पार्वती की परीक्षा लेने जाते हैं तो ये दोनों लक्षण उनके साथ होते हैं—

अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग् ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा।

विवेश कश्चिज्जटिल स्तपोवनं शरीरवृद्धः प्रथमाश्रमो यथा॥ कुमार. ५-३०

रुरु मृग का चर्म क्षत्रिय विद्यार्थी धारण करते थे। रघु पिता से शस्त्र विद्या सीखते समय रुरु का चर्म पहनता था—

त्वचंस मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षतास्त्रंपितुरेव मन्त्रवित्। रघु. ३-३१

मृग चर्म पवित्र माने जाते थे। व्याघ्रचर्म राजाओं और सम्पन्न लोगों के घरों की शोभा बढ़ाते थे। शिव के द्वारा आर्द्र नागाजिन धारण करने की चर्चा मेघदूत में है—

नृत्यारम्भे हर पशुपते रार्द्रनागाजिनेच्छां

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शान्तोद्वेगस्तमित नयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या। मेघ. १-३६

किन्तु राजाओं के लिये करी अवध्य था । इसका कारण उनका सेनाङ्ग होना था । गजसेना राजशक्ति का महत्त्वपूर्ण अङ्ग थी । रघुवंश में यह बात स्पष्ट कही गयी है—

तमापतन्तं नृपतेरवध्यो वन्यः करीति श्रुतवान् कुमारः ।

निवर्तयिष्यन् विशिखेन कुम्भे जघान नात्यायतकृष्ण- शार्ङ्गः। रघु. ५-५०

वन्यकरी की अवध्यता की बात अन्यत्र भी दोहरायी गयी है । उसे पकड़कर शिक्षित करना कला थी ।

यज्ञ में दीक्षित गृहस्थ भी ब्रह्मचारी के समान मृगचर्म, दण्ड, कुशमेखला और मृग-शृंग धारण करते थे । इस प्रकार शृङ्गवान् मृगों का यज्ञ में दोहरा उपयोग था—

अजिन-दण्ड-भृतं कुशमेखलां यतगिरं मृगशृङ्ग-परिग्रहाम्।

अधिवसंस्तनुमध्वरदीक्षितामसमभासमभासयदीश्वरः ।।रघु. ९-२१

मृगया- दोष

मृगया शब्द मृगार्थ यान का बोध कराता है । यद्यपि मृग सामान्य वन पशु का बोधक है फिर भी आखेट के लक्ष्य मुख्यतः भोले भाले निरीह मृग ही होते थे । रामायण की कथा तो मृग के आखेट पर ही टिकी है । स्वर्ण मृग का अनुसरण ही तो सीता हरण का कारण बना था—

रक्षसा मृगरूपेण वञ्चयित्वा स राघवौ–

जहार सीतां पक्षीन्द्र-प्रयासक्षण-विघ्नितः ।। रघु. १२-५३

कमन्दक ने मृगया दोष के प्रसंग में पाण्डु का नाम प्रस्तुत किया है । किन्तु कालिदास ने दशरथ और राम की भी विपत्तियों का कारण मृगया बनी, यह बात भी स्पष्ट की है ।

कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल में विदूषक के मुख से मृगया के कष्टों की ओर संकेत किया है । विदूषक लम्बी साँसें खीचता हुआ एकान्त में बड़बड़ाता है—"यह रहा मृग, यह रहा वराह, अरे ! यह रहा शार्दूल, इस तरह वकवक के साथ दोपहर के समय में भी जब पेड़ों के नीचे छाया तक नहीं मिलती, इस वनखण्ड से उस वनखण्ड में मारा-मारा फिरना पड़ता है । पहाड़ी नालों का पेड़ पत्तों से मिला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कसैला पानी पीना पड़ता है। लोहे की डंडी पर भुना मांस खाना पड़ता है और उसका भी कोई समय और ठिकाना नहीं। घोड़े के पीछे दौड़ने से शरीर के जोड़ अकड़ कर दर्द करने लगते हैं जिससे रात को नींद नहीं आती। फिर सवेरा होने से पहले ही ये हरामी पक्षियों के शिकारी वन में कोलाहल करके जगा देते हैं।" अभि. २-१

राजा व्यसनों से विरत हो तो अमात्य गण तथा परम्परायें उसे किसी न किसी बहाने वर्जित व्यसनों की ओर ढकेल ही देते हैं। कभी ऋतूत्सव (मदनोत्सव) के बहाने और कभी अन्य व्याज से। ऊपर दशरथ की प्रशंसा में कवि ने कहा ही था कि उन्हें चारों कामज व्यसन आकृष्ट नही कर पाये किन्तु उसी कवि ने स्वल्प विराम के बाद दशरथ को 'वधूजनः' और 'मधु' दोनों का उपयोग करने वाला 'विलासवती- सखः' बतला दिया है। फिर इनके बाद 'मृगयारति' तो क्रम- प्राप्त मनोरंजन था ही—

अथ यथासुखमार्तवमुत्सवं समनुभूय विलासवती-सखः।

नरपतिश्चकमे मृगयारतिं स मधुमन्मधु-मन्मथ संनिभः॥ रघु. ९-४९

मृगया के गुण

और मृगया के लिये उनके सचिवों ने आकर्षक तर्क भी प्रस्तुत कर दिये।

परिचयं चललक्ष्यनिपातने भयरुषोश्चतदङ्गितबोधनम्

श्रमजयात् प्रगुणां च करोत्यसौ तनुमतो ऽनुमतः सचिवैर्ययौ॥ रघु. ९-४९

मृगया से कई लाभ हैं। इससे चलते और हिलते लक्ष्य को बेधने का अभ्यास हो जाता है। इस बात का ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि पशु भय और क्रोध की मनः स्थिति में कैसा व्यवहार करते हैं। फिर परिश्रम करने की आदत बनती है जिससे मनुष्य का शरीर फुर्तीला और शक्ति युक्त बनता है।

अभिज्ञान शाकुन्तल में भी जब विदूषक दुष्यन्त से कहता है कि क्या सारे राजकार्य छोड़कर आपको इस प्रकार वनचर के समान रहना उचित है? तो सेनापति यह कहकर राजा को प्रोत्साहित करता है कि भले ही मृगया में दोष वतलाये गये हैं। किन्तु आपमें तो मृगया गुण ही बन गयी है। देखिये न, लगातार धनुष की प्रत्यञ्चा चढ़ाने और खीचने से आप का शरीर कठोर बन गया है। आप अब तेज धूप को सहन कर सकते हैं। पसीना बहने से भी आप में अन्तर नहीं आता। पतला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो जाने पर भी शरीर- दुर्बलता नहीं दिखती । जैसे पर्वत का हाथी शरीर से भारी न होकर भी बल की दृष्टि से कहीं अधिक समर्थ होता है, उसी प्रकार आप दिखायी देते हैं—

अनवरत-धनुर्ज्यास्फालन क्रूर पूर्वं
रविकिरण सहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम्
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं
गिरिचर इव नागः प्राणसारं विभर्ति ॥ अभि. २-४

और जब राजा कहता है कि मृगया का विरोध करने वाले माधवनि तो मेरा उत्साह ही ठण्ढा कर दिया तो सेनापति उसे प्रोत्साहित करता है—वकने दीजिये मूर्ख विदूषक को । आप तो अपन विचार पर जमें रहियो मैं आप की मनः स्थिति का ध्यान रखूँगा । इस विषय में आप स्वयं ही उदाहरण हैं देखिये न—चर्वी के छँट जाने से बाहर निकला तोंद तक कम हो जाता है जिससे शरीर उठने बैठने योग्य बन जाता है । भय और क्रोध की अवस्था में प्राणियों के विकृत मन की पहचान होने लगती है । फिर यह धनुर्धारियों के लिये तो यह उत्कर्ष की बात है कि उनके निशाने चल लक्ष्य पर लगें । मृगया को व्यसन वतलाना मिथ्या बात है । भला ऐसा मनोरंजन और कहाँ ?

मेदश्छेद- कृशोदरं लघुभवत्युत्थानयोग्यं वपुः
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः ।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग् विनोदः कुतः ॥ अभि. ३-५

इस पर विदूषक क्रुद्ध होकर सेनापति से कहता है कि तुम वन-वन की धूल फाँकते हुए अवश्य आदमी की नाक नोच लेने वाले बूढ़े रीछ की चपेट में आ जाओगे । वस्तुतः कालिदास इस विषय में राजनीति शास्त्रों के मत से सम्यक् अभिज्ञ थे किन्तु वह राजा के लिये सीमित मात्रा में ही मृगया को उपादेय मानते थे । यह बात रघुवंश और शाकुन्तल के वचनों से स्पष्ट झलकती है । उक्त दोनों कथन सचिवों और सेनापति के व्याज से स्वयं कालिदास के हैं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मृगया की तैयारी

मृगया का अपना शास्त्र था। उसके अनुसार पहले मृगयोचित वन का चयन करना पड़ता था। यह स्थान ऐसा होता था जहाँ न आरण्य दस्युओं का भय होता और न आग लगने की आशंका होती, तुरङ्गो के चलने योग्य कड़ी और समतल भूमि हो, पानी सरलता से उपलब्ध हो और जहाँ मृग, गवय और पक्षी प्रचुर मात्रा में विद्यमान हो। उस भूमि पर शिकारी कुत्ते पालने वाले और जाल फेंकने वाले व्यवसायी श्वगणी और वागुरिक लोगों को हिंस्रश्वानो और वागुराओं (जालों) के साथ पहले भेज दिया जाता था। दशरथ ने ऐसा ही किया—

श्वगणि-वागुरिकैः प्रथमास्थितं व्यपगतानलदस्यु विवेश सः।

स्थिर-तुरङ्गमभूमि निपानवन्मृगवयोगवयोपचितं वनम्।

रघु. ९-५३

मृगया के लिये जाने वाला राजा कालोचित वेषधारण करता था। निश्चित ही इसका स्थिर माप और सुविधायुक्त ग्रथन रहता होगा। कालिदास ने इसे 'मृगवनोपगमक्षम वेष' कहा है। इसमें सिर के बाल बँधे रहते थे। (ग्रथित मौलि)। यह काम वनमाला के द्वारा सम्पन्न किया जाता था। तनु त्राण या कवच वृक्षों के हरे पत्तों जैसे रंग का होता था और उस पर कण्ठ में विपुलाकार धनुष् संलग्न रहता था—

मृगवनोपगमक्षम वेषभृत् विपुल-कण्ठनिषक्त-शरासनः।

ग्रथित मौलिरसौ वनमालया तरुपलाश-सवर्ण-तनुच्छदः॥ रघु० ९-५०

मृगचारी राजा के लक्ष्य होते थे रुरु, कृष्ण सार, विशाल शृङ्गों वाले खङ्ग वराह, महिष, व्याघ्र, सिंह, चमर, मयूर और गज। राजा के लिये गज अवध्य था।

तमापतन्तं नृपते रवध्यो वन्यः करीति श्रुतवान् कुमारः। रघु. ५-५०

मयूर मनुष्यों के भक्ष्य रहे हैं। हिमालय की तराई के क्षेत्रों में मयूर प्रचुरता से पाये जाते थे और खाये जाते थे। अशोक ने अपने महानस में मांस पकाना वर्जित कर दिया तो भी उसने प्रतिदिन तीन मयूर पकाने की छूट दे रखी थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आखेट पशु

कालिदास ने दशरथ की मृगया का सविस्तर वर्णन किया है । इसमें मृगों के आखेट का बड़ा कोमल चित्रण है और कवि की अत्यन्त सुकुमार भावना को सुस्पष्ट करता है । अन्ततः वह मृगों पर वाण नहीं चलाते—

आकर्ण-कृष्टमपि कामितयास धन्वीवाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसंजहार ।रघु. ९-५७

खड्ग का विषाण और चमर का पुच्छ लेकर वह उन्हें छोड़ देता है ।·प्रिया के रतिविगलितवन्ध केशपाश के सदृश होने से वह कलापी मयूर पर भी वाण नहीं चलाता । वराह पर बड़ी चतुरता से छिपकर प्रहार करता है और उसके एक नेत्र में वाण मारता है । अन्त में जब चतुराकामिनी के समान मृगया उसे पूर्णतया आकृष्ट कर लेती है तो वह रात्रि को भी वन में ही रुक जाता है—

परिबद्धरागमनुबन्ध- सेवया मृगया जहार चतुरेव कामिनी । वही ९-६९

और—

नरपतिरतिवाहयांवभूव क्वचिदसमेत-परिच्छदस्त्रियामाम् । वही ९-७०

और तब वह वही कर जाता है जो उसे नहीं करना चाहिये था—गज वध—

नृपतेः प्रतिषिद्धमेवतत् कृतवान् पंङ्क्तिरथो विलङ्घ्य यत् । वही ९-७४

और उसका परिणाम- शाप उसे पाण्डु की पंक्ति में ले बिठाता है ।

मद्यपान

संसार के अन्य देशों की तरह भारत में भी संपन्न परिवारों में मद्यपान की प्रथा बहुत प्राचीन काल से रही है । सामान्य श्रेणी के लोग भी तीज- त्यौहारों के अवसर पर मद्यपान करते थे । कालिदास के काव्यों में उसका प्रतिविम्बित होना स्वाभाविक है । कलाविलासी होते हुए भी कालिदास ने मद्य के प्रति रुचि प्रदर्शित नहीं की । उनकी रचनाओं में मद्य के उल्लेख सहज रूप से आ गये हैं । उदाहरणार्थ—ग्रीष्म ऋतु में लोग सुवासित हर्म्यतल पर बैठे हुए अपनी प्रियाओं के साथ आधी आधी रात तक मधुपान में मस्त रहते हैं । प्याले में भरी मदिरा प्रिया के मुख के उच्द्वास् से हिलती रहती है । प्रिया का मुख उसमें प्रतिविम्बित होता रहता है । दोनों उस एक ही प्याले से साथ साथ पीते हैं और फिर प्रिया द्वारा वजायी जाती हुई वीणा पर कामोद्दीपक गीत सुनते हैं—

सुवासितं हर्म्यतलं मनोहरं प्रिया-मुखोच्छ्वास-विकम्पितं मधु ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुतन्त्रि-गीतं मदनस्य दीपकं शुचौ निशीथेऽनुभवन्ति कामिनः ।।ऋतु. १-३

हेमन्त ऋतु में दम्पती साथ साथ सोते हैं तो उनके मुख पुष्प- वासित मधु के पान से सुगन्धित रहते हैं। उनके अङ्ग भी परस्पर निःश्वास से सुरभित होते हैं और वे कामरस में आविद्ध होकर एक दूसरे से लिपट कर सोते हैं।

पुष्पासवामोदसुगन्धि-वक्त्रो निःश्वास-वातैः सुरभी-कृताङ्गः ।

परस्पराङ्ग-व्यतिषङ्गशायी शेते जनः कामरसानुविद्धः ।।ऋतु ४-१२

कालिदास ने रात्रि में मद्यपान को कुसुमायुध का रसायन माना है। इससे काम की शक्ति प्रवृद्ध होती है—"निशि शीधुपानं. . . सर्वं रसायनमिदं कुसुमायुधस्य" ऋतु. ६-३५

कालिदास ने जिस मद्य की चर्चा की है वह कामोद्दीपक है और सुगन्धित है। सम्भवतः वह मधुर सुगन्ध वाले फूलों के योग से बनाया जाता था या फूलों में बसाया जाता था। अनेक ओषधियों के मिश्रण से निर्मित होने के कारण उसमें चेतनता को उद्दीप्त करने की शक्ति रहती थी, शिराओं को मूर्च्छित करने की नहीं, जैसा कि आधुनिक मद्यों में देखा जाता है।

शिशिर के प्रसङ्ग में कालिदास ने यह बात फिर दोहरायी है। उनके कथन से पता चलता है कि रात के समय परिवारों में मधुपान सामान्य बात थी। स्त्रियाँ समान रूप से उसमें भाग लेती थीं। मद्य उत्कृष्ट कोटिका, सुगन्धित उत्पलों से वासित और कामोत्तेजक होता था। ऐसे मद्य के पीने में सामाजिक पुरुष और स्त्रियाँ संकोच का अनुभव नहीं करते थे। देखिये—

सुगन्धि-निःश्वास-विकम्पितोत्पलं मनोहरं कामरति-प्रबोधकम् ।

निशासु हृष्टाः सह कामिभिः स्त्रियः पिबन्ति मद्यं मदनीयमुत्तमम् ।ऋतु. ५-१०

अलकापुरी में कोई कष्ट ही नहीं। वहाँ तो कल्पवृक्ष से ही उसकी प्राप्ति हो जाती है। और मनुष्य पीते हैं तो भला यक्ष-गन्धर्व क्यों न पियें। किन्तु पीने का उद्देश्य वहाँ भी रति-प्रवर्धन ही है। और समानता तो देखिये। पृथिवी पर मनुष्य मनोहर हर्म्यतल पर बैठकर पीते हैं तो अलका में भी श्वेत मणियों के फर्श वाले हर्म्य स्थलों में बैठकर—उन स्थलों में जहाँ तारों का प्रतिबिम्ब कुसुमों की भ्रान्ति उत्पन्न करता है। स्त्रियाँ वहाँ भी पान की सहभागिनी रहती हैं। समय यहाँ भी रात्रि का पहला पहर ही है।

मेघदूत की अलका का वैशिष्ट्य बतलाता हुआ कवि कहता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्य-स्थलानि

ज्योतिश्छाया कुसुमरचिनान्युत्तमस्त्री-सहायाः ।

आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्ष-प्रसूतं,

त्वद्-गम्भीर-ध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु ।। उत्तर मेघ- ३

संभवतः मदिरा यौवन के साथ इस तरह जुड़ी हुई थी कि मनुष्य तो क्या वृक्ष तक उसके सम्पर्क से उत्कण्टकित हो उठते थे । यक्ष के भवन के माधवीमण्डप के चारों ओर कुरवक की बाड़ लगी थी । मण्डप के पास ही रक्त अशोक और मौलश्री के वृक्ष थे । अशोक युवती के वाम पादका और मौलिश्री उसके वदन की मदिरा का स्पर्श पाकर फूलता था । अशोक और मौलिश्री दोनों रति के प्रबोधक रहे हैं । उन पर युवती के पादस्पर्श और मदिरासेक की कल्पना ठीक ही थी जिसने आगे चलकर प्रौढोक्ति का रूप ग्रहण कर लिया । कहा है—

रक्ताशोकश्चल-किसलयः केसरश्चात्र कान्तः,

प्रत्यासन्नौ कुरवकवृतेर्माधवी-मण्डपस्य ।

एकः सरव्यास्तव सहमया वामपादाभिलाषी,

काङ्क्षत्यन्यो वदन मदिरां दोहदच्छद्मनास्याः ।। उ. मे. १५

मदिरा नारी के अङ्गों में नाना विभ्रमों की सृष्टि करती है । मदविह्वलगति, अपाङ्ग दृष्टि, भ्रूविक्षेप ये मद्य के सहज परिणाम होते हैं । यक्ष के वियोग में जब उसकी प्रिया मद्यपान छोड़ देती है तो उसके नयन भ्रूविकार से शून्य हो जाते हैं—

प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृत-भ्रू-विकारम् । उ.मे. ३८

चढ़ते यौवन में मधु की आवश्यकता नहीं होती । यौवनारम्भ स्वयं ही मदभरा होता है । तब बिना ही आसवके मदातिरेक बना रहता है । पार्वती इस स्थिति से गुजर रही है । तब कवि कहता है—"अनासवाख्यं करणं मदस्य. . . बाल्यात्परं साथ वयः प्रपेदे" कुमार. १-३१ । आसव शब्द का प्रयोग कालिदास ने मधु के लिये बार-बार किया है । जैसा कि स्वयं शब्द से स्पष्ट है आसव बनाने की विधि वही थी जो आयुर्वेदीय आसवों की है । मद्य आसव प्रायः महुए तथा अनेक शक्तिवर्धक दवाओं के संयोग से बनाये जाते थे । ये नमकीन और मधुर दोनों प्रकार के होते थे । महुए की प्रधानता के कारण इसे मधु कहते थे । स्वयं मधुर शब्द का मूल मधु या मधूक है । इक्षु से परिचय से पहले मिठास नापने का माध्यम महुए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का फूल ही था। बाद में इक्षु का रस और इसका शीरा भी मद्य बनाने के काम में प्रयुक्त होने लगे और शहद जिसे भी मधु कहते थे, इसमें मिश्रित किया जाने लगा और कालक्रम से वह नवविवाहित दम्पतियों का सर्व स्वीकृत पेय बन गया जिसे पीकर वे रात रात भर जागते नर्मालाप करते रहते और रतिकलाविलासों का सुख उठाते थे। काम के दग्ध हो जाने पर रति जिन बीती बातों का स्मरण कर परिताप करती है उनमें मधुपान के साथ चलने वाली प्रसन्नताभरी वार्तायें और अपाङ्ग अवलोकनभी हैं—वह कहती हैं—

ऋतुजां नयतः स्मरामिते शरमुत्सङ्ग-निषण्णधन्वनः ।

मधुना सह सस्मितां कथां नयनोपान्त-विलोकितं च तत् ॥कुमार. ४-२३

रति ने यह श्लोक मधु (वसन्त) के साथ कथा को उद्दिष्ट कर कहा है किन्तु क्या मधु (मद्य) पीते हुए की जाने वाली प्रणयक कथाओं के विषय में यह संगत नहीं है। मधु प्रतीक है मक्षिकाओं द्वारा संग्रहण किये जाने वाले मधु एवं मधूक वृक्षों पर स्फुटित होने वाली मधुमञ्जरियों के काल का। चैत्र का पर्याय है वह क्योंकि इसी काल में ये दोनों बाते होती हैं। वैशाख के लिये माधव शब्द का प्रयोग प्रचलित रहा। वह भी मधु पर ही आधारित रहा। बाद में दोनों मास संयुक्त रूप से मधु कहे जाने लगे। संधान के लिये कुसुमशर को सीधा करते हुए, पुष्प- धनुष् को गोद में रखे काम का मधु (वसन्त) के साथ हँस हँस कर बातें करते जाना या मधुपान करते हुए साथ साथ प्रणयालाप भी करते जाना और कनखियों से प्रिया को देखते भी जान- दोनों ओर कवि का ध्यान स्पष्ट है।

सामान्य गृहस्थों के लिये वर्जित न होने पर भी स्मृतियों ने राजा के लिये मद्यपान, विशेषतः पानव्यसन का निषेध किया है क्योंकि राजा को चौबीसों घंटे जागरूक और सतर्क रहना पड़ता था। फिर मद्यपान नारी-रति, मृगया और द्यूत की ओर आकृष्ट करता है। प्रजा के संरक्षण में तत्पर राजा यदि इन व्यसनों में पड़ा तो राज्य का विनाश निश्चित है। इसी लिये दशरथ के विषय में कवि कहता है कि न तो मृगया, न द्यूत, न सुन्दरी नारियाँ और न चाँदनी रात में प्रेमिका के साथ बैठकर पिया जाने वाला मधु ही उन्हें लक्ष्य से डिगा सका—

न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं नच शशि-प्रतिमाभरणं मधु ।

तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत् ॥ रघु. ९-७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिक मद्यपान का दोष कामिजनों में ही देखा जाता है, यह बात कवि ने बड़े सुन्दर ढंग से कही है—

मनोज्ञ-गन्धं सहकारमङ्गं पुराण-शीधुं नवपाटलं च।

संवध्नता कामिजनेषु दोषाः सर्वेनिदाघावधिना प्रमृष्टाः ।रघु. १६-५२

इत्र फुलेलगाना, आम्रमञ्जरियाँ कानों में खोसना, पुरानी सुरापीना, नवकमल हाथ में ले कर घूमना, ये सब दोष कामी लोगों में ही तो मिलते हैं। अग्निवर्ण सूर्य वंश का सबसे विलासी राजा है। वह मदिरा का पान खुलकर करता है—

घ्राण-कान्तमधु-गन्धकर्षिणीः पानभूमिरचनाः प्रियासखः।

अभ्यपद्यत सवासितासखः पुष्पिताः कमलिनीरिवद्विपः ॥

सातिरेक-मदकारणं रहस्तेन दत्तमभिलेषुरङ्गनाः।

ताभिरप्युपहृतं मुखासवं सोऽपिवद् वकुलतुल्य- दोहदः ।रघु. १९-११,१२

जैसे हाथी नासिका को प्रिय लगने वाली मधु- गन्ध से खिंचा हुआ कमल पुष्पों से भरी पुष्करिणी के पास पहुँचता है वैसे ही अग्निवर्ण सुगन्धित पान भूमि में जो सुन्दरता के साथ निर्मित की जाती, पहुँचता था और अपने हाथ से ज्यादा नशीली मदिरा से भरे पात्र कामिनियों को अर्पित करता था और स्वयं वकुल के समान उनके मुख से जुठारी हुई सुरा के चषक उनसे ले लेकर पीता था।

अभिजात गृहस्थ जहाँ अपने घर में, रात्रि के समय पत्नी के साथ बैठकर शक्ति और उत्साह के वर्धन के लिये ऊँचे दर्जे की सुरापीते वहाँ धीवर आदि निम्न कोटि के लोग शौण्डिक (सुरा विक्रेता) की दूकान पर जाकर सस्ते मद्य से मनोरंजन करते थे। पुलिस के छोटे अधिकारी और सिपाही भी ऐसा करते थे। छोटे मोटे उत्सवों, नयी मैत्री या अन्य हर्ष-प्रमोद के अवसरों पर भी निम्न श्रेणी के लोग ऐसा करते थे। सुरा के चषक को साक्षी कर की हुई मैत्री स्थायी मानी जाती थी। ये सब बातें आज भी उसी प्रकार समाज में पायी जाती हैं।

इसीलिये अभिज्ञान शाकुन्तल में श्याल जब चोरी के अपराध में पकड़े हुए धीवरों को राजाज्ञा के कारण मुक्त करता हुआ कहता है—"धीवर महत्तरो तुअं पि अवअस्सओ दाणिं मे सुंवत्तों। कादंवरी सक्खिअं अम्हाणं पढमसोहिदं इच्छीअदि। ता सोंडिआपणं एब्ब गच्छामो" (शाकु. ६ मिश्रविष्कम्भ)। तो हमें इसमें कुछ भी अपरिचित नहीं लगता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कला विलासी के रूप में प्रसिद्ध कालिदास से यह आशा करना अनुचित न होता कि उन्होंने अपनी रचनाओं में मद्यपान का सोत्साह वर्णन किया होगा। किन्तु बात इसके सर्वथा विपरीत है। उनका कोई पात्र (अग्निवर्ण को छोड़कर) मद्यपान करता नहीं दिखता। जैसा मनु ने कहा है—"प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला।" वैसा ही कालिदास भी मानते लगतें हैं। उन्होंने मद्यपान के लिये कामी युवाओं और निम्नकोटि के लोगों को चुना है।

रतिविलाप के प्रसंग में कालिदास ने रति के मुख से वारुणी मद का शरीर पर पड़ता प्रभाव बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि पत्नियाँ पति के साथ बैठ कर वारुणी पीती थी और वह भी तब तक जब तक उनके नेत्र लाल होकर घूर्णित न होने लगें और बोलते समय वाक्य वार वार स्खलित न होने लग जायँ। ये सब बातें काम की उपस्थिति में ही शोभा देती हैं। काम के अभाव में वे विडम्बना मात्र हैं—

नयनान्यरुणानि घूर्णयन् वचनानि स्खलयन् पदे पदे।

असति त्वयि वारुणीमदः प्रमदानामधुना विडम्बना।।कुमार.४-१२

वास्तुकला

शिल्पी जन

कालिदास वैभव एवं सम्पन्नता के कवि थे। उच्च आभिजात्य का उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव था। आश्रम जीवन की जानकारी उन्हें परम्परा एवं प्राचीन वाङ्मय से थी। इसलिये उन्होंने विशाल भवनों का उनके सम्पूर्ण अंगों के साथ ठीक ठीक वर्णन किया है। उनके वर्णन समकालिक प्रोन्नत वास्तुकला की जनाकारी देते हैं। उन्होंने प्रासाद, सौध, भवन, और हर्म्य का भिन्न सूक्ष्म अर्थों में प्रयोग किया है। वास्तु- विद्या- विदों से उनका परिचय है। कुश की राजधानी कुशावती प्रशस्त देवाय- तनों से समृद्ध थी। मूर्तियों से प्रतिष्ठित मन्दिरों और मूर्तियों (जिन्हें मौर्य और शुङ्ग काल में अर्चा कहते थे) के बनाने वाले वास्तुविदों का समूह वह अयोध्या लौटते समय साथ लाये थे। अयोध्या आकर उन्होंने सर्व प्रथम उनके द्वरा पशुवलि के साथ वास्तु- पूजन विधि सम्पन्न की थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ततः सपर्या सपशूपहारां पुरः परार्ध्यप्रतिमागृहायाः ।

उपोषितैर्वस्तुविधानविद्भिर्निर्वर्तयामास रघुप्रवीरः ॥ १६-३९

इन शिल्पि- संघों ने नगर प्रवेश के पूर्व ही कुश की नयी राजधानी अयोध्या को नया-सा बना दिया । इन संघो में विभिन्न कार्यों में दक्ष शिल्पी थे । ये लोग राज्य के स्थायी कर्मचारी थे जिन्हें कार्य सम्यन्न के लिये आवश्यक सामग्री के साथ अन्य साधन भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते थे—

तां शिल्पि-सङ्घा प्रभुणा नियुक्ताः स्तथागतां सम्भृत-साधनत्वात् ।

पुरं नवीचक्रुरपां विसर्गान्मेघा निदाघालपितामिवोर्वीम् । रघु० १६-३८

प्रासाद—

कालिदास ने प्रासाद शब्द का प्रयोग राज महल तथा विशाल देवायतन के लिये किया है । अलकापुरी के प्रासादों की विशेषता उनका तुङ्ग और अभ्रंलिहाग्र होना था । प्रासाद अनेक मंजिलों के होते थे । इनके भीतर भित्तियों पर नाना प्रकार के चित्र बने रहते थे । इनका फर्श विभिन्न रंगों की मणियों (लघु प्रस्तर- खण्डों) से बना रहता था । इसे कुट्टिम कहते थे । ये ललित वनिताओं और संगीत से जीवन्त बने रहते थे (मेघ. २-१) । राज भवनों को उन्होंने प्रायः प्रासाद ही कहा है । मगध-राज, माहिष्मती के राजा प्रतीप और कलिङ्ग राज हेमाङ्गद के प्रासादों का उल्लेख कवि ने किया है । प्रासादके चारों और परिखा रहती और वप्र जो काफी चौड़े होते थे शत्रु के आक्रमण से प्रासाद की रक्षा करते थे । प्रासाद दुर्ग का एक भाग होता था जिसमें राज- परिवार निवास करता था । उसके इर्द गिर्द कर्मकार आदि शिल्पी लोगों की वस्ती होती थी । दुर्ग तो पूरा नगर ही होता था । बड़े बड़े भवन जो सामान्य सफेद रंग से पुते रहते थे, सौंध कहलाते थे । दुर्ग के भीतर की वस्ती पुरी कहलाती थी । इसके चारो ओर की ऊँची दीवार को प्राकार कहते थे । प्राकार का ऊपरी भाग जो काफी चौड़ा होता था, विमान कहा जाता था । दिलीप के विषय में कहा है कि उसने सारी पृथिवी पर एक पुरी के समान् शासन किया था । समुद्र को परिखा और उसकी बेला को वप्र वना कर उसने पृथिवी को पुरी बना दिया था ।

सवेला-वप्र वलयां परिखीकृत-सागराम् ।

अनन्य-शासनामुर्वी शशासैक-पुरीमिव ॥ रघु. १-३०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हर्म्य—

प्रासाद का एक भाग जिसमें राज परिवार के प्रमुख, विशेषत: राजा और राज- महिषी रहते थे हर्म्य कहा गया है। यों सामान्यतया सम्पन्न लोगों के पक्के भवन भी हर्म्य की श्रेणी में आते थे। कालिदास ने हर्म्य शब्द का उल्लेख प्राय: विलास- गृह के रुप में किया है। हर्म्य भी सुधा- लिप्त होते थे और प्रासादों की सबसे उपरी मंजिल थे। रघुवंश में राजधानी की अधिदेवता कहती है कि अव हर्म्यों में चन्द्रमा की किरणें भली भाँती नहीं चमकतीं क्योंकि पुताई न होने से इसका शुभ्रलेप काला पड़ गया है और चारों ओर घास- पात बढ़ गये हैं—

कालान्तर-श्याम-सुधेषु नक्तमितस्ततो रूढ़-तृणाङ्कुरेषु।

त एव मुक्ता-गुण-शुद्धयोऽपि हर्म्येषु मूर्च्छन्ति न चन्द्रपादा: ।।वही १६-१८

ऋतु संहार में ग्रीष्म का प्रकोप कम करने के लिये सुवासित और "सित" हर्म्य तल के सेवन का उल्लेख है। "सुवासितं हर्म्यतलं मनोहरम्" १-२ तथा 'सितेषु हर्म्येषु निशासु योषितां सुख प्रसुप्तानि मुखानिचन्द्रमा: । १-९

मेघदूत और ऋतु संहार में कवि ने हर्म्य शब्द का प्रयोग धनिक गृह के अर्थ में किया है। मेघदूत की विशाला (उज्जयिनी) में हर्म्यों का वाहुल्य था क्योंकि भृगुकच्छ से व्यापारी सार्थवाह लौटते समय उज्जयिनी और विदिशा होते हुए देश के विभिन्न भागों में जाते थे। स्वर्ण और रत्नों से सम्पन्न ये व्यापारी इन नगरों में पड़ाव डालते थे। इनके कारण ये दोनों नगर व्यापारिक लेन-देन के वड़े केन्द्र बन गये थे और पण्य स्त्रियों के गढ़ भी। इसीलिये यक्ष मेघ को उज्जयिनी के 'कुसुमसुरभि' पर ठहर करकी थकावट दूर करने का परामर्ख देता है क्यों कि इन हर्म्यों का कुट्टिम ललित वनिताओं के पादराग (महावर से अंकित है और इनके गवाक्षों की जाली से ललित वनिताओं के द्वारा केशों को सुगन्धित बनाने के लिये प्रयुक्त गन्ध द्रव्यों का धुआँ बाहर निकला करता है—

जालोद्गीर्णैरुपचित-तनु: केश-संस्कार-धूपै:

वन्धु-प्रीत्या भवन-शिखिभिर्दत्त-नृत्योपहार: ।

हर्म्येष्वस्या: कुसुम-सुरभिष्वध्व-खेदं नयेथा

लक्ष्मीं पश्यल्लंलित-वनिता-पादरागाङ्कितेषु ।। मेघ. १-३२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋतु संहार में भी कवि ने उस धनिक गृह के लिये हर्म्य शब्द का प्रयोग किया है जिसमें सुवास बिखरी है। मधुपान के दौर चल रहे हैं और तन्त्री से कामोद्दीपक गीतों की ध्वनि विखर रही है—

सुवासितं हर्म्यतलं मनोहरं प्रिया-मुखोच्छ्वास विकम्पितं मधु।

सुतन्त्रि-गीतं मदनस्य दीपकं शुचौनिशीथे ऽनुभवन्ति कामिनः ।। ऋतु. १-३

हर्म्य के साथ सदा ही 'सित' विशेषण का प्रयोग मिलता है। इससे स्पष्ट है कि ये श्वेत वर्ण से पुते होते थे जिससे चन्द्र किरणें तीव्रता के साथ प्रतिफलित हो सकें। चाहे ऊपरी गृह हो या निचला, उसमें चन्द्र रश्मियों का खुला प्रवेश होना आवश्यक था। रात को युवतियाँ जब इन श्वेत धवल हर्म्यों में सोयी रहती थी तो चन्द्रमा उनके मुख को ललचायी दृष्टि से निहारा करता था (ऋतु. १-९)—

सौध—सौध, प्रसाद की अपेक्षा छोटे बहुमंजिले मकान थे। ये काफी ऊँचे होते थे जिन पर मेघ टिक सकते थे। कालिदास ने मेघ को उज्जयिनी के सौधों की छत पर (सौधोत्संग) विश्राम करने को कहा है—

सौधोत्संग-प्रणय-विमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः। मेघ. १-२७

भवन सौध, प्रासाद और हर्म्य का प्रयोग कई बार इनके भेद को ध्यान में न रखकर भी किया गया है। भवन सामान्यतया मध्यम श्रेणी के गृह को कहते थे जिसमें कोई परिवार रहता हो। भवनों में वलभि या छज्जे बनाने की प्रथा सामान्य थी। इनमें पारावत बैठा करते थे। रात्रि को इनके और भित्ति के बीच लगे वरगों पर वे विश्राम करते थे—

तां कस्याञ्चिद् भवनवलभौ सुप्तपारावतायाम्। मेघ. १-३८

वेश्म—वेश्म भीवसति- स्थान को कहते थे। कालिदास ने विदिशा के शिलावेश्मों का उल्लेख किया है। विदिशा के पश्चिम की ओर उदयगिरि पर पत्थरों को काट कर जो गुफायें गुप्तकाल में बनयी गयी थीं, उन्हीं की ओर कालिदास का संकेत है। विलासी जन सुगन्धित माल्यों से अलंकत होकर प्रेमिकाओं के साथ इनमें विहारार्थ जाते थे।

यः पण्यस्त्री-रति-परिमलोद्गारिभिर्नागराणाम्।

उद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभि र्यौवनानि।। मेघ. १-२५

वेश्म, भवन, सदम्, गेह, गृह, निवेश, वसति अगार आदि का प्रयोग भी कालिदास ने निवास स्थान के लिये किया है और इनमें पूर्ण अर्थ में कोई किसी का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर्यायवाची नहीं है। वेश्म प्रासाद का एक भाग है। भवन बड़ा गृह है जिसमें आँगन, वलभि, चतुष्क आदि होते हैं। सद्म भी प्रासाद के भीतर विशिष्ट व्यक्ति के रहने का निजी कक्ष (अपार्टमेण्ट) —न केवलं सद्मनि मागधीपतेः पथिव्यजृम्भन्त दिवौकसाम पि। रघु. ३०१९। वेश्म का प्रयोग भी लगभग इसी अर्थ में है जिससे स्पष्ट है कि एक प्रासाद के अन्तर्गत अनेक वेश्म होते थे—कामिन स्तस्य वेश्मसु मृदङ्गनादिषु। रघु. १८-५।

गर्भवेश्म—इनमे कुछ गर्भवेश्म भी होते थे। ये सब भाँति शान्त, एकान्त और निवाप होते थे। इनमें प्रासादजनों का भी प्रवेश नहीं था। ये व्यक्ति गत कक्ष थे—गर्भ- वेशमसु निवात- कुक्षिषु रघु. १९-४२। तथा—चेरु वेंश्म स्विवाद्रिषु। वही १७-६४। तल्प, अट्ट और शाला भी प्रसाद के अंग थे। व्यापक अर्थ में जब निवेश या वसति का जो सामातया निवास स्थान, डेरा या वस्ती के रूप में प्रयुक्त होती थी, प्रयोग होता (प्रासाद अर्थ में) तो तल्प, अट्ट, शालायें उसके भाग होते थे—विशीर्ण तल्पाट्टशतो निवेशः पर्यस्त शालः प्रभुणा विना में। रघु. १६-११। यहाँ सैंकड़ों अट्टों और अट्टालिताओं तथा परकोटे या प्राकार की चर्चा है। अगार सामान्य छोटा घर होता था, भले ही वह सौध या प्रासाद का अंग हो। रघु जब वरतन्तु के शिष्य को ठहरने का परामर्श देता है तो उसे 'अग्न्यागार' में ही रुकने को कहता है। यह अगार खुला, बड़ा (प्रशस्त) है और महित भी—'स त्वं प्रशस्ते महिते मदीये वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे। रघु. ५-२०। और जब अयोध्या की अधिदेवता कुश के शयन गृह में, जिसमें अर्गला लगी हुई थी, प्रविष्ट हो जाती है तो वहाँ कवि उसके लिये अगार और गेह दोनों शब्दों का प्रयोग करता है—अथान पोढार्गल मप्यगारं छायामिवादर्शतलं प्रविष्टा। तथा "लब्धान्तरा सावंरणेपि गेहे"। रघु. १६-६,७। सरयू के किनारे स्नानोपरान्त वस्त्र परिवर्तन के लिये बनाये गये घेरे भी गृह है—उपान्त- वानीर- गृहाणि दृष्ट्रा शून्यानि दूये सरयू तटानि। रघु. १६-२१। और कुशावती नगरी 'वसति' है—तदर्हसीमां वसतिं विसृज्य मामभ्युपैंतुं कुलराजधानीम्। वही १६-२२। गृह किसी का कहीं हो सकता है किन्तु कालिदास की सम्पन्न गृहों पर ही दृष्टि जाती है जिनमें दीर्घिका या वावड़ी होती है, उपवन भी होते हैं- अम्भः... गृह दीर्घिकाणां नारीनितम्वद्वयसंवभूव॥ रघु. १६-४६ तथा "तं गृहोपवन एव संगताः . . .मन्त्रिणः सम्भृते शिखिनि गूढमादधुः। रघु. १९-५४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धाम

धाम का प्रयोग देवस्थान के लिये हुआ है—

पुण्यं यायास्त्रिभुवन-गुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य। मेघ. १-३३

गवाक्ष

प्रासाद और सौध का जहाँ भी उल्लेख कालिदास ने किया है, वहाँ उनकी दृष्टि गवाक्षों की ओर अवश्य गयी है। गवाक्ष दीवारों में बनाये गये उन वातायनों को कहते थे जो कक्षों के भीतर वायु और प्रकाश केलि ये बनाये जाते थे। यह जालीनुमा होते थे और इनके भीतर से अवगुण्ठनवती स्त्रियाँ राजपथों के दृश्यों को स्वयं अदृश्य रह कर देख सकती थीं। आज भी पुराने पुरातात्त्विक प्रासादों और दुर्गों में इस शैली के गवाक्ष देखे जा सकते हैं। वस्तुतः जाली में जो छेद होते थे उनका आकार वैल या गाय की अक्षि (आँख) के बराबर होता था, इसलिये इन्हें गवाक्ष कहते थे। कालिदास गवाक्षों की चर्चा करते नहीं थकते। वैसे इनमें अनेक वास्तु शिल्प के उत्तम उदाहरण रहे होंगे। अग्निवर्ण अपने सौध में बैठकर इन्हीं जालविवरों से सरयू की छवि निहारा करता था—स्वप्रियां विलसितानुकारिणीं सौध-जाल-विवरै र्व्यलोकयत्। रघु. १९-४०। और राम की मृत्यु के पश्चात् जब अयोध्या उपेक्षित हो गयी तो उसकी अधिदेवता को जिन बातों की पीड़ा थी उनमें गवाक्ष भी एक थे। उनमें मकड़ियों ने जाले पूर दिये थे जिस कारण से न दीपिकाओं का प्रकाश और धूम बाहर निकल पाता था और न धूप ही भीतर आ सकती थी—

तिरस्क्रियन्ते कृमितन्तु-जालै र्विच्छिन्न-धूमप्रसरा गवाक्षाः। रघु. १६-२०

कलिंगनाथ हेमांगद का परिचय देती हुई इन्दुमती की प्रतीहारी बतलाती है कि इनके प्रासाद के गवाक्षों से समुद्र की उत्ताल लहरें दिखायी देती हैं और उनकी मन्द्र ध्वनि से ही, जो गवाक्ष मार्ग से भीतर प्रविष्ट होती है, प्रभात वेला में उनकी निद्रा टूटती है—

प्रासाद-वातायन-दृश्यवीचिः प्रबोधयत्यर्णव एव सुप्तम्। रघु. ६-५६

अज और इन्दुमती के स्वयंवर के समय जब विदर्भनरेश भोज उन दोनों को साथ लेकर नगर के राजमार्ग से निकले तो इन गवाक्षों का वनना सफल हो गया। नगर के पौधों में सुवर्ण से मढ़े गवाक्ष थे। सो स्त्रियाँ सब काम छोड़कर उन दोनों को देखने के लिये उनके पास एकत्र हो गयी—

ततस्तदालोकन-तत्पराणां सौधेषु चामीकर-जालवत्सु।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वभूवुरित्थं पुरसुन्दरीणां त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥ रघु. ७-५

इनमें कोई दाहिने नेत्र में अञ्जन लगा कर शीघ्रता में वायें में लगाना भूल कर वातायन के समीप जा खड़ी हुई—सलाई हाथ में ही पकड़े हुए—

विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन सम्भाव्य तद्वञ्चित-वामनेत्रा।

तथैव वातायन-संनिकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती ॥ रघु. ७-८

किसी की नीवी ही चलते में खुल गयी तो वह शीघ्रता के कारण उसे विना वाँधे ही जाल के पास दौड़ गयी। उसकी दृष्टि केवल गवाक्ष पर टिकी थी।

जालान्तर-प्रेषित-दृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बवन्ध नीवीम् ॥ रघु. ७-९

इन सारी स्त्रियों की भीड़ के कारण कमल पत्रों की आकृति में कटे जालाक्ष उनके चंचल नेत्र रूप भ्रमरों के समूह के द्वारा शतपत्रों के समान ही शोभित हो रहे थे—

विलोल-नेत्र-भ्रमरै र्गवाक्षाः सहस्त्रपत्राभरणा इवासन्। रघु. ७-११

वातायन

इसीलिये सुनन्दा मगध नरेश परन्तप की ओर इन्दुमती को आकृष्ट करने के लिये कहती है कि यदि तुम चाहती हो कि नगर प्रवेश के समय स्त्रियाँ अपने वातायनों के पास बैठकर तुम्हें देखें और प्रसन्न हों तो तुम इनसे विवाह कर लो—

अनेन चेदिच्छसि गृह्यमाणं पाणिं वरेण्येन कुरु प्रवेशे।

प्रासाद- वातायन- संश्रितानां नेत्रोत्सवं पुष्प- पुराङ्गनानाम्। रघु. ६-२४

इसी प्रकार वह उसे माहिष्मती नाथ प्रतीप के वरण करने पर प्रासाद जालों से रेवा के उत्तरंगित सौन्दर्य को देखने का प्रलोभन देती है—

प्रासाद-जालै र्जलवेणिरम्यां रेवां यदि प्रेक्षितुमस्ति कामः। रघु. ६-४३

दीर्घिका

वातायन के समान ही कालिदास में गृह दीर्घिकाओं या वापियों की विशेष चर्चा की है। प्राचीन काल में श्रेष्ठ भवन वापी से युक्त रहते थे। वापियों का उपयोग अनेक प्रकार से होता था। प्रमदायें उनमें जलक्रीडा करती थी तो उनके आस्फालन से जल में धीर ध्वनि होती थी। किन्तु उपेक्षित होने पर उनमे भैंसे विहार करते हैं—

वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम् ॥ रघु. १६-१३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वावड़ियाँ कमलों से शोभित होती थीं। उनमें नीचे उतरने के लिये सुविधाजनक सीढ़ियाँ बनी होती थीं। कमलों के साथ शैवल का होना स्वाभाविक है। किन्तु उनकी यदि ठीक तरह देभभाल न की जाय तो उनका जल सूख जायगा। सोपान नीचे तक खुल जायेंगे और कमलों के नालदण्ड पानी की कमी से ऊपर तक दिखने लगेंगे। पानी नारियों के नितम्ब की ऊँचाई तक ही गहरा रह जायगा। अयोध्या की गृह दीर्धिकाओं का यह चित्त कितना आवर्जक है—

दिने दिने शैवलवन्त्यधस्तात् सोपानमार्गाणि विमुञ्चदम्भः।

उद्दण्ड-पद्मं गृहदीर्घिकाणां नारी-नितम्बद्व्यसंवभूव॥ १६-४६

अलकापुरी की वापियों की सीढ़ियाँ तो मरकत शिलाओं से बनी हुई वतलायी गयी हैं—

वापी चास्मिन् मरकतशिलावृद्ध-सोपान मार्गा। मेघ. २-३५

सोपान

सोपान पथ भी वास्तुकला का अभिन्न अंग है। दीर्घिकाओं के सोपानों के अतिरिक्त मंचो पर चढ़ने के लिये स्थायी सोपान बनाये जाते थे। अज सोपान पथ से ही स्वयंवर- मंच पर चढ़ते हैं—

(आरूरोह) वैदर्भ- निर्दिष्टमसौ कुमारः क्लृप्तेन सोपानपथेन मञ्चम्।रघु. ६-३

प्रासादों में रमणियाँ जब सोपान मार्ग से चढ़ती या उतरती थीं तो उनके चरणों का महावार सीढ़ियों में लग जाता था—

सोपान-मार्गेषु च येषु रामा निक्षिप्तवत्यश्चरणान् सरागान्। रघु. १६-१५

दीर्धिकायें यौवनोन्मत्त प्रेमी युगलों की जल क्रीडा का महत्त्वपूर्ण साधन थीं। विगाढ़- मन्थथ अग्निवर्ण तो उनके भीतर बने गुप्त मोहन- गृहों (सुरत-भवनों) में कामिनियों के साथ रमण करता था—

यौवनोन्नत-विलासिनी-स्तन-क्षोभ-लोल-कमलाश्चदीर्घिकाः।

गूढ-मोहनगृहास्तदम्बुभिः स व्यगाहत प्रगाढ मन्मथः।।रघु. १९-९

सरयू के किनारे बने हुए घाटों के सोपान पथ भी वास्तुकला ही अंग है। स्त्रियाँ इन्हीं से उतर कर नहाती थीं तो भीड़ के कारण उनके केयूर परस्पर टकराते थे और पैरों के नुपुर भी बजते हुए जलक्षोंभ उत्पन्न करते थे—

सा तीर-सोपानपथावतारादन्योन्यकेयूरविघट्टिनीभिः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सनूपुरक्षोभपदाभिरासीदुद्विग्नहंसा सरिदङ्गनाभिः ॥ रघु. १६-५६

प्रासादों और सौधों के अंग के रूप में गर्भ- वेश्म, पुष्प- शयन, लता गृह, पानभूमि, स्तम्भ, उद्वेदि विमान, शय्या गृह, अवरोध- गृह, शुद्धान्त आदि की चर्चा है।

जलयन्त्र

धनिक वेश्मों में धारागृह या जल यन्त्र- मन्दिर सामान्य थे। ग्रीष्म काल में इन्हीं फव्वारों से सारा भवन शीतल रखा जाता था। आज भी जो दुर्गावशेष प्राप्त होते हैं, उनमें यह व्यवस्था देखी जा सकती है। ऋतु संहार का तो प्रारम्भ ही इससे होता है—

क्वचिद्विचित्रं जलयन्त्र मन्दिरं... शुचौप्रिये यान्ति जनस्य सेव्यताम्। १-२

रघुवंश में भी कहा है कि धनी लोग शीतल यन्त्र- प्रवाहों से युक्त, चन्दन रस से घुले विशिष्ट शिला- पट्टों पर धारागृहों में लेटे लेटे आतप बिताते हैं—

यन्त्र प्रवाहैः शिशिरैः परीतान् रसेन धौतान् मलयोद्भवस्य।

शिलाविशेषानधिशय्य निन्युर्धारा-गृहेष्वातपमृद्धिमन्तः ॥ १६-४९

स्तम्भ और चित्रसज्जा

स्तम्भों की रचना भी अनेक प्रकार की होती थी जिसमें चिकने पलस्तर पर या तो विविध प्रकार के चित्रांकन होते थे या खोद कर कलाकृतियाँ बनायी जाती थी। अयोध्या में स्तम्भों पर बने एक ऐसे चित्र की चर्चा है जिसमें पद्म वन दिखाया गया था। हाथी उसमें विहारार्थ प्रवेश कर रहा था और करेणु कमल- नाल तोड़कर उसके मुहँ में दे रही थी—

चित्र द्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्त मृणाल-भङ्गाः। रघु. १६-१६

कहीं-कहीं स्त्रियों के चित्र भी अनेक रंगों में अंकित किये जाते थे। एक स्थान पर कहा है कि रंग छूट गये या फीके पड़ गये हैं। स्तनों को जिन रंगों से मण्डित किया था वे धूमिल हो गये हैं तो स्तन नग्न दिखने लगे हैं किन्तु सर्पों ने स्तम्भों में लिपट कर जो केंचुल छोड़ी वही स्तनों का उत्तरी वन गयी है—

स्तम्भेषु—योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्त वर्णक्रम-धूसराणाम्।

स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गान्निर्मोक पट्टाः फणिभि र्वियुक्ताः। रघु. १६-१७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृत्रिम अद्रि

कृत्रिम अद्रि भी अनेक घरों के उपवनों की शोभा बढ़ाते थे। रघु. १९-३७।

राजपथ

मोहेंजो दड़ों में हमें नगर के मध्य चौड़ी पक्की सड़क के दर्शन होते हैं। इसे रथ्या कहते थे क्योंकि उस पर रथों का यातायात सरलता से होता था। इसके दोनो ओर आज के समान क्रय विक्रय के लिये पण्य वीथियाँ होती थीं। नगर के मध्य की प्रमुख सड़क राजमार्ग कहलाती थी। इसकी देख रेख सीधे राज्य के हाथ में होती थी। राज्य ही उसे बनवाता भी था। राजमार्ग के लिये वास्तुविद् भी रहते थे। इसी मार्ग से राजकीय शोभा- यात्रायें निकलती तीं। षड्वर्षीय राजा सुदर्शन के ऐसे ही एक प्रदर्शन की चर्चा कालिदास ने की है। वह हाथी पर बैठकर राजमार्ग से निकलता तो पीलवान् उसे सम्हाले रहता था—

तं राजवीथ्यामधिहस्ति यान्तमाधोरणालम्बितमग्र्यवेशम्। रघु. १८-३९

उपेक्षित अयोध्या के राजपथ पर जहाँ चमकते कलनूपुरों वाली अभिसारिकायें आती जाती रहती थी, अब स्यार घूमने लगे थे—

निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः संचरो ऽभूदभिसारिकाणाम्।

नदन्मुखोल्का विचितामिषाभिः स वाह्यते राजपथः शिवाभिः।। रघु. १६-१२

कालिदास ने मञ्चान्तर राजमार्ग का उल्लेख किया है। मञ्चों के बीच बनाये गये इस मार्ग पर राजा लोग ही चलते थे। इन्दुमती के स्वंयवर के अवसर ऐसा राजमार्ग बनाया गया था—

विवेश मञ्चान्तर-राजमार्ग पतिंवरा क्लृप्तविवाहवेषा। रघु. ६-१०

उभयपार्श्व मे स्थित वाजार वाले अयोध्या के राजपथ की भी चर्चा रघुवंश में है। राम इस मार्ग को देखते निकलते थे—

ऋद्धापणं राजमार्गं स पश्यन्. . पुरोपकण्ठोपवनानि रेमे। रघु. १४-३०

विपणि

इसी प्रकार कवि की दृष्टि उन बाजारों पर गयी है जिनमें भाँति भाँति का सामान विक्रयार्थ सजाया रहता था। इसीलिये कवि ने उसे ऋद्धापण कहा है। पण्य वीथिका को प्रकट करती थी। इसीलिये कहा है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूरावभासे विपणिस्थ-पण्या सर्वाङ्ग नद्धाभरणेव नारी। रघु. १६-४१

मन्दुरा और वासयष्टि

राजभवनों में मन्दुरा (अश्वशाला) उनका महत्त्वपूर्ण भाग थी (रघु. १६-४१)। मयूरों के बैठने के लिये बनायी गयी यष्टि रचना विलास वस्तु थी। ये यष्टियाँ विशेष शैली में कभी कभी कंचन मढ़कर निर्मित की जाती थीं। इन पर बैठने वाले और मृदङ्ग की थाप पर नाचने वाले क्रीडा मयूर भवनों की शोभा में वृद्धि करते थे—

वृक्षेशया यष्टिनिवासभङ्गात् (प्राप्ताः) क्रीडामयूरा वनवर्हिणत्वम्। रघु. १४-१४

उपकार्या

उपकार्या की व्यवस्था भी वास्तुविद् करते थे। ठीक स्थान निश्चित करना, उसे समतल और निष्कृष्ट बनाना और फिर निवास योग्य तम्बू, कनातों और शामियानों से सजाना निर्माणकार्य के अन्तर्गत आता है। इसे उपकार्या कहते थे क्यों यह प्रमुख निर्माण कर अवर भाग था। सेना जब मार्ग में निवेश डालती तो तत्काल उपकार्या निर्मित की जाती थी। अज की स्वयंवर यात्रा के समय भी ऐसा किया गया था—

तस्योपकार्या रचितोपचारा वन्येतरा जानपदोपधाभिः।

मार्गे निवासा मनुजेन्द्रसूनो र्वभूवुरुद्यान विहार-कल्पाः॥ रघु. ५-४१

प्राग्द्वार

विदर्भ नरेशने अज के स्वागत के लिये जो उपकार्या वनवायी थी उसे प्राग्द्वार पर जल से पूर्ण सुवर्ण कलश रख कर सजाया था—

प्राग्द्वार वेदि विनिवेशित-पूर्ण-कुम्भां रम्यां रघुप्रतिनिधिः

स नवोपकार्या वाल्यात् परामिव दशां मदनोध्युवास॥ रघु. ५-६३

उपकार्या वस्त्र निर्मित भवन कल्प होती थी। कुश भी जब सरयू में जल क्रीडार्थ जाते तो नदी के किनारे उपकार्या का निर्माण किया जाता था—

स तीरभूमौ विहितोपकार्यां (विगाहितुं) प्रचक्रमे चक्रधर-प्रभावः।

रघु. १६-५५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाकाल निकेतन और कारागृह (रघु. ३४, ४०) का वास्तु शिल्प निश्चित ही उपर्युक्त हर्म्यों, वेश्मों और सौधों से भिन्न प्रकार का रहा होगा यद्यपि मेंघदूत (१-३३) में चण्डीश्वर के निकेतन को धाम कहा है। मन्दिर की निर्माणकला भिन्न प्रकार की होगी ही और कारागार की भी। कारागार तो प्रत्येक जनपद की राजधानी में होता था जिसके बन्दी आनन्द के विशिष्ट अवसरों पर मुक्त कर दिये जाते थे।

नसंयतस्तस्य वभूव रक्षितु र्विसर्जयेद्यं सुतजन्म हर्षितः। रघु. ३-२०

उपवन

उद्यान और उपवन वास्तुकला के अंगभले न हों किन्तु कालिदास के समय में भवनों के साथ उद्यान जुड़े होने की परम्परा थी। प्रत्येक नगर के पार्श्व में राजोद्यान और उपवन अवश्य रहते थे। ये मयूरादि पक्षियों के आश्रयतो थे ही वसन्त आदि ऋतुओं में नागरिकों के उत्सवों यथा वसन्त में मदनोत्सव और वर्षा में दोलोत्सव की मनोरंजक भूमि बनते थे—

पुरोपकण्ठोपवनाश्रयाणां कलापिनामुद्धतनृत्य हेतौ। रघु. ६-९

उज्जयिनी में तो ऐसे विहारोपवनों की संख्या बहुत थी—

सिप्रातरङ्गानिल-कम्पितासु विहर्तुमुद्यान परम्परासु। रघु. ६-३५

मेघदूत मे कालिदास ने आदर्श गृह का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। इसे उन्होंने अगार कहा है। उसकी ओर जाने पर पहले तोरण या वहिर्द्वावार मिलेगा। तोरण की प्रथा प्राचीन गृहों में सामान्य रही है। उस तोरण के एक ओर छोटा सा मन्दार का वृक्ष है जिसके स्तवक इतने नीचे और भरे भरे हैं कि हाथ से पकड़े जा सकते हैं—हस्तप्राप्य-स्तवक-नमितो वालमन्दार वृक्षः। २-१२। इसमें एक वापी है जिसकी सीढ़ियाँ वहुमूल्य नीले पत्थरों से जड़ी हैं। वापी में हेमवर्ण के कमल खिले हैं। हंस उसके जल में विहार करते हैं और वर्षा काल में भी उसे छोड़कर नहीं जाते—

वापी चास्मिन् मरकत-शिलावद्ध-सोपानमार्गा
हेमैश्छन्ना विकचकमलैः स्निध-वैदूर्यनालैः।
यस्या स्तोये कृत-वसतयो मानसं संनिकृष्टं
नाध्यास्यन्ति व्यपगत-शुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः॥ २-१३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रीडाशैल

उसी के समीप एक क्रीडाशैल या कृत्रिम अद्रि है । उसके चारों ओर कदली की बाड़ है । गृहोद्यान में वही रक्त अशोक औंर वकुल का वृक्ष है । पास ही माधवी का मण्डप है । जिसके चारो ओर कुरवक की वाड़ लगी है । इन सबके बीच में एक वासयष्टि है जिसके ऊपर स्फटिक का फलक (तख्ता) लगा है । पालित मयूर जिसे गृहिणी ताल दे देकर नचाती है, रात्रि वेला में उसी पर विश्राम किया करता है । उद्यान के आगे मेरा गृह है । उसके द्वार पर शंख और पद्म चित्रित है । घर के भीतर तन्वी, शिखरि दशना, पक्वविम्वाधरोष्ठी और मध्येक्षामा गृहलक्ष्मी है जो गोद में वीणा रखकर उस पर अपने पति के द्वारा लिखे गीत गा रही है । पत्नी पति के और पति पत्नी के प्रणय में खोये हैं । यह है चित्र कालिदास की कल्पना के घर का ।

चित्रकला

चित्रशाला—संगीत, नृत्य और वाद्य के समान कालिदास को चित्रकला से न केवल गहरा लगाव था, प्रत्युत उन्हें इस विषय की सूक्ष्म जानकारी भी थी । मेरा विश्वास है कि वह अच्छे चित्रकार भी रहे होंगे । वह जिस युग में उत्पन्न हुए, वह युग विधा और कला की दृष्टि से भारतीय इतिहास का स्वर्णिम काल था । यही वह समय था जिसे आधार बनाकर कामसूत्र ने नागरक के रहन-सहन, साज-सज्जा, वेशभूषा और कला विनोदों की विशद चर्चा की है । कालिदास की रचनाओं पर काम सूत्र का गहरा प्रभाव है । कामसूत्र से मेरा आशय उस कामशास्त्रीय परम्परा से है जो समूचे गुप्तकाल में अभिजात वर्ग के जीवन का सहज अंग बनी हुई थी और जिसका आभिलेखिक स्वरूप वात्स्यायन के कामसूत्र में उपलब्ध है। कालिदास के काल में सम्पन्न लोगों के प्रासाद या हर्म्य में सामान्यतया एक चित्रशाला होती थी जिसमें परिवार के पूर्वजों के चित्रों के साथ वर्तमान प्रमुख दम्पती के जीवन को महत्त्वपूर्ण घटनाओं और उपलब्धियों को प्रदर्शित करने वाले चित्र लगे रहते थे । अयोध्या के प्रासाद में स्तम्भों पर चित्र बनाये गये थे । इन चित्रों में हाथियों तथा सुन्दरियों के बहुवर्णी चित्र थे । रघु. १६-१६, १७ । रम्य दृश्यों और भावों के अंकनों से भी चित्रशाला की वीथिका अलंकृत रहती थी । कालिदास ने वार वार इस स्थिति का उल्लेख किया है । यथा—मालविकाग्निमित्र में मालविका के प्रति अग्निमित्र के मन में प्रथम अनुराग उसका चित्र देखकर ही उत्पन्न होता है । वास्तविक दर्शन तो वाद में होता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ततः प्रविशत्याचार्यविक्षमाणाङ्गसौष्ठवामालविका)

विदू.—(जनान्तकम्) पेक्खदु भवं।ण खलु मे पडिच्छन्दादो परिहीअदि महुरदा।

राजा—(अपवार्य) वयस्य

चित्रगतायामस्यां कान्ति-विसंवादि मे हृदयम्।

सम्प्रति शिथिल-समाधिं मन्ये येनेयमालिखिता॥ २-२

चित्र से रूप कल्पना

राजा ने मालविका के रूप में कल्पना सर्व प्रथम उसके चित्र को देखकर ही की ती। इसीलिये जब वह प्रथम बार उसे साक्षात् देखता है तो कह उठता है कि जब मैंने इसे चित्र में देखा तो लगा कि यह चित्र में इतनी सुन्दर बना दी गयी है। वास्तव में इतनी सुन्दर तो हो नही सकती। किन्तु आज जब इसे प्रत्यक्ष देख रहा हूं तो लगता है कि चित्र इसके लावण्य के सम्मुख फीका है। शायद बनाते बनाते चित्रकार की एकाग्रता भंग हो गयी होगी। इसीलिये इसे इतनी सुन्दर चित्रित ही कर सका जितनी यह वस्तुतः है।

आलेख्यकार

राजा परिवारों में तो आलेख्यकार स्थायी रूप से रहते थे जो उनकी विभिन्न को चित्रित करते रहते थे। ये चित्र राज परिवार के लोग एक साथ बैठकर देखते थे। देखिये—

मालविकाग्निमित्र के प्रथम अंक में ही कौमुदिका पूछती है कि मालविका तो अन्तःपुर से पृथक् आचार्य गणदास की नृत्य शाला में रहती है, फिर महाराज ने उसे कैसे देख लिया! तो वकुला वलिका वतलाती है कि अरे! उसे महारानी के पास बैठे हुये चित्र में देखा था। कैसे? कौमुदिका ने पूछा तो वकुलावलिका ने बतलाया कि महारानी चित्रशाला को गयी थी और वहाँ, आचार्य को एक चित्र दिखा रही थी जो अभी विलकुल ताजा बन कर तैयार हुआ था। महाराज भी वहाँ आ गये। शिष्टाचार के उपरान्त महारानी से पास एक ही आसन पर बैठ कर चित्र देखने लगे। तब उन्होंने पूछा कि आप की सेविकाओं के बीच आपके सर्वाधिक समीप बैठी यह लड़की कौन है? बड़ी सुन्दर है यह! तो महारानी ने बात टाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दी। इस पर महाराज ने शङ्कित होकर दोबारा पूछा तो राजकुमारी वसुलक्ष्मी ने बतला दिया कि यह मालविका है—

कौमु.—स हि ईरिसेण वावारेण असण्णिहिदा विसा कहंभट्टिणा दिट्टा ?

वकु.—आम्सो जणो देवीए पास्सगदो चित्ते दिट्ठो। चित्तसालंगदा देवी जदा पच्चाग वण्ण राअं चित्तलेहं आआरिअस्स आलोअन्ती चिट्ठदि भट्टा आउद्विदो। अप आराणन्तरं एक्कासणो वविट्ठेण भट्टिणा चित्तगदाए देवीए परिअणमज्झगदं आसण्णदारिअं देक्खिअ देवी पुच्छिदा। अपुव्वा इअं दारि आ देवीए आसण्णा आलिहिदा किं णाम हेए त्ति ? तदो अवहीरिअवअणोभट्टा संकिदो देवीं पुणोपि अणुबंधि दुं पउत्तो। तदोकुमारिए वसुलच्छीए आअक्खिदम् अज्ज एसा मालविए'त्ति। माल. अंक १

प्रणय और आलेख

यह प्रसंग इस बात का द्योतक है कि कालिदास प्रणय प्रसंगों में आलेख्यों की उपयोगिता से भी सम्यक् परिचित थे। और ठीक इसके विपरीत भी एक ऐसा अन्य प्रसंग इसी नाटक में हैं जहाँ मालविका अपने प्रेमी महाराज को चित्र में अन्यनारी (महारानी) पर दृष्टि गड़ाये देखकर उन्हें निरीह दृष्टि से निहारती हैं—

वकु.—सहि पणम भट्टारं

माल.—णमोदे

राजा—शङ्के मे प्रतिकृति निर्दिशति

वकुला.—णं एसोचित्तगदोभट्ट।

माल.—का एसा पास परिउत्तमुहेण भट्टिणा सिणिद्धाए दिट्ठिए णिज्झा ई. अदि।

वकु.—णं इअं पासगदा इरावदी

माल.—सहि अदक्खिणो विअभट्टा में पडिभादि जो सव्वं देवी जणं उज्झिअ एक्काए मुहे वद्धलक्खो।

(वकु.—भर्ता को प्रणाम करो। माल.—आपको नमन। राजा—लगता है कि मेरे चित्र की ओर संकेत कर रही है। वकु.—यह चित्र में भर्ता ही है। माल.—यह कौन है जिसकी ओर मुँह झुकाये महाराज उसे स्नेह भरी दृष्टि से पी रहे हैं ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वकु.—यह इरावती हैं ! माल.—महाराज दाक्षिण्य रहित जान पड़ते हैं जो अन्य सब रानियों को छोड़कर एक के मुख पर आँखें गड़ाये हैं)।

स्पष्ट है कि इन चित्र शालाओं के चित्र विद्ध कोटि के होते थे जो जीवन्त और बोलते से दिखाये गये थे। उपर्युक्त उद्धरण इस बात के प्रमाण हैं। राजशेखर की 'विद्ध शालभञ्जिका नाटिका का तो आधार ही विद्ध आकृति है। प्राचीन काल में राजकुमारियाँ किसी राजकुमार का अपने मन में वरण उसका चित्र देख कर ही कर लेती थीं। कालिदास इस कला में पारङ्गत थे। उनके अभि. शाकु. की कथा में चित्र का स्थान महत्त्वपूर्ण है। शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त के मन में जो प्रतिक्रिया होती है वह भी चित्र से सम्बन्धित है—

चित्रे निवेश्य परिकल्पित- सत्त्व- योगा रूपोच्चयेन मनसा विधिनाकृता नु।

स्त्रीरत्न-सृष्टि रपरा प्रतिभाति सा मे धातुर्विभुत्व मनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥१-२

ब्रह्मा की सर्जन शक्ति और इसके शारीरिक सौन्दर्य को देखकर लगता है कि यह कुछ अन्य प्रकार की ही रचना है। लगता है कि पहले ब्रह्मा ने चित्त में इसके अंगो-प्रत्यंगों की रूप रेखा बनाली होगी और सम्पूर्ण रूप राशि को एकत्र कर उससे केवल मन के द्वारा इसे बनाया होगा—बिना हाथों के स्पर्श से। स्पर्श से रूप में यह ताजगी नहीं रह सकती ती।

पार्वती के सौन्दर्य निरूपण के समय भी कवि को सर्वप्रथम तूलिका द्वारा उकेरे हुए चित्र की याद आती है—

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुना भिन्नमिवारविन्दम्।

वभूव तस्याश्चतुरस्र- शोभिं वपुर्विभक्तं नवयौवनेन॥ कुमार. १-३२

मेघदूत का यक्ष भी प्रिया का चित्र बनाकर मन बहलाने का उपक्रम करता है। वह शिला के ऊपर गेरु से पत्नी का चित्र बनाकर स्वयं को उसके चरणों में गिरा कर मनाने का प्रयत्न करता हुआ दिखाना चाहता है क्योंकि वह कल्पना से पत्नी को प्रणय- कुपिता मानिनी के रूप में अंकित करता है। चित्र तो वन जाता है किन्तु उसे देखे, निरखे कि उससे पहले नेत्र आँसुओं में डूब जाते हैं और बेचारा अपने बनाये चित्र तक को देख नहीं पाता—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया—

मात्मानं ते चरण-पतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्त्रैस्तावन्मुहुरुपचितै र्दृष्टिरालुप्यते मे

क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः । मेघ. २-४२

यह चित्र रचना वस्तुतः यक्ष की नहीं, स्वयं कालिदास की ही है । यक्ष तो माध्यम मात्र है, उनकी अभिव्यक्ति का । अलका के सात मंजिले प्रासाद तो बिना आलेख्यों के हो ही कैसे सकते थे । मगर वहाँ कठिनाई यह ती कि वायु अपने वेग से मेघों को उधर उड़ा ले गयी नहीं, कि मेघों ने, अपने जलकणों से अमूल्य चित्रों को दूषित कर दिया और फिर चोर के समान धुये का रूप धारणकर जालियों से निकल भागे—

नेत्रा नीताः सतत गतिना यद्-विमानाग्रभूमी

रालेख्यानां नवजलकणै र्दोषमुत्पाद्य सद्यः ।

शङ्का-स्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशा जालमार्गै

र्धूमोद्गारानुकृति-निपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ।। मेघ. २-६

और मेघदूत का यक्ष ही चित्रकार नहीं है, उसकी प्रिया भी चित्रकला में निपुण है । जैसे यक्ष गेरू से शिलापर अपनी प्रिया का चित्र बनाकर कालयापन करता है, ऐसे ही उसकी प्रिया भी मनोविनोदन के लिये प्रिय का आलेखन करती है—

आलोके ते निपतति पुरा सा वलिव्याकुला वा

मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती ।। मेघ. २-२२

चित्र का प्रभाव

शाकुन्तल में चित्रकला की सविस्तर चर्चा है । अंगुलि पाकर जब दुष्यन्त में पुरानी स्मृति जाग उठती है तो वह शकुन्तला के विरह में उन्मत्त सा हो जाता है । और तब शकुन्तला का चित्र ही उसके मन को आधार देता है । वह उसका चित्र बनाता है—

चतुरिका चित्रफलक हाथ में लिये आती है और दुष्यन्त को दिखा कर कहती है—यह देखिये स्वामिनी (शकु.) का चित्र । चित्र देखकर विदूषक मुग्ध हो जाता है । कहता है—वाह मित्र ! बहुत सुन्दर निम्नोन्नत अंगों के सुन्दर अवस्थान के साथ भीतर से छलकते भाव भी अपूर्व है । राजमहिषी सानुमती भी वोल उठती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है—कैसी निपुणता है महाराज द्वारा आलिखित इस चित्र में प्रतीत होता है कि मेरी सखी शकुन्तला मेरे सामने ही खड़ी है—"जाणे सही आगदो मे वहदित्ति"। तब दुष्यन्त कहता है कि चित्र में जो अंश ठीक न बने उसे सुधारा जा सकता है। मैंने वार वार ऐसा प्रयत्न किया भी। तथापि मैं रेखाओं के द्वारा उसके सौन्दर्य लावण्य का स्वल्पांश ही चित्रित कर पाया—

यद्यत् साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत् तदन्यथा।

तथापि तस्या लावण्यं रेखया किं चिदन्वितम्॥ ६-१४

यह स्वाभाविक ही था। स्वयं ब्रह्मा ने पहले चित्त में निविष्ट कर एक एक अंग की कल्पना की और समग्र रूप राशि से बिना छुये केवल मन से गढ़ा हो, उस चित्र बना लेना क्या कोई सरल बात है? वैसे कालिदास का ध्यान चित्र बनाते समय उसकी पृष्ठ-भूमि और सहज भाव मुद्राओं पर बहुत अधिक रहता था। शकु. का चित्र बनाते समय भी उन्होंने पार्श्व भूमि का ध्यान रखा। दो सखियों के मध्य खड़ी शकुन्तला, बन्धन ढीले पड़ जाने के कारण जूड़े से खिसक कर गिरते फूले, मुख पर झलकते हुए श्रमस्वेद के बिन्दु, वृक्ष सींचने से उत्पन्न थकावट के कारण ढीली, नीचे लटकती बाहें, और सींचने के कारण स्निध कोमल पत्तों से भरा आम्रवक्ष और उसके पास कुछ थकी सी खड़ी वह। विदूषक कहता है—"तक्केभि भिजा एसा सिढिल केसबन्ध णुल्वन्त कुसुमेण के सन्तेण उब्भिन्न स्से अविन्दुणाअणे न विसेसदो ओ सरिआहिं वाहाहिं अवसे असिणि द्धतरूण पल्लनस्स चूअ पाअ वस्स पासे इसि परिस्सन्ता वि अ आलिहिदा सा सउन्दला इदराओ सही ओत्ति"। तब राजा उसे समझाता है कि आपने निपुणता के साथ परखा। सचमुच चित्र में मेरे अनुराग के चिह्न हैं—

स्विन्नाङ्गुलि-विनिवेशो रेखा-प्रान्तेषु दृश्यते मलिनः।

अश्रु च कपोलपतितं दृश्यमिदंवर्तिकोछ्वासात्॥शाकु. ६-१५

रेखाप्रान्तों (चित्र के किनारों) के भाग पसीने से गीली अंगुलियों के रखने से मलिन दिख रहे हैं और कपोल से गिरे हुए अश्रु के कारण पेट पर रंगों का लेप फूल गया है। रेखा चित्र की बनावट को कहते हैं—

शिरोनेत्र-करादीनामङ्गानां मेलने सति।

कार्यस्थितिर्यतो नेत्रहरा रेखा प्रकीर्तिता॥ (संगीतरत्नाकर)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब राजा कहता है कि अभी तो चित्र अधूरा ही बना है। इसमें कुछ और भी दिखलाना है—

कार्या सैकत-लीन-हंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी

पादास्तामभितो निषण्ण-हरिणागौरीगुरोः पावनाः।

शाखालम्वित-वल्कलस्यचतरो र्निर्मातुमिच्छाम्यधः

श्रृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्॥ शाकु. ६-१७

चित्र की पार्श्वभूमि

शकुन्तला के चित्र की पार्श्वभूमि उसके अनुकूल होनी चाहिये। इसलिये मालिनी नदी, जो स्रोतोरूप में बहती स्वल्पाकार है, उसके किनारे वालू पर बैठी हंसों की जोड़ी, उसके दोनों ओर हिमालय की निचली पहाड़ियाँ और उन पर बैठे हुए हरिण, वृक्ष की शाखाओं में लटकते हुए वल्कल और नीचे कृष्ण मृग के सींग से अपने वामनयन को खुजलाती हुई मृगी—इतनी बातें अभी इस फलक पर चित्रित करना शेष है। साथ ही वनवास और सौकुमार्य से मेल खाता हुआ शकुन्तला का प्रसाधन भी—

कृतं न कर्णार्पित-बन्धनं सखे शिरीषमागण्ड-विलम्वि केसरम्।

नवा शरच्चन्द्र-मरीचि-कोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे॥ वही १८

अभी इसके कानों में शिरीष को विन्यस्त करना है कुछ इस प्रकार से कि उसके केसर गण्ड (कनपटी) तक लटक रहे हों और स्तनों के बीच शारद चन्द्र की मरीचि जैसा कोमल मृणाल सूत्र अर्थात् विस- मालिका भी तो चित्रित करना है। यह कहते कहते दुष्यन्त इस प्रकार भावों में खो गया कि उसे लगा, जैसे वह स्वयं शकुन्तला के ही कण्ठ में मृणाल सूत्र की माला पहना रहा हो। इसी बीच विदूषक ने चित्र की बात कहकर उसकी मौनसमाधि भंगकर दी तो दुःखी होकर कहने लगा—यह क्या अकार्य कर डाला तुमने! मैं तो चित्र की कान्ता से तादात्म्य स्थापित कर उसके दर्शन का सुख ले रहा था और तुमने पुरानी बात की याद दिला कर मेरी जीवन्त कान्ता को चित्र बना दिया।

—राजावयस्य! किमिदमनुष्ठितं पौरोभाग्यम्

दर्शन-सुखमनुभवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृताकान्ता ॥ शाकु. ६-२१

आलेख्यों की लोकप्रियता

इससे सहज अनुमान लगाया जा सकता है कालिदास का युग कितना आलेख्य प्रिय था। नागरक के लिये जिन चौसठ कलाओं का विधान कामसूत्र ने किया है, उनमें गीत, वाद्य, नृत्य के बाद चौथा स्थान आलेख्य कला का है (का.सू. प्रथम अधि. तृतीय अ.)। इन कलाओं का जानना आवश्यक माना जाता था। का. सू. (अ. ३-२२) में कहा है पुरुष यदि कलाओं में कुशल हो, मृदुभाषी हो, थोड़ा बातून और प्रियकारी हो तो बिना पहले से जान पहचानके भी स्त्रियों के मन को आकृष्ट कर सकता है। सौभाग्य का जन्म कलाओं के ज्ञान से ही होता है—

नरः कलासु कुशलो वाचालश्चाटुकारकः।

असंस्तुतोऽपिनारीणां चित्तमाश्वेव विन्दति ॥

कलानां ग्रहणादेव सौभाग्यमुपजायते ॥

यही कारण था कि प्राचीन भारत में प्रायः सभी संपन्न लोग उक्त चारों कलाओं ने निष्णातता प्राप्त करते थे। कालिदास के प्रायः सबी नायक इन कलाओं के न केवल पारखी थे, प्रत्युत उनके श्रेष्ठ निर्माता भी थे।

मैंने ऊपर 'त्वमालिख्य' श्लोक के प्रसंग में कहा है कि यहाँ यक्ष के स्थान पर कालिदास ने स्वयं को प्रतिष्ठित कर लिया है। यह बात ऊपर उद्धृत "कार्या सैकतलीन" आदि श्लोक के विषय में भी उतनी ही सत्य है।

काव्य और चित्र

कालिदास के काव्य का एक महत्त्वपूर्ण गुण उसकी चित्रमयता है। उनकी रचनाओं में यत्रतत्र ऐसे श्लोक निखरे पड़े है जिनके आधार पर चित्र बनाये जा सकते है। वानगी भर देखिये—

(१) दीर्घाक्षं शरदिन्दु-कान्ति वदनं वाहू नतावंसयोः
संक्षिप्तं निविडोन्नत-स्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालाङ्गुली
छन्दो नर्तयितु र्यथैव मनसः श्लिष्टं तथा ऽस्यास्तनुः। माल. २-३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) वामं सन्धिस्तिमित वलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामा विटप-सदृशं स्त्रस्त-मुक्तं द्वितीयम्।
पादाङ्गुष्टालुलित-कुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षम्
नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम्। वही ६

कुमार सम्भव (३-७६) के 'सपदि मुकुलिताक्षीम्' तथा (५-८५) तांवीक्ष्यवेपथुमतीम्' आदि अनेकों श्लोक इसके प्रमाण हैं।

संगीत नृत्य और वादनकला

संगीत का महत्त्व

कालिदास श्री-समृद्धि-सम्पन्न समाज के कवि हैं। उनका जीवन उच्चवर्गीय समाज में बीता। उनके समय में कामसूत्र में वर्णित, समाजिक वातावरण के दर्शन होते हैं। भरे पुरे, सम्पूर्ण सुविधाओ से युक्तभवन, हर्म्य और प्रसाद, उनमें चलने वाले आमोद-प्रमोद और आनन्द विलास में मग्न दम्पती, वाद्य, नृत्य, और अभिनय का सुख उठाते रसिक जन कालिदास की लेखनी के विषय रहे हैं। पशु-पक्षी हों या युवा नर-नारी, मानवीय सृजन हो या प्राकृतिक अवदान, पार्थिव हो या दिव्य-सौन्दर्य, जहाँ जहाँ भी है वहाँ कालिदास की लेखनी ने उसे शब्दवद्ध करने की चेष्टा की है। पक्षियों के कलरव, मयूरों के नृत्य, से लेकर कलापूर्ण वाद्य-वादन, नृत्य, संगीत और अभिनय सबको उनकी रसग्राही दृष्टि का वरदान मिला है। मयूरों की केका और नर्तन उन्हें उन्मत्त बना देता है। मयूर षड्ज स्वर में गाता है। संगीताचार्यों ने इस स्वर की उत्पत्ति मयूर से मानी है। उसकी वाणी को केका कहते हैं। मयूर मेघों का गर्जन सुनकर गाने और नाचने लगता है। राजा दिलीप जब अपनी पत्नी सुदक्षिणा के साथ रथ पर सवार होकर गुरु वसिष्ठ के आश्रम को जाते है तो मार्ग में वन में मयूर रथ की ध्वनि को मेघध्वनि समझ कर आनन्द से गाने लगते हैं—

मनोभिरामाः शृण्वन्तौ रथनेमि-स्वनोन्मुखैः।
षड्ज-संवादिनीः केका द्विधा भिन्नाः शिखण्डिभिः ।।रघु. १-३९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षड्जसंवादिनी केका

संगीत स्वर सात होते हैं—निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्ज, मध्यम, धैवत और पञ्चम। मयूर षड्ज में बोलता है। नासिका, कण्ठ, उरस्, तालु, जिह्वा और दन्त—इन छै अंगों का स्पर्श करते हुए निकलने वाला स्वर षड्ज। षड्ज दो प्रकार का होता है—च्युत और अच्युत। जब यह छन्दोवती श्रुति पर स्थिर होता है तो अच्युत और जब अन्य श्रुति पर होता है तो च्युत। षड्ज के दो भेद शुद्ध और विकृत भी होते हैं। तीव्र, कुमुद्वती, मन्दर और छन्दोवती इन चारों श्रुतियों वाला षड्ज शुद्ध और इनमें दो श्रुतियों वाला विकृत। दिलीप के रथ की नेमि की ध्वनि इतनी तीव्र थी कि मयूर भ्रान्ति से उसे मेघ की ध्वनि समझकर ध्वनि की ओर गर्दन ऊपर उठाकर केकारव करने लगते थे। ये केकारव षड्ज स्वर से संवादी (मेल खाता हुआ) था और शुद्ध, विकृत दो भागों में विभक्त था। संभव है रथ से उन्हें विस्मय और भय दोनों हुए हों जिससे उनका स्वर स्निग्ध और दीप्त होकर द्विधा (दो प्रकार का) निकला हो। फिर भी था वह षड्ज से संवादी (अनुकूल) मयूर की बोली के विषय में कालिदास का यह वर्णन उनकी सूक्ष्म दृष्टि का परिचाय है। एक अन्य स्थान पर भी वह केका की बात कहते हैं—

तीरस्थली-वर्हिभिरुत्कलापैः प्रस्निधकेकैरभिनन्द्यमानम्।

श्रोत्रेषु संमूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदङ्ग-वाद्यम्॥ रघु. १६-६४

अयोध्या की स्त्रियाँ जल क्रीडा करती हुई दोनों हाथों से जल का इस प्रकार आस्फालन करती हैं कि उससे मृदङ्ग की जैसी ध्वनि उत्पन्न होती है। यह एक कला है जिसे कामसूत्र ने 'उदकवाद्य कहा है। वे साथ में गीत भी गाती जा रही है। जल स्फालान से स्वभावतः उनके कंकण बज रहे होंगे। इससे प्रभावित होकर तटस्थ मयूर भी पंख फैलाकर स्निग्ध (षड्ज का भेद) केका में अलापने लगते हैं। स्निग्ध केका का स्मरण करते हुए राम सीता से कहते हैं कि जब तुम मेरे पास नहीं थीं तो मयूरों की स्निग्ध केका मुझसे सहन नहीं की जाती थीं। इससे केका की कामोद्दीपकता व्यक्त की गयी हैं—

स्निग्धाश्च केकाः शिखिनां वभूवु र्यस्मिन्नसह्यानि त्वंया विना मे। रघु. १३-२७

वर्षागम में मेघ आनन्दित होकर बोलते हैं। कवि ने उनकी इस बोली का उपयोग कितने काव्यात्मक ढंग से किया है। अज इन्दुमती का वरण कर उसके साथ राजधानी लौट रहे हैं कि मार्ग में निराश शत्रु उनका प्रतिरोध करते हैं किन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अज उन्हें परास्त कर भगा देते हैं। इन्दुमती उनके शौर्य से प्रसन्न होकर उनका अभिनन्दन करना चाहती है किन्तु सद्योविवाहिता होने के कारण अभी उसकी लज्जा छूटी नहीं है। अत: वह अपने मन का हर्ष सखियों के माध्यम से प्रकट कर अज का अभिनन्दन करती है, उसी प्रकार जैसे ग्रीष्म के ताप से झुलसी वसुधा पर जब वर्षा का नया जल गिरता है तो वह आनन्दोच्छ् वसित होती है किन्तु अपने मुख से मेघ का अभिनन्दन न कर मयूरों को माध्यम बनाती है जो केका के द्वारा मेघों का अभिनन्दन करते हैं—

हृष्टापि सा ह्री-विजिता न साक्षाद् वाग्भिः सखीनां प्रियमभ्यनन्दत्।

स्थली नवाम्भः-पृषताभिवृष्टा मयूरकेकाभिरिवाभ्र-वृन्दम्॥ रघु. ७-६९

इस श्लोक में स्थली और पृषत् शब्द कवि की चातुरी के निदर्शक हैं।

हंस- रुत

अलका के वर्णन में तो कवि ने मयूरों ही नहीं, भ्रमरों और हंसों के गीत को भी काव्यवद्ध कर लिया है। अलका में वारहों मास वृक्षों पर पुष्प खिले रहते हैं और भ्रमर उन्मत्त होकर उन पर गान करत हैं। उसके सरोवरं में सदा कमल खिले रहते हैं जिनसे आनन्दित होकर हंस रशनावत् क्वणन करते रहते हैं और भवनों के क्रीडामयूर सदा उद्ग्रीव होकर केका गान किया करते हैं—

यत्रोन्मत्त-भ्रमर-मुखराः पादपा नित्यपुष्पा

हंसश्रेणी-रचित-रशना नित्यपद्मा नलिन्यः।

केकोत्कण्ठा भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कलापा

नित्यज्योत्सनाः प्रतिहत-तमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः। मेघ. २-३

विक्रमोर्वशीय में सुन्दर चित्रमय वर्णन है—ग्रीष्म का अवसान हुआ। नये मेघ आकाश में छितर गये। सामने तेज पुरवा के कारण मयूरों के पंख खुलकर नृत्य मुद्रा में है और वे कण्ठ को खूब ऊपर उठाये केका प्रलाप रहे हैं मेघों की ओर टकटकी लगाये—

आलोकयति पयोदान् प्रवल-पुरोवात-नर्तित-शिखण्डः।

केकागर्भेण शिखी दूरोन्नमितेन कण्ठेन॥ विक्रमो. ४-८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मयूर पुरुरवा के वन्दीजन का काम करते हैं । तब उनकी वाणी पटुतर लगती है—

धर्मच्छेदात् पटुतर-गिरो वन्दिनो नीलकण्ठाः । वही ४-४

मायूरी मार्जना

मालविकाग्नि मित्र में तो कालिदास ने मयूर के रसित के माध्यम से अपने गम्भीर संगीत शास्त्र के ज्ञान का प्रमाण-सा प्रस्तुत किया है । नाटक के प्रारम्भ में गणदास की शिष्या मालविका के नृत्य प्रदर्शन की योजना बनती है । नृत्य से पूर्व वाद्यों के साथ संगीत के स्वरों का मिलान प्रारम्भ होता है । पहले मृदङ्ग या पुष्कर पर थाप पड़ती है । मृदङ्ग की ध्वनि सुन कर रानी कहती है कि मृदङ्ग की ध्वनि को मेघ गर्जन समझ कर ये मयूर उद्ग्रीव होकर देखने लगे और उसके साथ साथ बोलने लग गये । और पुष्कर (मृदंग) को तो देखो । इसको मध्यम स्वर से उत्पन्न, गम्भीर ध्वनि वाली मायूरी मार्जना मन को मत्त बना रही है । मृदङ्ग के साथ अन्य वाद्यों का योग भी था किन्तु यह मृदङ्ग सामान्य नहीं, अपितु तीन मुखों वाला (त्रिपुष्कर युक्त) था जिसका एक मुख दायीं ओर, दूसरा वायीं ओर और तीसरा ऊपर की ओर था । इससे तीन मार्जनायें उत्पन्न होती थीं जो तीनों पुष्कर मुखों पर स्थापित स्वर- विशेषों के आधार पर भिन्न भिन्न थीं । इनमें एक का नाम है मायूरी मार्जना जिसमें पुष्कर के वाम मुख को गान्धार स्वर में, दक्षिण मुख को षड्ज स्वर में और ऊर्ध्वक मुख को पञ्चम स्वर में मिलाया जाता है । मायूरी मार्जना इस मिलान से उत्पन्न होती है । कालिदास ने यहाँ मायूरी मार्जना को मध्यम स्वरोत्था कहा है अर्थात् मध्यम स्वर से उठायी हुई । इसका सम्बन्ध ग्राम से है । इसमें मध्यम स्वर षड्ज है जो मयूर का स्वर माना जाता है । नाट्य शास्त्र की उक्ति है—

मायूरी मध्यमग्रामे ऽप्यर्धा षड्जे तथैव च ।
कार्मारवी च कर्तव्या साधारण-समाश्रया ।।

इसीलिये यह मयूरों की प्रिय है । इस श्लोक द्वारा कवि ने अपने सूक्ष्म गम्भीर शास्त्रीय ज्ञान का परिचय दिया है ।

कोकिल- गीत

मयूर के अतिरिक्त कोकिल की बोली को भी कवि ने गीत कहा हैं । यहाँ भी मयूरी के समान कोकिला उपेक्षित रही है । इसका कारण इन दोनों के पुमान्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रुप अपेक्षाकृत अधिक आकर्षक होना है। कोकिल का रव स्त्रियों में कामोद्दीपन करता है और जब आम्र की मंजरियों के अंकुर को, जिसका स्वाद कसैला होता है, खाकर वह बोलता है तो उसके स्वर में विशेष बल और माधुर्य आ जाता है। इस बात की ओर ध्यान देकर कवि ने कहा है—

चूताङ्कुर-स्वाद-कषाय-कण्ठः पुंस्कोकिलो यन्मधुरं चुकूज।

मनस्विनी-मान-विघात-दक्षं तदेव जातं वचनं स्मरस्य। कुमार. ३-३२

कालिदास ने मानिनियों का मान तोड़ने का काम कोकिल कण्ठ को ही सौंपा है। रघुवंश में भी वह यही काम करती मिलती है। अन्तर यह कि यहाँ परभृत स्थान पर परभृता है जो स्त्री जाति की होने के कारण वधूजन की अधिक विश्वासपात्र है—

त्यजत मानमलं वत विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरंवय :।

परभृताभिरितीव निवेदिते स्मरमते रमते स्म वधूजनः ॥ रघु. ९-४७

ऋतु संहार के वसन्त वर्णन में कवि ने बार बार (६-१६, ३५, ३८) पुंस्कोकिल और कोकिला की चर्चा की है- कहीं सहकार रस का आसव पीकर उसकी राग-हृष्टता की, तो कहीं उसके विरुत की और कहीं वन्दी के समान वसन्त के गुण गान करने की। वसन्त का विरुदगान परभृता करती है। वसन्त उसी के गीतालाप के कारण रम्य है (कोकिलालाप रम्यः। ऋतु. ६-३७) उसके आगमन की सूचना भी पुंस्कोकिल के कल गीत से मिलती है (कल- पुंस्कोकिल- शब्द- सूचितः—कुमार. ४-१४)। कोकिल के गीत कवि को इतने प्रिय थे कि वह वसन्त की बिना क़ोकिल गान के कल्पना ही नहीं कर सकता था। पद पद पर कवि ने उसका स्मरण किय है।

(१) समद- मधुकराणां कोकिलाञ्च नादैः- कुसुमित- सहकारैः

कर्णिकारैश्च रम्यः। ऋतु. ६-२९

(२) यत् कोकिलः पुनरयं मधुरैर्वचोभिः, यूनां मनः सुवदना-

निहितं निहन्ति। वही २२

(३) पुंस्कोकिलैः कल- वचोभिरुपात्त- हर्षैः कूजद्भिरुन्मद

कलाति वचांसि भृङ्गैः। वही २३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४) मासेमधौ मधुर-कोकिल-भृङ्गनादैर्नार्यो हरन्ति हृदयं प्रसभं नराणाम्।
ऋतु. २६

(५) हृष्टान्य पुष्ट- निनदाकुल- सानुदेशान् दृष्ट्वानतः क्षितिभृतो मुदमेति सर्वः। वही २७

(६) विस्तारयन् परभृतस्य वचांसि दिक्षु वायु र्विवाति हृदयानि हरन् नराणाम्। वही २४

(७) परभृत- कल गीतै र्ह्लादिभिः सद्वचांसि, — उपहसति वसन्तः कामिनीनामिदानीम्। वही ३१

(८) प्रथममन्यभृताभि रुदीरिताः प्रविरला इव मुग्ध- वधू- कथाः।
सुरभि- गन्धिषु सुश्रुविरे गिरः कुसुमितासुमिता वनराजिषु।रघु. ९-३४

(९) त्वां कामिनो मदनदूतिमुदाहरन्ति मां वा नयाशु कलभाषिणि यत्र कान्ता। विक्रमो. ४-११

ये उदाहरण उपलक्षण मात्र हैं। कवि ने सामान्यतया वसन्त के प्रसंग में और मदनोद्दीपन के लिये कोकिल के गीत की चर्चा की है। कोकिल के गीत को कई वार उन्होंने वचस्, नाद, विरुत, रुत, और निनद भी कहा है। डॉ. सुषमा कुल श्रेष्ठ (कालिदास साहित्य एवं पशु- पक्षि- संगीत) के अनुसार कालिदास ने २६ बार कोकिल नाद का उल्लेख किया है। इसमे ६ बार पुंस्कोकिल, ६ बार परभृत, ५ बार कोकिल, ३ बार परभृता, २ बार अन्यभृता, २ बार कोकिला, १ बार अन्य-पुष्ट और १ बार अन्य- पुष्टा नाम से उसकी गीत माधुरी की चर्चा की है।

भ्रमर-स्वन

कोकिल के समान ही वसन्त के प्रसंग में कवि ने अलियों या भ्रमरों की गीत माधुरी का वर्णन किया है। कोकिल और भ्रमरों का उल्लेख अनेक प्रसंगों पर साथ ही हुआ है। वह उनके गुंजन में मदिर गीत के दर्शन करते हैं—

आकम्पितानि हृदयानि मनस्विनीनां—श्रोत्रप्रियैर्मधुकरस्यच गीतनादैः।

कालिदास ने कहीं भ्रमर के शब्द को गीत, कही नाद, कहीं कलनाद, कल गीत, कहीं कूजित, कही गीतनाद, कहीं स्वन, कहीं विरुत, कहीं गीति आदि कहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है । वह पर- भृत के शब्दों को वाद्यमान तूर्य की उपमा देते हैं । कल्पलता के नर्तन का साथ संगति कर रहा है कोकिल- तूर्य- वादन और मधुकरव गीत—

गन्धोन्मादित- मधुकर- गीतै र्वाद्यमान पर-भृतरव तूर्यैः—

नृत्यति कल्पतरुः । विक्रमो. ४-९

कालिदास की दृष्टि में कोकिला मदनदूती है तो अलिपंक्ति काम की प्रत्यञ्चा—

अलि पङ्क्तिरनेकशस्त्वया गुणकृत्ये धनुषो नियोजिता । कुमार. ४-१५

उन्हें भ्रमरों से अत्यन्त लगाव है । वसन्त और काम के कोकिल और भ्रमर ये दो अमोघ अस्त्र हैं उसी प्रकार कालिदास के काव्य स्फुरण के भी दो अमोघ उपकरण । यही कारण है कि उन्होंने डॉ. सुषमा कुलश्रेष्ठ की गणना के अनुसार (कालिदास साहित्य में पशु- पक्षि- संगीत) उन्हें १७ बार काव्य का विषय बनाया है । ४ बार उन्हें भृङ्ग नाम से, ३ बार षट्पद, ३ बार मधुकर, दो दो बार भ्रमर, द्विरेफ और अलि तथा एक बार मधुकर नाम से याद किया है । उन्होंने उनके शब्द को ५ बार स्वन, ४ बार कूजित, ३ बार नाद, दो बार विरुत और एक एक बार निःस्वन, उपगीत और गीत कहा है । इसके अतिरिक्त उन्होंने श्रुतिहारि निःस्वन, श्रुति- सुख गीति, गीत नाद, जैसे शब्दों का भी प्रयोग किया है । कोकिल के शब्द के लिये भी प्रायः ये ही शब्द प्रयुक्त हुए हैं । भ्रमर गीत का महत्त्व तो इसी से स्पष्ट है कि शाकुन्तल का कथासूत्र उसी से प्रारम्भ होता है । वह नायिका का रहस्याख्यायी है—

रहस्याख्यायीव स्वनति मृदु कर्णान्तिकचरः । अभि. १-२४

संगीत

पक्षियों का गायन कलाक्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आता क्योंकि उसमें उनकी साधना का अंश सम्मिलित नहीं होता । वह प्रकृति या निसर्ग की देन है किन्तु मानव का गीत और संगीत उसके तप और निष्ठा से उदभूत होता है । नैसर्गिक वस्तुओं और कलाकृतियों में यही अन्तर है । कला प्राकृत के आधार पर अप्राकृत रचना है । वह प्रकृति के समीप किन्तु उससे भिन्न होती है । संगीत कला है जिसमे गायन, वादन और नृत्य (जिसमें अभिनय का भी समावेश है) तीनों सम्मिलित रहते हैं—"गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते" । कालिदास में संगीत के तथा स्वतन्त्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप में गीत, वाद्य एवं नृत्य के अनेकों उदाहरण मिलते हैं। संगीत का एक सुन्दर उदाहरण कुमार. ११-३६ में मिलता है—

ध्वनत्सु तूर्येषु सुमन्द्रमङ्क्यालिङ्ग्योर्ध्वकेष्वप्सरसो रसेन।

सुसन्धिवन्धं ननृतुः सुवृत्त-गीतानुगं भाव-रसानुविद्धम्॥

कुमार कार्तिकेय का जन्मोत्सव है। इसमें अप्सरायें गीतिनाट्य प्रस्तुत कर रही हैं। नाटिका की विषय वस्तु सम्यक्तया गठी हुई, सुश्लिष्ट तथा पाँच सन्धियों में बँधी हुई है। उसकी छन्दोवद्ध रचना में अनुकूल रस तथा भावों का समावेश था। अप्सरायें उसे गाती हुई सरस नृत्य प्रस्तुत कर रही थीं और नृत्य को संगति प्रदान कर रहे थे तूर्य वाद्य तथा अङ्क्य, आलिङ्ग्य और ऊर्ध्वक नामक त्रिपुष्करक मृदङ्ग। यहाँ कवि ने संगीत का विशुद्ध शास्त्रीय रूप प्रस्तुत कर संगीत में अपनी गहरी पैठ का परिचय दिया है। इससे कुछ कम पुष्ट चित्र मेघदूत में मिलता है किन्तु संगीतार्थ की पूर्णता इसमें भी है—

शब्दायन्ते मधुर मनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः,

संसक्ताभि स्त्रिपुर-विजयो गीयते किन्नरीभिः।

निर्ह्रादस्ते मुरज इवचेत् कन्दरेषुध्वनिः स्यात्,

संगीतार्थो ननु पशुपते स्तत्र भावी समग्रः॥ मेघ. १-५६

मेघ यक्ष का सन्देश लेकर कनखल पार करता हुआ आगे हिमालय में पहुँचता है। यह वह स्थान है जहाँ एक शिला पर भगवान् शंकर के चरण चिह्न अंकित है। सिद्ध लोग उनकी श्रद्धा के स्थान पूजा करते हैं। कालिदास कहते हैं कि वहाँ बहुत से कीचक (वायु वेग से वजने वाले) वाँसों के झुरमुट है जो वायु से पूरित होकर वंशी की ध्वनि करते हैं। किन्नरियाँ इकट्ठी होकर समवेतस्वर में शिव के त्रिपुर विजय का गान करती हैं। त्रिपुर विजय गीतिनाट्य हैं। गाती हुई किन्नरियाँ, पर्वतीय प्रथा के अनुसार समवेत नृत्य भी करती हैं। ऐसे में हे मेघ! यदि तुम तीव्र निर्हाद (गम्भीर गर्जन) करोगे तो वह कन्दराओं में प्रतिध्वनित होकर मुरज का काम देगा और इस प्रकार पशुपति की संगीत पूजा पूर्ण हो जायगी। क्योंकि तब उसमें गीत (वंशी सहित) और नत्य (मुरजताल पर) और वाद्य तीनों का संयोग हो जायगा। ऐसा ही दृश्य रघुवंश (१६-६४) में है।

वारिमृदङ्ग वाद्य

तीरस्थलीवर्हिभिरुत्कलापैः प्रस्निग्ध-केकैरभिनन्द्यमानम्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रोत्रेषु संमूर्च्छति रक्तमासं गीतानुगं वारिमृदङ्ग वाद्यम् ।।

अयोध्या की विलासवती स्त्रियाँ सरयू में जलक्रीडा कर रही हैं। वे दोनों हाथों से इस प्रकार जल का आस्फालन करती हैं कि उसमें मृदङ्ग की सी ध्वनि उत्पन्न होती है—थप-थप की। जब बहुत सी स्त्रियाँ एक साथ ऐसा करती हैं तो ध्वनि और तीव्र हो जाती है जिसे सुनकर तीर स्थली के मयूर नाचने और केका गाने लगते हैं। यहाँ गीत नृत्य और वाद्य तीनों का संयोग है।

गीत और गीति

संगीत की तीनो विधाओं में गीत प्रमुख है। नृत्य और वाद्य उसके अनुग हैं। गायकों में पहला उल्लेख लवकुश का मिलता है। वे दोनों रामायण के गान में निपुण थे। राम की सभा में जब उन्होंने रामायण का गान किया तो सारे सांसदों की आँखों से अश्रु धारा प्रवाहित हो चली थी—तद्गीतश्रवणैकाग्रा संसदश्रुमुखी वभौ। रघु. १५-६६। संगीत कारों ने उनकी गीत माधुरी की प्रशंसा की थी—रुपे गीते चमाधुर्य तयोस्तज्ज्ञै र्निवेदितम्। वही १६-६५। और जब उनसे पूछा कि तुम्हें संगीत की शिक्षा किसने दी है तो उन्होंने वाल्मीकि का नाम वताया

गेये केन विनीतौ वां कस्य चेयं कृतिः कवेः।

इति राज्ञा स्वयं पृष्टौ वाल्मीकिमशंसताम्।। रघु. १५-६९

इससे एक बात यह भी स्पष्ट होती है कि इस काल में आश्रमों में मुनि जन भी संगीत में दक्ष होते थे। गायन उनके नित्यपाठ का भाग था। अपना गीतपाठ बालक प्रतिदिन माता को सुनाते थे। वे किन्नर-स्वन थे (वही ६४)। उनके कारण कवि ने सीता को ऋचा के समान स्वर संस्कारवती कहा है (वही ७४)। जब आश्रमों की यह स्थिति थी तो संपन्न गृहस्थों की तो बात ही क्या? उनके घर तो 'सुतन्त्रिगीतों' तथा 'सवल्लकी काकलिगीतनिस्वनौ' से गुंजित (ऋतु. १-३, ८) ही रहते थे। किन्नर जाति अपने स्वर- माधुर्य तथा गान- दाक्षिण्य के लिये प्रसिद्ध थी। इस दिशा में वह उपमान बन गयी थी। लव कुश को कवि ने किन्नर कण्ठ कहा है। किन्नरों से रघु ने अपनी विजय के गीत गवाये थे—जयोदाहरणं वाह्वोर्गापयामास किन्नरान्। रघु. ४-७८। अज जब इन्दुमती के साथ राजभवन में पधारे तो वहाँ स्त्रियाँ कानों को प्रिय लगने वाले जय-गीत गा रही थीं—इत्युद्गताः पौरवधू- मुखेभ्यः शृण्वन् कथाः श्रोत्रसुखाः कुमारः। ७-७४। फिर भी अप्सराओं के गीतों में कहीं अधिक आकर्षण रहता था। वे किन्नरी- समाज से भी अधिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निपुण थी क्योंकि संगीत उनका वैशिष्ट्य था। घृताची, मेनका, रम्भा, उर्वशी, तिलोत्तमा, सुकेशी और मञ्जुघोषा आदि अप्सरायें संगीत और नृत्य की धनी थी। वे नृत्य संगीत के द्वारा बड़े से बड़े वीतरागों को भी वश में कर लेने की शक्ति रखती थीं। उन्होंने तो शिव की भी समाधि को भंग करने का प्रयत्न किया था। यह बात और कि शिव के विषय में वे सफल नहीं हो सकीं—

श्रुताप्सरो-गीतिरपि क्षणेस्मिन् हरः प्रसंख्यानपरो वभूव। कुमार. ३-४०

वैदिक ऋचाओं के गान की अलग शैली थी। उनका 'न्यायै स्त्रिभिरुदीरण' (कुमार. २-१२१) अर्थात् उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों के साथ गायन होता था। वाल खिल्य ऋषियों के द्वारा सामगान की बात कालिदास ने कही है—सामभिः सहचराः सहस्त्रशः संस्तुवन्ति किरणोष्मपायिनः। कुमार. ८-४१। कुमार सम्भव में ही कवि ने विष्णु को 'सप्त सामोपगीत' कहा है (रघु. १०-२१)। ये सात साम है—रथन्तर, वृहत्साम, वाम देव्य, वैरुप्य, पावमान, वैराज और चान्द्रसर। अथर्व-मंत्रों का गान प्रायः मंगल कार्यों के समय होता था। अतिथि के राज्याभिषेक के समय अर्थव का गान हुआ था—पुरोहित- पुरोगास्तं जिष्णुं जैत्रैरथर्वभिः—उपचक्रमिरे। रघु. १७-१३

उद्गान

कालिदास ने देव गन्धर्वों के गान को प्रायः उद्गान कहा है। देवलोग गान्धार ग्राम में गाते हैं और मानव षड्ज एवं मध्यम ग्रामों में। अलका की यक्षी अपने पति के बनाये गीत को उसी के द्वारा निश्चित स्वरों के साथ वीणा पर गाने की चेष्टा करती है। तब उसे गीत के कारण पति का स्मरण हो आता है और उसकी वीणा आँसुओं से भीग जाती है। भीगे तारों को पोंछकर वह फिर से गाने का प्रयत्न करनी है कि स्वयं ही आरम्भ किये स्वरों के क्रम को वार वार भूल जाती हैं—

उत्सङ्गे वा मलिन-वसने सौम्य निक्षिप्य वीणां

मद्गोत्राङ्कं विरचित-पदंगेयमुदगातु-कामा।

तन्त्रीमार्द्रां नयन-सलिलैः सारयित्वा कथञ्चिद्,

भूयोभूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्तीम्॥ मेघ. २-२५

यहाँ कवि ने 'उद्गातु कामा' पद का प्रयोग किया है तथा उसके पद को 'गेय' कहा है। पदस्थ स्वरसंघात को गेय कहते हैं। इससे कवि का संकेत इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बात की ओर है कि उस गीत के पदों में स्वरों के आरोहावरोह का क्रम सूचित किया गया था।

मूर्च्छना

मूर्च्छना शब्द भी पारिभाषिक है। एक स्वर से प्रारम्भ करके उसी क्रम से सातवें स्वर तक आरोह करने के पश्चात् उसी मार्ग से अवरोह करने को मूर्च्छना कहते हैं। संगीत रत्नाकर का कथन है—

क्रमात् स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम्।

मूर्च्छनेत्युच्यते ग्रामत्रये ताः सप्तसप्तच ॥

इसी प्रकार मेघदूत में—"उद्गायद्‌भिर्धनपतियशः किंन्नरैर्यत्र सार्धम्" मेघ. २-१० तथा "उदगास्यता मिच्छति किंनराणां तानप्रदायित्व मिवोपगन्तुम्।" मे देव गायन के लिये उद्गान शब्द का प्रयोग कवि ने किया है। गान्धार-ग्राम-गायन को उद्गान कहते हैं और गान्धार ग्राम केवल यक्ष, किन्नर तथा देव ही गाते हैं। कालिदास ने जिस अन्य पारिभाषिक शब्द का प्रयोग किया है वह है तान। स्वरों का क्रमिक प्रयोग होने पर मूर्च्छना होती है—शुद्धा मूर्च्छना। किन्तु यदि शुद्धा मूर्च्छना में छै या पाँच स्वर प्रयुक्त हों तो वह मूर्च्छना न कहला कर तान कहलाती है। तान मूर्च्छना की षाडवित तथा औडुवित अवस्था है। मूर्च्छना में सात स्वरों का होना आवश्यक है। वस्तुतः मूर्च्छना की ही षाडवित और औडुवित अवस्था का नाम तान है। छै स्वरों वाली मूर्च्छना षाडवित और पाँच स्वरों वाली औडुवित। किन्नर गान में वंशी या वेणु का प्रयोग अवश्य रहता है। यथा—

मूर्च्छना- परिगृहीत कैशिकैः किन्नरै रुषसि गीतमङ्गलः। कुमार. ८-८५

तथा-प्रत्यंह रक्तकण्ठै—रूद्‌गायद्भिर्धनपतियशः किन्नरैर्यत्र सार्धम्। मेघ. २-१०

पार्वती शिव को पति रूप में प्राप्त करने के लिए किन्नर कुमारियों के साथ वन में रहती, शिव की सेवा करती और भावानुरक्त होने पर शिव का चरित त्रिपुरदहन आदि) गाती थी। कभी कभी इतनी भावाविष्ट हो जाती कि उसका कण्ठ आँसुओं से अवरुद्ध हो जाता गीत के पदस्खलित हो जाते और वह रोने लग जाती। उसे रोता देख उसकी किन्नरी सहेलियाँ भी रोने लग जातीं। इससे पार्वती और उसकी सखियों के द्वारा छन्दोवद्ध हरचरित का तालस्वर के साथ गाना और उसमें वाद्यों का उपयोग करना सिद्ध है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पार्वती शिव को पति रूप में प्राप्त करने के लिए किन्नर कुमारियों के साथ वन में रहती, शिव की सेवा करती और भावानुरक्त होने पर शिव का चरित त्रिपुरदहन आदि) गाती थी। कभी कभी इतनी भावाविष्ट हो जातीं कि उसका कण्ठ आँसुओं से अवरुद्ध हो जाता गीत के पदस्खलित हो जाते और वह रोने लग जाती। उसे रोता देख उसकी किन्नरी सहेलियाँ भी रोने लग जातीं। इससे पार्वती और उसकी सखियों के द्वारा छन्दोवद्ध हरचरित का तालस्वर के साथ गाना और उसमें वाद्यों का उपयोग करना सिद्ध है—

उपात्तवर्णे चरिते पिनाकिनः सवाष्पकण्ठ-स्खलितैः पदैरियम्।

अनेकशः किन्नरराजकन्यका वनान्त-संगीत-सखी ररोदयत्॥ कुमार ५-५६

यहां उपान्त वर्णे का तात्पर्य है — गीत क्रम के प्रारम्भ होते ही।

किन्नरों के समान गन्धर्व भी गान विद्या में निपुण माने जाते हैं। ये लोग भी किन्नरों के समान शंकर के लिए प्राभातिक मङ्गल गान गाते हैं वैतालिकों का गान, और गन्धर्वों का शङ्ख वादन दो मिलकर गान को संगीत बना देते हैं—

व्यधुर्वहिर्मङ्गल गानमुच्चै वैतालिकाश्चित्र-चरित्र-चारू।

जगुश्च गन्धर्वगणाः सशङ्ख-स्वनं प्रमोदाय पिनाकपाणेः॥ कुमार ९-३२

गन्धर्वों की स्त्रियाँ भी गान में उनसे कम निपुण नहीं थी। कार्तिकेय के जन्म के अवसर पर उन्होंने तथा विद्याधरों की स्त्रियों ने पार्वती के घर में मंगल गीत गाये थे—

महोत्सवे तत्र समागतानां गन्धर्व विद्याधर सुन्दरीणाम्।

संभावितानां गिरिराज पुत्र्या गृहेऽभवन् मङ्गल गीतकानि॥ वही ११-३४

कालिदास ने नभश्चर (विद्याधर, यक्ष, रक्षस्, गन्धर्व, सिद्ध, गुह्यक, किन्नर और अप्सराये) न केवल देवों का, अपितुरघुवंशीय राजा नल का भी यशोगान करते थे— "नभश्चरैर्गीत- यशः स लेभे नभस्तलश्याम तनुं तनूजम्"। रघु. १८-६

उन गन्धर्वों से भरत का युद्ध हुआ तो गन्धर्व पराजित हो गये किन्तु भरत ने अन्य कोई दण्ड न देकर उनके शस्त्र छीन लिए और उनके हाथों को आतोद्य विविध प्रकार (तत् आनद्ध, सुषिर और घन वाद्य) के वाद्य थमा दिये जिनके वे अधिकारी थे।

भरतस्तत्र गन्धर्वान् युधि निर्जित्यकेवलम्।

आतोद्यं ग्राहयामास समत्याजयदायुधम्॥ रघु. १५-८८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गन्धर्वों में विश्वावसु गायन और वादन में सर्वाधिक निपुण था। उसकी बृहती नाम भी वीणा इसी प्रकार प्रसिद्ध थी जैसे नारदकी महती या तुम्वुरु की कलावती। शिव के विवाह के समय उसके नेतृत्व में वीणा पर शिव चरित के रूप में त्रिपुरावदान गाया गया था— "विश्वावसुः प्राग्रहरैः प्रवीणैः संगीयमान- त्रिपुराव दानः"। कुमार ७-४८

यहाँ कालिदास ने विश्वावसु आदि को प्रवीण कहा है जिसका अर्थ प्रकृष्ट वीणा वाला या वीणा में प्रकृष्ट (श्रेष्ठ)। वीणा वादन चातुर्य का काम है। धीरे धीरे यह शब्द उपचारात् हर चतुर या निष्णात के लिए प्रयुक्त होने लगा ठीक वैसे ही जैसे कुशलाने में चतुर ब्रह्मचारी इस अर्थ में सार्थक कुशल शब्द चतुर के अर्थ में प्रसिद्ध हो गया। वीणावादन के समान अक्षत हाथों से यज्ञार्थ कुशकाटकर लाना भी चातुर्य का काम था। सो ये दोनों शब्द मूल अर्थ से हटकर सामान्य चतुर वाची वन गये।

यशोगीति— राजाओं और राजकुमारों कोसंगीत द्वारा जगाते की प्रथा बहुत पुरानी है। अज को उसके सवयस सूतपुत्र गाकर उठाते हैं— "सूतात्मजाः सवयसः प्रथित- प्रबोधं प्रावोधयन्नुषसि वाग्भिरुदार वाचः"। रघु. ५-६५। जिस प्रकार सूतपुत्र गाते थे वैसे ही अज का पञ्जरस्थ शुक भी उसे दोहराता था—"अनुवदति शुकस्ते मञ्जुवाक्, पञ्जरस्थः"। रघु. ५-७४१ मधुर गायकों को कालिदास ने मञ्जुवाक् उदारवाक् वल्गुवाक् आदि विशेषणों से विभूषित किया है।

राजाओं के यशोगान का उल्लेख प्रचीन साहित्य में अनेकशः मिलता है। शूरसेनाधिपति सुषेण लोकान्तर- गीत- कीर्ति थे। दशरथने सुरवधुओं को अपने शौर्य गान के लिए आकृष्ट किया था॥ रघु. ६-४५ तथा ९-२०। दिलीप का यशोगान वनदेवता तक करती थी— 'सुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वकीयमुद्गीयमानं वनदेवताभिः। रघु. २-१२।' अलका में किन्नर कुवेर की कीर्ति गाते थे। उद्गायद्भिर्धनपतियशः किंनरैर्यत्र सार्धम्। मेघ २-१०। कोई भी प्रसंग हो कालिदास संगीत के लिए अवसर ढूँढ ही लेते हैं। और साथ ही मर्यादा का पूरा ध्यान रखते हैं। किन्नर हैं तो यहाँ भी वह उद्गान शब्द का ही प्रयोग करते हैं। यशोगान की दृष्टि से निम्न श्लोक अत्यन्त मनोरम हैं—

इक्षुच्छाय-निषादिन्यतस्यगोप्तुर्गुणोदयम्।

आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः॥ रघु. ४-२०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धान के खेतों में रखवाली करने वाली स्त्रियाँ ईखों की छाया में बैठकर बाल्य से लेकर तदवधि महान् कार्यों के यशोभय गीत गाती थीं । यह वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक और कवि के प्रत्यक्ष अनुभव का साक्षी है । जिस प्रदेश में धान होते हैं वहाँ ईख भी होती हैं । जव धानों की वालियों में दाने पड जाते हैं तो उनकी रखवाली पक्षियों और पशुओं से करनी पडती है । तब तक ईख भी इतनी बढ़ जाती है कि उसकी छाया में कोई व्यक्ति वैठ सके । क्वाँर की धूप भी काफी तीव्र होती है । इसलिए रखवाली करने वालों को छाया का आश्रय लेना पडता है । धान और ईख की मेंडें प्राय: मिली रहती हैं । सो ईख की छाया में बैठकर ये लडकियाँ गाना गाकर समय काटती हैं । कवि ने रघु के बहाने इस श्लोक से कुमारगुप्त के सर्वतो व्याप्त यश का वर्णन किया है ।

कवि ने अपने ग्रन्थों में अनेक पारिभाषिक शब्दों के अतिरिक्त बहुत सी गीतियों के नाम भी दिए हैं । ध्रुवागीति इनमें प्रमुख हैं । भरत के अनुसार ध्रुवागीतों में वाक्य वर्ण, अलंकार, यति, पाणि और लय आदि ध्रुवरूप से एक दूसरे के साथ सम्बद्ध रहते हैं । यही इसके नाम का कारण है

वाक्यवर्णा ह्यलंकारा यतय: पाणयो लया: ।

ध्रुवमन्योन्यसंवद्धा यस्मात्तस्माद्ध्रुवा. स्मृता ।।

ध्रुवा पाँच प्रकार की हैं—प्रावेशिकी, नैष्कामिकी, आक्षेपिकी, प्रासादिकी और अन्तरा । नाट्य शास्त्रने इन सबके लक्षण भी दिए हैं और उनके गाये जाने के अवसरया प्रसंग भी, उपयुक्त छन्दों के साथ बतलाये हैं । इनमें पहले आलापगान, फिर वाद्य और तदन्तर छन्द का गान होता है । भावों और दृश्यों के प्रदर्शन में जहाँ कथनोपकथन समर्थ नहीं होते अर्थात् भाषा जहाँ विवश हो जाती है वहाँ ध्रुवागीतों का सहारा लिया जाता है । ये सूच्य का भी काम करते हैं । अप्रदर्शनीय भावों को उनकी सांगीतिक भाषा में संकेतितकिया जाता है । उदाहरणार्थ रानी के लिए शर्वरी, वसुधा, ज्योत्स्ना; वेश्या के लिए वाह्नी सारसी, शिरिवनी, मृगी और सामान्यस्त्री के हिए भ्रमरी कोकिला जैसे संकेतमय शब्दों का प्रयोग किया जाता है (नाट्य. ३२-३८५) इसी प्रकार कालिदास ने गीति शब्द का प्रयोग भी सोद्देश्य किया है । स्थायी, आरोही अवरोही और संचारी वर्णों से अलंकृत एवं पद और लय से युक्त गान को गीति कहते हैं । संगीतरत्नाकर में कहा है —

वर्णाद्यलंकृता गान-क्रियापदलयान्विता ।

गीतिरित्युच्यते, साच बुधैरुक्ता चतुर्विधा ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीति मागधी, अर्धमागधी, संभाविता और पृथुला भेद से चार प्रकार की होती है। कालिदास ने गेय शब्द का भी कई बार प्रयोग किया है। गेय संगीत रचना को कहते हैं जिसका अर्थ है छन्द की शब्द रचना को स्वरों में वाँधना

नान्दी गीत— संगीत सम्बन्धी उल्लेख कालिदास में इतने हैं कि उन सबकी चर्चा करने में इस ग्रन्थ का कलेवर बहुत बढ़ जाएगा। ऊपर गीत या गान की चर्चा की गयी है वह उनके काव्यों के आधार पर है। नाटकों का तो आदि, मध्य और अन्त गीतों से भरा पडा है। इनमें अधिकांश के साथ नृत्य का भी विधान है। उदाहरणार्थ नान्दी के लें। यह चित्र और शुद्धा दो प्रकार की होती हैं। चित्र का प्रत्येक पद नृत्य, पुष्कर वाद्य और गीत इनतीनों से युक्त होता है और शुद्धा में पुष्कर वाद्य तो होता है किन्तु गीत और नृत्य नहीं होते। केवल श्लोकपाठ इसमें वर्जित है। भरत ने कहा है– "भाण्डेनैव समः कार्यस्तज्जैर्गीति- परिक्रमः। यहाँ गीत ध्रुवागीत होता है। नाटक का प्रारम्भ मृदङ्ग वादन से होता है। मृदङ्ग अनिवार्य है। नृत्य और गायन ऐच्छिक। मृदङ्ग के साथ शुद्धश्लोक पाठ से भी काम चलाया जा सकता है। पुष्कराध्याय में भरत ने कहा है —"पूर्वं हिमाण्ड (पुष्कर) वाद्येन सिद्धि रुत्पादनीया। स्त्री- बाल- मूर्खावकीणे हि रङ्गे कुतूहलजनन-समर्थं वाद्य मुपपन्नं भवति।" विशाखदत्त ने तो नान्दी को नान्दी- नादकहा है क्योंकि इनमें जनता को आकर्षित के लिए पटह और शंख तूर्यआदिक का वादन किया जाता था। "असौनान्दी नादः पटु- पटहशङ्खध्वनि- महान्(मुद्रा ६-१४)।" इसमें द्वादश तूर्योका का एक साथनिर्घोष होता था। स्वयं भरत ने पूर्व रङ्ग कुतप-विधान को प्राथमिकता दी है। और भाव प्रकाशन ने कहा है — कुतपो मुरजादीनां भाण्डानां निचयः स्मृतः। इस प्रकार कालिदास के तीनों नान्दी पाठों में प्रतिचरण मृदङ्ग वाद्य, गीत, नृत्य और ध्रुवा गीति का प्रयोग हुआ है। मालविकाग्निमित्र का तो प्रारम्भ ही छलिक याचलित नाम नाट्य से हुआ है। यह नाट्य पञ्चाङ्ग भिनय है। इसमें नृत्य कैवार मर्मर जागर और गीत आते हैं। अक्षि भ्रू, हस्त कटि और पाद चेष्टाओं में साम्य भी पञ्चाङ्गभिनय हो सकता है। आज के घरानों के समान कालिदास के समय में भी इन कलाओं के प्रक्षिक्षण के कुछ विशिष्ट केन्द्र थे। इसी लिए आचार्य गण दास कहते हैं कि मैने श्रेष्ठ संगीत विद्यालय में अभिनय विद्या सीखी है और केवल सीखी ही नहीं, रंग मंच पर उसका व्यावहारिक प्रदर्शन भी किया है। —मया सुतीर्था दभिनय विद्या सुशिक्षिता दत्तप्रयोगश्चास्मि। माल. १। परिव्राजिका भी इस बात की पुष्टि करती हुई कहती है कि नाट्य शास्त्र (इसमें नृत्य, गीत और अभिनय सम्मिलित है) प्रयोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रधान होता है । इसमें बातों से काम नही चलता— "प्रयोग प्रधानंहि नाट्य शास्त्रम् । किमत्र वाग्व्यवहारेण । (माल. अंक १)। स्त्री अभिनेत्री के विना अभिनय प्रभावशाली और आकर्षक नहीं होता । इसी लिये शरीर के सौन्दर्य और सुकुमारता (लोच) को देखकर ही आचार्य नृत्य में शिक्षार्थिओं को प्रवेशदेते थे । नृत्य प्रारम्भ होने से पूर्व ही राजा अग्निमित्र परिव्राजिका से पूछता है कि आप ने दोनों प्रतियोगिनी नर्तकियों के अङ्ग का सौष्ठव तो देख लिया है ? यह नृत्य की पहली शर्त थी— ननु स्वाङ्ग सौष्ठवातिशयमुभयो र्दृष्टवती भगवती ? (माल. अंक १) दूसरी बात यह है कि अपरिपक्व वस्तु का सार्वजनिक प्रदर्शन उचित नहीं होता। देवी कहती है—अचिरोपनीता ते शिष्या । अपरिनिष्ठितस्योपदेशस्य पुनरन्याय्यं प्रकाशनम्" । माल. अंक१ । आचार्य आपकी शिष्या को तो नृत्य सीखते अभी थोडा ही समय हुआ है । जब तक पक्का अभ्यास न हो तब तक मंचपर उसका प्रदर्शन ठीक नहीं । इस प्रकार गुरु का श्रेष्ठ संस्थान में प्रशिक्षित होना, शिष्या का अंग सौष्ठव और परिपक्व अभ्यास ये तीनों वाते पहले देखकर तब राजमहिषी गणदास आचार्य को उनकी शिष्या मालविका के नाट्य प्रदर्शन की अनुज्ञा देती है और उससे कहती है कि वह शर्मिष्ठा की चतुष्पदोत्थ छलिक (या चलित) नामक रचना का प्रदर्शन करे । इस कृति का प्रदर्शन कठिन माना जाता था । "शर्भिष्ठाया: कृतिं चतुष्पदोत्थं छलिकं दुष्प्रयोज्यमुदाहरन्ति ।" माल. अंक १ । शर्मिष्ठा दैत्यराज वृषपर्वा की पुत्री और राजा ययाति की पत्नी थी। ययाति का उसके प्रति स्थिर प्रेम था। कालिदास शर्मिष्ठा के सुखी दाम्पत्य जीवन और उसके कला- दाक्षिण्य से प्रभावित थे। सम्भवत: शर्भिष्ठा ने अनेक चतुष्पदियों की रचना की थी । और उनको नृत्याभिनय तथा संगीत में विठाया था । कालिदास के समय में शर्मिष्ठाकृत रचनाओं पर नृत्य, अभिनय और गान की शिक्षा दी जाती और उनका सार्वजनिक प्रयोग किया जाता था । प्रत्येक पद में पृथक भाव रहता था और पद को गाकर उस पर रस भाव का प्रदर्शन करते हुए नृत्य प्रस्तुत करना होता था । कालिदास के मन में शर्भिष्ठा के प्रति आदर था । इसी लिए वह कण्व के मुख से शकुन्तला को आशीर्वाद दिलाते हैं—

ययातेरिवशर्भिष्ठा भर्तुर्बहुमताभव ।

पुत्र त्वमपि सम्राजं सेव पुरुमवाप्नुहि ।। शाकु. ४-७

छैलिक नाट्य— उनके द्वारा रचित तार खण्डों वाली चतुष्पदाकृतिपर आधारित नृत्य के प्रत्येक खण्ड की वस्तु भिन्न थी । इसमें पहले त्रिपुष्कर मृदङ्ग पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवसरानुकूल मार्जना प्रस्तुत की जाती थी। अनन्तर अङ्ग सौष्ठव की अभिव्यक्ति के लिए बहुत कमवस्त्र पहने नर्तकी मञ्च पर अवरतरित होती थी—"सर्वाङ्ग सौष्ठवाभिव्यक्तये विरलनेपथ्ययोः पात्रयोः प्रवेशो ऽस्तु। माल. अंक१। अंग सौष्ठव—का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—"

दीर्घाक्षंशरदिन्दु- कान्ति वदनं वाहूनतावंसयोः।

संक्षिप्तं निविडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वेप्रमृष्टे इव।

मध्यः पाणिमितो नितम्विजघनं पादावरालाङ्गुली।

छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसः श्लिष्टं तथा ऽस्यावपुः।। माल २-३

बडी बडी आँखे, गोराचिट्टामुख, स्कन्धों पर झुकी हुई भुजाएँ, कम चौडा घने ऊँचे स्तनों वाला वक्ष, सुते हुए छँटे से दोनों वाजू, पतली सी कमर,बडे नितम्वों वाले जघन और कुछ आकुञ्चितसी ऊँगलियों वाले पैर-वस ऐसी तराशी हुई देहयष्टि-वस नृत्य कराने वाली की कल्पना के ठीक अनुकूल थी। उसकी शरीररचना के विषय में कहा है—

अनुच्चनीच- चलतामङ्गानां समपादताम्।

कटिकूर्परशीर्षांसकण्ठानां समरूपताम्।

रम्यां प्रतीकविश्रान्ति मुरसश्च समुन्नतिम्।

अभ्यासोपहितामाहुः सौन्दर्यं नृत्यवेदिनः।।

मालिविकाने मञ्चपर आकर पहले उपगान गाकर फिर गेयवन्ध का गायन किया। एक एक चरण को गाते हुए (अनेक प्रकार) और उसके साथ अङ्गों के विशिष्ट संचालन से उसने रसानुकूल अभिनय के प्रदर्शन के साथ नृत्य किया। उसने जो पदगाया वह इस प्रकार है—

दुल्लहो पिओ मे तस्सिं भव हिअ आणिरासं

अम्हो अपंगओ मे परिप्फुरइ किं पि वामो।

एसो सो चिरदिट्ठो कहं उण उवणइदव्वो

णाह मं पराहीणं तुइ परिगण अ सतिण्हं।। माल. २-४

इसके गान के अनन्तर रसानुकूल अभिनुय। यहाँ चतुष्पद वस्तु या प्रबन्ध है। विप्रलम्भ श्रृंगार रस है और चारों पदों में क्रमशः निर्वेद, सविस्मयहर्ष, चिन्ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और दैन्य संचारी भाव हैं जिनका विभिन्न अनुभावो के साथ प्रदर्शन है। इसमें नर्तकी की मुद्राका एक चित्र है—

वामं सन्धि-स्तिमित वलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे,

कृत्वाश्यामा-विटपसदृशं स्त्रस्तमुक्त द्वितीयम्।

पादाङ्गुष्ठालुलित कुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं,

नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम्॥ माल २-६

पहुँचे अर्थात् मणिवन्ध पर पहना हुआ कंगन स्थिर है और उस बिना हिलते कंगन वाली कलाई केसाथ वायें हाथ को नितम्ब पर रखे है और श्यामालता की स्थूल शाखा जैसे दाहिने हाथ को खुला ढीला छोडकर लटकाये है। नीचे पक्के फर्श पर विखरे हुए, पैरों की उँगलियों से कुचले फूलों वाले कुट्टिमपर दृष्टि गड़ाए, इस नर्तकी मालविका की देहयष्टि का ऊपरी सीधा और लम्बित भाग नृत्य की मुद्रा में कैसा सुन्दर दिख रहा है।

आचार्य गणदास के अनुसार शर्मिष्ठा की यह नृत्य- वन्ध रचना लय या ताल काल की दृष्टि से मध्या थी। उसके एक एक चतुर्थांश का रसभावमय अभिनय नृत्य के साथ दिखाया गया था। भरत के अनुसार श्रृंगार और हास्य का प्रदर्शन मध्यलय में, करुण काविलम्वित में और वीर रौद्र अद्भुत एवं वीमत्स तथा भयानक द्रुतलय में किया जाता है। इस नृत्य के माध्यम से मालविकाने वैराग्य, औत्सुक्य, संकल्प एवं आत्मोपसर्पण जैसे भावों के प्रदर्शन के साथ अपने मन का अभिप्रायभी राजा पर प्रकट कर दिया और वह भी गुप्तरूप से। किसी अन्यव्यक्ति की अवस्था के वहाने अपनी मानसिक स्थिति को व्यक्त करने का माध्यम होने के कारण इस नृत्य का नाम छलित या छलिक है—

तदेवच्छलिकं नाम साक्षाद्यदभिनीयते।

व्यपदिश्य पुरावृत्तं स्वाभिप्राय-प्रकाशकम्॥

इन नृत्य पर परिव्राजिका कौशिकी की टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है—

अङ्गैरन्तर्निहित-वचनैः सूचितः सम्यगर्थः

पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।

शाखायोनिर्मुहुरभिनय स्तद्विकल्पानुवृत्तौ

भावो भावं नुदति विषयाद् रागवन्धः सएव॥ माल २-८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पण्डिता कौशिकी इस टिप्पणी से भी इस बात का संकेत मिलता है कि छलित नृत्य में 'अन्तर्निहित वचनता' थी और चालाकी के साथ किसी अन्य के वहाने अपनी वात कह दी गयी थी। इस श्लोक का शाखायोनि शब्द पारिभाषिक है – "शाखातुनृतहस्तानां या भावोचित नर्तनी"।

पञ्चाङ्गभिनय की बात भी कालिदास ने कही है। काटयवेम इसे प्रेरण नाम देते हैं। उनके अनुसार पाँच अङ्ग ये हैं—

नृत्तं तथा च कैवारो मर्मरोजागरं तथा।

गीतं चेति समाख्यातं प्रेरणास्याङ्ग पञ्चकम्॥

नीलकण्ठके अनुसार—

चित्ताक्षिभ्रू हस्त- पादैरङ्गैश्चेष्टादि- साम्यतः।

पात्राद्यवस्थाकरणं पञ्चाङ्गाभिनयो मतः॥

भरत के अनुसार अभिनयचतुष्प्रकारक है—

आङ्गिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्त्विक स्तथा।

विविध गीतियाँ—

कालिदास के नाटकों में गीतों (पद्यों) का प्राचुर्य है। और नाटकस्थ प्रत्येक छन्द किसी न किसी गीत के रूप में प्रस्तुत किया गया है। चाहे वह ध्रुवा गीत हो या आसारित या वर्धमान। वैसे नाटकों में ध्रुवागीति की प्रधानता रहती थी। ये ध्रुवागीति विभिन्न राग ग्रामों में गायी जाती थी। ये ध्रुवा नाटकों में भावनात्मक ऐक्य के संस्थापक या भरत के अनुसार वाक्य वर्ण, अलंकार, यति, पाणि औरलय ये सब जव परस्पर ध्रुवा रूप से संवद्ध होते हैं तो गीति ध्रुवा होती है—

वाक्यवर्णा ह्यलंकाराः यतयः पाणयो लयाः।

ध्रुवमन्योन्य संबद्धा यस्मात्तस्माद् ध्रुवाः स्मृताः॥

ध्रुवगीत प्रायेण प्राकृत में है। नटी, शकुन्तला, हंस पदिका और मालविका ये सब प्राकृत ध्रुवागीतिं की कुशल गायिकाएं हैं। देवताविषयक गीत के लिए संस्कृत का प्रयोग हुआ है। इसका कारण यह कि नाटकों के दर्शक प्रायेण अपढ स्त्रियाँ, शूद्र और बालक भी होते थे जो प्राकृत गीतों का रसग्रहण सरलता से कर सकते थे। भरत से लेकर कालिदास तक यह स्थिति अपरिवर्तित रही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शकों के मनोरंजन को ही ध्यान में रख कर कालिदास ने विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अङ्क में पुरुरवा के प्रलाप के वहाने प्राकृत पद्यों का समावेश किया है। साथ ही इन पद्यों को जिन गीतियों में मञ्च पर गाया जाना था उनका भी नामनिर्देश किया है। इन गीतियों के लक्षण संगीत ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। इनमें कुछ गीतियां और उनके लक्षण निम्न प्रकार हैं—

आक्षिप्तिका—

चञ्चत्पुटादि तालेन मार्गत्रय विभूषिता।
आक्षिप्तिका स्वरपद-ग्रथिता कथिता वुधैः॥ (भरत)

द्विपदिका—

शुद्धा खण्डाच मात्राच सम्पूर्णेति चतुर्विधा
द्विपदीकरणाख्येन तालेन परिगीयते।
पादेछः पञ्चभागोऽन्ते न जौ षष्ठतृतीयकौ
चतुर्भिरीदृशैः पादैः शुद्धा द्विपदिकोच्यते॥ सं. रत्ना.

जम्भलिका—

उद्ग्राहो द्विः सकृद्वैकखण्डो द्विः शकलोऽथवा
यत्रध्रुवो द्विराभोगो ध्रुवे मुक्तिः सजम्भलः॥ भरत

खण्डधारा—

पद्गीतं गुणकर्माच रागेणक्रीडकेन च।
तालेन सा खण्डधारा यष्टिकेन प्रकाशिता॥

चर्चरी—

द्रुतमध्यलयं समाश्रिता पठति प्रेमभरान्नटी यदि।
प्रतिमण्ठक-रासकेनवा द्रुतमध्या प्रथमाहि चर्चरी॥
तत्र च प्रतिमण्ठेन तालेन प्रतिमण्ठकः॥ स. रत्ना।
लघ्वालितालो लोकेऽसौ रास इत्यभिधीयते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भिन्नक—

पाठो वाद्यक्षरोत्करः। वाद्येमूके सवितभिन्नकः राग विशेषः।

षडज मध्यमिकोत्पन्नो भिन्नको मध्यमो वहुः।

खुरक (नृत्य) —

पदमञ्झारिराग संयुतं यद्द्रुतमध्येन लयेन यत्प्रयुक्तम्।

प्रतितालयुतं च नर्तनं तत्खुरकाख्यं मुनयेशिवेनदत्तम्॥

खुरक (गीत)

पूर्व पूर्वाक्षर- त्यागे योऽन्यो वर्ण चयः स चेत्।

उत्तरोत्तर- संघादौ खुरकः परिकीर्तितः

ककुभ –

मध्यमा- पञ्चमी धैवत्युद्भवः ककुभोभवेत्।

धांशग्रहः पञ्चमान्तो धैवतादिक- मूर्च्छनः।

प्रसन्न- मध्यारोहिभ्यां करुणे यमदैवतः।

गेयः शरदि॥ भरत।

यह गीतिषडुणभङ्गा, षडवच्छेदा या षट्चरणा होती है।

कुटिलिका-(नाट्य)

रागेण रहितं यत्तुं अर्धमत्तलिकायुतम्।

भाषयैव च तन्नाट्यं कुटिलीसंज्ञकं मतम्॥

उपेत्यापसृतौ पादौ वामश्चेद्रेचितः करः।

कट्यामन्यस्तदात्वर्ध मत्तलीतरुणे मदे॥

मल्लघटी (गीतिनाट्य)

कुलिका (गीति)

खण्डिका (गीति)

पर्यायेण शनैस्तिर्यङ् नतमुक्तंधुतं शिरः- श्रीरागकुम्भतालेन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निवद्धा खण्डिका मता।

(कुम्भताल)

कामवाण द्रुता यत्र अर्धचन्द्रस्ततः परम्।

द विरामो लघुश्चैकः विन्दुश्चार्ध द्रुतोभवेत्॥

गलितक (नाट्य)

इनमें सर्वाधिक प्रयोग चर्चरी और द्विपदिका का हुआ है। द्विपदिका १२ बार और चर्चरी १७ बार प्रयुक्त हुई है। एक स्थान पर द्विपदिका उपसृप्त, के बीच में चर्चरीका प्रयोग हुआ है। अनेक स्थानों पर द्विपदिका उपसृप्त चर्चरिक या उपसृप्त अर्थात् इन गीतियों को गाते गाते पात्र का प्रवेश होता है। कालिदास ने इस प्रसंग में कुछ विशिष्ट शब्दों का भी प्रयोग किया है। यथा-

वलन्तिका–

वलन्तिका तदुपाङ्गस्यादि हीना मन्द्रदेवता।

संन्यासांशा ग्रहेहायां श्रृंङ्गारे शार्ङ्गिणोदिता॥ स. रत्ना.

वामक–

धुतेन शिरसा यत्तु पार्श्वेन वलितेन च।

तद्वामकं वै करणं पार्श्वस्थस्यावलोकने।

द्विलय–

लयस्तु नृत्य- गीत- वाद्यानां साम्यम्।

सत्रिविधः द्रुतो, मध्यो विलम्बितश्च। तत्र द्वितीयोलयो द्विलयः।

अर्ध द्विचतुरस्त्रक–

नन्द्यावर्त नामकः संस्थान विशेषोऽर्धचतुरस्त्रकः।

स च पुनः द्विवारं कृतः अर्ध द्विचतुरस्त्रकः। नन्द्यावर्तस्तु। अस्यैव चेच्चरणयो रन्तरं स्यात् षडङ्गुलम्।

विवस्ति मात्रमथवा नन्द्यावर्तं तदुच्यते॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थानक (आलाप)

स्थानकंतद्बदेवस्यात् पृथग्भूत विदारिकम्।

इतने विवरण इस बात को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं कि कालिदास न केवल नृत्य-गायन और वादन में रुचि रखते थे, प्रत्यत वह इस विषय के गम्भीर वेत्ता थे। शास्त्रीय और लोक संगीत दोनों की सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों की जानकारी कालिदास को थी। इस विषय में वह सामान्य लोक से जुड़े थे और उसकी रुचि को भली भांति समझते थे। उच्च सामाजिक वर्ग के व्यक्ति होने के कारण श्रेष्ठ नर्तकों गायकों और वादकों से उनका निरन्तर संपर्क रहता था। वह इस वर्ग की कलात्मक रुचि से परिचित हैं। ललित कलाओं की पारम्परिक मान्यताओं और शैलियों से उनका प्रत्यक्ष परिचय था। वह जानते है कि किस प्रकार सम्पन्न लोगों के हर्म्य और प्रासाद रात्रिन्दिव पायलो की झनकार और मृदंगों की थापों से धवनित होते रहते हैं। उनका अग्निवर्ण स्वयं मृदङ्ग बजाने में इतना दक्ष है कि जब वह कण्ठ में फूलों की माला पहन और कलाई में फूलों का गजरा बांधकर मृदंग बजाने वैठता तो थोडी सी भी अभिनय की मर्यादा से बाहर जाने वाली श्रेष्ठ नर्तकियों की भूलों का पक़ड कर उन्हें उनके समीपस्थगुरुओं के सामने लज्जित कर देता था। कालिदास की यक्षी भी संगीत में निपुण है। वह वीणा वादन में पटु है, गायिका है और नर्तकी भी। वह मयूरों को जब अपनी तालियों की ताल पर नाचना सिखाती है तो उसके कंगनों की झनकार भी ताल के साथ वाद्य में सम्मिलित हो जाती है। उनके नाटकों के सारे नारी पात्र संगीत में दक्ष है और नृत्य तो वह पशु-पक्षियों और लतावल्लियों तक में ढूँढ लेते हैं।

मयूरनृत्य— मयूर का नाम लेते ही उनके सम्मुख पंख फैलाये, केका गाते वहीं का चित्र उपस्थित हो जाता है। उनकी रचनाओं में मयूर नर्तन के उल्लेख भरे पडे हैं। यथा

(१) वीक्ष्य राघवमुपात्त कार्मुकं सेन्द्रचापनव-मेघशङ्कया।

तत्र तत्र ननृतुः शिखण्डिनः दर्शनादुपरि वाहनोन्मुखाः॥ रघु. १३-१४

(२) पुरोपकण्ठोपवनाश्रयाणां कलापिनामुद्धत नृत्य हेतौ।

प्रध्मातशंखे परितो दिगन्तान् तूर्यस्वने मूर्च्छनिमङ्गलाथे। वही ६-९

(३) बन्धुप्रीत्याभवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः। मेघ. १-३६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४) कथम दत्वा प्रतिवचनं नर्तितुं प्रवृत्तः। विक्रमो. ४-८

(५) धौतापाङ्गं हर- शशिरुचा पावकेस्तं मयूरं

पश्चाददिग्रहण- गुरुभिर्गर्जितैर्नतयेथाः ॥ मेघ. १-४८

(६) प्रवत्त-नृत्यैः शिखिभिः समाकुलाः समुत्सुकत्वं जनयन्ति भूधराः ६-१६

(७) पतन्तितमूढा शिखिनां प्रनृत्यतां कलाप चक्रेषु नवोत्पलाशया।ऋतु. २-१४

(८) नृत्यप्रयोग- रहितान् शिखिनो विहाय।

हंसानुपैति मदनो मधुर- प्रगीतान्। ऋ. ३-१३

(९) परित्यक्त नर्तना मयूराः। अभि. ४-१२

पक्षी तो क्या उनकी दृष्टि वृक्षों तक में नृत्य का दर्शन कर लेती। गन्ध से उन्मादित मधुपों कागीत, कोकिल द्वारा आध्मात तूर्य, पवन से चंचल पल्लवों की हस्तमुद्रायें और इनके साथ विविध ललित प्रकारों से तरुकर नृत्यः यह दृष्टि कालिदास को ही सुलभ थी।—

गन्धुम्माइअ महुअर गीएहिं वज्जन्तेहिं परहुअतूरेहिं।

पसरिअ पवणुब्वेल्लिअ पल्लवणिअरु,

सुललिअ विविह पआरेहिंणच्चइ कप्पअरु। विक्रमो. ४-१२

आचार्यभरत की परम्परा— कालिदास नाट्याचार्य भरत की परम्परा से न केवल परिचित थे अपितु उन्हें भारतीय नाट्यशास्त्र की साङ्गोंपाङ्ग जानकारी थी। अपने नाटकों में वह पद पद पर भरत का 'अनुसरण करते है और उनकी '—अष्टावेवरसा नाट्ये' की मान्यता को स्वीकार करते हैं—

मुनिना भरतेन यः प्रयोगोभवतीष्वष्ट-रसाश्रयोनिवद्धः।

ललिताभिनयं तमद्यभर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः। विक्रमो २-१७

उन्होंने पारिभाषिक शब्दावली भरत से ही ग्रहण की है।

आतोद्य— कालिदास की रचनाओं में जितनी व्यापक और सूक्ष्म शास्त्रीय जानकारी गीत और नृत्य के विषय में मिलती है, उतनी वाद्यों के विषय में नहीं। उनके समय में वाद्यों में वैविध्य नहीं था। वाद्य के लिए उन्होंने आतोद्यशब्द का प्रयोग किया है। भरत सिन्धु प्रदेश में गन्धर्वो को युद्ध में हराकर उनके शस्त्र छीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेते हैं और बदले में उनके हाथों में आतोद्य थमा देते हैं जो उनका जातीय अधिकार है—

भरतस्तत्र गन्धर्वान् युधि निर्जित्य केवलम्।

आतोद्यं ग्राहयामास समत्याजयदायुधम्॥ रघु. १५-८८

रघुवंश (८-३४) में उन्होंने वीणा को आतोद्य कहा है—

कुसुमै ग्रैथितामपार्थिवैः स्त्रजमातोद्यशिरोनिवेशिताम्।

अहरत् किलतस्य वेगवानधिवास स्पृहयेव मारूतः॥

दिव्यकुसुमों की माला यहाँ आतोस्र सिर पर लटकी वतलायी गयी है वह कवि के अनुसार नारद की वीणा थी। इस प्रकार स्पष्ट है कि कवि ने आतोद्य को सामान्य वाद्य के अर्थ में प्रयुक्त किया है।

आतोद्य सामान्य तया चार प्रकार के माने गये है— तत, अवनद्ध या अनुविद्ध, घन और सुषिर। कहा है—

चतुर्विधमिदं वाद्यं वादित्रातोद्यनामकम्।

ततंचैवानुविद्धंच घनं सुषिरमेव च॥

वीणादि— तत वाद्यों में वीणा प्रमुख है। भारत के सबसे प्राचीन वाद्य वीणा और पटह हैं। कालिदास ने वीणा' तन्त्री, विपञ्ची और वल्लकी का उल्लेख किया है। परिवादिनी विशिष्ट वीणा का नाम है। कालिदास ने नारद की वीणा का नाम परिवादिनी बतलाया है—भ्रमरैः कुसुमानुसारिभिः परिकीर्णा परिवादिनी मुनेः। रघु. ८-३५। वह अपनी परिवादिनी वीणा के साथ गोकर्ण-स्थित शिव की आराधना के लिए जा रहे थे। वीणा द्वारा उपस्थान के लिए कवि ने 'उपवीणयितुम्' शब्द का प्रयोग किया है—"श्रित- गोकर्ण- निकेत मीश्वरम्-उपवीणयितुं ययौ"। रघु.८-३३। ऋग्वेद में शततन्त्री वीणा का उल्लेख है। कुछ लोगों के अनुसार वर्तमान शन्तूर ही वैदिक शततन्त्री है। कालिदास ने यक्षी के प्रसंग में वीणा की चर्चा की है —

उत्सङ्गे वा मलिन- वसने सौम्य निक्षिप्य वीणाम्।

मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा॥

तन्त्रीमार्द्रां नयन- सलिलैः सारयित्वा कथञ्चिद्

भूयोभूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्तीम्॥ मेघ. २-२३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस श्लोक में वीणा को गोद में रखकर बजाने उसके तार मिलाने या ठीक करने या उसपर पड़े अश्रुविन्दुओं को पोंछ कर उन्हें सुस्वर वनाने आऔर रागों की सिद्धि के लिये मूर्च्छना की रचना करने से सम्बन्धित कई बातें एक साथ आ गयी हैं। मूर्च्छना की चर्चा ऊपर की जा चुकी है— "स्वराणां स्थापना: सान्ता: मूर्च्छना: सप्त सप्त हि"। स. रत्ना.। वीणा का प्रयोग कामोद्दीपन के लिए किये जाने की बात ऋतु संहार में कही गयी है—

सवल्लकी-काकलिगीत निःस्वनै र्विबोध्यते सुप्त इवाद्य मन्यथः।

तथा—

सुतन्त्रिगीतं मदनस्य दीपकं शुचौनिशीथेऽनुभवन्ति कामिनः। १-३

रघुवंश में वेणु और वीणा दोनों के बादन का एक साथ उल्लेख है—

वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखपदाङ्कितोरवः।

शिल्पकार्य उभयेन वेजितास्तं विजिह्मनयना व्यलोभयन्। १९-३५

यह वर्णन भी काम के प्रसंग का ही है। राजा अग्निवर्ण की विलासिनी स्त्रियों के ओष्ठ उसी के दन्तों से क्षत हैं फिर भी उनसे वेणु वजवा कर वह उसका आनन्द ले रहा है और उनके उरु उसी के नखों से क्षत है फिर भी वह उससे वीणा वादन कराकर प्रसन्न हो रहा है, विना इस बात की चिन्ता किये कि ओठों पर वेणु और उरु पर वीणा रखने से उन्हें पीड़ा हो रही होगी। इसी लिए वे नारियाँ उसे कुछ अप्रसन्नता लिये हुए कुटिलनेत्रों से देख रही हैं और अग्निवर्ण इस पर भी रीझ रहा है।

तन्त्री और वीणा को पर्याय मान कर कवि ने उनका प्रयोग किया है और दोनों का श्रृंगार के प्रसंग में। वल्लकी की स्थिति भी यही है। वह भी सुप्त मन्मथ को जगाने में उपयोगिनी है—

सवल्लकी काकलि- गीत- निःस्वनैर्विबोध्यते सुप्तइवाद्य मन्यथः। ऋतु. १-८

अज अपनी मृतपत्नी को गोद में लेकर उसके शरीर को सहला रहे हैं ठीक उसी प्रकार जैसे कोई वल्लकी के तार मिलाता है—

प्रतियोजयितव्यं वल्लकी-समवस्थामथ- सत्त्वविक्लवात्।

स निनाय नितान्त-वत्सलः परिगृह्योचितमङ्कमङ्गनाम्। रघु. ८-४१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वीणावादक वीणी कहलाते थे– "सिद्ध- द्वन्द्वैर्जलकणभयाद् वीणिभिस्त्यक्त- मार्गः"। मेघ. १-४९। सिद्ध युगल वीणा वादन में दक्ष माने जाते थे। विश्वावसु गन्धर्व था। वह वीणा वादकों में श्रेष्ठ माना जाता है। इसीलिये उसे प्रवीण या उत्कृष्ट वीणावादक कहा है– "विश्वावसुः प्राग्रहरैः प्रवीणैः संगीयमान-त्रिपुरावदानः"। कुमार ७-४८। वीणा के तार संगीत के स्वरों से विधिवत् मिले हुए होने चाहिए। तारों को तन्त्र कहते थे। वे मिले हुए हों तो वीणा सुतन्त्री अन्यथा वितन्त्री। कालिदास ने एक स्थान पर वितन्त्री शब्द का उपमा के लिए प्रयोग किया है। पार्वती के मधुर स्वर के सामने कोयल का स्वर ऐसा अप्रिय लगता था जैसे विना मिलायी हुई वीणा के स्वर–

स्वरेण तस्या ममृतस्रुचेव प्रजल्पितायामभिजात वाचि।

अप्यन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा श्रोतुर्वितन्त्रीरिव ताड्यमाना। कुमार. १-८५

वीणा स्वर- माधुर्य के लिये प्रसिद्ध रही है। अग्निवर्ण जो महान् संगीतज्ञ था वल्लकी के हृदयंगर स्वर और मञ्जु भाषिणी स्त्रियों की कोमलवाणी को अपने मनाविनोदका प्रमुख साधन मानता था। इनदोनों से उसकी गोदभरी रहती थी–

अङ्कमङ्क-परिवर्तनोचिते तस्य निन्यतुरशून्यतामुभे।

वल्लकी चहृदयङ्गम-स्वना वल्गु वागपि च वामलोचना। रघु. १९-१३

अवनद्ध वाद्य–

अवनद्ध वाद्यो में कालिदास ने पटह, पुष्कर, मृदङ्ग, मुरज, मर्दल, दुन्दुभि और भेरी का उल्लेख किया है। इनमें पुष्कर सबसे प्राचीन नाम है। भरत ने "—अवनद्धं तुपौष्करम् (नाट्य. २८-२) कहकर इसकी प्राचीनता की पुष्टि की है। तव ये पटह आदि सारे वाद्य पुष्कर ही कहलाते थे। तव पुष्कर के तीन मुखों पर मृत्तिकालेप के द्वारा विभिन्न स्वरों की स्थापना की जाती थी जिनके आधार पर तीन मार्जनाएं होती थीं जिनमें एक मायूरी मार्जना भी है। इसमें गोद में रखे हुए पुष्कर के वाममुखको गांधार, दक्षिण को षड्ज और ऊर्ध्व मुख को पञ्चम स्वर में मिलाते थे। इससे मायूरी मार्जना वनती थी। यह मध्यम स्वरोत्थ या मध्यमग्राम से उत्थापित होती है। मयूरों को यह विशेषप्रिय है। इसे सुन कर वे ग्रीवा उठाकर ऊपर देखने लगते हैं कि कहीं मेघ तो नहीं गरज रहा है। कालिदास ने विक्रमोर्वशीय में इसका वर्णन किया है—

जीमूतरतनित-विशङ्किभि मयूरैरुद्ग्रीवैरनु रसितस्य पुष्करस्य।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्ह्रादिन्युपहित मध्यम-स्वरोत्था मायूरी मदयति मार्जना मनांसि ।माल. १-२१

पुष्कर वादन से पूर्व कुछ वाद्यों का वादन प्रारम्भ हो जाता रहा होगा। इसलिये कवि ने पुष्कर को अनुरसित कहा है। इस विषयमेंनाट्यशास्त्र में कहा है—

गान्धारो वामके कार्यः षड्जो दक्षिण-पुष्करे।

ऊर्ध्वके पञ्चमश्चैव मायूर्या स्तुस्वराः मताः। ३४-११९

मायूरी मध्यमग्रामेऽप्यर्द्धा षड्जे तथैव च।

कार्मारवी च कर्तव्या साधारण-समाश्रया। ३४-१२२

मेघदूत इसी लिए पुष्करों को जिनकी ध्वनि मेघ- गर्जन के समान है, वजने पर यक्षों द्वारा अपनी पत्नियों के साथ मधुपान की चर्चा करता है

आसेवन्ते मधुरति-फलं कल्पवृक्षप्रसूतं

त्वद्-गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु ।। मेघ. २-५

पानगोष्ठी में पुष्कर धीमे स्वर में वजाये जाते थे। इसी लिए 'शनकैः' पद का प्रयोग हुआ है। राजाअग्नि वर्ण तो पुष्कर वादन में इतना प्रवीण था कि अच्छी अच्छी नर्तकियाँ उसके सम्मुख वेताल हो जाने पर लज्जित हो जाती थी—

स स्वयं प्रहत-पुष्करः कृती लोलमाल्य-वलयोऽहरन्मनः।

नर्तकीरभिनयातिलङ्घिनीः पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत्। रघु. १९-१४

पुष्कर का ही एक नाम मृदङ्ग भी है जो इसके खोल के मिही (मृदा) से वने होने के कारण चल पड़ा। अग्निवर्ण का प्रासाद सदा मृदङ्ग ध्वनि से गूँजता रहता था। प्रतिदिन चलने वाले उत्सवों में प्रत्येक उत्सव पहले से अधिक वढ़ कर होता था—

तस्यवेश्मसु मृदङ्गनादिषु

ऋद्धिमन्तमधिकर्द्धिरुत्तरः पूर्वमुत्सवमपोहदुत्तरः। रघु. १९-५

रामने पुष्पविमान के द्वारा लंका से अयोध्या लौटते हुए सीता को शातत्कर्णीमुनि का भवन दिखाया था जिसमें होने वाले मृदङ्ग वादन का घोष विमान की चन्द्रशाला (ऊपरी कक्ष) में प्रतिध्वनित हो रहा था—

तस्यायमन्तर्हित-सौधभाजः प्रसक्तसंगीत-मृदङ्ग-घोषः।

वियद्‌गतः पुष्पक चन्द्रशालाः क्षणं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति।।रघु. १३-४०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अयोध्या की रमणियों द्वारा जल क्रीड़ा के समय हाथों से आस्फालित वापिकाओं एवं सरयू का जल भी जो शब्द करता था उसे कवि ने 'मृदङ्ग-धीर ध्वनि' कहा है। एक स्थान पर उसे वारिमृदङ्ग वाद्य कहा है। यह स्फालन गीतों के साथ चलता था। इसीलिए उसे गीतानुग भी कहा है—

आस्फालितं यत्प्रमदाकरागैर्मृदङ्ग-धीर-ध्वनिमन्वगच्छत्। रघु. १६-१३

तथा—

श्रोत्रेषु संमूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारि-मृदङ्ग वाद्यम्। वही १६-६४

मयूर मृदङ्गध्वनिको मेघगर्जन समझ कर नाचने लगते हैं। पालतू मयूर मृदङ्ग न वजने के कारण नृत्य हीन घूमते हैं। यह दृश्य अयोध्या का है—

वृक्षेशया यष्टिनिवास-भङ्गान्मृदङ्ग-शब्दापगमादलास्याः। रघु. १६-६४

मुरज भी मृदङ्ग का पर्याय है। कालिदास ने पशुपति के पूजा संगीत को समग्र बनाने के लिए कीचकों के वेणु एवं किन्नरियों के त्रिपुर-विजय गीत के साथ मुरज का निर्ह्रादभी आवश्यक बतलाया है—

शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः।

संसक्ताभि स्त्रिपुर-विजयो गीयते किन्नरीभिः॥

निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत् कन्दरेषु ध्वनिः स्यात्

संगीतार्थो ननु पशुपते स्तत्रभावी समग्रः॥ मेघ. १-६०

अलका के प्रासाद तो मुरज ध्वनी से गूँजा ही करते थे।

संगीतप्रहत- मुरजाः स्निग्धगम्भीर- घोषम्।

प्रासादास्त्वां तुलयितुमलम्। मेघ. २-१

कुमार संभव में ओषधिप्रस्थ का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है कि वहाँ के भवनों के ऊपर मेघ छाये रहते थे और भीतर मुरज वजते थे। इन दोनों का घोष एक जैसा था। फिर भी ताल और लय मुरज की ध्वनि को मेघ ध्वनि से पृथक करते थे—

शिखरासक्त-मेघानां व्यज्यन्ते यत्र वेश्मनाम्।

अनुगर्जित-संदिग्धाः करणैर्मुरजस्वनाः। कुमार. ६-४०

यहाँ कवि ने मुरज के साथ करणों का सम्बन्ध बतलाया है। करण ताल को व्यवस्थित करने वाली थापों को कहते हैं। यह परिभाषिक शब्द है। इसके द्वारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुरज से विभिन्न बोल निकाले जाते हैं। नृत्य में संस्थान, वादित्र में ताडन और गीत में रोध के द्वारा व्यवस्थापन किया जाता है। अतः ये सब करण कहे जाते हैं—

नृत्य वादित्रगीतानां प्रयोगवशमेदिनाम्।

संस्थानं ताडनं रोधः करणानि प्रचक्षते॥ राजकन्दर्प

मर्दल भी पुष्कर का एक प्रकार है किन्तु लगता है कि इसकी ध्वनि में कड़क विशेष होती थी। कालिदास ने दोबार इसकी ध्वनि की अशनि अर्थात् विजली की कड़क से तुलना की है—

सीकरा सम्भोधर-मत्तकुञ्जरस्तडित्पताकोऽशनि शब्दमर्दलः।

तथा— वलाहकाश्चाशनि-शब्द-मर्दलाः। ऋतु. २-८

पटह का उल्लेख संस्कृत साहित्य में प्रारम्भ से ही मिलता है। कालिदास ने भी अनेक बार पटह का उल्लेख किया है। वह मेघ से उज्जयिती में महाकाल की सायं-पूजा में पटह का कामदेने की बात कहते है—

कुर्वन् सन्ध्यावलि-पटहतां शूलिनः श्लाघनीया

मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम्॥ मेघ. १-३८

कार्तिकेय के जन्म के अवसर पर भी पटह वजाया गाया था—

महोत्सवं शंसितुमाहतोऽन्यैर्दध्वानधीरः पटहः पटीयान्। कुमार. ११-३३

तथा—

नभोऽन्तकुक्षिंभरयो घनाः स्वना निहन्यमानैः पटहैर्वितेनिरे। वही १४-१७

तथा—

नभश्चमू धूलिकुलैरिवाकुलं ररास गाढंपटह-प्रतिस्वतैः। वही १८

तथा—

धनै रथानां गुरुचण्डचीत्कृतै स्तिरोहितोऽभूत् पटहस्य निःस्वनः। कुमार. १४-३३

तथा—

मत्तद्विपानां प्रथयांवभूविरे न वाहिनीनां पटहस्य निःस्वनाः। वही ४७

तथा—

तद्वाहिनीनां पटहस्वर्धनै रुद्वेलिताश्चुक्षुभिरे महार्णवाः। वही १५-११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुन्दुभि—

दुन्दुभि सामान्यतया युद्ध वाद्य माना जाता है । अथर्वः मेंतो युद्धार्थ दुन्दुभि सूक्त ही है और वह वीर रस से परिपूर्ण है । कालिदास ने पुत्रजन्म के अवसर पर इस के बजाये जाने का उल्लेख किया है—

गम्भीर-शङ्खध्वनिमिश्रमुच्चैर्गृहोद्भवा दुन्दुभयःप्रणेदुः ।

तथा—

पुत्रजन्म प्रवेश्यानां तूर्याणां तस्य पुत्रिणः ।

आरम्भं प्रथमं चक्रुर्देवदुन्दुभयो दिवि । रघु. १०-७६

दुन्दुभि नगाड़े को कहते हैं । बड़ी दुन्दुभि के शब्द को धौंसा कहते हैं ।

भेरी और दुन्दुभि समान है । भेरी का प्रयोग भी युद्ध वाद्य के रूप में किया जाता था । यह बड़ा नगाड़ा होता था । रणभेरी शब्द इसी भेरी के उपयोग को द्योतित करता है—

गम्भीर-भेरीध्वनिभिर्भयंकरै . . अनाकुलैस्तैर्मृगराजताऽजनि । कुमार. १४-२७

तथा—

पयोनिधिर्धूनन-केलिभिर्जगद्बभूव भेरीध्वनितैः समाकुलम् । कुमार. १४-४५

तथा—

भेरी-रवाणां प्रतिशब्दिभिर्घनैर्जगर्जगाढ़ं घन-मत्सरादिव । वहीं ४९

भेरी

भेरी का उल्लेख कुमार संभव में ही मिलता है और वह भी उन सर्गों में जिनका कालिदास- कृत होना विद्वानों को मान्य नहीं है ।

तूर्य

तूर्य बहुत प्राचीन सुषिर वाद्य है जिसे गावों में तुरही कहते हैं । तूर्यका भी जन्म शृङ्गवाद्य से हुआ जान पड़ता है । आरण्यकलोग महिषश्रृङ्ग का उपयोग वाद्य के रूप में करते थे । संभवतः इसे देखकर ही तूर्य की कल्पना ने जन्म लिया होगा । तूर्य का प्रयोग उद्घोषणाओं और माङ्गलिक कार्यों से पूर्व किया जाता था । कालिदास ने इसे मङ्गलतूर्य कहा है । मङ्गल विधानों में शृंग तूर्य और पटह के एक साथ वादन के उल्लेख प्राप्त होते हैं । उनमें शङ्ख तो पवित्र एवं माङ्गलिकवाद्य के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप में आज भी प्रसिद्ध है । शिव विवाह के अवसर पर तूर्य वादन का वर्णन कुमार संभव में है ।

मङ्गलतूर्य

ततो गणैः शूलभृतः पुरोगै रूदीरितो मङ्गलतूर्य- घोषः । ७-४०

रघु जन्म के अवसर पर मङ्गलतूर्य वजाये गये थे । और वार वनिताओं के नृत्य भी हुए थे । यहाँ तूर्य निःस्वन को सुखश्रव कहा है ।

सुख-श्रवा मङ्गल-तूर्य-निःस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम् ।

न केवलं सद्मनिमागधी-पतेः पथिव्यजृम्भन्त दिवौकसामपि ।। रघु. ३-१९

एक बहुत सुन्दर तूर्य वादन का प्रसंग कुमार संभव में मिलता है । कार्तिकय के जन्म के अवसर का अनेक तूर्य एक साथ बज रहे हैं । अप्सरायें सुन्दर छन्दों में बँधे गीत गाती हुयीं भावों के अनुसार रसमय नृत्य कर रही हैं—

ध्वनत्सु तूर्येषु सुमन्द्रमङ्क्यालिङ्ग्योर्ध्वकेष्वप्सरसो रसेन

सुसन्धिवन्धं ननृतुः सुवृत्तगीतानुगं भावरसानुविद्धम् ।। ११-४६

संभव है, तूर्य वर्तमान नफीरी या शहनाई सदृशवाद्य हो क्योंकि अनेक तूर्यों के एक साथ बजने पर भी उनके सुख श्रवा होने का विश्वास इसी रूप में हो सकता है । दशरथ के पुत्र जन्म के अवसर पर पहले देवताओं ने द्यौ में दुन्दुभियाँ बजायी और तब तूर्य भी बजने लगे—

पुत्र-जन्म-प्रवेश्यानां तूर्याणां तस्यपुत्रिणः ।

आरम्भं प्रथमं चक्रुर्देव दुन्दुभयो दिवि ।। रघु. १०-७६

इन्दुमती जब स्वयं वरार्थ मञ्च पर लायी जा रही थी तोशङ्ख और तूर्य बजाए जा रहे थे । और उनकी ध्वनि सुन कर गृहोपवन के मोर भी नाचने लगे थे—

पुरोपकण्ठोपवनाश्रयाणां कलापिनामुद्धतनृत्य हेतो

प्रध्मात-शङ्खे परितो दिगन्तान् तूर्यस्वने मूर्च्छतिमङ्गलार्थे । रघु. ६-९

इसी प्रकार पार्वती के विवाह के अवसर पर जब उसे स्नान कराया जा रहा था । तब भी तूर्य बज रहे थे । यह ध्यान देने के बात है कि ऐसे अवसरों पर एक शङ्ख किन्तु अनेक तूर्यों के एक साथ बजाये जाने की बात सर्वत्र मिलती है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवर्जिताष्ठापद-कुम्भ-तोयैः सतूर्यमेनां स्नपयांवभूवुः । कुमार. ७-४०

कुमार. ७-४०

इधर स्त्रियाँ पार्वती को सुवर्ण कलश जल से नहला रही थीं । और उधर तूर्य बज रहे थे ।

तूर्य का बादन समय को सूचित करने एवं युद्ध में उत्साह बढ़ाने के लिये भी होता था । हेमाङ्गद का प्रासाद समुद्र के समीप होने से प्रभात में उसका गर्जन ही हेमाङ्गद को उठादेता था । इसलिये यामतूर्य को वजाने की आवश्यकता ही नहीं रह गयी थी—

यमात्मनः सद्मनि संनिकृष्टो मन्द्रध्वनि-त्याजितयामतूर्यः ।

प्रासादवातायन-दृश्य-वीचिः प्रवोधयत्यर्णव एव सुप्तम् ।। रघु. ६-५६

और युद्ध में तूर्यों की ध्वनि ही इतनी तीव्र होती थी कि प्रजा और उसके विरोधी पक्ष के लोग की बात और उनके वंशादि का परिचय किसी को सुनायी नहीं देता था । तब केवल वाणों पर अङ्कितनामादि से वे एक दूसरे का परिचय पाते थे—

नदत्सु तूर्येष्वविभाव्यवाचो नोदीरयन्तिस्म कुलोपदेशान् ।

वाणाक्षरैरेव परस्परस्य नामोर्जितं चापभृतः शशंसुः । रघु. ७-३८

तूर्य के साथ ऊपर शङ्ख ध्वनि का भी उल्लेख हुआ है । शङ्खवाद्य के विना तो कोई मङ्गल कार्य सम्पन्न नहीं होता । अकेले शङ्ख के बजने के उल्लेख भी कालिदास में अनेकशः मिलते हैं । यथा—

प्रसन्नदिक् पांसुविविक्तवातंशङ्ख-स्वनान्तर पुष्पवृष्टि ।

सुखाय तज्जन्मदिनं वभूव । कुमार. १-२३

दिशः प्रसेदुर्मरूतो ववुः सुखाः शङ्खान्निदध्मुर्गगनेचरास्तथा ।

अन्य वाद्यों में वंशी (कीचक-ध्वनि) ताल, घण्टा, किंकिणी और नूपुरों का उल्लेख हुआ है । नूपुर की ध्वनि को शिञ्जित कहा है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपर्युक्त समीक्षण के पश्चात् यह कहने की आवश्यकता नहीं रह गयी है कि कालिदास संगीत, नृत्य और वादन की सूक्ष्म से सूक्ष्म जानकारी रखते थे। अवश्य ही वह स्वयं इनमें, जिन्हें उन्होंने शिल्प कहा है, दक्षता रखते होंगे क्योंकि उनके वर्णन अनेक स्थलों में इस बात का संकेत देते हैं कि उनकी रचना के पात्र वह स्वयं ही है। यह भी निश्चित है कि नाट्य शास्त्र तथा संगीत विषयक अन्य ग्रन्थों को उन्होंने ध्यान पूर्वक पढ़ा भी था। जो हो, इस कवि के संगीतकला विषयक सैद्धान्तिक और प्रायोगिक ज्ञान को देख कर कोई भी विज्ञ दाँतों तले उँगली दबा लेगा।

कालिदासीय काव्य के पञ्च मकार

१-मृग

मृग कालिदास के अभिन्न सहचर हैं। सुख हो या दुःख, हर्ष हो या विषाद, नगर हो या अरण्य और संयोग हो या वियोग, मृग सदा कालिदास के साथ हैं। चाहे तारुण्य काल में बिन्ध्य श्रृंखला का सौन्दर्यपान करते हुए, ऋतु संहार, मालविकाग्नि मित्र और मेघदूत के प्रणयन में लीन, रंगीन सपनों के सौदागार कालिदास हों या हिमालय और उसकी उपत्यका में विचरण करते कुमार-संभव, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञान शाकुन्तलम् के रचयिता स्वर्ग और पृथिवी को एकसूत्र में पिरोने का उपक्रम करनेवाले प्रौढ़ युवा कालिदास हो अथवा साकेत और सरयू के अंचल में घूमते, भारत की राजनीतिक और सांस्कृतिक एकता का शंख फूँकते, वर्णाश्रम-मर्यादा के पक्षधर रघुवंश के चरितगायक, पलित कवि कालिदास-मृग हरऋतु, हरस्थान औरहर परिस्थिति में उनके साथ मिलेंगे। संसार में ऐसा कोई अन्य कवि आज तक नहीं जनमा जो मृग-मृगियों के शील-स्वभाव और व्यापार चेष्टाओं से इस सीमा तक परिचित रहा हो और जिसने उन पर ऐसी मुक्तहस्तता के साथ अपना स्नेह और वात्सल्य उड़ेला हो। मृग कालिदास के अन्तर की मधुरिमा और कोमलता को समझने के श्रेष्ठतम माध्यम है।

मृगों के साथ कवि की पहली भेंट विन्ध्यमाला की विरल जल वाली, अरण्यानी में हुई जहाँ ग्रीष्म में प्रचण्ड रवि-रश्मियों और जब तव प्रज्वलित हो उठने वाली दवाग्नि की विषमता के कारण मृगों का जीवन अत्यन्त दयनीय हो जाता है। असह्य आतप से उनके तालु सूख जाते[1] हैं और उस पर जलती दवाग्नि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का धुआँ और ताप उन्हें अधमरा कर डालता है । कुछ तो लपटों से झुलस कर दम तोड़ देते[२] हैं और कुछ वृक्षान्तरों से झाँकते गहरे नीले आकाश को ही जल समझकर, इस धारणा से कि शायद उस सुदूर वन स्थली में जल होगा उधर भाग चलते हैं[३] । वर्षा आती है तो तृणाङ्कुरों में नये पल्लव फूट निकलते हैं - नीले, गहरे नीले - जिन्हें कुतरने का पहला अधिकार हरिणी का हैं । हरिण बाद में मुँह मारता[४] है । नर और मादा के बीच इस मर्यादा का ध्यान कालिदास ने सदा रखा[५] है । धीरे-धीरे मृगों के झुण्ड वन स्थली में दूर-दूर तक फैल जाते हैं - बड़े बड़े उत्पलों जैसे नेत्रो वाले मृग, किन्तु जरा सी आहट भरसे चौंक उठने वाले, शिकारियों से डरे-डरे मृग[६] । वर्षा के प्रारम्भ में भागे-भागे पथिक जो घर लौटते हैं तो नयी-नयी हरियाली पर दोनों ओर संस्थित मृगियों को देखकर अपनी मृगनयनी प्रिया की स्मृति में डूब जाते हैं । गाँव के सीमान्तर भी मृगियों से भर जाते हैं । उन्हें देखकर निवर्तमान पतियों के मन में प्रिया मिलन की उत्कण्ठा दूनी हो जाती है[७] । वर्षा काल में मृतप्राय कमलों में भी प्राण आ जाते है । शरद में तो वे पूरे निखार पर होते हैं । कवि ने इन दोनों ऋतुओं में मृगियों के नेत्रों और उत्पलों का एक दृष्टि से साक्षात्कार किया है । इसीलिए उसने इस प्रसंग में उनके नेत्रों को 'नयनोंत्पल' और 'विलोलनेत्रोत्पल' कहा है । हेमन्त में उत्पल सूख जाते हें । इसलिये वहाँ उसने मृगियों को केवल 'मृगाङ्गनायूथ' कहकर सन्तोष कर लिया है । अन्तर इतना है कि वर्षा और शरद में खिले उत्पलों के पास विचरती हरिणियाँ जहाँ हरिप्राक्षी की याद दिलाती हैं वहाँ हेमन्त में अपने साथी प्रेमी के साथ विहार करनी मृगियाँ मन में उत्तेजना उत्पन्न करती हैं[८] । मृगों के प्रति कालिदास के मन में प्रीति और वात्सल्य का प्रथम अंकुर विन्ध्याचल की वनावली में ही फूटा था ।

विन्ध्य से चलकर हिमालय पर पहुँचने पर भी कालिदास की पहली दृष्टि मृगों पर ही गयी । यह वह स्थली है जहाँ मृग मदोद्धत होकर मस्ती से चौकड़ी भरते हैं; वायु को चीरते उसके वेग के विरुद्ध दौड़ते हैं । भले ही प्रियाल वृक्षों की मञ्जरियों के रज कण उनकी आंखों में गिर गिर कर दृष्टि को अवरुद्ध कर दें[९] । सघन वृक्ष की छाया के नीचे झुण्ड बनाकर निर्वाध बैठे जुगाली करते हुए मृगों का दृश्य कैसा सुहावना होता है ? कालिदास इस दृश्य पर लट्टू थे[१०] । हरी भरी घास पर बैठे मृगकुल की ओर उनकी दृष्टि सुतराम् चली जाती थी[११] । मृगियों की भी स्नेहिल दृष्टि आने जाने वालों पर पड़ती थी और तब वे पलक ऊपर उठाये मुख में दबे कुशों को चबाना भूलकर उसे एकटक देखती रह जाती थीं । इतनी समझदार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि रावण द्वारा हरण के पश्चात् उन्होने व्याकुल राम को, उत्पक्ष्मल नेत्र दक्षिण दिशा की ओर घुमा-घुमा कर सीता का मार्ग बतलाया था। यहाँ भी कालिदास ने मार्ग-संकेत के लिये मृगियों को ही चुना है। स्त्रीत्व की कोमलता और समलिङ्गीय सहानुभूति की कवि को कई बार अनुभूति हो चुकी थी[१२]। मृगियों के स्वभाव से उनका निकट परिचय था। दण्डकारण्य ही क्यों, हिमगिरि पर गौरी-शङ्कर की अधित्यका में वह अनेक बार बैठे मृग-यूथों का साहचर्य भोग चुके थे[१३]। न केवल मृग-मृगी, अपितु उनसे सम्वन्धित किसी भी वस्तु से कालिदास को लगाव है। कस्तूरिका यों तो कवियों के लिये विलास का उपकरण रही है। कालिदास ने सामान्य तथा इसके लिये मृग-नाभि शब्द का प्रयोग किया है। हेमन्त में उनकी अलसायी कामिनियाँ मृगनाभि मिलाकर चन्दन का शरीर परलेप करती है जिससे चन्दन की शीतलता मिटकर शरीर में उष्मा का संचार हो[१४]। हिमगिरि की जिस शिला पर ये मृग एक बार बैठ जाते हैं वह दीर्घकाल तक सुरभित बनी रहती है[१५]। हिमाद्रि के मृगनाभि-गन्धि प्रस्थों से उन्हें विशेष लगाव है[१६]।

कालिदास को मृग और हरिण शब्दों से भी विशेष ममता है। अपनी कृतियों में उन्होंने इन्हीं दो शब्दों का प्रयोग प्रायेण किया है। इनके पर्यायवाचक शब्द शायद ही कभी प्रयुक्त किये हैं। मृग की जातियों में कृष्ण सार और चमर से वह विशेष प्रभावित थे। कृष्ण सार चर्म के कारण और चमर वाल-व्यञ्जन के कारण प्रसिद्ध रहा है। कृष्ण सार का चर्म पवित्र माना जाता था। ब्राह्मण-ब्रह्मचारी मृग चर्म पहनते थे। शिव भी कृष्णसार का चर्म धारण करते थे। आकार में बड़ा होने के कारण वह ग्रन्थि लगाकर कटि में पहना जा सकता था[१७]। कालिदास को कृष्ण मृग से विशेष लगाव था। मृग-मृगी के पारस्परिक स्नेह प्रसंग में वह कृष्ण मृगों का ही स्मरण करते हैं[१८]। मृगया के वर्णन में भी उन्होंने सर्व प्रथम कृष्ण सार और एण का ही उल्लेख किया है। मृग चर्म के अतिरिक्त मृगशृंग भी पवित्र माना जाता था और यज्ञ में काम आता था। अध्वर में दीक्षित दशरथ मृगशृङ्ग धारण करते है[१९]। चमर मृग की पूँछ में बड़े वालों का गुच्छा होता है जो दीर्घता में नारी के केश पाश की समता रखता है। चमर मृग का अंग होने के कारण उसका केश गुच्छ भी चमर कहलाता है। चमर सामान्यतया राज-चिह्न माना जाता था क्योंकि छत्रधारी राजा के दायें बायें चामर ग्रहिणी स्त्रियाँ चमर डुलाती थीं[२०]। छत्र और चमर दोनों श्वेत रहते थे[२१]। कालिदास ने चमरी के वाल-व्यजन और पार्वती जी केश राशि की तुलना की है[२२]। कृष्ण सार और चमरी मृग ये दोनों तो प्राचीन भारतीय संस्कृति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के महत्त्वपूर्ण अंग रहे हैं। कृष्ण सार ऋषियों के आश्रमों में भी पाले जाते थे और आश्रमवासी इस बात का ध्यान रखते थे कि कोई उन्हें कष्ट न पहुँचाने पाये[२३]। वे अवध्य होते थे।

ऊपर कहा है कि कालिदास को मृगों के शील-स्वभाव और व्यापार-चेष्टाओं की सूक्ष्मतम जानकारी थी। उन्होंने बार बार उनके दर्भाङ्कुरो के निगलन, उद्गिरण और भक्षण का उल्लेख तो किया ही है[२४], ग्रीवा भंग और भग्नग्रीवता के चित्र भी उपस्थित किये[२५] हैं। मृग राजध्वज का भी चिह्न होता था। यह बात मृग की महत्ता का उत्तम प्रमाण[२६] है। मनु ने आर्य प्रदेश का एक लक्षण यह भी बतलाया है कि इसके वनों में कृष्ण सार मृग चरते हैं[२७]।

कालिदास ने कस्तूरी का मृग का उल्लेख बार बार किया है। वह जिस शिला पर बैठता उसके तल को दीर्घ काल के लिये सुगन्धित बना देता है। रघुवंश में ऐसी शिलाओं की चर्चा है—

दृषदो वासितोत्सङ्गा निषण्ण-मृग-नाभिभिः १४-७४

नारियों के श्रृंगार में कस्तूरी उपयोगी वस्तु है। अंगराग में उस का प्रयोग अनिवार्य रहा है -

चन्दनेनाङ्ग-रागं च मृगनाभि सुगन्धिना॥

समापय्य ततश्चकुः पत्रं विन्यस्त-रोचनम्। रघु. १७-२४

कालिदास ने मृग-मृगी के पारस्परिक प्रेम को गहराई के साथ देखा समझा था। उन्होंने अपनी कृतियों में बार बार इस बात की चर्चा की है। मृग साथ-साथ वैठे हैं। मृग अपने सींग से धीरे-धीरे मृगी के नेत्र पार्श्व भाग को खुजला रहा है। और मृगी आनन्द से अपनी आँखें भींच लेती[२८] है। शृंग कृष्णसार मृग का सबसे कठोर और नुकीला भाग और मृगी का नेत्र उसके शरीर का कोमलतम अंग। जरा सी असावधानी हुई कि मृगी की नेत्र ज्योति गयी। पर मृगी का विश्वास और मृग की तन्मयता तो देखिये कि दोनों को 'रसो वै सः' की अनुभूति हो रही है। यह तो रही मृग के द्वारा मृगी के नेत्र प्रान्त का खुजाने की बात। शाकुन्तल में दुःष्यन्त ऐसी स्थिति की कल्पना करता है जिसमें मृगी स्वयं अपने नेत्र के प्रान्त को कृष्ण सार के सींग से खुजहा रही है और कृष्ण सार स्थिति समाधिस्थ बैठा है कि कहीं मृगी के नेत्र में चोट न लग जाए[२९]। कैसा कोमल चित्र है! मैं नहीं जानता कि विश्व के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और भी किसी कवि में ऐसी निरीक्षण शक्ति और पशुओं के कोमल भावों का सहानुभूति के साथ अंकित करने की ऐसी क्षमता है।

कभी-कभी सोचता हूँ कि भगवान ने मृगी को ऐसे कटीले नेत्र न दिये होते तो संस्कृत के श्रृंगार काव्य का क्या होता ? बाल्मिकि से लेकर आज तक का कोई भी वो कवि बिना मृगी का स्मरण किये अपनी नायिका के नेत्रों का वर्णन नहीं कर सका है। कालिदास की पक्षी मृगाक्षी है जिस का वियुक्त प्रेमी चकित हरिणी के दृष्टिपात में प्रिया के प्रेक्षण की छवि प्रत्यक्ष कर लेता है[३०]। उर्वशी मृग लोचना है तो शकुन्तला सारंङ्गाक्षी[३१]। मृगियों के नेत्रों की दीर्घता, उनका आकर्ण विस्तार, बड़ी बड़ी पुतलियां, श्यामल घने पक्ष्म और अपाड्गों की श्यामता आकृति की दृष्टि से विभ्रम, भीरूता, चंचलता, कातर्य आदि व्यापारों की दृष्टि से कवियों के लिये आकर्षण का विषय रहे हैं। इनमें सबसे महत्तवपूर्ण है भाव पूर्ण निरल अपाङ्ग दृष्टि जो कभी कभी तेज हवा में झूलते नील उत्पल से स्पर्धा करती है। आयत नेत्रों का अधीर विप्रेक्षित बड़ा उन्मादक होता है। पार्वती और मृगाङ्गनाओं का विप्रेक्षण इतना मिलता-जुलता है कि पता ही नहीं चल पाता कि किसने किससे ऐसी चञ्चल दृष्टि की दीक्षा ली है[३२]। वह जब तप करने बैठती है तो अपनी विलोल दृष्टि निक्षेप के रूप में हरिणाङ्गनाओं के पास रख देती है। वहाँ उसे अपने निक्षेप के अपहरण की आशंका नहीं है[३३]। नीवार और श्यामाक खिला खिलाकर उसने हरिणों के मन में अपने प्रति इतना विश्वास उत्पन्न कर लिया था कि वह उन्हें पकड़ कर अपनी सखियों के सामने उनके नयनों से अपने नयनों की लम्बाई नापा करती थी[३४]। वटुक के वेश में पार्वती से वार्तालाप करते हुए शंकर मां का दोनों बातों की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। इनमें एक है, हाथ में पकड़े हुए दर्भो को प्रेम से खींच खींच कर खाना। कालिदास को मृगों की दर्भ चबाने की मुद्रा इतनी प्रिय है कि वह इसका उल्लेख करते नहीं थकते। और दूसरी है मृगियों के प्रचल विलोचनों से पार्वती के नेत्रों का सादृश्य[३५]। यों दोनों के ही नेत्रों के आदर्श है उत्पल जो आकार, व्यापार (चाञ्चल्य) और गुण (शैत्य, प्रसार) तीनों दृष्टियों से दोनों के समान उपमान हैं। रघु और सुदक्षिणा जब वन में जाते हैं तो मृग-मृगियों के जोड़े टकटकी लगाकर उनके रथ को देखते हैं। मृगों के लिये रथ नयी वस्तु है। वे डरते नहीं, चकित दृष्टि से देखते हैं और इधर रघु मृगों और सुदक्षिणा मृगियों में अपना-अपना अक्षि-सादृश्य देखते है[३६]। हरिणियों के नेत्रों का प्रकाम़ विस्तार तब सार्थक होता है जब वे रघु जैसे वुपुष्मान् को पूरे खुले नेत्रों से देखती है[३७]। दशरथ तो मृगया के लिये वन में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घूमते हुए भी मृगों पर वाण नहीं चला सके। वह प्रत्यंचा को कान तक खींच कर भी सहसा मुट्ठी को ढीला छोड़ देते हैं जब उन की दृष्टि डरे हुए मृगों के अति चटुल नेत्रों पर पड़ती है और उन्हें उनमें अपनी प्रौढ़प्रिया के नयनों के विभ्रम चेष्टितों की प्रतिच्छवि दिखायी पड़ती है[३८]। दुःष्यन्त भी इसी प्रकार प्रत्यञ्चा पर आरोपित वाण को यही सोच कर मृगों पर नहीं चला पाता कि इन्होंने मेरी प्रिया के साथ रहकर उसे मुग्ध विलोकन की शिक्षा दी होगी[३९]। ध्यान देने की बात यह है कि जहाँ दशरथ मृगों में "प्रौढ़ प्रिया विभ्रम चेष्टितानि" देखते है वहाँ दुष्यन्त को उनमें "मुग्ध-विलोकनोपशकत्व" की झलक दिखायी देती है। यह अन्तर कोसल्या और शकुन्तला के वयोभेद के कारण है।

हमें ऐसे निरीह प्राणी का शिकार चाहे जितना घृण्य क्यों न लगे किन्तु सारे विश्व में और स्वयं भारत में भी मृगया की प्रथा प्रारम्भ काल से रही है। इसीलिये कहा है -

मृगमीनसज्जनानां तृण-जल-सन्तोषविहित-वृत्तीनाम्।

लुब्धक-धीवर-पिशुना निष्कारण-वैरिणो जगति॥

मृगों के प्रथम शत्रु हैं व्याध, किरात आदि जिनकी जीविका का वे प्रमुख साधन हैं। किरात भागीरथी के किनारे विचरण करते हुए निरीह मृगों का शिकार करने में नहीं हिचकते[४०]। मृगया राजाओं के मनोरंजन का साधन रही है। कौटिल्य ने राजाओं की चर्चा में मृगया का उल्लेख नहीं किया है। मनु ने उसे काम (सुखभोगेच्छा जन्य) व्यस न कहा है। मनु के अनुसार मृगया, अक्षक्रीडा, दिवास्वपन, परिवाद, स्त्रीभोग, मद्य, तौर्यत्रिक (नृत्यगीतादि) वृथा-भ्रमण इन दस कामजव्यसनों में प्रथम चार राजा के लिये विशेष कष्टदायक होते हैं और उसे इनसे बचना चाहिये।

पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम्।

एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे। मनु. ७-५०

कालिदास इस बात से परिचित थे। वह भली भाँति जानते थे कि नीति शास्त्रज्ञ इसे व्यसन की संज्ञा देते हैं। किन्तु कालिदास का दुष्यन्त मृगया के अतिरिक्त अन्य किस बहाने कण्वके आश्रम में पहुँचता? इसलिये कालिदास ने मृगया का समर्थन करते हुए सेनापति के मुख से कहलाया - मिथ्यैव व्यसनं-वदन्ति मृगयामी "दृग्विनोदः कृतः"[४१] । किन्तु साथ ही इस बात का ध्यान रखा कि दुष्यन्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की मृगया मृगों के लिये त्रासदायक न हो। इसी लिये उन्होंने पहले मृग के भयभीत होकर भागने का एक चित्रउपस्थित किया - ऐसा चित्र जिसका अंकन प्रथम कोटि का अनुभवी कलाकार ही करसकता था - मृग पीछे आते हुए रथ को देखता जाता है। वाण लगने के डर से, प्रायः पिछला भाग सिकोड़ कर आगे गड़ाये दे रहा है। दौड़ की थकान के कारण अधरवाये दर्भ मुंह से निकल निकल कर रास्ते में गिरते जा रहे हैं। किन्तु छलाँगें इतने जोर की मारे जा रहा है कि लगता है, भूमि पर कम और आकाश में ज्यादा दौड़ रहा है[४२]। राजा धनुष पर बाण खींचकर छोड़ना चाहता है किन्तु क्या कालिदास मृग का वध स्वीकार कर सकते थे। उनकी सारी भूमिका तो शर पात से भयभीत मृग का एक अनूठा चित्र प्रस्तुत करने के लिये थी जो यह स्पष्ट कर सके मृग की स्वभाव चेष्टाओं से उनका कितना निकट परिचय है। मृग क्या दौड़ता है, लगता है स्वयं कालिदास ही मृग बनकर रथ के आगे आगे दौड़ रहे है। बाण छूटे कि उससे पूर्व वैखानस आकर उसे रोक देते हैं–"राजन। आश्रम-मृगोऽयं न हन्तव्योन हन्तव्य:" और कालिदास को जो कहना था उसे वह वैखानसों के मुख से कहला देते है - राजन्। इस कोमलाङ्ग मृग पर बाण छोड़ना उचित नहीं। यह तो ऐसा ही होगा जैसे कोई रुई की ढेरी पर आग डाल दे। भला कहाँ हरिणों के अत्यन्त चंचल प्राण और कहाँ पैनी धार वाले व्रज जैसे दृढ बाण।इसलिये अपने इस बाण को वापिस तूणीर में डाल दो। तुम्हारा शस्त्र तो दु:खियों की रक्षा के लिये है, निर्दोष पर प्रहार करने के लिये नहीं[४३]। और दु:ष्यन्त धनुष पर से बाण हटा लेता है। यही तो कालिदास कोअभीष्ट था। वह आश्रम की प्रतिष्ठा भी बढ़ाना चाहते थे और मृग के आखेट का विरोध करना भी। आश्रम की बात तो अलग, उन्हें आखेट में किसी भी हिरण का वध सह्य नहीं था। दशरथ मृगया के लिये निकलते हैं। सारी तैयारी की जाती है विधि-विधान के अनुसार। यद्यपि दशरथ के सम्बन्ध में कवि पहले कह चुका था कि उन्हें मृगया का व्यसन नथा, वह द्यूतनही खेलते थे और मद्यपान न ही करते थे। उन्हें स्त्री- सेवन का भी व्यसन नहीं था[४४]। यहाँ कालिदास ने दशरथ को उन्हीं चारों कामज व्यसनों से मुक्त बतलाया है जिन्हें मनुने कष्टतम कहा है। किन्तु जैसे सेनापति दु:ष्यन्त को मृगया की ओर प्रवृत्त करता है, ऐसे ही सचिव लोग दशरथ को। दशरथ के मन्त्री भी उन्हे मृगया के पक्ष में वे ही तर्क देते हैं जोदुष्यन्त के सेनापति ने उन्हें दिये थे। इनके अनुसार मृगया से चल लक्ष्य पर निशाना मारने का अभ्यास होता है। यह भी ज्ञात होता है कि पशु भय और क्रोध की मन:स्थिति में कैसा व्यवहार करते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और साथ ही परिश्रम के कारण शरीर भी सुगठित हो जाता है[४५] । दु:ष्यन्त के समान दशरथ भी शिकार के लिये चल तो देते हैं किन्तु मृगों पर बाण प्रहार वह भी नहीं कर पाते । जब उनके सम्मुख से गर्वित कृष्णसारों के नेतृत्व में एक मृग-यूथ निकला जिसके मुख कुशों से भरे हुए थे और जिसमें नन्हें नन्हें मृगछौने हरिणियों के स्तनों का पान करने के लिये बार बार उनकी चाल को रोक देते थे तो दशरथ ने तूणीर से बाण निकाला बाणदेखते ही पूरा दल चारों ओर बिखर गया औरउसने अपनी आर्द्र आकुल दृष्टि से वन को श्यायीकृत बना दिया । एक मृग पर बाण चलाने काउपक्रम किया तो मृग की सहचरी उसके सामने खड़ी हो गयी जिससे बाण लगे तो पहले उसी को लगे और उसका प्रियतम बच जाय । दशरथ का मन हरिणप्रिया का यह अपूर्व उत्साह देखकर द्रवित हो गया और उन्होंने अपना कान तक खींचा हुआ बाण उतार कर रख दिया । जो मृग सामने आये उन परभी बाण चलाने का साहस उन्हें नहीं हुआ क्योंकि उनके त्रास से चटुल नेत्र देखकर उन्हें अपनी पत्नी की विभ्रममयी दृष्टि का स्मरण हो आता था[४६] ।

इस प्रकार कालिदास ने मृगया प्रसंग में भी न केवल मृगों का वध वचा दिया है अपितु आखेटको के मन में उनके प्रति कोमल वात्सल्य भाव को भी उन्निद्र कर दिया है । वह बिना मृग के बन की कल्पना नहीं कर पाते और न बिना कुशगर्भमुख के मृग की । मृग के दो रुप उन्हें बहुत प्रिय है-एक दर्भाङ्कुरमुँह में दबाये और दूसरा छाया में यूथ के साथ बैठकर रोमन्थ करता हुआ ।

कालिदास की अन्तरात्मा जहाँ चरम शान्ति का लाभ करती हैं वे है आरण्यक तपस्वियों के आश्रम । मृग इस आश्रमीय कुटुम्ब के सबसे दुलारे बेटे हैं । बिना मृग के आश्रम की कल्पना भी नहीं की जा सकती । उटजांगण में आते जाते और खेलते मृग ही तो आश्रम की शोभा[४७] हैं । कालिदास यदि चन्द्र को देखते हैं तो भी मृगलेखा के साथ[४८] । रावण भी यदि सीता हरण के लिए तापस बनकर आता है तो मृग रुप राक्षस से ही राम को छलना में डलवा[४९] कर और हरण के बाद राम का सीता को मार्ग बतलाने वाली भी हैं तो मृगियाँ है । रघुवंशी राजा नल पुत्र को प्रभुत्व सौपकर जाता है तो मृगों के साथ निवास के लिये[५०] । विश्वामित्र राम लक्ष्मण को लेकर आश्रम को जाते हैं तो भी मृग ही उनका स्वागत करते हैं - मुँह ऊपर उठा-उठा कर[५१] । बाल्मीकि के आश्रम में भी जब लव और कुश रामचरित्र गाते हैं तो मृग निश्चल होकर सुनते है[५२] और जब लक्ष्मण सीता को बाल्मीकि के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आश्रम में छोड़कर चल देते हैं और सीता दु:खी होकर टिटिहरी के समान कण्ठ फाड़कर रोने लगती है तो वे हरिणियाँ ही हैं जो सीता की सम दु:खिनी बनकर मुँह में दबे दर्भ नीचे उगल देती हैं[५३]। यह तो हुई आश्रम वनों के मृगों की बात। हरिण राजप्रासादों में भी पाले जाते थे। अग्निमित्र विदूषक के साथ वकुलाबलिका को अशोक के पत्ते रौंदने वाले हरिण को रोकने और उसे वहाँ से हटाने के लिए कहता है[५४]। पुरुरवा का तो ध्वज ही हरिण लाच्छन था। ऊर्वशी की तलाश में घूमता हुआ वह कृष्ण सार को देखता है और कल्पना करता है कि जैसे काननश्री ने नये शाष्प को देखने के लिए यह कटाक्षपात किया है[५५]। मृगी उस बैठे हुए कृष्ण सार के पास, जो उसका प्रणयी है, आती है किन्तु मार्ग में उसका स्तनन्धय शिशु उसे रोक लेता है और तब कृष्ण सार ग्रीवा मोड़ मोड़ कर उसे सस्पृह दृष्टि से देखता है[५६]। और जब पुरुरवा को कोई संगमनीय मणि देने आता है तो वह मुनि भी मृगचारी अर्थात् मृग को साथ लेकर चलने वाला ही होता है[५७] और फिर जब वही राजा पुरुरवा पुत्र को राज्य देकर चल पड़ता है तो कहता है कि अब मैं उन वनों का आश्रय लूँगा जिनमें मृग-यूथ विचरण कियाकरते हैं[५८]।

तापसों के आश्रमों मेंउनका स्थान अपत्य से किसी प्रकार से कम नहीं था। जन्म के बाद उनकी नाभि के नाल सूखकर मुनियों की गोद में गिरते थे। मुनि पत्नियाँ उनकी जातक्रियायें करती थी और वे मुनियों की गोद में आँख खोलते थे। थोड़ा बड़े होते ही मुनियों की यज्ञादि क्रियाओं में काम आने वाले कुशों को वे कुतरने लगते थे। इससे मुनियों का मन तो दुखता था किन्तु वत्सलता के कारण वे उन्हें वैसा करने से रोकते नहीं थे। इसीलिये जब अज कौत्स से वरतन्तु के आश्रम का हालचाल पूछता है तो पहले मृगों की कुशलता की जिज्ञासा करता है और वह उन्हें मुनियों की प्रसूति या सन्तान कह कर ही पुकारता है[५९]। नीवार ग्रीष्म के प्रारम्भ में पकते थे और उन्हें काटकर कुटियों के सामने आँगन में फैला दिया जाता था जिससे वे और सूख जायँ। सूखने के बाद झोर-पीट कर नीवारान्न निकाल लिया जाता था और भूसा उठा कर अलग डाल दिया जाता था। गेहूँ के समान गीष्म काल बीतते बीतते यह क्रिया सम्पन्न हो जाती थी और तब उटजो के आँगन की भूमि हरिणों के बैठने के लिए खाली होजाती थी। इतने समय तक स्थान के रुँधे होने के कारण हरिणों को वहाँ बैठने के लिए अवकाश नहीं होता था। किन्तु नीवार बटोर लिये जाने के बाद वे यहाँ आश्रम से बैठकर जुगाली किया करते थे[६०]। कभी-कभी तो छोटे बच्चों के समान वे कुटी का द्वार रोककर कर खड़े हो जाते थे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और जब ऋषि पत्नियाँ उन्हें खानेके लिए नीवार दे देती थी तभी हटकर उन्हें भी घर जाने देते थे। कालिदास ने उन्हें ऋषि पत्नियों के अपत्य कहा है जो उचित है। क्या बच्चे बाजार से लौटने वाले माता पिता का रास्ता रोकर नहीं खड़े हो जाते। रुचि का कोई खिलौना या चाकलेट, टाफी न रख दें[६१]। ठीक इसी प्रकार हरिणों को भी उटज में जाने से पहले ऋषि पत्नियों के हाथ से मुठ्ठी भर नीवार पानी का अभ्यास था। और यदि वह उन्हें न मिलता तो वे उटज द्वार पर उनकी राह रोकर खड़े हो जाते थे। मुनि परिवारों के साथ रहते-रहते वे मनुष्यों के प्रति आश्वस्त थे। यदि कोई अपरिचित आश्रम में आ जाता तो उसे देखकर चौंकते नहीं थे[६२]।

मृगों का सहवास युवती मुनि कन्याओं के जीवन की रिक्तता को मरता था। उनसे उनके सामान्य पारिवारिक सम्बन्ध थे जिनसे मानसिक संवेगों को तृप्ति तो मिलती ही थी जीवन मेंसात्त्विकता एवं वत्सलता का भी उन्मेष होता रहता था जिसके सहारे मुनिवालायें अविवाहित रहकर भी सारा जीवन सुख से बिता देती थी। इसीलिये दुष्यन्त प्रियंवदा से पूछता है कि क्या तुम्हारी यह सखी विवाह होने तक ही काम का प्रतिरोधी बैखानस व्रत धारण करेगी। अथवा इसका विचार जीवन भर हरिणियों के साथ रहने का है[६३]। सहशिक्षण वती होने से इनका सख्य यो भी फवता है और इससे बढ़कर किसी कुमारी के लिये और क्या प्रमाण पत्र हो सकता था कि उसका प्रेमी कहे कि कहाँ हम संसारिक लोग और कहाँ वह मृगशावकों के साथ बड़ी हुई भोली भाली कन्या[६४]। कितना ध्यान रखती थीं ये वन-कन्याये मृग शावकों का। जरा कोई बच्चा माँ से अलग थलग बेचैन दिखा कि उसे उठाकर उसकी माँ के पास पहुँचा दिया और बच्चे भी कैसे कि थोड़ी भी बेचैनी हुई कि लगे इन कन्याओं को अनुनय की। आश्वस्त मुद्रा में देखने। क्या इनके रहते इन्हें कोई असुविधा हो सकती थी[६५]? भला ऐसी प्यारी बहिन जब इन साथियों को छोड़कर पति-गृह चल दे तो वे क्यों न रो पड़ें। शकुन्तला की विदा के समय मृगियाँ मुँह के दर्भ कवल उगल देती है। कालिदास ने मृग-मृगियों की इस 'उद्गलित दर्भकवला' मुद्रा का कई बार उल्लेख किया है[६६]। शकुन्तला का प्यार इन निरीह प्राणियों के प्रति देखिये कि वह विदा होते समय भी उटज के समीप घूमने वाली गर्भिणी मृगवधुन के लिये चिन्तित है कि इसका प्रसव कुशल पूर्वक हो जाय और पिता से एक मात्र यही अनुरोध कि वे इसके निर्विध्न प्रजजन की सूचना किसी के द्वारा उस तक पहुँचा दें। परिवार की ननद भी पहली विदा के समय अपनी भाभी के लिये इतनी चिन्तित न होती होगी[६७] और कितना स्वाभाविक है उस मृग शावक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का जाती हुई शकुन्तला का आँचल पकड़ पकड़ कर टोकना जिसने न केवल उसे श्यामाक (सँवा) खिला खिला कर बड़ा ही किया है, अपितु जब वह बहुत नन्हाँ था तो कुश कुतरते समय काँटे बड़ जाने से उसकी जिह्वा में घाव हो जाते थे तब वहउन घावों में इंगुदी का तेल लगा लगाकर उन्हें ठीक करती थी । वह उसका पालापोसा बेटा हीथा । भला माँ को छोड़कर वह कैसे रहता ? बहुत नन्हा था तभी माँ मर गयी थी । उसने तो शकुन्तला को ही माँ के स्थान पर पाया था । इसलिये उसे छोड़कर जाने में शकुन्तला को ग्लानि होती है । वह स्वयं को धिक्कारती है औरसमझाती है कि बेटा जैसे माँ जन्म देते ही तुझे छोड़ कर चली गयी तो मैंने तुम्हें माता का प्यार दिया । अब मैं जा रही हूँ तो तात मेरी तरह तुम्हारी चिन्ता करेंगे । मुझ सहवास-परित्यागिनी का पीछा मत कर । लौट जा[६८] । यहाँ शकुन्तला के बहाने कालिदास ने इस प्रसंग में मृगों के प्रति अपने हृदय की सारी ममता उड़ेलकर रख दी है और अप्रत्यक्ष रुप से यह भी संकेतित कर दिया है कि निरीह पशु प्यार को किस सीमा तक ममता को पहचाते और स्वयं भी कितने ममतामय होते हैं । इस बात की पुष्टि उस प्रसंग से और भी हो जाती है, जहाँ शकुन्तला प्रत्यभि ज्ञान के लिये दुष्यन्त को स्मरण दिलाती है कि एक बार मैं और तुम नवमल्लिका के मण्डप में बैठे थे । तुम अपने हाथ में नलिनीपत्र के पात्र में पीने के लिये जल लिये थे । उसी समय मेरा पुत्र माना हुआ दीर्घापाङ्ग नामक मृग शावक आ गया । तब तुमने कहा कि पहले इसे ही पिला दूँ । किन्तु जब जल का दोना उसके सामने कियातो उसने नहीं पिया । फिर मैं तुम्हारे हाथ से लेकर जल उसके मुख के पास ले गयी तोउसने पी लिया । इस पर तुमने कहा था - सभी अपने बन्धु-बान्ध्वों पर विश्वास करते है । आखिर तुम दोनों भी तो आरण्यक हो । दुष्यन्त की यह उक्ति भी हरिणों की अपने स्नेहियों के प्रति ममता और आत्मीयता की सूचक है[६९] ।

भारतीय सभ्यता के आद्यकाल से ही यहाँ के निवासियों का मृगों के साथ निकट सम्बन्ध रहा है । कृषि से परिचय के पूर्व वह आहार का प्रमुख साधन था ।सीधा, निरीह और विपुल संख्यक होने के कारण मृगों को मारना सरल भी था । प्रात: होते ही वनवासी उसका आखेट करने निकल पड़ते थे । अपने खेत या बस्ती के चारों और फैले वनों में उन्हें एक न एक हिरण मिल ही जाता था । धीरे धीरे अकृष्टपच्या कृषि का प्रारम्भ हुआ । तब भी वह आहार की ही वस्तु बना रहा । मृग मृगया, मार्ग और मार्गण शब्द इस धारणा की पुष्टि करते हैं । वैदिक सभ्यता का उदय होने पर भी उसकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया । यज्ञ में पशुबलि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रश्न उठने पर अज और अवि पहले सामने आये । वे सीधे थे और निकटस्थ थी । मृग यज्ञ- पशु नहीं बन सका क्योंकि उसे पकड़ना कठिन था और हर समय सुलभ भी नहीं था । इस प्रकार वह मृगया का ही विषय बना रहा । बौद्ध जातकों में हम वोधिसत्त्व को मृगों पर करुणा-द्रवित होते पाते हैं । उपलब्ध गुफा चित्रों में भी मृग के ये ही रुप अ़ंकित किये गये हैं । ईसा पूर्व दूसरी शती के व्याकरण महाभाष्य के उल्लेख से इतना पता चलता है कि गाँव के पास बोये जौके के खेतों को वे चर जाते थे और कृषि को काफी क्षति पहुँचाते थे । बाल्मीकि की दृष्टि मृगों के प्रति करुणामय अवश्य है और वह उनके नेत्र सौन्दर्य से भी परिचित है किन्तु सारी रामायण में कहीं भी उनसे किसी का आत्मीय सम्बन्ध स्थापित हुआ नहीं मिलता । समग्र भारतीय साहित्य में एकमात्र और प्रथम कवि कालिदास ही है जिन्होंने मृगों को पारिवारिक सदस्य के रुप में ग्रहण किया । कालिदास से पूर्व मांस चर्म, शृंग नाभि(कस्तूरी)और बालव्यजन या चमर तक ही उसकी उपयोगिता सीमित थी । मृगचर्म वैदिक संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग था । किन्तु जीवन के अंग के रुप हिरण की स्वीकृति सर्व प्रथम कालिदास में ही मिलती है । वह आखेट के विरोधी के रुप में तो हमारे सामने नहीं आते किन्तु आखेट में किसी मृग का वध भी उन्हें सह्य नहीं है । सम्भवत: मालवभूमि और नर्मदा के कछारों का भ्रमण करने के उपरान्त वह काफी समय तक कोटद्वार से लेकर कनरवल के मध्य घूमते रहे । मेरा अनुमान है कि वह गढ़वाल और अल्मोडा के तापस आश्रमों में काफी समय तक रहे थे और वहीं उनका कृष्ण सार मृगों के साथ भावात्मक संबन्ध स्थापित हुआ जो जीवन भर स्थिर रहा और जिसने उनकी कृतियों कोदूर तक प्रभावित किया ।

सन्तोष की बात है कि कोटद्वार के पास से प्रवाहित मालिनी नदी के सुविस्तृत परिसर में अभयारण्य की स्थापना कर उत्तर प्रदेश शासन ने महाकवि को उचित श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है ।

सन्दर्भ

१. मृगा: प्रचण्डातपतापिता भृशं तृषा महत्या परिशुष्क-तालव: । ऋतु सं. १-१९

२. ग्लपयति मृगवर्गं प्रान्तलग्नो दवाग्नि: । वही १-२५

३. वनान्तरे तोयमिति प्रधाविता निरीक्ष्य भिन्नाञ्जनसंनिभं नभ: । वहीं १-१९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४. तृणाङ्कुरैरुद्गत पल्लवाङ्कुरैश्चितानि नीलैर्हरिणीमुखक्षतैः ।
वनानि वैन्ध्यानि हरन्ति मानसम् ।वहीं २-८

५. कुमार संभव- ३-३८

६. विलोल- नेत्रोत्पल- शोभिताननैर्मृगैः समन्तादुपजात साध्वसैः ।
समाचिता सैकतिनी वन-स्थली ।ऋतु सं. २-८

७. पर्यन्त संस्थित-मृगीनयनोत्पलानि प्रोत्कण्ठयन्तयुपवनानि मनांसि पुंसः ।
वही ३-२४

८. मृगाङ्गना यूथविभूषितानि-सीमान्तराण्युत्सुकयन्ति चेतः । वही ४-८

९. मृगाः प्रियालद्रुम-मञ्जरीणां रजः कणैर्विघ्नित दृष्टिपाताः -मदोद्धताः
प्रत्यनिलं विचेरुः । कुमार. ३-३१

१०. छायावद्ध कदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्तु । अभि. शाकुं. २-६

११. ययौ मृगाध्यासित-शाद्वलानि श्यामायमानानिवनानि पश्यन् । रघु २-१६

१२. मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समवोधयन् माम् ।
व्यापारयन्त्योंदिशिदक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि ॥ वही ।३-२५

१३. पादास्तामभितोनिषण्ण-हरिणा गौरीगुरोः पावनाः । अभि.शा. ६-१७

१४. आलिप्यते चन्दनमङ्गनाभि मुंदाऽलसाभिर्मृगनाभियुक्तम् । ऋतु.सं.
६-१४

१५. आसीनानां सुरभिततलं नाभिगन्धैर्मृगाणाम् । मेघ. ५२,
तथा— दृषदा वासितोत्सङ्ग निषण्ण-मृगनाभिभिः । रघु.४-७४

१६. तथा— प्रस्थं हिमाद्रेर्मृगनाभिगन्धि । कुमार १-५४

१७. कृष्णत्वचंग्रन्थिमतीं दधानम् । कुमार. ३-४६

१८. अभि.शाकु. ६-१७

१९. रघुवंश ८-२९

२०. अदेयमासीद् द्वयमेव भूपतेः शशिप्रभंछत्रमुभे च चामरे । रघु. ३-१६

२१. रघु. ८-६६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२२. तं केशपाशं प्रसमीक्ष्य कुर्युर्वालप्रियत्वं शिथिलं चमर्यः । कु.सं. १-४७

२३. वाणपातवर्तिनः कृष्णसारस्यान्तरे तपस्विन उपस्थिताः । अभि. शाकु. १-१०

२४. रघु. १-५०, ५२, १३-२५, १४-६९, तथा अभि. ४-१२, १४

२५. विक्रमोर्वशीय ४-३१, अभि.शा. १-७

२६. उल्लसित-हरिण केतनः तस्य महर्षेः सोमदत्तो रथो दृश्यते । विक्रमो. १-२६

२७. कृष्णसारस्तुचरति मृगो यत्र स्वभावतः- सज्ञेयोयज्ञियोदेशः- मनुः २-२३

२८. शृङ्गेण चस्पर्श निमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः । कुमार ३-३६

२९. शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् । अभि.शाकु. ६-१७

३०. मेघदूत ३०-३२ तथा ४१

३१. कुमार. १-४६, ५-७२ रघु. १३-१८ विक्रमो. ४-२७ अभि. ६-७.

३२. प्रवात-नीलोत्पल-निर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्याः ।
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः । कुमार. १-४६

३३. पुर्नग्रहीतुं नियमस्थया तया विलोलदृष्टं हरिणाङ्गनासु च । कुमार. ५-१३

३४. अरण्य वीजाञ्जलिदान-लालितास्तथा च तस्यां हरिणा विशश्वसुः ।
यथा तदीयैर्नयनैः कुतूहलात् पुरःसखीनामभिभीत लोचने । वही ५-१५

३५. अपि प्रसन्नं हरिणेषुते मनः करस्थदर्भ-प्रणयापहारिषु ।
य उत्पलाक्षि प्रचलै र्विलोचनै स्तवाक्षि-सादृश्यमिव प्रयुञ्जते । वही ५-३५

३६. परस्पराक्षि-सादृश्यमदूरोज्झित वर्त्मसु-मृगद्वन्द्वेषु पश्यन्तौ स्यन्दनावद्ध दृष्टिषु ॥ रघु. १-४०

३७. वही २-११

३८. तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः कर्णान्तमेत्य विभिदे निविडोऽपि मुष्टिः ।
त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरयत्सु नेत्रैः प्रौढप्रिया-नयन- विभ्रम-चेष्टितानि ॥ वही ९-५८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३९. न नमयितुमधिज्यमस्मि शक्तो धनुरिदमाहित-सायकं मृगेषु ।
सहवसति मुपेत्य यैः प्रियायाः कृत इव मुग्धविलोकितोपदेशः ॥ अभि. २-३

४०. यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्न-शिखण्डिवर्हः । कुमार. १-१५

४१. अभि. शाकु. २-५

४२. ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनु पतति स्यन्दनेवद्धदृष्टिः,
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतन भयाद् भूयसा पूर्वकायम् ।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद् वियति बहुतरं स्तोक मुर्व्यां प्रयाति । अभि. १-७

४३. नखलु नखलु वाणः संनिपात्योऽ यमस्मिन्
मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्निः ।
क्ववत हरिणकानांजीवितं चातिलोलं
क्वचनिशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते । वही १-१० तथा १-११

४४. न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणंमधु... । रघु. ९-७

४५. परिचयं चललक्ष्यनिपातने भयरुषोश्च तदिङ्गित बोधनम् ।
श्रमजयात् प्रगुणां च करोत्यसौ तनुमतोऽनुमतः सचिवैर्ययौ । वही ९-४९
रघु. ९-५५, ५६ तथा

४६. लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः प्रेक्ष्यस्थितां सहचरी व्यवधाय देहम्
आकर्ण-कृष्टमपि कामितया स्रध्न्वीवाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसंजहार ।९-५७
तथा-तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान् मुमुक्षोः कर्णान्तमेत्यविभिदेनिविडोपि मुष्टिः ॥९-५८

४७. आविशद्भि रूटजाङ्गणं मृगैः.. आश्रमा .. विभ्रति श्रियमा । कुमा. ८-३८

४८. रघुवंश ८-४२

४९. रक्षसा मृगरूपेण वञ्चयित्वास राघवौ-जहार सीताम् । वही १२-१३

५०. वही १८-७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५१. आससाद मुनिरात्मनस्ततः दर्शनोन्मुख मृगं तपोवनम् । वही ११-२३

५२. भूयस्तपोव्ययो माभूद् वाल्मीकिरिति सोऽ त्यगात् ।
मैथिली-तनयोद्गीत-निःस्पन्द-मृगमाश्रमम् ॥ वही १५-३६

५३. नृत्तं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान् विजहुर्हरिण्यः ।
तस्याः प्रपन्ने समदुःख-भावमत्यन्तमासीद् रुदितंवने ऽपि । वही । १४-६९

५४. वकुलावलिके ! एष बालाशोक-वृक्षस्य पल्लवानि लङ्घयति हरिणः ।
एहि, निवारयामएनम्-मालविका. ४-९३

५५. कृष्णसारच्छविर्यो ऽसौदृश्यते काननश्रिया
नवशष्पावलोकाय कटाक्ष इव पातितः । विक्रमो. ४-३०

५६. अयमस्यान्तिक मायान्ती शिशुनास्तन-पायिनी मृगीरूद्धा ।
तामयमनन्यदृष्टिर्भग्न-ग्रीवो विलोकयति ॥वही ४-३१

५७. अनुकम्पते मां कश्चिन्मृगचारी मुनिर्भगवान् । वही ४-३८

५८. विचरित मृगयूथान्याश्रयिष्ये वनानि । वही ५-१७

५९. क्रिया निमित्तेष्वपिवत्सलत्वादभग्नकामा मुनिभिः कुशेषु ।
तदङ्कशय्याच्युत-नाभिनाला कच्चिन्मुनीनामनघा प्रसूतिः ॥५-७

६०. आतपात्यय संक्षिप्त नीवारासु निषादिभिः-
मृगैर्वर्तित-रोमन्थमुटजाङ्गणभूमिषु । रघु. १-५२

६१. आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः-
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः । वही १-५०

६२. विश्वासोपगमादभिन्न-गतयः शब्दं सहन्ते मृगाः । अभि. शाकु. १-१४

६३. वैखानसंकिमनयाव्रतमाददानाद् व्यापार-रोधि मदनस्य निषेवितव्यम् ।
अत्यन्तमेव मदिरेक्षण वल्लभाभि राहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः ।
वही १-२४

६४. क्ववयं क्वपरोक्ष मन्मथो मृगशावैः सममेधितोजनः । वही २-१९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६५. यथैव इतो दत्तदृष्टि रूत्सुको मृगपोतको मातरमन्विष्यति । तदेहि संयोजयाव एनम् । वही ३-१७

६६. उग्गलिअ दब्भकवला मिआ । वही ४-१२

६७. एषा उटज-पर्यन्तचारिणी गर्भ-मन्थरा मृगवधूर्यदाअनघप्रसवा भवति तदामह्यं कमपि प्रिय-निवेदयितृकं विसर्जयिष्यथ । वही ४-१४

६८. यस्यत्वयाव्रण-विरोपणमिङ्गुदीनां तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे । श्यामाकमुष्टि-परिवर्धितको जहाति सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते । वही ४-१४

तथा शकुन्तला - वत्स ! किंवा सहवास परित्यागिनीं मामनुसरसि । अचिर प्रसूतया जनन्याविनावर्धितो ऽसि । इदानीमपिमया विरहितं त्वां तातश्चिन्तयिष्यति । निवर्तस्व वत्स ! निवर्तस्व । वही

६९. वही ५-२१

यस्यार्थ-युक्तं गिरिराज-शब्दं कुर्वन्ति वालव्यजनैश्चमर्यः । कुमार. १-१३

पृषतीषु विलोलमीक्षितम् । रघु. ८-५९

चमरान्परितः प्रवर्तिताश्वः क्वचिदाकर्ण विकृष्ट भल्लवर्षी

नृपतीनिव तान् वियोज्य सद्यः सितवाल-व्यजनैर्जगाम् शान्तिम् । रघु. ९-६६

तामुत्तीर्य व्रज परिचित-भ्रूलताविभ्रमाणां

पक्ष्मोत्क्षेपादुपरि विलसत्कृष्णसार प्रभाणाम् । मेघ. १-८६

पक्ष्मोत्क्षेपादुपरि दशपुर वधू नेत्र कौतू हलानाम् । पूर्व मेघ. १-७

विरूरुचे रुरू चेष्टित भूमिषु । रघु. ९-५१

अथ जातु रूरोर्गृहीत वर्त्मा विपिने पार्श्वचरैरलक्ष्यमाणः । रघु. ९-७२

त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवी मशिक्षितास्त्रं पितुरेव मन्त्रवित् । रघु. ३-३१

कृष्ण सारे ददच्चक्षु... पिनाकिनम् । शावु. १-१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मयूर

कालिदास का दूसरा प्रियमकार है हमारा राष्ट्रीय पक्षी मयूर । मृग के समान वह मयूर के भी वध की कल्पना नहीं कर सकते । मृगया के प्रसंग में वह मृग के बध को बचाकर निकल गये हैं । इतना ही नहीं उलटे मृगया वर्णन के बहाने उन्होंने आखेटक के मन में मृग-मृगियों के प्रति ममता और वात्सल्य की सृष्टि की है । इस विषय में कालिदास परम कारुणिक महाबौद्ध देवनां प्रिय प्रियदर्शी अशोक से कहीं आगे हैं । गिरिनार के अपने शिलालेख में अशोक ने स्वयं ही स्वीकार किया है कि अब तक उनके रसोई घर में हजारों पशुओं को मार कर उनका शोरबा बनाया जाता था किन्तु आगे से केवल दो मोरों औरएक मृग का वध सूप के लिये हुआ करेगा । उनमें भी मृग का रोज-रोज नहीं । कुछ दिन बाद इनका वध भी बन्द कर दिया जायगा—

पुरा महानसम्हि देवानांप्रियस प्रियदसिनोंरात्रो अनुदिवसं बहूनिप्राणसत-सहस्रानि आरभिसु सूपाथाय । से अज यदाअयं धंमलिपी लिखिता ती एव प्राणा आरभिरे सूपाथाय द्वो मोरा एकोमगो सो पि मगो न ध्रुवो । एते पि त्री प्राणा पछान आरभिसरे । गिरिनार शिलालेख-२७२-३२ ई.पू. ।

किन्तु कालिदास की कृतियों में कोई भी पात्र, चाहे वह चक्रवर्ती महाराज हो या सामान्य नर-नारी, मांस भक्षी नहीं है । मयूर के मांस की तो कल्पना तक उन्हें सह्य नहीं है । हाँ, उनका मृग विशुद्ध आरण्यक है किन्तु मयूर वन्य और नागर दोनों । वह वन में विचरण करता है तो बस्तियोंमें विहार भी । वन में ग्रीष्म में व्यथित होता है तो वर्षा से उल्लसित भी । कालिदास ने उसे दोनों रुपों में देखा है । सर्प से उसका सहज बैर है । वह उसे खण्ड-खण्ड कर डालता है । फिर भी कितनी उदारता है उसमें कि पंखों के नीचे आकर बैठे हुए सर्प पर प्रहार नहीं करता—

रवेर्मयूखैरभितापितोभृशं विदह्यमानः पथि तप्तपांसुभिः ।

अवाङ्मुखो जिह्मगतिः श्वसन् मुहुः फणी मयूरस्यतलेनिषीदति ।। कु.सं.१-१३

सूर्य की किरणों से सब तरह तपाया हुआ साँप शीतल स्थान की खोज में जब सीधा सरक कर चलता है तो मार्ग में तपती हुई बालू उसके शरीर को जलाती है । फन को समेटे, नीचा मुँह किये, शरीर को मोड़कर किसी तरह तिरछा चलने पर उसे थोडी सी छाया मिलती भी है तो मयूर के पंखों की और वह बदहवास-सा अधमरा वहीं बैठ जाता है । उधर मयूरों का मन और शरीर दोनों आहुताग्नि जैसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूर्य की विकराल किरणों से क्लान्त हैं। इसलिये वह अपने पंखों के भीतर मुँह घुसेड़ कर बैठे हुए सर्प पर प्रहार नहीं कर रहा है।

हुताग्नि-कल्पैः सवितुर्गभस्तिभिः कलापिनः क्लान्त-शरीरचेतसः।

न भोगिनंघ्नन्ति समीपवर्तिनं कलापचक्रेषु निवेशिताननम्।।

वन में ही नहीं नगरों में भी मयूर ग्रीष्म से पीड़ित होते हैं किन्तु वहाँ वे गर्मी से बचने के लिये फव्वारों के पास सरक जाते हैं- "बिन्दुक्षेपान् पिपासुः परिसरति शिखी भ्रान्तिमद्वारि-यन्त्रम्"। माल२-१२

ये ही मयूर वर्षाकाल आने पर नवयौवन की स्फूर्ति का अनुभव करने लगते हैं। यह उनका उत्सव काल होता है। मन में रमण का औत्सुक्य जाग उठता है और वे अपने बड़े-बड़े पंख छितरा कर नाच उठते हैं। मस्ती में भरकर गाते हैं और परस्पर आलिगन में व्यस्त हो कर अन्य सब कुछभूल जाते हैं—

सदा मनोज्ञं स्वनदुत्सवोत्सुकं विकीर्ण विस्तीर्ण कलापिशोभितम्।

ससंभ्रमालिङ्गन-चुम्बनाकुलं प्रवृत्त नृत्यं कुलमद्य वर्हिणाम्।। ऋतु.२-६

जिस तरह कभी-कभी ग्रीष्म में गर्मी से त्रस्त होकर सर्प मयूरों के पंखों की छाया में बैठ जाते हैं उसी प्रकार प्रावृद् में भृं जो कमलो के चारों ओर मधुर गुनगुन किया करते थे, कमलिनी के पत्रपुष्प विहीन होजाने के कारण उसे छोड़कर नाचते हुए मोरों के पंखों पर जागिरते हैं। वे मूर्ख भ्रमवश पंखों को कमल पत्र समझ बैठते हैं—

विपत्रपुष्पां नलिनीं समुत्सुका विहाय भृङ्गाः श्रुतिहारिनिस्वनाः।

पतन्ति मूढ़ाःशिखिनां प्रनृत्यतां कलापचक्रेषु नवोत्पलाशया।। ऋतु.२-१४

और वर्षा में पर्वत का दृश्य जो अधिक मनोरम हो उठता है उसका कारण श्वत कमलों जैसे बादलों केद्वाराशिलाओं का चुम्बन करते रहना एवं झरनों का निरन्तर प्रवाहित रहना तो है ही नाचते हुए मयूरों से भरा रहना भी है—

प्रवृत्त-नृत्यैः शिखिभिः समाकुला समुत्सुकत्वं जनयन्ति भूधराः। ऋतु. २-१६

मयूर का वर्हभार सचमुच बड़ा आकर्षक होत है। कितने ही वियोगी उसमें अपनी प्रिया के केशों कीछवि पाकर धैर्यधारण करते है। भगवान् विष्णु तक कृष्णावतार में मयूर-पिच्छ धारण करते थें। कालिदास ने इन्द्रधनुष के पास से जाते हुए श्याममेघ की उपमा मयूर-वर्ह धारण किये हुए गोपवेषधारी श्याम से की है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रत्नच्छायाव्यतिकर इवप्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ताद्,

वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुष्खण्डमाखण्डलस्य।

येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापद्यते ते,

वर्हेणेवस्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः॥ मेघ.१-१५

किन्तु वियोगी यक्ष है कि उसे अपनी प्रिया की केशराशि के सामने शिखियों का वर्हभार तुच्छ दिखायी देता है-

श्यामास्वङ्गं चकित-हरिणी-प्रेक्षणेदृष्टिपातं

वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां वर्हभारेषु केशान्।

उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्,

हन्तैकस्मिन् कक्चिदपिनते चण्डि सादृश्यमस्ति॥ मेघ २-४१

रघु औरसुदक्षिणा वनमार्ग में रथ पर जाते हैं तो मयूर उनके रथ की नेमिकी मेघ· गर्जन जैसी ध्वनि सुनकर बोलने लगते हैं। कवि ने उनकी इस केका को षड्जकी संवादिनी कहा है-

मनोभिरामाः शृण्वन्तौ रथनेमिस्वनोन्मुखैः।

षड्जसंवादिनीः केका द्विधा भिन्नाःशिखण्डिभिः॥ रघुः१-३९

मयूर के पंख वाण पर लगाये जाते थे। रघु का वाण मयूर पत्री था—

जहार चान्येन मयूर-पत्रिणा शरेण शक्रस्य महाशनिध्वजम्। रघु.३-५३

दशरथ को भी रुचि कलाप वाले मयूर के बर्हभार में प्रिया के केशपाश की छवि दिखायी दी थी - केशपाश के उस रुप की जो चित्रमाल्य से अलंकृत किन्तु रतिक्रीडा से खुला, शिथिल होता है और उसने अपना सधा हुआ वाण मयूर पर से हटा लिया था-

अपि तुरग-समीपादुत्पतन्तं मयूरं न स रुचिर-कलापं वाण-लक्ष्यी चकार।
सपदिगतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे रति-विगलित-वन्धे केशपाशे प्रियायाः॥

रघु. ९-६७

ठीक यही स्थिति पुरुरवा की थी। वह भी प्रिया की केश राशि और वर्हमार में साम्य देखता है-

रति-विगलित-वन्धे केशपाशे प्रियायाः सति कुसुमसनाथे कं हरेदेष वहि।

विक्रमो. ४-१०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शरद आती है तो मयूरों के कामोन्माद का अवसान होता है। अब बारी आती है हंसों की। अब काम उनका आतिथ्यभाजन बनता है।

नृत्य-प्रयोग-रहितान् शिखिनोविहाय हंसानुपैति मदनोमधुर-प्रगीतान्

शरद् में मयूर भले शान्त हो जायँ किन्तु प्रावृट में तो हर आते मेघ का स्वागत आगे बढ़कर केका के साथ करते हैं। इसी तो यक्ष अपने सन्देशहर मेघ से उनके लिये न विलमाने की प्रार्थना करता है-

शुक्लापाङ्गैः सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केकाः

प्रत्युद्यातः कथमपि भवान् गन्तुमाशु व्यवस्येत्॥ मेघ.पूर्व.२२

तुम्हे देखकर मयूरों के नेत्र आनन्द से सजल हो जायेंगे। वे आगे आकर केका से तुम्हारा स्वागत करेंगे। फिर भी तुम रुकना मत। किसी प्रकार आगे चल देने का प्रयत्न करना और यह उत्प्रेक्षा कितनी मौलिक है-

दिन ढलने आया है। धूप रक्तिम होकर पृथिवी से विदा लेती हुई वृक्षों की फुनगियों पर जा टिकी है। सूर्य का बिम्ब पिघले हुए सुवर्ण के मण्डल सा दिखने लगा है। मयूर उड़कर वृक्ष के शिखर पर जा बैठे हैं। कालिदास सोचते हैं कि मयूर धीरे-धीरे सुवर्ण रस का पान कर रहे हैं। तभी न सूर्यमण्डल सिकुड़ता जा रहा है।

एष वृक्ष शिखरे कृतास्पदो जातरूप-रस-गौर-मण्डलम्।

हीयमानमहरत्ययातपं पीवरोरु पिवतीव वर्हिणः॥ कुमार. ८-३६

ऊपर मयूरों के नागर होने की बात कही गयी है। नगर के उपकण्ठ में तो वे रहते ही हैं, नागरिक घटनाओं से प्रभावित भी हैं। मंगलार्थ सूर्य और शङ्खवजे कि मयूर आनन्द में भरकर नाचने लगे। इन्दुमती स्वयंवर के प्रसंग में कवि ने इसकी चर्चा की है-

पुरोपकण्ठोपवनाश्रयाणां कलापिनामुद्धतनृत्य-हेतौ।

प्रध्मातशङ्खे परितो दिगन्तान् तूर्यस्वनेमूर्च्छति मङ्गलार्थे। रघु. ६-८

और जब पुष्कर या मृदङ्ग पर कोई मार्जना बजायी जाती तो मयूर आनन्द से पागल हो उठते है। मयूरों को विशेष प्रिय होने के कारण एक मार्जना का नाम ही मायूरी रख दिया गया। मायूरी मार्जना में पुष्कर के वामभाग में गान्धार, दक्षिण भाग में षड्ज और ऊर्ध्व भाग में धैवत स्वर होता है। पुष्कर की मायूरी मार्जना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का शब्द सुनकर मयूरों को बादल के गरजने का भ्रमहोता है और वे गरदन उठाकर ऊपर देखने लगते हैं-

जीमूतस्तनित विशङ्किभिर्मयूरै रुद्ग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य ।

निर्ह्लादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था मायूरी मदयति मार्जना मनांसि ।। माल.१-२१

कालिदास ने अपने इस सहचर को अनेक रुपों में देखा है । दोपहर में धूप से तंग आकर वृक्षों के तले आलवाल के पास जाकर बैठ जाते हुए, साँझ पड़ने पर अपने लिये बनायी गयी वासयष्टियों परचुपचाप बिना हिले डुले चित्रलिखित से सो जाते हुए और पुरवा हवा का संस्पर्श मिलते ही पंखों के कम्पन के साथ मेघागमन का संकेत पाकर ग्रीवा को ऊँचा उठा करकूकते हुए । सरल, स्वाभाविक ढंग से कवि ने मयूर के ये तीनों रुप चित्रित किये है । ये शब्द चित्र हैं । कोई भी कलाकार सरलता से इन्हें तूलिका के द्वारा चित्रों में बदल सकता है । चित्र है -

१. **उष्णालुः शिशिरे निषीदति तरोर्मूलालवाले शिखी ।** विक्रमो. २-२२

२. **उत्कीर्णा इव वासयष्टिषु निशा निद्रालसावर्हिणः ।** वही ३-२

३. **घर्मच्छेदात् पटुतरगिरो वन्दिनो नीलकण्ठाः ।** वही ४-४

तथा -

आलोकयति पयोदान् प्रवलपुरोवात-ताडित-शिखण्डः ।

केकागर्भेण शिखी दूरोन्नमितेन कण्ठेन ।। वही ४-८

ये तो हुईं मयूर की सामान्य लीला चेष्टायें जिन्हें कवि ने विभिन्न मुद्राओं में प्यार से निकट खड़े होकर देखा और मुगध हुआ । उसके विक्रमोर्वशीय नाटक का नायक पुरवातो उसके घने रुचिर पिच्छभार को अपनी प्रिया के पुष्प-मण्डित केशपाश का प्रतिस्पर्धी मानता है । उर्वशी के वियोग में विक्षिप्त होकर वह वन में पशुपक्षियों से उनका पता पूछता फिरता है । जब मयूर सामने आता हे तो उससे भी वही बात कहता है - “वने ऽस्मिन् वनिता त्वया दीर्घापाङ्गा सितापाङ्ग दृष्टा” ? वह भला क्या उत्तर देता ? वर्षागम था । मस्ती में नाचने लगा । पुरुरवा को उसका बिना उत्तर दिये नाचने लगना विचित्र लगा किन्तु वह समझ गया कि इसके हर्ष का प्रतिद्वन्द्वी का न होना । रतिकाल के बाद मेरी प्रिया के बिखरे केश इसके छितराये हुए पंखों के प्रतिस्पर्धी थे । वे तो अब रहे नहीं । यही कारण है इसके उन्मत्त नर्तनका । कहता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मृदुपवन-विभिन्ना मत्प्रियाया विनाशाद्घनरुचिरकलापो निः सपत्नोऽद्यजातः ।
रतिविगलित-बन्धे केशपाशे प्रियायाः सति कुसुमसनाथे किं करोत्येष ।।

वही विक्रमो. ४-१०

मयूर की केका श्रृंगार की प्रेरक है । इसीलिये वह वियोगजवेदना को द्विगुणित बनाती है । लंका से लौटते हुए राम सीता को बतलाते हैं कि किस प्रकार उनके बिना माल्यवान् पर्वत के इस श्रङ्ग पर मयूरों की स्निग्ध (स्नेहभरित)केका उन्हें असह्य हो गयी थी—

स्निग्धाश्चकेकाः शिखिनांवभूव यस्मिन्नसह्यानि बिना त्वया मे ।रघु. १३-२७

और यही केका कैसा उद्दीपन का काम करती है ? यह बात इन्दुमती स्वयंवर के प्रसंग में देखी जा सकती है जिसमें सुनन्दा इन्दुमती को शूरसेन नरेश के साथ विवाह करने की मन्त्रणा देती हुई कहती है कि यदि तुम इससे विवाह करोगी तो तुम्हें वर्षा ऋतु में जलकणों से सिञ्चित और शैलेय से सुगन्धित शिलातलों पर गोवर्धन की कन्दराओं में मयूरों का नृत्य देखने को मिलेगा । इससे मयूरों के नृत्य का कामविलास के साथ निकट सम्बन्ध स्पष्ट ही है । इसी तरह का एक चित्र कवि ने हिमालय पर भी चित्रित किया है । इन दोनों को साथ देखना सुखद होगा—

१. **अध्यास्य चाम्भः पृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिला-तलानि ।**
कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धन-कन्दरासु । रघु. ६-५१

२. **भागरथी निर्झर-सीकराणां वोढा मुहुः कम्पित-देवदारुः ।**
यद्वायुरन्विष्ट-मृगैः किरातैरासेव्यते भिन्न-शिखण्डि-वर्हः । कुमार १-१५

प्रथम में वर्ण्यस्थली गोवर्धन पर्वत है जिसकी शिलाये अम्भः के सीकरों से सिक्त हैं और शैलेय से सुगन्धित है । द्वितीय में वर्णनस्थल हिमालय है जिसकी शिलायें भागीरथी के निर्झर-सीकरों से आर्द्र औरदेवदारुओं की सुगन्ध से सुवासित हैं । मयूरों के नृत्य काआकर्षण दोनों में है, यद्यपि द्वितीय में मृग भी आकर्षण का केन्द्र है ।

हिमालय में मयूर वृक्षों की डालों पर निद्रामग्न हैं । वृक्ष पर्वत के नितम्ब भाग पर है । उनके पास ऊँची ऊँची पहाड़ियाँ, जिनमें चन्द्रकान्त मणियाँ हैं । रात्रि के समय जब चन्द्रमा उदित होता है और उसकी किरणे चन्द्रकान्तों पर पड़ती है तो वे पिघलकर बूंद बूँद टपकने लगते हैं । बूँदे मयूरों के शरीर पर पड़ती है और वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असमय यह सोचकर कि शायद ये वर्षा-बिन्दु है जाग जाते हैं । अन्य पक्षी नीड़ के भीतर सोते हैं । इसलिये उन्हें कुछ पता नहीं चलता । कालिदास नेमयूरों की इस असुविधा की कल्पना कवि समय के सहारे की है—

चन्द्रपाद-जनित-प्रवृत्तिभिश्चन्द्रकान्तजल बिन्दुभिर्गिरिः ।

मेखला-तरुषु निद्रितानमून् वोधयत्यसमये शिखण्डिनः ।। कुमार ६-६१

मयूर के माध्यम से एक बड़ी हृद्य स्थिति का चित्र कालिदास ने उकेरा है । अज अन्दुमती को लेकर अयोध्या लौट रहे थे कि मार्ग में राजन्यगण ने आघेरा । अज ने युद्ध में उन सब को परास्त किया । इससे नववधू इन्दुमती हर्षित तो हुई किन्तु फिर भी लाज के मारे उसने अज से सीधे सीधे बात नहीं की । उसे जो कहना था, सहेलियों के माध्यम से कहती रही, वैसे ही जैसे पहली वर्षा की बूँदों से भीगी वन स्थ्ली प्रसन्न होकर मेघों का अभिनन्दन तो करती है किन्तु मयूरों की केका माध्यम से । मयूरों का यह प्रणय-दौत्य कितना सहज, सुखद है—

हृष्टाऽपि साह्नी विजिता न साक्षाद् वाग्भिः सखीनां प्रियमभ्यनन्दत् ।

स्थलीनवाम्भः -पृषताभिवृष्टा मयूरकेकाभिरिवाभ्रवृन्दम् ।। रघु. ७-६८

मृग से समान मयूर भी मानव के दैनन्दिन जीवन का सहचारी रहा है । वह स्कन्द का वाहन है । इसलिये उसका महत्त्व और भी बढ़ गया है । वाहन की कल्पना के पीछे भी इस पक्षी की भव्यता कारण रही होगी । कालिदास बड़े प्यार से रघु को 'मयूर-पृष्ठाश्रयिणागुहेन' उपमेयकान्ति (-रघु.६-४-) कहते हैं । पार्वती को अपने पुत्र से इतनाप्यार है कि वह मयूरके टूटे हुए पंख को कुवलय दल के स्थान पर कान में पहनती है । कालिदास का यक्ष मेघ से यह कहना नहीं भूलता कि उज्जयिनी से दशपुर जाते समय वह देवगिरि परअवश्य रुके और इस प्रकार वहाँ गर्जन करे कि उसका स्तनित गुफाओं में प्रतिध्वनित होकर मृदङ्ग की ध्वनि का रुप ले ले जिसकी ताल पर स्कन्द का मयूर मस्ती से नाच उठे । शैव मन्दिरों में नृत्य और पटहवादन की प्रथा थी । मेघ के गर्जन से नृत्य और बाद्य दोनों की सृष्टि सहज ही हो गयी है कालिदास के शब्दों में देखिये—

ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य वर्हंभवानी,

पुत्रप्रेम्णा कुवलयदल-प्रापिकर्णे करोति ।

धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं,

पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः ।। मेघ.पूर्व.४४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मयूर पालने की प्रथा कालिदास के समय बहुत लोकप्रिय थी। पालित मयूरों को क्रीडामयूर कहते थे। अन्य सामान्य मयूर वन-वर्हीं या वन-वर्हिण कहलाते थे। पालतू मयूरों के बैठने और रात्रिशयन के लिये दो तीन लकड़ियाँ जोड़कर छोटा सा ऊँचा मञ्च बनाया जाता था जिसे वासयष्टि कहते थे। कबूतरों के लिये ऊँची वासयष्टि बनाने की प्रथा नगरों मे आज भी है। रघुवंश में अयोध्या पुरी की अधिदेवता अपनी दुरवस्था का बखान करती हुई कुश से कहती है -

वृक्षेशया यष्टि-निवास-भङ्गान्मृदङ्गशब्दापगमादलास्याः।

प्राप्ता दवोल्का हतशेषवर्हाःक्रीडामयूरा वन-वर्हिणत्वम्।। रघ. १६-१४

वासयष्टियों पर सोने वाले क्रीडामयूर अब वृक्षों पर सोने को विवश हैं। मृदङ्गों का वजना वन्द हो जाने से, अब वे लास्य भूल चुके हैं। दब और उल्का ने उनके पंख झुलसा दिये हैं। इन सब कारणों से अब वे जंगली वर्हिण बन गये हैं।

ऊपर कहा गया है कि नागरकों में मयूर पालने की प्रथा थी। वे उनके लिये अपने घर के वगीचे में वासयष्टि बनाते थे। सन्ध्या समय में पालतू मयूर वास-यष्टियों पर विश्राम करने जाते थे। विक्रमोर्वशीय में कहा है कि निद्रा से अलसायें मयूर वासयष्टियों पर ऐसे स्थिर बैठे हैं मानों वे वहाँ जड़ दिये गये हैं -

उत्कीर्णा इव वास-यष्टिषु निशा-निद्रालसा वर्हिणः। विक्रमो. २-२

घर की बड़ी कन्यायें या बहुएँ उन्हें नाचना सिखाती थीं। कालिदास ने मेघदूत में ऐसे एक कलामण्डित घर का चित्र प्रस्तुत करते हुए कहा है—

तन्मध्ये च स्फटिक-फलका काञ्चनी वासयष्टि,

र्मूलेवद्धा मणिभिरनति-प्रौढ वंश-प्रकाशैः।

तालैः शिञ्जावलय-सुभगैर्नर्तितः कान्तयामे,

यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्धः।। मेघ.उत्तर १६

मेघदूत का यक्ष मेघ को अपने घर का परिचय देता हुआ कहता है - मेरे घर के बाहरी भाग में एक क्रीडाशैल है जिसके चारों ओर कनक कदली लगी हुई हैं। वहीं पास में माधवी मण्डप है जिसके चारों और कुरवक की वाड़ है। पास ही रक्ताशोक और केसर के वृक्ष है जिनके बीच में मणिनिर्मित छोटी सी वेदिका है - कच्चे बाँस के रंग की हरी हरी मणियों से बनी वेदिका। वेदिका में सोने की यष्टि गड़ी हुई हे और यष्टि पर स्फटिक का फलक या तख्ता लगा है। यह मेरे गृह मयूर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की वास यष्टि है । दिन में मेरी पत्नी बजती हुई चूड़ियों के साथ हाथों से ताल दे देकर तुम्हारे प्यारे मित्र नील कण्ठ (मयूर) को नचाया करती है । और दिन वीतने पर वह नील कण्ठ वास यष्टि पर वसेरा ले लेता है ।

यह वर्णन अलकापुरी वासी धनिक यक्ष के घर का है । सामान्य परिवारों की वासयष्टि मामूली लकड़ी की होती होगी किन्तु दो बातें धनी और निर्धन दोनों कोटि के परिवारों में सामान्य थी । प्रस्तुत श्लोक की अन्तिम दो पंक्तियों में उसका उल्लेख है । तालैः शिञ्जावलयसुभगैः नर्तितः और नीलकण्ठः सुहृद्वः ये शब्द कवि की सहज ममता के परिचायक हैं । मयूर के प्रति सौहार्द, आत्मीयता, पारिवारिकता का भाव पति, पत्नी दोनों के मन में है । मयूर के प्रति कालिदास का यह आन्तरिक लगाव ही श्लोक में शब्दायित हुआ है । वस्तुतः यह हमारी संस्कृति का एक अंग है । यह लगाव एकपक्षीय नहीं है । मृग मयूर सव प्यार की इसे मूक वाणी को समझते हैं । तभी न वे निर्वास मन वेला में सीता के सहदुःखभागी दिखायी देते हैं - साथ साथ रोते हैं—

नृत्तं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान् विजहुर्हरिण्यः ।

तस्याः प्रपन्ने समदुःखभाव मत्यन्तमासीद् रुदितं वनेऽपि ।। रघु.१४-६९

तब स्वाभाविक ही था कि बच्चे मयूर के खिलौनों से खेलें और बचपन से उन्हें अपना मित्र मानने लगें । शकुन्तला का पुत्र सर्वदमन जब सिंह शावक को खेल में तंग करने लगता है और ऋषि कन्यायें उसे सर्वदमन के चंगुल से छुड़ाना चाहती है तो वे बदले में उसे जो क्रीडनक (खिलौना) देती हैं, वह क्रीडामयूर ही होता है । पहली तापसी दूसरी से कहती है - यह इस प्रकार बातों से नहीं मानेगा । जाओ, मेरे उटज में ऋषि कुमार मार्कण्डेय का रंग विरंगा मिट्टी का मोर रखा है, उसे ले आओ और बालक (भरत) उस खिलौने से मान जाता है - द्वितीया - "सुब्बदे । ण सक्कोएसो वा आमेत्तेण विरम इदुं । गच्छ तुमं । मम केरए उडए मक्कंडे अस्स इसि कुमार अस्स वण्णचित्तिदो मित्तिआमोरओचिदृदि । तं से उवहर ।" बालः - "इमिणा येव याव कीलिश्शं" ।

और इस सौहार्द की परिणति देखने को मिलती है पुरुरवा और उर्वशी के पुत्र आयुष के व्यवहार में । च्यवन के आश्रम में निक्षेपरुप में रखा हुआ आयुष बढ़कर युवा (कवचहर) वन जाता है तो ऋषि तापसी के साथ उसे पुरुरवा के पास भेजते हैं । मगर बालक है कि माता पिता के पास न टिक कर आश्रम को लौट जाना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहता है और जब यह संभव नहीं होता तो विदा लेती हुई तापसी से प्रार्थना करता है—

यः सुप्तवान् मदङ्के शिखण्ड-कण्डूयनोपलब्धसुखः ।

तं मे जात कलापं प्रेषय मणिकण्टकं शिखिनम् ।।विक्रमो.५-१३

देखिये आप जा रही है तो कृपा कर मेरा मणिकण्टक मोरे मेरे पास भेज देना । कितना छोटा था वह जब से मैंने उसे पाला है । मैं धीरे धीरे उसकी कलंगी के पास खुजलाया करता था तो वह आनन्द से मेरी गोदमें ही सो जाता था । अब तो उसके पंख निकल आये हैं ।

कैसी थी यह संस्कृति जिसमें चक्रवर्ती के सिंहासन पर बैठने जा रहा युवराजभी नाजुक घड़ी में भी यदि किसी पर हृदय की पूरी ममता उड़ेलना चाहता हे तो वह है उसका एक निरीह सहचर-मयूर । यह सहचर आयुष का है, भरत का है, यक्ष का है और सच कहें तो कालिदास का है । सहचर, अभिन्न सहचर ।

और अब देखियें कौन है अधिक कोमल, अधिक दयालु ? अशोक या कालिदास ?

मधुकर

मृग के बाद कालिदास की लेखनी ने जिस प्राणी का सर्वाधिक ममता के साथ स्पर्श किया है, वह है मधुकर । सौरभ और सौन्दर्य का गायक मधुकर भावना की दृष्टि से कवि के बहुत समीप है । दोनों गायक हैं, दोनों मधुलोलुप है, दोनों स्नेही और स्नेह के लिये सब कुछ बलि पर चढ़ाने को आतुर। मधुप का सारा व्यापार-व्यवहार प्रेमीजन का है । यहाँ तक कि कई बार इसी कारण उसे कवि का ईर्ष्या भाजन बनना पड़ा है । वर्षा हो या वसन्त, दिन हो या रात, नगर हो या वन कवि से उसका निरन्तर साहचर्य है । नलिनी भृङ्ग का सर्वाधिक प्रिय आवास है । वसन्त आता है तो हर वापी तडाग में कमल लहराने लगते हैं[१] भ्रमरमत्त होकर उन पर गाते हैं । वासन्तिक मद उन्हें भी कामविद्ध करता है औरवे अपनी प्रिया मधुकरी को मनाने में लग जाते हैं—

कूजन्द्विरेफोऽप्ययमम्वुजस्थः प्रियं प्रियायाः प्रकरोतिचाटु । ऋतु. ६-१६

कालिदास ने वसन्त को 'मत्तद्विरेफस्वनः' (ऋतु. ६-३६)और चारों ओर विविध मधुप समूहों से घिरा हुआ कहा है - विविधमधुपयूथैर्वेष्ट्यमानः समन्ताद्
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ऋतु ६-३६) । वसन्त यदि योद्धा है—जन जन के मन को जीतकर वश में कर लेने वाला योद्धा, तो मधुकर-माला उसके धनुष की प्रत्यञ्चा—

द्विरेफ माला विलसद्धनुर्गुणः वसन्त योद्धा समुपागतः प्रिये। (ऋतु ६-१)

और वर्षाकाल में जब नलिनी पत्रपुष्पविहीन हो जाती है तो उनके होश हवास उड़ जाते हैं और वे पगलाये से नये उत्पल पत्र के भ्रम में नाचते हुए मयूरों के पंखों तले बैठकर गुनगुनाने लगते हैं । गुंजन उनका तब भी कर्णप्रिय होता है—

विपत्रपुष्पांनलिनीं समुत्सुका विहाय भृङ्गाः श्रुतहारिनिःस्वनाः ।

पतन्ति मूढाः शिखिनां प्रनृत्यतां कलापचक्रेषुनवोत्पलाशया। ऋतु. २-१४

कालिदास बिना मधुकर के पद्म की कल्पना नहीं कर पाते । पार्वती के मुख सौन्दर्य की चर्चा करते समय यदि उन्हें पद्म का स्मरण आता है तो भ्रमर मण्डित पद्म का ही जो मुख पर केश राशि केसमान पद्म पर पक्तिबद्ध होकर मंडराते हैं—

लग्नद्विरेफं परिभूय पद्मं. . .तदाननश्री रलकेः प्रसिद्धैः। कुमार ७-१६

यह बात दूसरी है कि कमल भ्रमर श्रेणि से आवेष्टित हो या शैवाल से, लगता वह सदा ही सुन्दर है जैसे ऊपर चर्चित पार्वती का मुख केश राशि हो या जटायें, शोभित दोनों से ही होता है न षट्पद श्रेणिभिरेव पड्कजं सशैवलासड्गमपिप्रकाशते । कुमार. ५-८

बसन्त और भृङ्ग सहचारी है । उन्हीं के सहारे तो मनस्विनियों के हृदय जीते जाते हैं । वे ही तो काम के रसायन है और उन्हीं के सहारे तो शृङ्गारदीक्षागुरु वसन्त प्रेमियों को मंगलादेश करता है—

१. आकम्पितानि हृदयानि मनस्विनीनां. . श्रोत्रप्रियैर्मधुकरस्य चगीतिनादैः।

ऋतु ६-३४

२. मत्तालियूथ-विरुतं निशि शीधुपानं सर्वंरसायन मिदं कुसुमायुधस्य।

वही ६-३५

३. मधुर्मत्तद्विरेफस्वनः. . . दिशतुवः पुष्पासवो मंगलम्। वही ३६

यह इसलिये भी कि वे दीर्घकटाक्षों का स्मरण दिलाते हैं - उनके उपमानभी हैं ।

आमोक्ष्यन्तेत्वयि मधुकर-श्रेणिदीर्घान् कटाक्षान् । मेघ १-३५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पद्म तो है ही अन्य भी कोइ सुगन्धित पुष्प हो तो भ्रमर वहाँ जायेंगे ही। कालिदास ने दशपुर की वधुओं की साभिलाष उन्नमित दृष्टि की उपमा कुन्दपुष्पों के इधर उधर घूमने के साथ उनका अनुगमन करने वाले मधुपों से दी है। मेघ दशपुर के ऊपर से गुजरता है। वधुयें उत्सुकतापूर्वक उसे देखती हैं। उनकी दृष्टि मेघ की गति के अनुसार दायें बायें हिलती है। उन्नमित तो वह है ही। पलक उपर उठे हैं। काली पुतली मेघ केसाथ स्पन्दित होती है। आँख का श्वेत भाग नीचे दब गया है ठीक ऐसे ही जैसे कुन्द के पुष्प कीसफेद ऊपर उठी हुई पंखुड़ियाँ वायु के वेग से इधर उधर हिलती है तो काले मधुप उनके साथ ही उड़ते है और उन्हें परिवेष्टित किये रहते हैं। यहाँ मधुपों की आसक्ति कुन्द के प्रति है—

कुन्दक्षेपानुगमधुकर-श्रीमुषामात्मविम्बं,

पात्रीकुर्वन्दशपुरवधू नेत्र कौतूहलानाम्। मेघ १-४१

अलका में काम को भ्रमरों की आवश्ययकता नहीं होती। समीपस्थशिवके भय से वह धनुष नहीं चढ़ाता जिसकी प्रत्यञ्चा का काम भ्रमर देते हैं। वहाँ उसका काम चतुरवनिताओं के भ्रूचाप से छूटे कटाक्षशरों और विभ्रमों से ही चल जाता है—

मत्वादेवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद् वसन्तं,

प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम्। मेघ २-१०

नलिन से भी अधिक प्यार है भ्रमर को सहकार मंजरी से। वसन्त में भाँति भाँति के फूल खिलते हैं किन्तु भ्रमर अधिकतर आम्र पर ही मँडराते हैं—

अनन्त-पुष्पस्य मधोर्हिचूते द्विरेफमाला सविशेष-संगा। कुमार १-२६

बड़ी सुन्दर उत्प्रेक्षा की है कवि ने आम्रप्रवालों पर भ्रमरों के बैठने की। जैसे कोई धानुष्क शिल्पी से वाण बनवाता है, उसमें रंगीन पत्र लगवाता है और फिर काली स्याही से पत्र पर अपना नाम लिखवा देता है जिससे कहीं भी वाण को पहचाना जा सके। ऐसे ही मधु ने काम के लिये आम्रमंजरी को वाण बनाया। उसमें नये प्रवाल का पुड्ख लगाया और भ्रमरों के रुप में मनोभव काम का नाम उस पर अंकित कर दिया।

सद्यः प्रवालोद्गम-चारुपत्रे नीते समाप्तिं नवचूतवाणे।

निवेशयामास मधुर्द्विरेफान् नामाक्षराणीव मनोभवस्य॥ कुमार ३-२६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काम की मैत्री अपने प्रत्यंचाभूत भ्रमरों से स्वाभविक है। इसीलिये तो वे कामदहन पर रति के साथ अनुरोदन करते से लगते हैं। रति कहती है—

अलिपङ्क्तिरनेकशस्त्वया गुणकृत्ये धनुषो नियोजिता।

विरुतैः करुणस्वनैरियं गुरु-शोकामनुरोदतीव माम्॥ कुमार. ४-१५

भ्रमर की प्रीति को जड़ होकर भी कमल समझता है। तभी तो सन्ध्या के समय वह अपने पुष्प को बन्द करने पर भी उसे थोड़ा सा खुला रहने देता है। सोचता है कि शायद भ्रमर वसेरा लेने के लिये कुछ विलम्ब से आये तो भी मैं उसे प्रवेश दे दूँ। जैसे परिवार का कोई सदस्य यदि देर से आने वाला होता है तो हम मुख्य द्वार बन्द करके पास की खिड़की थोड़ी देर तक खुली रखते हैं, वैसे ही। कैसी रमणीय कल्पना है—

बद्धकोशमपि तिष्ठतिक्षणं सावशेषविवरं कुशेशयम्।

षट्पदाय वसतिं ग्रहीष्यते प्रीति-पूर्वमिवदातुमन्तरम्॥ कुमार. ८-३८

ऐसी ही एक अन्य उत्प्रेक्षा षट्पद को लेकर कविने प्रस्तुत की है। कुमुद है जो चन्द्रोरदय के साथ खिलता है। तब षट्पद मौन हो जाते है और कुमुद की पंखुड़ियाँ डंठल से लेकर ऊपर तक बिखर जाती है। कवि की दृष्टि में यह चन्द्रिका के रस को आवश्ययकता से अधिक मात्रा में पी जाने के कारण हुआ है। कोई भी व्यक्ति यदि अधिक मद्य पी लेता है तो उसका उदर विद्रोह कर बैठता है औरवमन के द्वारा वह अतिरिक्त मात्रा को बाहर निकाल फेंकता है। तब नाभि से लेकर मुख तकउसकीं नसें फैल जाती है और वाणी मूक हो जाती है। प्रस्तुत प्रसंग में प्रतिपाद्य केवल इतना है कि रात्रि वेला में कुमुदों के खिलने परभृंगगुंजार नहीं करते।

गर्भवती स्त्री के स्तन-परिणाह में वृद्धि हो जाती है और उनका अग्रभाग अधिक काला पड़ जाता है। कालिदास को उसमें ऐसे पंकज कोश की छवि दिखायी देती है जिसके ऊपर भ्रमर बैठा हुआ है। यह इस तथ्य का पोषक है कालिदास सौन्दर्य श्री का दर्शन प्रायेणभ्रमर की पृष्ठभूमि में करते हैं—

दिनेषुगच्छत्सु नितान्तपीवरंतदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम्।

तिरश्चकार भ्रमराभिलीनयोः सुजातयोः पङ्कजकोशयोः श्रियम्॥ कुमार.३-८

पद्म और सहकार के साथ मदवान् गज की कनपटी भी भ्रमरों के आकर्षण का केन्द्र होती है। दिग्विजय के प्रसंग में जब रघु की सेना के हाथी खजूरों की जड़ों से बाँध दिये गये तो सुपारी के वृक्षों पर बैठे हुए भ्रमर उड़कर हाथियों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कपोलों पर बैठ गये क्योंकि उनकी कनपटी से झरने वाले मद की गन्ध का आमंत्रण वे अस्वीकार नहीं कर सके—

खर्जूरीस्कन्धनद्धानां मदोद्गार-सुगन्धिषु ।

कटेषु करिणां पेतुः पुन्नागेभ्यः शिलीमुखाः ।। रघु. ४-५१

एक अन्य स्थान पर भी कवि ने मदजल के लालायित भ्रमरों को नदी की धारा के ऊपर उड़ते बतलाया है । मदवान् हाथी स्नान के लिये जल में डुबकी लगाये हो । उस का मदवारि पानी से घुल गया है और उसकी सुगन्ध से आकृष्ट भ्रमर जल के ऊपर चक्कर लगा रहे हैं—

अथोपरिष्टाद् भ्रमरैर्भ्रमद्भिः प्राक्सूचितान्तः-सलिल-प्रवेशः ।

निर्धौत-दानामलगण्ड-भित्तिर्वन्यः सरित्तो गज उन्ममज्ज ।। रघु ५-४३

कालिदास के काव्य में पद्म और सहकारयदि मिलेंगे तो भ्रमर के साथ ।भ्रमर युक्त पद्म का उपयोग कालीपुतली सहित नेत्र के साम्य के लिये भी हुआ है । जैसे रघुवंश में—

तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत् सद्यः परस्पर-तुलामधिरोहतांद्वे ।

प्रस्पन्दमानपरुषेतर-तारमन्तश्चक्षुस्तव प्रचलित-भ्रमरञ्च पद्मम् ।। रघु ५-६८

औरयदि कोई लीलापूर्वक अरविन्द को इधर उधर घुमाता है तो उसके इर्द गिर्द घूमते हुए परागलोलुप भ्रमरों को चोट पहुँचा कर ही । इन्दुमती के स्वयंवर का एक दृश्य लें—

कश्चित् कराभ्यामुपगूढनालमालोलपत्राभिहत-द्विरेफम् ।

रजोभिरन्तः -परिवेष-बन्धिलीलारबिन्दं भ्रमयायांचकार ।। रघु. ६-१३

अलकयुक्त मुख भ्रमर सहित पद्म का उपमेय रहा है । अलकों को कवि ने भृंगरुक् कहा है-चलयन् भृङ्गरुचस्तवालकान् (रघु.८-५३) और सालक मुख यदि मौन हो-निमिषितनयन, तो यही कहा जायगा कि रात्रि वेला में सोये हुये कमल के भीतर भ्रमर भी एकान्त मौन साधे विश्राम कर रहा है । अज अपनी मृतप्रिया को लक्ष्य कर कह रहा है—

इदमुच्छ्वसितालकं मुखं तव विश्रान्तकथं दुनोति माम् ।

निशिसुप्तमिवैक पङ्कजं विरताभ्यन्तर-षट्पदस्वनम् ।। रघु. ८-५५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भ्रमरों का स्वभाव कुसुम रेणु के पीछे भागने का है । वसन्त में तो यह दृश्य कहींभी देखा जा सकता है - "कुसुम-केसररेणुमलिब्रजाः सपवनोपवनोत्थित मन्वयुः" रघु. ९-४५

वसन्त आता है तो कर्ण प्रिय भ्रमर- गीति लिये—"श्रुतिसुख-भ्रमर-स्वन-गीतयः" रघु. ९-३५

तिलक वृक्ष भी वसन्त मेंफूलता है । वनस्थली मेंउसका स्थान वही है जो प्रमदा के शरीर में बिन्दी का । तिलक के फलों के गुच्छों पर अंजन की बूँदों जैसे भ्रमर समूह में आ बैठते है । इस शोभा का वर्णन करता हुआ कवि रघुवंश में कहता है—

अलिभिरञ्जन-बिन्दुमनोहरैः कुसुम- पङ्क्ति- निपातिभिरङ्कितः ।

न खलु शोभयति स्म वनस्थलीं न तिलकस्तिलकः प्रमदामिव ।। रघु. ९-४१

और जब सन्ध्या के समय फूलने वाली मल्लिका खिलती है तो भ्रमर उसकी विकासोन्मुख कलियों में से प्रत्येक पर जाजाकर बैठता है मानों वह उनकी गिनती करना चाहता हो । भ्रमर की यह सहज प्रवृत्ति है कि वह थोड़ी थोड़ी देर प्रत्येक फूल पर जाटिकता है देखिये—

वनेषु सायन्तन-मल्लिकानां विजृम्भणोद्गन्धिषु कुड्मलेषु ।

प्रत्येक-निक्षिप्तपदः सशब्दं संख्यामिवैषां भ्रमरश्चकार ।। रघु. १६-४१

मल्लिका भ्रमर के परिभोग से गौरवान्वित है तो तिलक भ्रमरों का काजल ही आंखों में आँजे है । पंक्तियाँ बनाकर पुष्प केनीचे भाग पर बैठे वे अञ्चन से ही तो लगते हैं—

आक्रान्ता तिलक-क्रिया च तिलकैर्लग्नद्विरेफाञ्जनैः । मालविका. ३-५

और अतिमुक्त लताओं के मण्डप में जो ये बहुत से पुष्प टूट कर गिर गये हैं उनका दायित्व् भी तो भ्रमरों पर हीहैं । नन्हें नन्हें कोमल डंठलों पर टिके अतिमुक्त फूल भला एक साथ टूट पड़ने वाले ढेर के ढेर भ्रमरों का भार कैसे सह सकते थे—

विदू.—भो एसो क्खु...अदिमुत्तलदामंडवों भमर संघट्ट पडिदेहिं कुसुमेहिं सज्यं वि अकिदोबआरोभवंतं पडिच्छदि । विक्रमों. २-७

यो तो भ्रमरों को कर्णिकार से विशेष स्नेह नहीं होता फिर भी दोपहर के समय जब धूप तेज हो जाती है तो वेधूप से बचने के लिये कर्णिकार का आश्रय लेते हैं—"निर्भिद्योपरि कर्णिकार मुकुलान्यालीयते षट्पदः" विक्रमो. २-२२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिरीष के कुसुम बहुत कोमल होतेहै । स्त्रियाँ बड़ी कोमलता के साथ सम्हल सम्हल कर आभूषण के रुप में उन्हें पहनती हैं । भ्रमर भी कुछ कम समझदार नहीं होते । वेउनके केसरों के अग्रभाग की सुकुमारता से परिचित होते हैं । इसीलिये वे उनका निविड चुम्बन नहीं लेते । बहुत धीरेधीरे थोड़ा-थोड़ा करके उनके मधु का पान करते हैं—

ईसीसिचुंविआइं भमरेहिं सुउमार केसरसिहाइं।

ओंदसयंति दअमाणा पमदाओ सिरीस कुसुमाइं॥ अभि १-४

भ्रमर के द्वारा कुसुम के रस का सदयतापूर्वक पान करने की बात शाकुन्तल में अन्यत्र भी कही गयी है । इसी से शिक्षा ग्रहण कर दुष्यन्त भी शकुन्तला का अधर पान अत्यन्त सदयभाव से करना चाहता है-

अपरिक्षत-कोमलस्य यावत् कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन।

अधरस्य पिपासता मया ते सदयं सुन्दरि गृह्यते रसोऽस्य॥ शाकु.३-२१

सामान्यतया भ्रमर की प्रीति पुण्डरीक के ही साथ प्रसिद्ध है और विक्रमोर्वशीय मेंविलाप करता हुआ पुरुरवा भी अपनी प्रिया का पता पुण्डरीक पर ही बैठे हुए भ्रमर से पूछता है और कहता है- नहीं, नहीं- तुमने उसे नहीं देखा । यदि तुम्हें उसके मुखा की सुरभि गन्ध मिली होती तो भला तुम इस पुण्डरीक से प्रीति करते ।

पुरुरवा: भवतु.. .अस्मिन्नपि कमल सेविनि मधुकरे प्रणयं करिष्ये ।

यदि सुरभिमवाप्स्यस्तन्मुखोच्छ्वास- गन्धं,

तव रतिरभविष्यत् पुण्डरीके किमस्मिन? विक्रमो. ४-२२

गन्ध की सूचना मिली कि भ्रमर उधर उड़ चले । अनसूया सीता को जो पुण्य गन्धवान् अंगराग देती है उसकी सुरभि कानन केभ्रमरों को विचलितकर देती है औरवे पुष्पों कोछोड़कर उस दिशा में जाने के लिये व्यग्र हो उठते हैं—

अनुसूयातिसृष्टेन पुण्यगन्धेन काननम्।

सा चकाराङ्गरागेन पुष्पोच्चलितषट्पदम्॥ रघु.१२-२६

बारण के मद के प्रति भी भ्रमर की आसक्ति का उल्लेख ऊपर हुआ है । उसकीदोनों कनपटियों से मद झरता है तो भ्रमरी दोनों पर बारी बारी से बैठती और दोनों के प्रति प्रणय प्रदर्शित करती है । कवि ने इसस्थिति का उपयोग कैकेयी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

औरसुमित्रा (दोनों सपत्नियों) के प्रति कोसल्या की प्रीति की अभिव्यक्ति के लिये किया है—

साहि प्रणयवत्यासीत् सपत्न्योरुभयोरपि।

भ्रमरी वारणस्येव मदनिस्यन्दरेखयोः ॥ रघु. १०-५१

इतना होने पर भी भ्रमर को सर्वाधिकआकर्षित करता है रसाल ही। आम्रमंजरी की गन्ध मिली कि वह सब छोडकर उसी के पास पहुँचेगा। उसी में उसे पूरी तृप्ति मिलती है।

नहि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदाली। रघु. ६-७८

रस पीकर मतभ्रमरों का गुंजन जिसने सुना है वह जानता है कि किस प्रकारगुंजन मेंवे पूरी आत्मा निकला कर रख देते हैं और कैसा कल मधुर होता है उनका शब्द ? तभी न सूत्रधार आकाश में शब्द सुनकर यह निश्चय नहीं कर पाता कि यह देवनारियों के गान का स्वर है या कोकिल का विरुत है अथवा कुसुम रस से छके हुए भ्रमरों का नाद है।

मत्तानां कुसुमरसेन षट्पदानां शब्दोऽयं, परभृत-नाद एष धीरः।

आकाशे सुरगण-सेविते समन्तात् किं नार्यः कलमधुराक्षरंप्रगीताः। विक्रमो.१-४

कभी-कभी सुगन्धित निःश्वास वालीकामिनी कीगन्धसे आकृष्ट होकर वे उसके रक्त अधरों तक पहुँच जाते औरउसके ईर्द गिर्द चक्कर काटने लगते हैं अधर को पुष्प समझकर। यहस्थिति उस स्त्री के लिए बड़ी उद्वेगकरहीहोती है। कुमारसंभव मेंउमा भी इसी संकट में फँस गयी है और वह घबरायी चंचल दृष्टि लिये अपने लीलारविन्द से भ्रमर को दूर हटा रही है—

सुगन्धि-निःश्वास-विवृद्धतृष्णं विम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम्।

प्रतिक्षणं संभ्रमलोलदृष्टि लीलारविन्देन निवारयन्ती॥ कुमार. ३-५३

उसकी यह क्रिया कभी भी प्रेमातिरेकसे पीडित प्रणयी के मन में ईष्या को भी जन्मदेती है। कभी वह उसे अपनी अपेक्षा अधिक धन्य समझता है। जैसे शाकुन्तल में दुष्यन्त देखता है कि भ्रमर कभीतो शकुन्तला के चंचल कातर नयनों के पास चक्कर लगा रहा है तो कभी परमविश्वासपात्र मित्र की तरहउसके कानों के पास कुछ गुनगुनाता है और कभी हाथ मार मार भगाने पर भी ढीठ की तरह उसके अधर का पान कर लेताहै—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चलापाङ्गांदृष्टिं स्पृशति बहुशो वेपथुमथीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वन्त्याः पिवसि रति-सर्वस्वमधरं,
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर! हतास्त्वं खलुकृती॥ शाकु.१-२९

दुष्यन्त शकुन्तला का चित्र बनाता है तो उसे इसी दृश्य की पृष्ठभूमि में अंकित करता है। किन्तु भूलजाता है कि यह चित्र इतना सजीव लगता हैकि इसके चित्रित भ्रमर के अवास्तव होने की ओर ध्यान ही नहीं जाता। तभी तो विदूषक बोलउठताहै कि यह पुष्पों कारस चुराने वाला नीच भ्रमर शकुन्तला केमुख का अभिलङ्घन कररहा है- एषदास्याः पुत्रः कुसुम-रस-पाटच्चरः तत्रभवत्या वदन मभिलङ्घति मधुकरः। और कहता है कि यह मेरा शासन नहीं मानता। राजशासन न मानने वाले को दण्ड देना राजा का कर्तव्य है और धर्मशास्त्र के अनुसार जैसा अपराध वैसा दण्ड। वह भ्रमर से कहता है कि देखा-मेरी प्रिया का अधर अति मृदुल वाल-पल्लव के समान आकर्षक है। मैंने केवल रमणबेला में इस अधर का पान किया है और वह भी बड़ी सदयता से-इसे किसी प्रकार की पीड़ा न पहुँचातेहुए। अब यदि तूइसके विम्वासदृश अधर का स्पर्श करेगा तो तुझे मैं कमल पुष्प की कारा में बन्द कर दूँगा। कैसी अनुपम चुनी है राजा ने इस शासनातिक्रम के अपराधी केलिये। है न जैसा अपराध वैसा दण्ड!

आक्लिष्ट-बालतरु-पल्लव-लोभनीयं,
पीतंमया सदयमेव रतोत्सवेषु।
विम्बाधरं स्पृशसि चेद् भ्रमर प्रियाया
स्त्वांकारयामि कमलोदर-वन्धनस्थम्॥ शकु. ६-२०

भ्रमर बड़ा कोमलमना प्रणयी होता है। भ्रमर और भ्रमरी के परस्पर प्रेम का अंकन कालिदास की लेखनी ने बड़ी ममता से किया है। प्रभात वेला है। दोनों प्रणयी रात भर पंकज कोश में बन्द रहने के बाद आये हैं। भ्रमर पहले नवविकसित कुसुम पर आ बैठा है। उसके ओष्ठ पिपासा से सूख रहे है। सामने पुष्प की पंखुडी की कटोरी में मधु की बूँदें है। मगर वह उसे पीता नहीं, जब तक उसकी प्रिया भ्रमरी नहीं आ जाती और जब आ जाती है तो वह पहली चुस्की लेने केलिये प्रिया को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आमन्त्रित करता है औरउसके द्वारा पिआ घूँट पी लिये जाने के बाद दोनों उस एक ही पात्र में साथ साथ मधुपान करते हैं—

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियांस्वामनुवर्तमानः ।कुमार ३-३६

और यही काम मधुकरी भी करती है । प्यासी है पर पीती नहीं । प्रिय के आने की प्रतीक्षा करती है—

एषा कुसुमनिषण्णा तृषितापिसती भवन्तमनुरक्तता ।

प्रतिपालयति मधुकरी नखलु मधु त्वया विना पिवति ।। शाकु. ६-१८

कैसी कोमलता के साथ कवि ने मधुकर कीभावनाओं को वाणी दी है । राजा उसे भवान् कह सम्बोधित करता है ।

क्या अब भी किसी के मन में सन्देह रह जायगा कि मधुकर कालिदास काअभिन्न-हृदय सहचर है ।

मराल

सौन्दर्य प्रेमी होने के कारण कालिदास की दृष्टि मराल या हंस की ओर बार बार गयी है । हंस पालतू पक्षी नहीं है । इसलिये उसके प्रति मृग और मयूर के समान ममता की अभिव्यक्ति काउनकी कृतियों में न मिलना स्वाभविक है किन्तु उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होना, उसे देखकर उल्लसित होना आदि उनमें यथा प्रसंग बराबर प्राप्त होता है । युवतियों के लाक्षारसरंजित चरणों में बजते हुए नूपुरों की ध्वनि उन्हें हंस का स्मरण दिला देने के लिये पर्याप्त है । उन्हें लगता है कि नूपुर हंस की बोली का अनुकरण कर रहे हैं—

नितान्तलाक्षारस-रागरञ्जितैनितम्बिनीनां चरणैः सनूपुरैः ।

पदे पदे हंसरुतानुकारिभिर्जनस्य चित्तंक्रियते समन्मथम् ।। ऋतु.१-५

श्लोक में 'पदे पदे' पद का रस विदग्धों के ही द्वारा ही अनुभाव्य है ।

शरद आती है तो सर्वत्र धवलिमा बिखेरती हुई -काशों की फूलों की चादर ओढ़े, ज्योत्स्ना में नहायी हुई, कुमुदों से अलंकृत, सप्तच्छद के पुष्पों का गुच्छा लिये । जब वह शुभ्रजल के मुकुर में अपनी रुपराशि का प्रतिबिम्ब देखने को आगे बढ़ती है तो नदियों, सरसियों और तडागों के किनारे बैठे हुए हंसों के नाद के रुप में उसके नूपुर बजते हैं । ऐसी है परिपक्व शालि के रम्यगात्र वाली यह शरद्वधू-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शरद आती है तो सर्वत्र धवलिमा बिखेरती हुई -काशों की फूलों की चादर ओढ़े, ज्योत्स्ना में नहायी हुई, कुमुदों से अलंकृत, सप्तच्छद के पुष्पों का गुच्छा लिये। जब वह शुभ्रजल के मुकुर में अपनी रुपराशि का प्रतिबिम्ब देखने को आगे बढ़ती है तो नदियों, सरसियों और तडागों के किनारे बैठे हुए हंसों के नाद के रुप में उसके नूपुर बजते हैं। ऐसी है परिपक्व शालि के रम्यगात्र वाली यह शरद्वधू-

काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा..आपक्वशालिरुचिराननगात्रयष्टिः।

तथा—

काशैर्मही शिशिर दीधितिना रजन्यो हंसैर्जलानिसरितां कुमुदैः सरांसि।

सप्तच्छदैः कुसुम-भारनतैर्वनान्ताः शुक्लीकृतान्युपवनानि च मालतीभिः॥

वही ३-२

वर्षा में मयूर मदन के वाहन थे तो शरद् में हंस उसके उपकरण है - कामोपक है—

नृत्य- प्रयोग-रहिताम् शिखिनोविहाय हंसानुपैति मदनोमधुर-प्रगीतान्।

वही १३

हंस मधुर-प्रगीत हैं। मयूर नर्तक तो मराल गायक। गाँवों के सीमान्तरों को प्रतिनादित करते हुए मराल शरद् में लोगों का मन काम से भरदेते हैं। जिन लोगों ने वस्ती से दूर नदियों के वालुमय तटों पर शरद् की प्रभातवेला या सन्ध्या को हंसों और वलाका के समूह को विचरण करते देखा है, वे कवि की इन पक्तियों का रस ले सकते है—

हंसैः ससारसकुलैः प्रतिनादितानि सीमान्तराणि जनयन्तिनृणां प्रमोदम्।

वही १६

मरालों का रव तो नूपुरनाद जैसा है ही, उनकी चाल अंगनाओं से भी अधिक मनोहर है। नीलकमल उनके नेत्रों को, तरंगें भ्रूमगों को और विकसित अम्भोरुह उनकी मुखकान्ति को जीत कर प्रसन्न हैं-

हंसैर्जिता सुललिता गतिरङ्गनानामम्भोरुहैर्विकसितै र्मुख-चन्द्र-कान्तिः।

नीलोत्पलैर्मदकलानि विलोचनानिभ्रूविभ्रमाश्च रुचिरास्तनुभिस्तरङ्गैः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar वहीं १६

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'हेमन्त आया कि नारियों ने काञ्ची और नूपुर से स्वयं को सजाना छोड दिया।' इस बात की चर्चा करते हुए भी कालिदास का ध्यान हंसों की ओर जाता है। वह नूपुरों का नाम हंसों को याद किये बिना नहीं लेते-

काञ्ची-गुणैः काञ्चनरत्नचित्रैर्नोभूषयन्ति प्रमदा नितम्वान्।

न नूपुरै र्हंसरुतंभजद्भिः पादाम्बुजान्यम्बुज-कान्तिभाञ्जि।। वही ४-४

शरद् जाती है तो अपनी प्यारी सौन्दर्य निधि को भिन्न भिन्न विश्वस्त स्थानों में निक्षिप्त कर जाती है। जैसे शशाङ्क शोभा को स्त्रियों के वदन में, वन्धूकों की कान्ति को उनके अधरों में और मनोरम हंस-वचन को उनके मणिमय नूपुरों में निक्षिप्त करके वह कहीं चल देती है। कालिदास कहते हैं-

स्त्रीणां विहाय वदनेषु शशाङ्क-लक्ष्मीं

काम्यं च हंसवचनं मणि-नूपुरेषु।

वन्धूककान्तिमधरेषुमनोहरेषु

क्वापि प्रयाति सुभगा शरदागम-श्रीः।। वहीं ३-२६

इसीलिये जब वियोगी पथिक की दृष्टि उत्पलों परपड़ती है तो उसे अपनी प्रिया के कजरारे नयनों का स्मरण हो आता है, बन्धुजीवों को देखता है तो अधरों की स्मृति जाग उठती है और जब आनन्द मग्न मरालों की कनकन उसके कानों में पड़ती है तो लगता है जैसे प्रिया की कनक-काञ्ची क्वणित हो रही है और वह भ्रान्त मना होकर रोने लगता है—

असित-नयन-लक्ष्मीं लक्षयित्वोत्पलेषु

क्वणित कनक-काञ्चीं मच हंस-स्वनेषु।

अधर-रुचिर-शोभां बन्धुजीवे प्रियायाः

पथिक जन इदानीं रोदितिभ्रान्तचित्तः।। वही ३-२६

ऊपर की चर्चा से यह बात स्पष समझी जासकती है कि कालिदास नूपुर और काञ्ची के रसित के प्रसंग में हंस का अवश्य स्मरण कहते हैं। वह इस तथ्य से भी सुपरिचित हैं कि वर्षाकाल में हंस मैदानी क्षेत्र छोड़कर हिमालय की ओर चले जाते हैं। मेघ गर्जन का प्रभाव पृथिवी पर यह पड़ता है कि उसमें भावी सस्यसंपन्नता की सूचक कन्दली फूट पड़ती हैं और हंसों पर यह कि वे, मुंह में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मृणाल कवल दबा कर कैलास की ओर उड़ चलते हैं- हंसों की इस स्थिति को लगता है, कालिदास ने स्वयं देखा है । उनका यक्ष मेघ से कहता है

कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवन्ध्यां,

तच्छ्रुत्वा ते श्रवण-सुभगं गर्जितं मानसोत्काः ।

आकैलासाद् विसकिसलयच्छेद-पाथेयवन्तः,

संपत्स्यन्ते नभसिभवतो राजहंसाः सहायाः ॥ मेघ.पू. ११

यहाँ कालिदास ने राजहंसों की बात कही है जिनका सारा शरीर तो अन्य सामान्य हंसों के समान श्वेतवर्ण होता है किन्तु चोंच और चरण लाल होते हैं। दशार्ण के प्रसंग में कालिदास ने प्रकारान्तर से यह बात दोहरायी है कि मेघागमन से बनान्त काले काले पके जामुनों से भर जायँगे किन्तु उसके प्रभाव से नदी, तडाग धवल हंसों से रिक्त होने लगेंगे ।

श्यामता और शुक्लता का यह विरोध मन्दाक्रान्ता में कैसा भला लगता है—

त्वय्यासन्ने परिणतफल श्यामजम्बूवनान्ताः

संपत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थापि हंसा दशार्णाः ॥ पू. मेघ.२३

जिस मार्ग से हंस मानस सरोवर को जाते थे उसका नाम ही कभभ् हंस द्वार पड़ गया था । इसे क्रौञ्चद्वार भी कहते थे । इससे इतना स्पष्ट है कि कालिदास ने प्रस्तुत वर्णन जनश्रुति के, आधार पर किया है । उत्तर मेघ में इस विश्वास को कवि ने फिर दोहराया है । अलका में यक्ष के घर में एक सुन्दर वापी है जिसकी सीढ़ियां मरकत की शिलाओं से बनायी हुई है । उसमें स्वर्णिम कमल खिले रहते हैं । जिनके नाल वैदूर्य मणि के रंग के हैं । उस वापी के किनारे हंसों का निवास है । वे हंस उस वापी में इतने सुखी हैं कि वर्षा ऋतु में भी वेउसे छोड़ कर मानससर को नहीं जाते । कैसा भव्य चित्र है यह ।

वापी चास्मिन्-मरकत-शिला-बद्ध सोपान-मार्गा,

हेमैश्छन्ना विकचकमलैः स्निग्ध-वैदूर्य-नालैः ।

यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं संनिकृष्टं,

नाध्यस्यन्ति व्यपगत-शुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसा ॥ उ. मेघ.१३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हंस द्वार कहाँ है और हंस वर्षर्तु में मैदानी स्थल को छोड़कर मानस सरको क्यों चले जाते हैं, चले भी जाते हैं या नहीं, यह यहाँ हमारे विचार का विषय नहीं है । हमारा उदेश्यतो हंसों के प्रति कालिदास के आत्मीयभाव की ओर आप का ध्यान आकृष्ट करना है । वैसे ऊपर के श्लोक में व्यपगतशुच: इस बात की ओर संकेत अवश्य करता है कि खुले मैदानी क्षेत्रों की वर्षा हंसों के लिये कष्ट कर होती है । कष्टकर इसलिये कि वर्षा में कमल पत्रपुष्पहीन हो जाते है और कमल ही हंसों के आश्रय होते है । वर्षा बीतते ही वे फिर पर्वत से नीचे आ जाते हैं । कालिदास पार्वती के विद्याग्रहण प्रसंग में उपमा के द्वारा इस तथ्य को व्यक्त करते हैं—

तां हंसमाला: शरदीवगङ्गां महौषधिं नक्तमिवावभासः ।

स्थिरोपदेशामुपदेश काले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्म-विद्याः ।। कुमार १-३०

पार्वती स्थिरोपदेशा है । इसलिये पढ़ाते ही पूर्वजन्म की विद्यायें उसे याद आ गयीं । ऐसे ही मराल श्रेणी भी स्थिर-स्मृति है । वर्षा का अवसान होते ही उसे पुरानी क्रीडास्थली और उनका मार्ग दोनों याद आ जाते हैं ।

पार्वती की चंचल चितवन के विषय में कालिदास अवश्य यह निर्णय नहीं कर पायें कि उसने यह “अधीर विप्रेक्षित’ मृगांगनाओं से लिया है, अथवा मृगांगनाओं ने उससे लिया है— “तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यततोगृहीतं नुमृगाङ्गनाभि:” । कुमार १-४३

किन्तु इतना वह जानते हैं पार्वती ने शुल्क के रुप में, अपना नूपुर शिंजित देकर राजहंसों से यह विलासमयी चाल सीखी है । पार्वती राजपुत्री थी । इसलिये उसने शिञ्जित और गतिका आदान प्रदान हंसों के साथ नहीं राजहंसों के साथ किया था । ‘आदित्सुभि:’ पद जिसका प्रयोग निम्न श्लोक मे हुआ है, इस बात को संकेतित करता है कि राजहंसों ने उसे इठलाकर मस्ती से चलना सिखाया ही इस शर्त पर था कि बदले में वह उसे अपना नूपुर शिञ्जित सिखायेगी । कालिदास की उत्प्रेक्षा कितनी सरस है—

सा राजहंसैरिव संनताङ्गी गतेषुलीलाञ्चित विक्रमेषु ।

व्यनीयत प्रत्युपदेश-लुब्धैरादित्सुभि र्नूपुर शिञ्जितानि ।। कुमार १-३४

और जब पार्वती विवाह के उपरान्त मणिशिलामय एकान्त गृह में पति के साथ सोने जाती है तो भी कवि को हंसों की ही याद हो आती है - और नहीं तो उनकी सहशय्या पर बिछा उत्तर-च्छद (चादर) देखकर ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्र हंस-धवलोत्तरच्छदं जाह्नवी-पुलिन-चारुदर्शनम्।

अध्यशेत शयनं प्रियासखः शारदाभ्रमिव रोहिणीपतिः ॥ कुमार ८-८२

यहाँ कालिदास के अप्रस्तुत ध्यान देने योग्य हैं - हंस, जाह्नवीपुलिन, शारद अभ्र। रघु का यश भी हंस के समान धवल है - निष्कलंक। रघुवंश में कहा है—

हंसश्रेणीषु तारासु कुमुदवत्सु च वारिषु।

विभूतयस्तदीयानां पर्यस्ता यशसामिव ॥ रघु ४-१९

कवि की दृष्टि तो सूक्ष्म है ही। लगता है, हंस सदा उसके मस्तिष्क में घूमता रहता था। कई चित्र तो उसने कल्पना से ऐसे गढ़े हैं जो बिना इसके संभव ही नहीं थे। अब देखिये, बात इतनी है कि प्रभात होने पर अज वन्दियों के स्तुति गीत सुन कर उठ बैठता है, शय्या छोड़कर बाहर निकल आता है। यहाँ हंस का क्या प्रसंग था। मगर कालिदास हैं कि चाहे शिव पार्वती का एकान्त लीला कक्ष हो, चाहे कुमार अज का शयन कक्ष, किसी न किसी बहाने हंस को ला कर खड़ा ही कर देते हैं और

इतिविरचित वाग्भिर्वन्दि-पुत्रैः कुमारः,

सपदिविगतनिद्रस्तल्पमुञ्झाचकार।

यह कहते कहते राजहंसों को कल्पना में उतारते हैं। उपमा देते हैं—

मदपटुनिनदद्भिर्बोधितो राज-हंसैः

सुरगज इव गाङ्गं सैकतं सुप्रतीकः। रघु. ५-७५

इस उपमा में राजहंस बन्दी (यशोगायक) हैं। राजकुमार का प्रसंग है न? इसलियें हंस नहीं, राजहंस चाहिये। बन्दीजन पटुगायक हैं तो राजहंस मदपटुनिनादी। अज और सुरगज का साम्य भीसमान कोटिक और श्वेतोत्तरच्छद वाले तल्प और गाङ्ग सैकत का तो कहना ही क्या? रुप और प्रभाव दोनों तुल्य। और जब इन्दुमती स्वयंवर की सभा में संचरण करती हुई किसी नरेश के सम्मुख रुकती और वेत्रधारिणी परिचारिका के द्वारा आगे ले जायी जाती है तो भी कालिदास को राजहंसी का हीस्मरण हो आता है। कहते है—

तां सैव वेत्रग्रहणे नियुक्ता राजान्तरं राजसुता निनाय।

समीरणोत्थेव तरङ्गलेखा पद्मान्तरं मानस-राजहंसी ॥ रघु. ५-२६

यहाँ इन्दुमती का उपमान हंसी नहीं, राजहंसी भी नहीं, मानसराजहंसी है। वह राजहंसी जो अभी तक मातृगृह छोड़कर कहीं अन्यत्र किसी के साथ विहार के लिये वाहर नहीं गयी और यही इन्दमती जब असमय अज को एकाकी छोड़कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महानिद्रा में लीन हो जाती है तो अज जिन जिन प्राणियों में अपनी प्रिया के रुप व्यापारों का सादृश्य पाकर अपना मन बहलाने की चेष्टा करता है, वे हैं कोकिला कलहंसी और पृषती जो उसे भाषित, गत और ईक्षित का स्मरण दिलाते है-

कलमन्यभृतासुभाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम्।

पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः ॥ रघु. ८-५८

कालिदास हंस या हंसी का स्म्ररण सदा ही श्रृंगार के प्रसंग में करते हैं और उसकी गति तथा कलनाद के साथ मदविशेषण का प्रयोग करना नहीं भूलते ।

और जब उर्वशी पुरुरवा को छोड़कर अन्तरिक्ष में लौट जाती है तो भी कालिदास उसकी मन: स्थिति का चित्रण करने के लिये राजहंसी का ही सहारा लेते हैं । उर्वशी भी कोई सामान्य नारी तो नहीं जिसकी उपमा हंसी से दी केवल उड़कर अन्तरिक्ष में जाती हुई यह उर्वशी मेरे शरीर से मन को खींचे साथ लिये जा रही है जैसे राजहंसी मृणाल का अग्रभाग तोड़कर उसका सूत्र चोंच में दबाये ऊपर उड़ जाती है—

एषा मनो मे प्रसभं शरीरात् पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती।

सुराङ्गनाकर्षतिखण्डिताग्रात् सूत्रंमृणालादिव राजहंसी ॥ विक्रमो.१-२०

यहाँ खण्डित मृणाल से राजा का, सूत्र से मन का और कैलास वासिनी राजहंसी से देवलोक की उर्वशी का सादृश्य कितना यथार्थ है ।

और जब उर्वशी सचमुच क्रोध में उसे छोड़ कर चल देती है तो वहउन्मत्त सा जिऩ जिन से प्रिया के विषय में पूछता है या जिन्हें देख सुनकर उसेप्रिया या उसकी किसी वस्तु का भ्रम होता है उनमें हंसी भी है जिसके क्जित से उसे प्रिया के नूपुर-शिञ्जित का भ्रम होता है । सोचता है - "अयेदक्षिणेन जल धारां प्रियाचरण निक्षेपशंसी नूपुरवः श्रूयते ।" किन्तु दूसरे ही क्षण उसका भ्रम टूट जाता है और वह कह उठता है-

मेघश्यामा दिशोदृष्ट्वा मानसोत्सुक-चेतसाम्

कूजितं राजहंसानां नेदं नूपुर-शिञ्जितम्। विक्रमो. ४-१४

पूरे आकाश में बादल छाये देखकर मानस की ओर जाने की तैयारी करने वाले राजहंसों का कूजित है यह, प्रिया के नूपुरों की रुनझन नहीं । फिर भी शायद ये प्रिया का कुछ समाचार दे सकें । अतः उन्हें पुकार कर कहता है-जरा ठहरो । मानस को थोड़ी देर बाद चले जाता । चोंच में पकड़ा हुआ पाथयनीचे डाल दो ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विसदण्ड दूसरा लेलेना । पहले कुछ समाचार देकर प्रिया-शोक से मेरा पीछा छुड़ा दो । सज्जन अपने स्वार्थ की अपेक्षा याचक के कार्य को अधिक महत्त्व देते हैं-

पश्चात्सरः प्रतिगमिष्यति मानसंतत् पाथेयमुत्सृज पुनर्ग्रहणाय भूयः ।

मां तावदुद्धर शुचो दयिता-प्रवृत्त्या, स्वार्थात् सतां गुरुतरा प्रणयिक्रियैव ।।

विक्रमो.४-१५

अन्तिम पंक्ति से मेघदूत के कई श्लोकों की अन्तिम पंक्ति का स्मरण हो आता है । अस्तु, हंस पुरुरवा की बातों को अनसुनी सी कर चलने लगता है तो राजा उस पर चौर्य का लाच्छान लगाता है । कहता है कि यदि तुमने सर के किनारे मेरी नतभ्रूप्रिया को नहीं देखा तो फिर उसकी मदभरी चाल कैसे कहाँ से ले ली ?

यदि हंस गता नते नतभ्रूः सरसो रोधसि दर्शनं प्रिया मे ।

मद-खेल-पदं कथं नु तस्याः सकलं चौर गतं त्वया गृहीतम् ।।विक्रमो.४-१६

ध्यान देने की बात है कि कवि ने यहाँ भी गतम् के लिये मदखेलपदम् विशेषण का प्रयोग किया है । कालिदास हंस की चाल और मद का सम्बन्ध अविच्छेद्य मानते लगते हैं । यह देखकर कि इसने प्रिया की चाल चुरा ली है । राजा प्राचीन दण्ड-व्यवस्था की एक धारा काआश्रय लेकर उस पर कान्ता को वापिस देने के लिये दबाब डालता है । वह तर्क देता है कि जिसके पास चोरी के माल का एक अंश पाया जाता है वही सारे माल का चोर माना जाता है । तुम्हारेपास प्रिया की मदमयी चाल है तो मेरी प्रिया भी अवश्य होगी-

हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिस्तस्यास्त्वया हृता ।

विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते ।। विक्रमो.४-१७

हंस से कालिदास को इतना लगाव है कि अभिज्ञान शकुन्तल में उन्होंने लयविशुद्धगीति की गायिका कलानिष्ठ राजपत्नी का नाम ही हंसपा दिका रखा है ।

पुरुरवातो प्रिया वियोग में अर्ध विक्षिप्त है ही दुर्धन्त भी कुछ कम दुःखी नहीं है । वह प्रिया का चित्र बनाकर मन बहलाने का प्रयत्नकरता है किन्तु चित्र की पृष्ठभूमि में जो कुछ प्रस्तुत करना चाहता है उसमें पहली वस्तु मालिनी नदी का बालुकामय तट और उस पर बैठी हुई हंसों की जोड़ी का स्थान सर्वप्रमुख है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्या सैकतलीन-हंसमिथुना स्त्रोतोवहा मालिनी

पादास्तामभितो निषण्ण-हरिणाः गौरीगुरोः पावनाः ।

शारवालम्बित वल्कलस्यचतरो र्निमातुमिच्छाम्यधः,

श्रृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ।। अभि.६-१७

शान्त स्वाभाविक स्थिति में भी कालिदास को यदि हंसों का स्मरण आता है तो नलिनियों के पास उनकी शीतल परिधि के भीतर बैठे हुए पंक्तिबद्ध हंसों का । उत्तर मेघदूत में, अलका का जो चित्रण है उसमें हंस वेष्टित नित्यपद्मा पुष्करिणी का उल्लेख है—

हंसश्रेणी-रचित-रशना नित्यपद्मा नलिन्यः । उत्तरमेघ-२

इस श्लोक को प्रक्षिप्त मानें तो भी रचनाकार की प्रशंसा करनी होगी कि उसने कालिदास की रुचि को पहचाना । अन्यत्र भी मध्याह्न के स्वाभाविक वर्णन में हंस ही सर्वप्रथम कवि के ध्यान में आये हैं-

पद्मच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिकापद्मिनीनां ।

सर्वैरुस्त्रैः समग्रैस्त्वमिव नृपगुणैर्दीप्यते सप्तसप्तिः । माल. २-१२

और यहाँ भी हंस यदि पलक झपकाये विश्राम कर रहे हैं तो वापी-कमलिनियों के पत्तों की छाया में । यहाँ पद्म न कहकर पद्मिनी शब्द का प्रयोग कवि ने किंचिन्मनसिकृत्वा किया है ।

क्या अब भी यह कहने की आवश्यकता शेष है कि मराल कवि के अभिन्न सहचर थे ।

हंस के विषय में एक विश्वास प्राचीन काल से समाज में बद्ध मूल है कि वह दूध का दूध और पानी का पानी कर देता है । जल मिश्रित दूध में से दूध पी लेता है और पानी छोड़ देता है—" हंसों हिक्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः" शकु. ६-२८

इस विश्वास का कारण संभवतः यह है कि वह तडाग का जल न पीकर उसमें कमल-नाल तोड़कर नाल के भीतर का श्वेत क्षीर पीता है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मीन

कालिदास का स्वभाव वस्तु को उसके विविध रुपों और परिस्थितियों में देखने का है। कुशल शिल्पी के समान वह उन सारे रुपों का उपयोग यथा स्थान करलते हैं। फिर मीन तो उनके सौन्दर्य कोष का अमूल्य रत्न है। ग्रीष्म में वह उसकी दुर्गति से दुःखी होते हैं तो शरद् में उनकी स्थिति से प्रसन्न। जल के अभाव से तालाबों मे उन्हें मरते हुए कालिदास ने देखा है—

समुद्धताशेष-मृणाल-जालकं विपन्न-मीनं द्रुत-भीतसारसम्

परस्परोत्पीडनसंहतैर्गजैः कृतं सरः सान्द्र-विमर्दकर्दमम्॥ ऋतु १-१९

मीन तो जल के अभाव में यों ही व्यथित थे, उस पर एक दूसरे को रगड़ता, ढकेलता हाथियों का झुण्ड सरोवर में घुस पड़ा। फिर क्या था? सारस डर कर भाग गये। सारा जल कीचड़ में परिवर्तित हो गया और बेचारे मीनों की जान पर आ बनी।

शरद आयी तो स्थिति बदल गयी। सूखी कुम्हलायी नदियाँ उछलकर इठलाकर चलने लगीं। मस्ती भरी युवतियों की तरह, एक के पीछे एक श्रृंङ्खलाबद्ध मीनों की करधनी पहने हुई,पंक्तिबद्ध सारसों के हार से अलंकृत विशाल पुलिनों के नितम्बों वाली युवती नदियाँ-

चञ्चन्मनोज्ञशफरी-रचना-कलापाः

पर्यन्त-संस्थित सिताण्डज-पङ्क्तिहाराः।

नद्यो विशालपुलिनान्तनितम्बबिम्बा

मन्दं प्रयान्ति समदाः प्रमदा इवाद्य॥ वही ३-३

गम्भीरा नदी में बड़े बड़े चटुल मीनों की उलट-पुलट कवि ने नदी की चंचल चितवन के रुप में देखी है। मीन नेत्र हों तोउनकी उछाल पुतली के उद्वर्तन सी होगी ही-

गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने, अर्हहि त्वं न धैर्यात्

मोघीकुर्तुं चटुलशफरोद्वर्तन-प्रेक्षितानि। मेघ.१-४०

और यक्ष की प्रिया जब मेघ् के उमड़ने परउसे आँख ऊपर उठा कर देखती है तो लगता है जैसे सरसी में कोई कुवलय मीन के क्षोम से अचानक ऊपर उठ गया हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के प्रियाया

मीन-क्षोभाच्चलकुवलय-श्रीतुलामेष्यतीति। वही २-३२

कितना यथार्थ निरीक्षण है कवि का !

ऊपर निदाघ में जल के कर्दम वन जाने से मीनों के प्राण संकट का उल्लेख हुआ है किन्तु कवि ने पहली वर्षा के साथ उनमें नये प्राणों का संचार होते भी देखा है। देह त्याग के लिये प्रस्तुत रति पर आकाशवाणी का वही प्रभाव हुआ था जो शफरी पर प्रथम वृष्टि का होता है। रति अग्नि दाह के लिये संनद्ध है और शफरी भी ताप से झुलसती है। रति की रक्षा, आकाश-सम्भवावाणी से होती है तो शफरी की आकाशजन्य वृष्टि से। मृतप्रायता दोनों में समान है—

इति देह-विमुक्तये स्थितां रतिमाकाशभवा सरस्वती।

शफरीं ह्रद-शोष-विक्लवां प्रथमावृष्टिरिवान्वकम्पयत्॥ कुमार ४-३९

और अन्वकम्पयत् में कृपा भाव तो है ही सिहरन उत्पन्न करने का भी भाव निहित है। ऊपर नदियाँ मदभरी प्रमदायें है और पंक्तिबद्ध शफरियाँ उनकी कटि में बँधी रशना। किन्तु उमा जब अपने पति के साथ जल क्रीडा करती है तो उसकी कटि के चारों ओर चक्कर लगाती हुई वे उमा की करधनी सी लगती है। दिखता है, जैसे उसने दोहरी करधनी पहन ली है—

सा व्यगाहत तरङ्गिणीमुमामीन-पङ्क्तिपुनरुक्त मेखला॥ कुमार ८-२६

जल क्रीडा का एक चित्र और। किन्तु यहाँ मीनों की स्थिति भिन्न है। यहाँ वे दूसरों की अलंकृति मात्र नहीं स्वयं सक्रिय है।मीनों को शैवाल में खेलना और उसके तन्तुओं को खाना रुचिकर होता है। इधर जो सुन्दरियाँ जल विहार कर रही हैं वे शिरीष के पुष्पों से अलंकृत है। तैरते समय ये पुष्प जल में बिखर जाते हैं और जल में उनके तन्तु शैवाल से प्रतीत होते हैं। मीन उनकी ओर लपकते हैं, किन्तु व्यर्थ। निराशा ही हाथ लगती है—

अमी शिरीष प्रसवावतंसाः प्रभ्रंशिनो वारि-विहारिणीनाम्।

पारिप्लवाः स्रोतसिनिम्नगायाः शैवाललोलांश्छलयन्ति मीनान्॥ रघु.१६-६१

कवि को इस बात की जानकारी है कि मीनों के पलक नहीं होते। होते हैं तो वे गिरते नहीं। इस तथ्य को कालिदास ने पुरुरवा के विदूषक के मुख से कैसी सुन्दरता के साथ व्यक्त किया है? स्वर्ग मेंधरा ही क्या है? नरवाना, नपीना, केवल अनिमिषनयन जैसे वे मीनों का अनुकरण कर रहे हो—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विदू.—किं. वा स्वर्गे स्मर्तव्यम् ? न वा तत्र खाद्यते, न वा पीयते । केवलमनिमिषैर्नयनैर्मीना विडम्ब्यन्ते । विक्रमो. ३-१६

मात्स्यिक व्यवसाय का उल्लेख शाकुन्तल में हुआ है । धीवर जाति के लोग मछली मारकर जीविकार्जन करते थे । ये लोग जाल फेंककर मछलियाँ फाँसते थे । कालिदास ने रोहित मीन के पकड़े तथा कल्पन (काटे) किये जाने की चर्चा की है—

अहं जालोद्वारादिभिर्मत्स्यवन्धनोपायैः कुटुम्बभरणं करोमि ।. . .एकस्मिन् दिवसे खण्डशो रोहित-मत्स्योमया कल्पितः । अभि.६-१

कभी कभी कोई मछली पकड़ने वाले के हाथ में काट कर भाग भी जाती है । विक्रमोर्वशीय का विदूषक इस स्थिति का कैसा अवसरोचित व्यङ्ग्यात्मक प्रयोगकरता है—

छिन्न-हत्थेमच्छे पलायिदे णिब्बिण्णोधीवरोभणदि-गच्छ धम्मो में हविस्सदित्ति । विक्रमो. ३-१३

कालिदास ने निदाघ, प्रावृट् औरशरद् में मीनों की स्थिति, उनके नेत्र-सादृश्य, अनिमिषता, जल में उद्वर्तन, संतरण और दंशन रुप व्यापारका सूक्ष्म काव्योचित उपयोग किया है ।

अन्य काव्य-सहचर

काम-दूत कोकिल

कोकिल की चर्चा रति के उद्दीपकों में की गयी है । संयोग और विप्रलम्भ दोनों ही स्थितियों में वह श्रृंगार रस का महत्त्वपूर्ण उपकरण है । वसन्त उसके आगमन का निश्चित काल है और सहकार उसका आवास । वह बसन्त के प्रसंग इसका कई वार स्मरण किया है । वसन्त में हिमपात समाप्त हो जाता है । मनोरम बात आमों की डालों को हिलाती है और उन पर कूकते कोयलों की वाणी को दिशाओं में दूर दूर तक फैलाती हुई बहती है—

आकम्पयन् कुसुमिताः सहकारशाखाः
विस्तारयन् पर-भृतस्यवचांसि दिक्षु ।
वायुर्विवाति हृदयानि हरन् नराणां
नीहार-पात-विगमात् सुभगो वसन्तो ।। ऋतु. ६-२४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोकिल नरों और नारियों दोनों के मन को विक्षुब्ध करता है। कालिदास कहते हैं कि किंशुक और कर्णिकार ने युवाओं के मन को विद्ध करने में क्या कोई कसर छोड़ी थी जो कोयल मस्ती भरी कूक से उनके मनो को विद्ध करने निकल पड़े है—

किं किंशुकैः शुक-मुखच्छविभिर्न भिन्नं
किं कर्णिकार-कुसुमैर्नकृतं नदग्धम्।
यत् कोकिलः पुनरयं मधुरै र्वचोभि
र्यूनांमनः सुवदना-निहितं हिनस्ति॥ ऋतु ६-२२

लज्जान्वितं सविनयं हृदयंक्षणेन
पर्याकुलं कुलगृहेऽपि कृतंवधूनाम्। ऋतु. ६-२३

कोकिल और भृंग दोनों के राव प्रेमियों के मन में उथल पुथल मचाते हैं। सामान्य नारियों की तो बात ही क्या, कुलीन घरों की बहुयें उनका शब्द सुनकर बेचैन हो उठती है। नरों के हृदयों को जीतने के लिये वह स्त्रियों का अमोघ अस्त्र भी सिद्ध होता है। कहा है-

मासे मधौ मधुर कोकिल भृङ्गनादै
र्नार्यो हरन्ति प्रसभं हृदयं नराणाम्। ऋतु. ६-२६

वसन्त यदि रम्य है तो कुसुमित सहकारों, कर्णिकारों और मधुकरों तथा कोकिला के नाद के कारण—

समदमधुकराणां कोकिलानां च नादैः
कुसुमितसहकारैः कर्णिकारैश्च रम्यः। ऋतु. ६-२९

और इन्हीं सब के सहारे वसन्त कामिनियों का उपहास करता है-

परभृत कलगीतै र्ह्लादिभि. .रुपहसति बसन्तः कामिनीनामिदानीम्।वही ६-३१

कालिदास ने वसन्त ऋतु में मनस्विनी (मातिनी) स्त्रियों के हृदयों को चंचल बना देने वाली तीन ही बातों पर सर्वाधिक जोर दिया है—आम्र पुष्पों से अधिवासित वायु—मधुकरों का कर्ण प्रिय गीतनाद और— मदाकुल परभृत का उत्कूजित-

आकम्पितानि हृदयानि मनस्विनीनां वातैः प्रफुल्ल-सहकार-कृताधिवासैः।
उत्कूजितैः परभृतस्य मदाकुलस्य श्रोत्रप्रियैः मधुकरस्य च गीतिनादैः।

ऋतु. ६-३४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिदास ने लोकजयी मदन का विरुदगायक माना है कोकिल को । वही तो उसके विजय की घोषणा दूर दूर तक करता है - 'परभृता यद्वन्दिनोलोकजित् सोऽयम्' । ऋतु. ६-३९

कोयल स्वयं भी कम रसिक नहीं है । आम का मंजरियों का रसासब पीकर वह मस्ती के साथ अपनी प्रिया का चुम्बन करता है—

पुंस्कोकिलश्चूतरसासवेन मत्तः प्रियां चुम्बतिरागहृष्टः ।ऋतुः ६-१६

इसीलिये कोकिल का विरुद कालिदास की दृष्टि में मदन का रसायन है । वह काम को शक्ति प्रदान करता है- पुंस्कोकिलस्य विरुतं—"सर्व रसायनमिदं कुसुमायुधस्य" । ऋतु. ६-३५ । और बसन्त यदि रम्य है तो कोकिल के आलाप केकारण -कोकिलालापरम्यः (ऋतु. ६-३६) । इसीलिये कालिदास ने ऋतुसंहार के बसन्त वर्णन में ११ बार कोकिल का उल्लेख किया है और भी नर कोकिल (पुंस्कोकिल) का । संभवत मयूर के समान कोकिल भी पुमान् ही अधिक महत्त्वपूर्ण होता है । मयूर बड़े कलापों के कारण तो कोकिल ऊँचे आलाप के कारण ।

कोकिल का कूजन कामदेव का आदेश होता है जिसे पाकर मनस्विनियाँ मान छोड़ देती हैं । आम के अंकुरों को खाने से उसका कण्ठ कषाय हो जाता है और तब वह जो मधुर कूजन करता हे वह सामान्य शब्द नहीं, काम का मान-प्रतिरोधी आदेश पत्र होता है—

चूताङ्कुरास्वाद-कषाय कण्ठः-पुंस्कोकिलो यन्मधुरं चुकूज ।

मनस्विनी-मान-विघात दक्षं तदेव जातं वचनं स्मरस्य ।। कुमार. ३-३२

आम में नये फूल निकल आये- इस बात की सूचना कोकिल के विरुत से ही तो मिलती है और तब कामदेव उनका प्रयोग वाण के रुप में करता है । रति जब कामदहन के बाद उसके वाण का स्मरण करती है तो कोकिल सहज ही उसके ध्यान में आ जाता है—

हरितारुण-चारु-बन्धनः कलपुंस्कोकिल-शब्द-सूचितः ।

वद सम्प्रति कस्य वाणतां नवचूत-प्रसवो गमिष्यति ।। कुमार. ४-१४

वसन्त आते ही आम की डाली परभृत के आगमन की प्रतीक्षा करने लगती है—शान्त मौन । पार्वती का सन्देश शिव के पास ले जाने वाली सखी की उपमा कालिदास ऐसी ही चूतयष्टि के साथ देते हैं जो वसन्त में ऊपर मुँह किये परभृत के आने की राह देखती है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तया व्याहृतसंदेशा सा वभौ निभृता प्रिये।

चूतयष्टिरिवाभ्याशे मधौ परभृतोन्मुखी॥ कुमार ६-२

परभृत का भाषित (यदि उसे भाषित कहना उपयुक्त हो) कई बार नारी के मधुर भाषण का उपमान रहा है। इन्दुमती की मृत्यु के बाद अज कोउसके कलभाषित की झलक कोकिल की कुहुक में दिखायी देती है - कलमन्यभृतासु भाषितम् (रघु.८-५८)

वसन्त आता है तो फूल खिलते हैं, नये पल्लव निकलते है और फिर भ्रमरों और कोकिलों का कूजन सुनायी देने लगता है । इस प्रकार धीरे धीरे यथाक्रम वसन्त का अवतरण होता है

कुसुम-जन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पद-कोकिल कूजितम्।

इति यथा क्रममाविरभून्मधु द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम्। रघु. ९-२६

ऊपर कहा गया है कि कोकिल का कूजन रति का उद्दीपक होता है । इसलिये वह प्रणय दूती का भी काम करती है । उसके गान में कामिनी को एक संदेश सुनायी देता है । लगता है जैसे वह कह रही है कि प्रणय कलह बन्द करो । मान छोड़ो । यह यौवन गया कि गया । फिर लौटने वाला नहीं । और इसका प्रभाव बधुओं पर यह पड़ता है कि वे अपने कामुक पतियों के साथ रमण करने लग जाती है । कालिदास उत्प्रेक्षा के सहारे यह बात कहते हैं—

त्यजत मानमलं वत विग्रहैर्न पुनरेतिगतंचतुरं वयः।

परभृताभिरितीव निवेदिते स्मरमते रमतेस्म वधूजनः॥ रघु.९-४९

एक स्थान पर हम कालिदास में कोकिलामत्रञ्जुवादिनी कामुक नारी को शिवाघोर-स्वना के रुप में भी परिवर्तित होते देखते हैं । यह शूर्पणखा के प्रसंग में हुआ है—

लक्ष्मणः प्रथमंश्रुत्वा कोकिला-मञ्जुवादिनीम्।

शिवा-घोरस्वनां पश्चाद् बुबुधे विकृतेतिताम्॥ रघु.१२-३९

कभी कभी जब वसन्त के प्रभाव में- धीरे धीरे बोलती है तो लगता है जैसे बसन्त प्रेमी जन से पूछ रहा हो-कहो, तुम्हारी काम पीड़ा सहन की सीमा तो पार नहीं कर रही है- ठीक उसी प्रकार जैसे हित-मित्र रोगी का हाल पूछते हैं । यह बात भी कालिदास ने उत्प्रेक्षा के सहारे ही कही है-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्मत्तानां श्रवण-सुभगैः कूजितैः कोकिलानां

सानुक्रोशं मनसिजरुजः सह्यतां पृच्छतेव ।। माल.३-४

रोगी का हालचाल सानुक्रोश स्नेही श्रवणसुभग वाणी से ही पूछते हैं। वसन्त के लिये यह उचित भी है क्योंकि मनसिजरुजा का दरायित्व भी तो उसी पर है।

जहाँ जहाँ मधु (वसन्त) है, वहाँ वहाँ परभृत का कल व्याहार भी। और जहां ये दोनों है वहाँ रति का प्रसंग न हो, यह कालिदास की कल्पना से बाहर की बात है। यों तो ऐसी स्थिति में संभोग और विप्रलम्भ दोनों का अनुभव संभावित हो सकता है फिर भी कालिदास ने ऐसे अवसरों का उपयोग संभाग पक्ष में ही अधिक किया है। अग्निमित्र का वैतालिक भी इसी बात की पुष्टि करता है। वह कहता है—

परभृत-कल-व्याहारेषु त्वमात्त-रतिर्मधुं

नयसि विदिशातीरोद्यानेष्वनङ्ग इवाङ्गवान् ।। माल.५-१

कभी-कभी बसन्त ऋतु में भी तेज पुरवा वायु के साथ वृष्टि हो जाती है— अकाल वृष्टि। तब बेचारी कोकिल अपना आलाप भूल कर कोटर में जा छिपती है। कालिदास ने इस स्थिति का प्रत्यक्ष अनुभव किया था, ऐसा उनके निम्न कथन से स्पष्ट है—

मधुर-स्वरा परभृता भ्रमरी च प्रबुद्धचूत-सङ्गिन्यौ।

कोटरमकाल-वृष्ट्या प्रवल-पुरोवातया गमिते ।। माल. ४-२

आम मञ्जरी का रस पान करना तो कोकिल का प्रसिद्ध ही है। उसका स्वाद कषाय होता है और कषाय रस का कण्ठ माधुर्य के साथ धनिष्ठ सम्बन्ध है। एक और कषाय फल है- यद्यपि उसका उल्लेख कवियों ने कम ही किया है - जामुन। जामुन वर्षा के प्रारम्भ और ग्रीष्म के उत्तरार्ध में पकता है। कोकिल आम के फल पर भी बैठती है और आमों के पकने के साथ ही जब जामुन पकने लगते हैं तो उनका भी आस्वाद लेती है। कषाय होने के कारण जामुन भी उसके कण्ठ को माधुर्य प्रदान करते हैं—

विक्रमोर्वशीय में, अर्ध विक्षिप्त सा पुरुरवा जब परभृत से अपनी प्रिया के विषय में कुछ जानना चाहता है तो उसे विहंगमों में पंडित मान कर ही उससे प्रश्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता है । कोकिल उस समय जम्बूविटप पर बैठी होती है क्योंकि अब प्रावृट् का प्रारम्भ होता है तब जम्बू फलो का पकना प्रारम्भ होता है । वह मन में सोचता है—

"अये इयमातपान्त-संक्षुक्षितमदा जम्बूविटपमध्यास्तेपरभृता विहंगगमेषु पण्डिता खलु जाति रेषा । यावदेनामभ्यर्थये" । विक्रमो.४-१०

स्पष्ट है कि वसन्त में कोकिल मस्ती के साथ कूकती है किन्तु निदाघ की ऊष्मा और आम्रमंजरियों का अभाव ये दोनों बातें उसके कण्ठ को मन्द कर देती है । वर्षा-गम की मादक बात और पक्वजम्बूफल फिर से उसमें नये उन्माद का संचार करते हैं । यह बात "आतपान्त संक्षुक्षितमदा" तथा "जम्बू विटपमध्यास्ते" इन पदों से स्पष्ट है । आगे पुरुरवा का कथन उसके अनेक गुणों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है । कामी जन उसे मदन-दूती कहते हैं । मान भंग के लिये वह अमोघ अस्त्र है । कान्ता को प्रिय के पास खींच लाने में क्षम है और कलभाषिणी तो है ही । यहाँ कालिदास ने यत्र तत्र बिखरे हुए अपने कथनों को एकत्र कर दिया है । उन्हीं के शब्दों में देखें—

त्वां कामिनो मदन-दूतिमुदाहरन्ति,
मानावभंङ्ग निपुणं त्वममोघमस्त्रम् ।
तामानय प्रियतमां मम वा समीपं
मां वा नयाशु कलभाषिणि यत्र कान्ता । विक्रमो.४-११

और जब वह उसे सान्त्वना-जनक उत्तर न देकर जामुन के वृक्ष पर जा बैठती है और ताजे पके जामुनों का रस चूसने में मग्न हो जाती है तो पुरुरवाउसे उपालम्भ देता हुआ कहता है—

महदपि परदुःखं शीतलं सम्यगाहुः
प्रणयमगणयित्वा यन्ममापद्गतस्य ।
अधरमिव मदान्धा पातुमेषा प्रवृत्ता
फलमभिनव-पाकं राजजम्बूद्रुमस्य ॥ विक्रमो. ४-१३

कालिदास जब किसी का चित्रण करने के लिये लेखनी उठाने है तो पहले उसके विषय में पूरी जानकारी प्राप्त कर लेते हैं । वह पारम्पारिक रुप से सुनी सुनायी बातों पर विश्वास करके नहीं चलते । कोकिल की चर्चा करने से पूर्व उन्होंने उसके रुप, रंग, स्वभाव-व्यवहार, बोली, खान पान और प्रभाव के विषय में सारे तथ्य एकत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर लिये थे । वह यह भी जानते हैं कि कोकिल है जो सामान्य नहीं, राजजम्बू पर ही बैठेगी और अभिनव पाक वाले जम्बू फलों पर ही चोंच मारेगी । आखिर उर्वशी से सख्य रखने वाली कोकिल सामान्य तो नहीं होगी । वह यह भी जानते हैं कि कोकिल चालाकी से अपने शिशुओं को कौओं से पलवा लेती है—

प्रागयगन्तरिक्षगमनात् स्वमपत्यजात

मन्यै र्द्विजैः परभृताः खलुपोषयन्ति । शाकु.५-२२

और यही कोकिल दुःष्यन्त की वियोग पीड़ा में उनका सहभोगीहोकर वसन्त का प्रारम्भ हो जानेपर भी मौन रहता है । अपनी वाणी को कण्ठ में ही रोक लेता है—

कण्ठेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे पुंस्कोकिलानां रुतम् । शाकु.६-४

कालिदास ने एक अपवाद को छोड़कर अन्यत्र कोकिल शब्द का प्रयोग पुंल्लिग में ही किया है । इतना ही नहीं उन्होंने प्रायः उसे पुंस्कोकिल कहा है । स्त्री लिंग में कोकिला के लिये वह परभृता शब्द का व्यवहार करते हैं ।

कालिदास ने अन्यत्र भी परभृता को रति दूती कहा है । काम के मरने पर विलाप करती हुई रति भी बतलाती हैकि मदन उससे दूती का कार्य लेता था । दूत यादूती के लिये आवश्यक है कि वह मृदुभाषी हो जिससे संपर्क में आने वाला व्यक्ति उसके प्रति अनायास ही आकृष्ट हो और प्यार प्यार में अपनासारा भेद तो बता ही दे, दूत के परामर्श को भी मान ले । इसीलिये वह काम से कहती है - उठो, उसी कमनीय शरीर के साथ् उठो और कोकिला को रति दौत्य का आदेश दो क्योंकि उसके पास मधुरालाप का सहज गुण है उपार्जित नहीं और सहज गुण उपार्जित कीअपेक्षा सदा ही अधिक प्रभावकारी होता है—

प्रतिपद्य मनोहरं वपुः पुनरप्यादिश तावदुत्थितः ।

रतिदूतिपदेषु कोकिलां मधुरालाप-निसर्ग-पण्डिताम् ।। कुमार.४-१६

कोकिला शब्द का स्त्रीलिंग में प्रयोग कालिदास ने इसी श्लोक में किया है, अन्यत्र स्त्रीत्व विवक्षा में वह परभृता शब्द का प्रयोग करते है । यहाँ उन्हें दौत्य कर्म की सुकुमारता और अपेक्षित प्रभावकारिता को ध्यान में रखकर उसके लिये स्त्री पात्र चुनना पड़ा और परभृता शब्द का त्याग इसलिये करना पड़ा क्योंकि उससे आभिजात्य या कुलीनता के महिमा की गन्ध आती है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदर्श प्रेमी

१-चक्रवाक—

चक्रवाक की चर्चा परस्पर अनुरक्त किन्तु दैवगति से रात्रि वेला में वियुक्त प्रेमी युगल के रुप में की गयी है । चन्द्र आकाश में प्रकाशित है किन्तु पृथिवी पर सरोवर में पूर्ण आकाश के साथ प्रतिबिम्बित हो कर तडाग के दो किनारों पर स्थित चक्रवाक युगल के समान प्रतीत होता है । कवि ने चक्रवाक की विशेषता बतलायी है उनके विवर का दूर दूर होना—

पश्य पक्व फलिनी-फल-त्विषा विम्वलाञ्छितवियत्सरोऽम्भसा ।

विप्रकृष्ट विवरं हिमांशुना चक्रवाक मिथुनं विडम्व्यते ॥ कुमार. ८-६१

चक्रवाक के चक्र शब्द को लेकर कवियों नेउसका नाम रथांनामा रख दिया । बड़ा प्रेमी पक्षी है यह । प्रतिपल अपनी सहचरी के साथ रहता है । सर से कमल नाल निकालकर आधा स्वयं खाता है और आधे से अपनी जाया का सत्कार करता है—

अर्धोपभुक्तेन विसेन जायां संभावयामास रथाङ्गनामा । कुमार. ३-३६

रथाङ्गनामा का परस्पराश्रय प्रेम प्रसिद्ध है । ये दोनों एक दूसरे की ओर देखते घण्टों बैठे रहते हैं । कहा है - "रथाङ्गनाम्नोरिवभाव-बन्धनं वभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम्" । रघु. ३-२४

चक्रवाक रात्रि को परस्पर वियुक्त हो जाते हैं । उनमें एक जलाशय के एक ओर और दूसरा दूसरी ओर रहता है । इस स्थिति में एक दूसरे को आवाज देकर आश्वासन प्राप्त करते है और प्रभात होते ही परस्पर आ मिलते हैं ।पत्नी का मृत्यु होने पर विलाप करता हुआ अज इस स्थिति का संकेत अपनी निराशा की अभिव्यक्ति के लिये करता है—

शशिनं पुनरेति शर्वरी दयिता द्वन्द्व-चरं पतत्रिणाम् ।

इति तौ विरहान्तर-क्षमौ कथमत्यन्तगता न मां दहेः ॥ रघु.८-५६

शिव भी रुठी हुई पार्वती को मनाने के लिए चक्रवाक का सहारा लेते है - मुञ्चकोपमनिमित्तकोपने सन्ध्यया प्रणमितोऽस्मि नान्यया ।

किं न वेत्सि सहधर्म चारिणं चक्रवाक-समवृत्तिमात्मनः ॥ कुमार.८-५१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लंका से लौटते हुए राम सीता को माल्यवान् पर्वत दिखलाते हुए चक्रवाकों की ओर संकेत करते हैं । यहाँ ये लोग परस्पर अवियुक्त रहते हुए एक दूसरे को उत्पलों के केसर खिलाते रहते थे । रात सीता-वियोग की दशा में इन को स्पृहामग्न होकर देखते थे—

अत्रावियुक्तानिरथाङ्गनामान्यन्योन्यदत्तोत्पल-केसराणि ।

द्वन्द्वानि दूरान्तरवर्तिना ते मया प्रिये सस्पृहमीक्षितानि ।। रघु. १३-३१

कवि ने यमुना को चक्रवाकिनी कहा है—"तत्र सौधगतः पश्यन् यमुनां चक्रवाकिनीम्" । (रघु. १५-३०) । संभवतः मथुरा के पास-पड़ोस यमुना के किनारे उस समय चक्रवाक बड़ी संख्या में मिलते रहे होंगे । सरयू में अवगाहन करने वाली नारियों के अंगों के लिये उपमान प्रस्तुत करते समय कवि ने चक्रवाल-युगलों को उनके स्तनों के उपमान के रुप में देखा है । यह उनकी वर्तुलाकारता के कारण है—

आवर्तशोभानतनाभिकान्तेर्भङ्ग्योभ्रुवां द्वन्द्वचराः स्तनानाम् ।

जातानि रूपावयवोपमानान्यदूरवर्तीनि विलासिनीनाम् ।। रघु.१६-६३

मालविकाग्निमित्र में राजा ने स्वयं को चक्रवाक, मालविका को प्रिया चक्रवाकी और अपनी महिषी धारिणी को जो उनकी प्राप्ति में बाधक है, शर्वरी बतलाया है—

अहं रथाङ्गनामेव प्रिया सहचरीव मे ।

अननुज्ञात-संपर्का धारिणी रजनीव मे ।। माल.५-८

पुरुरवा उस उपालम्भ देता हुआ कहता है कि तेरी सहचरी तो सर में नलिनी पत्रों से आवृत रहने के कारण केवल तुझे दिखायी नहीं देती, यद्यपि वह पास ही रहती है । इस पर भी तू उसे दूर समझकर रोता चिल्लाता रहता है । तुझे पत्नी पर इतना स्नेह है कि उसक अलग होने की कल्पना भर से तू डर जाता है-

सरसि नलिनी-पत्रेणापि त्वमावृतविग्रहां,

ननु सहचरीं दूरे मत्वा विरौषि समुत्सुकः ।

इति च भवतो जाया-स्नेहात् पृथक्-स्थिति-भीरुता

मयि च विधुरे भावः कान्ता-प्रवृत्ति-पराङ्मुखः ।। विक्रमो. ४-२०

कालिदास के उपुर्यक्त कथन में उनकी निजी दृष्टि है । शेष वर्णन तो परम्पराधारित है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चातक

चातक के विषय में सुविवदित है कि वह जल-याचक पक्षी है । कालिदास को उसका स्मरण मेघों के प्रसंग में हुआ है । प्रावृट् कालीन मेघों को वह प्यासे चातक पक्षियों द्वारा याचित कहते हैं । संभवत: उन्हीं की प्यास बुझाने के लिये वे जल से भर कर आते हैं—

तृषाकुलैश्चातक-पक्षिणांकुलैः प्रयाचितास्तोयभरावलम्बिनः । ऋतु. २-३

मेघ दूत का यक्ष भी चातकों को मेघ का अभिनन्दन करता हुआ देखता है-

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलोयथात्वाम् ।

वामश्चायं नुदति मधुरश्चातकस्ते सगन्धः ॥ मेघ १-९

यहाँ चातक को मेघ का सगन्ध (सम्बन्धी) बतलाया है । सगन्ध गर्वीले को भी कहते हौ । चातक को गर्व है कि उसकी पुकार पर उसका सुहृद् मेघ आ गया है । इस बात की पुष्टि उत्तर मेघ में भी हुई है । यह क्या कम गौरव की बात है कि माँगने पर मेघ चातकों कोबिना कुछ बोले चुपचाप जल दे देता है । वाणी से उपकार को नहीं प्रकट करता-

निःशब्दोपि प्रदिशसिजलं याचितश्चातकेभ्यः । मेघ. २-५१

और चातक की भी गुरुता भी तो देखिये कि जब वह देखता है कि बादल जल बरसाकर भीतर से रिक्त हो गया है तो फिर उससे जल नहीं माँगता-

स्वस्त्यस्तु ते, निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्घनंनार्दति चातकोऽपि । रघु. ५-१७

और इसी बात को उलट कर कहें तो यों कह सकते है कि चातक जलभरित मेघ का ही अभिनन्दन करता है—

अम्बुगर्भो हि जीमूतश्चातकै रभिनन्द्यते । रघु. १७-६०

और इसी बात पर एक कहावत भी चल पड़ी— अच्छा तो मैंने सूखे बादलों की गरज से भरे अन्तरिक्ष में जलपान की कामना से चातक का सा आचरण किया है—

मएणाम सुक्खघणगज्जिदे अन्तरिक्खे

जलपाणं इच्छिदाचातकाइदम् । माल. २-१०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३. चकोर

चकोर का उल्लेख केवल एक बार इन्दुमती के नेत्रों के उपमान के रुप में मिलता है । संभवत: उस के अंगार खाने की बात तब तक कवि प्रौढोक्ति के रुप में स्थिर नहीं हो पायी थी—

चकार सा मत्त-चकोर-नेत्रालज्जावती लाज विसर्गमग्नौ। रघु. ७-२५

सारस

कालिदास में सारस प्रायेण अन्य पक्षियों के साथ मिलते हैं । कहीं कहीं वे हंसों के साथ हैं - "हंसै: ससारस कुलै: प्रतिनादितानि सीमान्तराणि जनयन्ति नृणां प्रमोदम्" ऋतु. २-१६ । कहीं उनका उल्लेख पारिप्लवों के साथ है । "आलक्ष्य पारिप्लव सारसानि... पम्पासलिलानि" (रघु.१३-३०) । शरद् में, जैसा ऊपर कहा हैं, वे सीमान्तरों मे उड़ते बोलते हैं क्योंकि बस्ती से दूर रहना उनका स्वभाव है । गाँव के किनारे नदी या तडाग के तट पर वे रहते हैं । ग्रीष्म में जब गज इकट्ठे होकर किसी सर में ऊधम मचाते हैं तो बेचारे सारस डर कर भाग जाते हैं -"द्रुत भीत सारस... कृतं सर:" ऋतु. १-१९ । कालिदास सारस की बोली को "पटु और कल" कहते हैं । मेघोंदयकाल में शिप्रावात उन्हें मद से भी भर देता है - "दीर्घीकर्वन् पटुमदकलंकूजितं सारसानाम्"- पूर्व मेघ -३१ । बात प्रेरित होकर वे देर तक बोलते रहते हैं, यदि वह शिप्रावात के समान "स्फुटित कमलामोद मैत्री कषाय" हो । यों भी सारस श्रेणीबद्ध होकर चलिततोरण माला का दृश्य प्रस्तुत करते हुए बोलते चलते हैं, भले ही उनकी बोली को सब लोग कालिदास के समान "कलनिर्ह्लाद" स्वीकार न करें —

श्रेणी बन्धाद् वितन्वद्भिरस्तम्भां तोरणस्त्रजम्।

सारसै: कल-निर्ह्लादै: क्वचिदुन्नमिताननौ॥ रघु.१-४१

क्रौञ्च

क्रौञ्च और कुरर को कई कोशों नेपर्यायवाची माना है । मोनियर विलियम्स ने इसे A kind of curleut कहा है । कई विद्वान इसे हंस का पर्याय बतलाते है । कुछ लोगों ने इसका अर्थ बगुला किया है । बाल्मीकि की करुणा जिस पर बरसी थी वह क्रौञ्च था । बगुले इतने परस्परासक्त नहीं देखे जाते और न व्याध या निषाद उनका शिकार ही करते हैं । कालिदास ने कुरर,सारस, वक और हंस से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृथक् क्रौञ्च का उल्लेख किया है । षड्ऋतु वर्णन में उन्होंने केवल एक बार क्रौञ्च का नाम लिया है - वह भी शिशर के वर्णन में - "क्वचित् स्थितं क्रौञ्च निनादराजितम्" (ऋतु. ५-१) मेघदूत में उन्होंने क्रौञ्चरन्ध्र का नाम लिया है और उसे "हंसद्वार" कहा है—

हंस-द्वारंभृगुपति-यशोवर्त्मयत्क्रौञ्चरन्ध्रम् ।। पूर्वमेघ-५७

क्रौञ्चरन्ध्र

यदि- हंस द्वार है तो क्रौञ्च और हंस में सामीप्य होना चाहिए और गंगातट के पास पड़ोस के मैदान में, प्रयाग क्षेत्र में उसकी उपस्थिति भी होनी चाहिये । इसक्षेत्र में बतख और मुरगाबी भी श्वेतवर्ण के पाये जाते हें । जो हो, क्रौञ्च हंस की ही एक प्रजाति है, इसमें संदेह नहीं है ।

कुररी

कुररी टिटहरी है जो अरण्य में, नदी या तडाग के तट पर रहती है और बड़े करुण स्वर में चीखती है । सीता के क्रन्दन की समता कवि ने कुररी नाद से की है—

सा मुक्तकण्ठं व्यसनातिभाराच्चक्रन्द विग्ना कुररीव भूयः ।रघु.१४-६८

कादम्ब

कादम्ब का उल्लेख कवि ने दो बार किया है । शरद् ऋतु में कारण्डव, कादम्ब, सारस और हंस नदियों में तैरते, उनके किनारे विहार करते गाते हैं—

कारण्डवानन-विघट्टितवीचिमालाः

कादम्बसारसकुलाकुलतीरदेशाः ।

कुर्वन्ति हंस-विरुतैः परितो जनस्य

प्रीतिं सरोरुह-रजोरुणितास्तटिन्यः ।। ऋतु.३-८

इसमें कादम्ब नदी- तटवासी पक्षी बतलाया गया है और हंस से भिन्न । कादम्ब श्याम वर्ण मेघ को कहते है । इसी अर्थ में संभवतः कालिदास ने निम्नश्लोक में कादम्ब का प्रयोग किया है—

क्वचित्खगानां प्रिय-मानसानां कादम्ब-संसर्गवतीव पंक्तिः ।रघु.१३-५५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ मानसप्रिय खग श्वेत वर्ण हैं और कादम्बश्याम। कादम्ब कलहंस जाति का पक्षी है।

कारण्डव

विक्रमोर्वशीय में कारण्डव दोपहर के समयतडाग के तप्त जल को छोड़ कर तीरस्थनलिनी का सेवन करता मिलता है—

तप्तं वारि विहाय तीरनलिनीं कारण्डवः सेवते। विक्र. २-२२

कारण्डव की चर्चा ऋतु. ३-८ में भी मिलती हैं। संभवत यह बतख है जो पानी में तैरता रहता है और जैसाऊपर कहा है तरंगों में मुँह मारता रहता है।

बलाका

बलाका वक-पंक्ति को कहते हैं। यह प्रावृद् काल में आकाश नापती रहती है किन्तु शरद् आते ही शान्त हो जाती है। शरद् को लक्ष्य कर कालिदास ने कहा है- धुन्वन्ति पक्षपवनैर्नभोवलाकाः। ऋतु. ३-१२। वलाका न केवल प्रावृट् में माला बद्ध होकर बहुत ऊँची उड़ती रहती है, अपितु इस ऋतु में गर्भ भी धारण करती हैं—

गर्भाधानक्षण-परिचायन्नूनमावद्धमालाः,

सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः। मेघ.१-९

कुमार संभव में कवि ने आगे चमकती हुई बिजली वाली वलाकिंनी नील मेघपंक्ति की समता कनकप्रभ चलावतंसा देवमाताओं से की है। इस उपमा में चलती हुई बलाका मातरों के आभूषणों के सदृश बतलायी गयी है—

तं मातरो देवमनुव्रजन्त्यः स्ववाहन-क्षोभचलावतंसाः।

वलाकिनी-नील-पयोद-राजी दूरं पुरः क्षिप्तशतह्रदेव॥ कुमार. ७-२९

सुपर्ण

सुपर्ण आकाश में बहुत ऊँचा और प्रवलवेग के साथ उड़ताहै। उसके पंख सुनहरे और प्रभामय होते हैं। उड़ता है तोउसके वायु वेग से मेघ पीछे खिंचे आते हैं। गर्भवती कोसल्यादि रानियाँ स्वप्न में देखती थी कि सुपर्ण उन्हें पीठ पर बैठायें उड़ा जा रहा है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हेमपक्षप्रभाजालं गगने च वितन्वता।

उह्यन्तेस्म सुपर्णेन वेगाकृष्ट-पयोमुचा॥ रघु.१०-६१

सुपर्ण गरुड़ पक्षी है जो महान् विषैले सर्पों को ही मारता है। सामान्य कोटि के राजिलों-धारीदार मामूली कोटि के सर्पों पर प्रहार नहीं करता-

किं महोरग-विसर्पि-विक्रमो राजिलेषु गरुडः प्रवर्तते॥ रघु.११-२७

गृध्र भी गरुड़ त्राति का पक्षी है। वह भी उड़ता है तो उसके पंखों से तीव्र वायु के झोंके उठते हैं। राक्षसों की सेना केध्वज उनकी पक्षजन्य वायु से उड़ रहे थे—

रक्षसां बलमपश्यदन्तरे गृध्रपक्ष-पवनेरित-ध्वजम्॥ रघु.११-२६

सर्पों के कदन के सम्बन्ध मेंसुपर्ण का यश प्रथित हैं। कालिदास बार बार इस ओर संकेत करते हैं। सुपर्ण विनता की सन्तान होने के कारण वैनतेय कहलाते हैं—

वैनतेय-शमितस्य भोगिनो भोगवेष्टित इव च्युतोमणिः। रघु. ११-५९

मेघनाद के अस्त्र-बन्धन सर्पपाश को गरुड़ ने काटा था-

गरुडापात-विश्लिष्ट मेघनादास्त्रबन्धनः। रघु.१२-७६

सर्पों के वध से वध से गरुड़ को उनकी फणामणि की प्राप्ति होती है—

राशि र्मणीनामिष गारुडानांसपद्मरागः फलितो विभाति। रघु० १३-५३

सौपर्ण अस्त्र का प्रयोग प्राचीन लोग युद्ध काल में भुजङ्गास्त्र के शमन के लिये करते थे—

गारुत्मतं तीर-गतस्तरस्वी भुजङ्गनाशायसमाददेस्त्रम्। रघु.१६-७७

तथा—

सौपर्णमस्त्रं प्रति संजहार। रघु. १६-८

कुश जब सरयू में स्नान कर रहे थे तो उनका वलय नदी में गिर गया। वलय दिव्य था। ढूँढने के सब प्रयत्न जब विफल हो गये और पता यह चला कि यहाँ सरयू हृद्र में कुमुदनामा नाग का निवास है। उसी ने लौल्य के कारण वलय ले लिया है। तब कुश ने उसे मारने के लिये गारुत्मत अस्त्र उठाया किन्तु उसके प्रणत होने पर अस्त्र वापिस ले लिया। वैनतेय अस्त्र राम के पुत्र को पैतृक परम्परा से प्राप्त था। भुजंगराज का संबन्ध कुश के साथ स्थापित हो जाने से उसकी सुपर्णों से होने वाली क्षति का भय जाता रहा—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकः शङ्कांपितृवधरिपोरत्यजद् वैनतेया—

च्छान्त-व्यालामवनिमपरः पौरकान्तः शशास। रघु. १६-८८

गृध्र

गृध्र राक्षसों का केतनचिह्न था। संभवत: वे उनके सैन्य के सहायक थे। इसलिये राक्षसबल केध्वज का वस्त्र गृध्रों के पंखों की वायु के कारण चंचल बतलाया है—

रक्षसां बलमपश्यदम्बरे गृध्र-पक्षपवेनरितध्वजम्। रघु.११-२६

इसलिए कहा है—

सा वाण वर्षिणं रामं योधयित्वा सुरद्विषाम्।

अप्रबोधाय सुष्वाप गृध्रच्छाये वरुथिनी॥ रघु. १२-५०

गृध्र अपशकुन बोधक भी माने जाते है। यहाँ राक्षस सैन्य के गृध्रच्छाय में सोने के दो कारण हो सकते हैं- एक ध्वज पर गृध्र चिह्न का अंकित होना और दूसरा मृत योद्धाओं पर गृध्रों का मँडराना।

शुक

कालिदास की दृष्टि सर्वप्रथम शुक के मुख की ओर गयी है और उन्होंने उसे किंशुक का उपमान बनाया है- किं किंशुकैः शुक-मुखच्छविभिर्नभिन्नम्-ऋतु. ६-२२। रघुवंश में क्रीडापतत्री के रुप में उसका उल्लेख है जिसे अतिथि के राजतिलक के अवसर पर अन्य पक्षियों के साथ मुक्त कर दियागया था-

क्रीडापतित्रणोप्यस्य पञ्जरस्थाः शुकादयः।

लब्धमोक्षास्तदादेशाद् यथेष्टगतयोभवन्॥ रघु.१७-२०

धनिक लोगों के अपने स्वतन्त्र क्रीडावेश्मं होते थे जिनमें शुक सारिका आदि क्रीडा पक्षी भी पले रहते थे। ऐसा ही कोई पालित शुक मध्याह्न वेला में क्लान्त हो जल माँग रहा है—

क्रीडावेश्मनि चैव पञ्जरशुकः क्लान्तोजलं पाचते। विक्रमो. २-२२

और पुरुरवा अपनी प्रिया के स्तनांशुक को उसके रंग से पहचानता है जो शुकोदर के समान हरित है—

च्युतंरुषा भिन्नगतेरसंशयं शुकोदरश्याममिदं स्तनांशुकम्। विक्रमो.४-७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सारिका

क्रीड़ापक्षियों में सारिका का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है किन्तु कालिदास ने उसकी चर्चा बहुत कम की है । मेघदूत में यक्ष की पत्नी अवश्य सारिका से पूछती है - जरा बता तो, क्या तुझे उनकी याद आती हैं । तुझें तो वे बहुत प्यार करते थे—

पृच्छन्तीवा मधुर-वचनां सारिकां पञ्जरस्थां,

काचिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्यप्रियेति । मेघ. २-२२

यहाँ मधुर वचना और रसिका ये दोनों पद सारिका के गुणों पर प्रकार डालते हैं ।

(कपोत) पारावत

कपोल का रंग कर्वुर (कबरा) होता था । विलाप करती हुई रति अपने पति के शरीर भस्म को कपोत कर्बुर बतलाती है । भस्म का रंग हल्काकाला औरसफेद होता है—

तदिदं कणशो विकीर्यते पवनैर्भस्म कपोत-कर्बुरम् ।कुमार.४-२७

ये प्रायः भवन की वलभि (छज्जों) पर रात्रि विश्राम करते हैं—

तां कस्यांचिद्भवन-वलभौ सुप्तपारावतायाम् । मेघ.१-३८

किन्तु मध्याह्न के समय धूप से ये वलभियाँ खूब गर्म हो जाती है । तब पारावत किसी अन्य स्थान में जा छिपते हैं—

सौधान्यत्यर्थतापाद् वलभिपरिचय-द्वेषि पारावतानि ।माल. २-१२

इन वलभियों मे से होकर घर का धुआँ निकलता है तो उससे पारावतों की भ्रान्ति होती है । लगता है, पारावत वलभियों से निकल कर बाहर जा रहे हैं—

धूपैर्जाल विनिःसृतैर्वलभयः संदिग्ध-पारावताः । विक्रमो. ३-२

हारीत

मलयाद्रि की उपत्यका में कवि ने हारीत की उपस्थिति बतलायी है । वहाँ वे काली मिर्च की झाड़ियों पर निवास करते हैं और रघु के राजतुरगो के कारण उद्भ्रान्त होगये थे—"

वलैरध्युषितास्तस्य विजिगीषोर्गताध्वनः ।

मारीचोद्भ्रान्त-हारीता मलयाद्रेरुपत्यकाः ॥ रघु.४-४६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वन्य एवं ग्राम्य पशु

सिंह

कालिदास ने विन्ध्य वनों में प्रायः सिंह की उपस्थिति बतलायी है। ऋतु संहार जो विन्ध्य से प्रारम्भ होता है, ग्रीष्म ऋतु में सिंह की दयनीय स्थिति का चित्रण करता है। गर्मी के मारे वह जीभ बाहर निकाले बुरी तरह हॉफ रहा है। उसके केसर (गर्दन केऊपर के लम्बे बाल) हाँफने के कारण हिल रहे हैं। लम्बी लम्बी साँसे खींचता वह मुँह फैलाये पड़ा है। प्यास के मारे उस की सारी शक्ति जैसे नष्ट हो गयी है। उसमें इतनी शक्ति भी नहीं कि समीप-स्थित हाथी पर प्रहार कर सके। यही स्थिति हाथियों की है। यह जानते हुए कि सिंह पार्श्वस्थ है वे भागते नहीं, भागने का सामर्थ्य ही उनमें शेष नहीं है। बड़ा स्वाभाविक वर्णन है यह और सूक्ष्म अवलोकन के द्वारा ही संभव है। बिहारी सहित अनेक हिन्दी कवियों ने इसका अनुकरण किया है। देखें—

तृषा महत्या हत-विक्रमोद्यमः श्वसन् मुहुर्दूर-विदारिताननः।

न हन्त्यदूरेपि गजान् मृगेश्वरो विलोलजिह्वश्चलिताग्रकेसरः॥

प्रवृद्ध तृष्णोपहता जलार्थिनो न दन्तिनः केसरिणोपि विभ्यति॥

ऋतु.१-१४,१५

इस प्रकार वह शत्रु भाव छोड़कर गजों और गवयों के साथ सुहृद्-भाव से रहता है और इसका कारण है इन सब का समान रुप से वह्नि-संतप्त होना—

गजगवयमृगेन्द्रा वह्निसन्तप्त-देहाः सुहृद इव समेता द्वन्द्वभावं विहाय॥

ऋतु. १-२७

ये ही सिंह हिमालय के अंचल गें गजों पर खुलकर प्रहार करते हैं। वे मुक्तावान् मदवर्षी गजों का मस्तक चीरते हैं तो मुक्ता उनके पंजों में फँस जाते हैं और मार्ग में गिरते चलते हैं। मुक्ताओं को देखकर ही किरात उनके गमन मार्ग को पहचानते और उनसे अपनी रक्षा करते हैं—

विदन्तिमार्गं नखरन्ध्रमुक्तैर्मुक्ता फलैः केसरिणां किराताः। कुमार.१-६

सिंह गज पर ही नहीं, गो पर भी आक्रमण करता है। वशिष्ठ की धेनु नन्दिनी भी उसके आक्रमण की शिकार बनी थी—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलक्षिताभ्युत्पतनो नृपेण प्रसह्य सिंहः किल तांचकर्ष ॥ रघु. २-२७

हिमगिरि पर रघु, आक्रमण करता है तो उसके सैन्य के घोष का स्वर दूर दूर तक निनादित होता है । सिंहों की गुहाओं में भी वह प्रसृत होता है किन्तु सिंह क्याकुछ कम है ! रघु नरराज और सिंह मृग राज । दोनों तुल्यबल । इसलिये सिंह सैन्य घोष से संभ्रमित नहीं होते । बस घूम कर एक बार देख भर लेते हैं—

शशंस तुल्य-सत्त्वानां सैन्यघोषेप्यसंभ्रमम् ।

गुहाशयानां सिंहानां परिवृत्यावलोकितम् ॥ रघु. ४-७२

सिंह ऊँचे पर्वतों पर मोटी परतदार शिलाओं की सीढ़ियों पर पाँच रख रख कर ऊपर तक चढ़ जाता है । गायें और बकरियाँ जिस प्रकार दुर्गम घाटियों की पालों में भी चरते पहुँच जाती है, उस प्रकार सिंह नहीं चढ़ पाता । वह क्रमशः एक एक आरोही शिला परपाँव जमाता हुआ सोपान मार्ग से ऊपर जाता है । कवि ने इस तथ्य को उपमा के रुप में उजागर किया है—

वैदर्भ-निर्दिष्टमसौ कुमारः क्लृप्तेन सोपानपथेन मञ्चम् ।

शिलाविभङ्गैर्मृगराज-शावस्तुङ्गंनगोत्सङ्गमिवारुरोह ॥ रघु.६-३

जहाँ नरराज है, वहाँ कालिदास की लेखनी किसी न किसी व्याज से गजराज को लाकर उपस्थित कर ही देती है । दशरथ मृगया को निकलते हैं तो उनका धनूरव सब से पहले केसिरयों में ही क्रोध जगाता है—

धनुरधिज्यमनाधिरुपाददे नरवरो रव-रोषित-केसरी ॥ रघु. ९-५४

आखिर नृपति शिकार करेगा तो मृगपतियों का ही । समानों से ही तो वैर औरसख्य की सार्थकता होती है ।सिंह मृगराज है । दशरथ पहले अपनी ज्या के टंकार से सिंहों को उत्तेजित करते हैं जिससे वे झपट्टा मारें और वह वाणों से उन्हें आहत कर सकें-

निर्धातोग्रैः कुञ्जलीनाञ्जिघांसु र्ज्यानिर्घोषैःक्षोभयामास सिंहान् ।

नूनंतेषामभ्यसूया-परो ऽभूद्वीर्योदग्रे राज-शब्दे मृगेषु ॥ रघु.८-६४

अन्यों के राज विशेषण के प्रति राजा का अभ्यसूया-ग्रस्त होना स्वाभाविक है, विशेषतः तब, जब कि प्रतिद्वन्द्वी भी वीर्योदग्र हो । भला यह कैसे संभव था कि ललकार सुनकर सिंह गुहा से बाहर न आता । सिंहों ने उछलकर आक्रमण किया किन्तु दशरथ ने क्षिप्रता से वाण चलाने की विशेष शिक्षा प्राप्त की थी । इस लिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब सिंह आक्रमण कर समीप आये, उससे पूर्व ही दशरथ ने उनके मुख को वाणों से भरकर उसे तूणीर कर दिया—

व्याघ्रानभीरभिमुखोत्पतितान् गुहाभ्यः,

फुल्लासनाग्र-विटपानिव वायुरुग्णान्।

शिक्षा-विशेष-लघुहस्ततया निमेषात्,

तूणीचकार शर-पूरित वक्त्ररन्ध्रान्॥ रघु. ९-६३

सिंह गिरियों पर और वनों में तो निवास करते ही है जब अयोध्या जैसी राजधानी वीरान हो जाती है तो वहाँ भी विचरण करने लगते है। अयोध्या की अधिदेवता रो रोकर स्वप्न में कुश को अपनी दुर्गति बतलाती हुई कहती हैं-

सोपान-मार्गेषु च येषु रामा निक्षिप्तवत्यश्चरणान् सरागान्।

सद्योहतन्यङ्कुभिरस्त्रदिग्धं व्याघ्रैः पदं तेषु निधीयते मे।

चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दन्तमृणालभङ्गाः।

नखाङ्कुशाधातविदीर्ण-कुम्भाः संरब्ध-सिंह-प्रहृतं वहन्ति। रघु. १६-१५,१६

मेरे हर्म्यों की सीढ़ियाँ है। कभी उन पर लाक्षारागरञ्जित प्रमदाओं केपैर पड़ते थे किन्तु अव हिरनों वारहसिंहों को मार कर ताजे खून सने पैरों के साथ सिंह उन पर पाद-निक्षेप करते घूमते है। इतना ही नहीं, वे चित्रों मे आलिखित हाथियों के जो पद्म-वनों में विहार करते हुए करेणुओं के हाथों से मृणाल खण्ड लेते दिखाये गये है, मस्तकों को अपने अंकुश जैसे नखों से विदीर्ण करते है और बेचारे चित्र-द्विप उनकी क्रोध भरी चोटे सहन करते हैं।

रघुवंश में एक राजा ध्रुव सन्धि हुआ जो मृगया करता हुआ सिंह के द्वारा मृत्यु को प्राप्त हुआ। सारे वंश में सिंह के द्वारा किसी के विपन्न होने का यह पहला प्रसंग था। उसकी मृत्यु के समय उसका सुदर्शन नामक पुत्र शिशु ही था। कालिदास ने इस प्रसंग को सरल शब्दों में किन्तु अपनी स्वाभाविक उपमा-मण्डित शैली में प्रस्तुत किया है—

सुते शिशावेव सुदर्शनाख्ये दर्शात्ययेन्दु- प्रियदर्शने सः।

मृगायताक्षो मृगयाबिहारी सिंहादवापद् विपदं नृसिंहः।

रघोः कुलं कुड्मलपुष्करेण तोयेन चाप्रौढ़नरेन्द्रमासीत्॥ रघु.१८-३५,३६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महान् शासक पातकियों से प्रजा की रक्षा के लिये सदा सन्नद्ध रहते थे। दुष्यन्त भी पिशाच को ललकारता हुआ शार्दूल के माध्यम से अपनी बात कहता है—

एष त्वामभिनव- कण्ठशोणितार्थी शार्दूलः पशुमिव हन्मि चेष्टमानम्।

शकु. ६-२६

शार्दूल सिंह की ही प्रजाति है जो पशुओं पर सहसा आक्रमण के लिये प्रसिद्ध है।/ सिंह का गर्जन ऐसा भीषक होता है कि पर्वतों की गुफा से उठने वाली उसकी प्रतिध्वनि भी नागों को मूर्च्छित कर देती है- वसुधाधर-"कन्दरा-विसर्पी प्रति शब्दोपि हरें र्हिनस्ति नागान्" ॥ विक्रमो. १-१७। ऐसे भीषण प्राणी के शावक के दाँत यदि कोई मानव शिशु उसका मुँह फाड़ कर गिनता दिख जाय तो आप को कैसा लगेगा ! किन्तु शकुन्तला का पुत्र यही कर रहा है—

अर्धपीतस्तनंमातुरामर्दक्लिष्ट केसरम्।

प्रक्रीडितुं सिंह-शिशुं वलात्कारेण कर्षति।। शकु. ७-१४

बालः-यिंमलेशिंह-शावका यिंम देताई दे गणइश्शं।

सिंह का शावक माँ का दूध पह रहा है और शकुन्तला काबालक बाल पकड़कर उसे अपने साथ खेलने के लिये जोर से खींच रहा है। कहता है मुँह खोल, मैं तेरे दाँत गिनूँगा।

गज

कालिदास ने राजा के रुप में अनंग का चित्रण करते हुए मलयानिल की उपमा उसके वाहन गज से दी है- मत्तेभो मलयानिलः(ऋतु. ६-३८)। यह संभवतः इसलिये कि गज मस्ती में झूमता चलता है और मलयपवन भी। ग्रीष्म ऋतु में उस वेचारे की दुर्गति हो जाती है। कालिदास ने निर्जन विन्ध्य में हाथियों को ग्रीष्म में तड़पते देखा था। हाँ गर्मी के मारे बेचारों का कण्ठ सूख जाता है। मुँह से झाग गिरने लगते हैं। प्यास के मारे बेचैन वे जल की तलाश में इधर-उधर भटकते हैं। ऐसे में सिंह भी सामने आ गया तो कोई चिन्ता नहीं। प्राण यों ही निकल रहे हैं, फिर भय कैसा ?

विशुष्क-कण्ठोद्गत सीकराम्भसो-गभस्तिभिर्भानुमतोनुतापिताः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवृद्धतृष्णोपहता जलार्थिनो न दन्तिनः केसरिणोपिविभ्यति ।। ऋतु.१-१५

और केसरी भी तोउतना व्यथित रहता है । उसमें इतनी शक्ति कहाँ कि गज पर आक्रमण कर सके -"न हन्त्यदूरेपि गजान् मृगेश्वरो विलोल जिह्वश्चलिताग्रकेसरः" । फल यह कि गज, गवय और मृगेन्द्र शत्रु भाव को भूलकर सौहार्द के साथ एक ही स्थान पर रहते है—

गजगवयमृगेन्द्रा वह्नि- सन्तप्तदेहाः सुहृदइव समेता द्वन्द्वभावं विहाय।

ऋतु १-१४

वर्षा काल आते ही स्थिति परिवर्तित हो जाती है । उद्धत राजा के समान वह प्रावृट् मेघ के मत्त कुंजर पर चढ़ कर आती है—

ससीकराम्भोधर-मत्तकुञ्जरः समागतोराजवदुद्धत-द्युति ।। ऋतु.२-९

बादल गरजते है तोउनके साथ मस्त हो कर वन्य हाथी भी दहाड़ने लगते हैं ।नीलोत्पल जैसे उनके गण्डस्थल मदजल से भीग उठते है और उन पर भ्रमर मँडराने लगते हैं—

वनद्विपानां नववारिदस्वनै र्मदान्वितानांध्वनतां मुहुर्मुहुः ।

कपोल-देशाविमलोत्पल प्रभाः सभृङ्ग-यूथैर्मदवारिभिश्चिताः ।। ऋतु.२-१५

मेघदूत में गज की वप्रक्रीडा काउल्लेख कालिदासने किया है । मेघ जब उमड़कर पर्वत के शिखर को आच्छादित करता है तो हाथी की विप्रक्रीडा का दृश्य उपस्थित होता है ।वप्रक्रीडा एक प्रकार की उत्खात (उखाड़ने की) क्रीडा है । हाथी आनन्द में दौड़ दौड़ कर पर्वत की शिलाओं को अपने दाँतो से नीचे गिराता है, ऐसे ही जैसे कभी कभी साँड़ सामने के वृक्ष या किसी उच्चित वस्तु को बार बार सिर से टक्कर मार मार गिराने का प्रयत्न करता है । इस दृश्य ने कालिदास को आकृष्ट किया था—

आषाढस्य प्रथम दिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं,

वप्रक्रीडा-परिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ।। पूर्व मेघ.२

मस्ती भरा वप्रक्रीडा का दृश्य पर्वतों पर ही ही सुलभ होता है किन्तु आषाढ़ की प्रथम वर्षा के साथ पृथिवी से निकलने वाली सोंधी गन्ध से तो हाथी पागल ही हो उठता है । चारों ओर बलबलाते हुए पानी के झरनों की ध्वनि से मिली और मिट्टी की गन्ध को आत्मा में समोये जो शीत वायु वर्षारम्भ में बहती है उसे सूँड ऊपर उठा कर उसे पीते हुए हाथी कभी अघाते नहीं । कहा है पूर्व मेघ में—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसित-वसुधागन्ध-संपर्करम्यः,

स्रोतो-रन्ध्रध्वनित- सुभगं दन्तिभिः पीयमानः ।।४२

यही बात कवि ने रघुवंश में सुदक्षिणा के दौर्हद के प्रसंग में भी कही हैं। गर्भवती स्त्री के मुख से मिट्टी की सोंधी गंध आती है तो पति (दिलीप) उसे बार बार सूँध कर भी थकता नहीं - ठीक उसी प्रकार जैसे वर्षारम्भ में बूँदों से सिक्त पोखर से उठने वाली गन्ध को सूँघते हुए हाथी नहीं थकता—

तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो रहस्युपाघ्राय न तृप्तिमाययौ।

करीव सिक्तं पृषतैः पयोमुचां घनव्यपाये वनराजि-पल्वलम्।। रघु. ३-३

गजों के कपोलो में जब खुजली होती है तो वे उसे मिटाने के लिये देवदारु के तने से अपनी कनपटी रगड़ते है। इससे उनकी छाल उखड़ जाती है और वृक्ष से दूध निकल आता है। अन्य कई वृक्षों के समान देवदारु भी क्षीरी है और उसके क्षीर की गन्ध हिमालय की चोटियों में बिखर जाती है। कहा है—

कपोल-कण्डूः करिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरल- द्रुमाणाम्।

यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूतः सानूनिगन्धः सुरभिः करोति।। कुमार१-८

यह दृश्य हिमालय पर ही सम्भव है क्योंकि देवदारु वही होते हैं। कालिदास ने रघुवंश में भी इस बात को कहा है। शिव ने देवदारु का एक पेड़ हिमगिरि पर लगाया, पार्वती ने स्वयं घड़े भर भर कर उसे सींचा किन्तु एक दिन किसी वन्य गज ने रगड़ रगड़ कर उसकी छाल उखाड़ डाली। कालिदास कहते हैं—

अमुं पुरा पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोसौ वृषभध्वजेन।

कण्डूयमानेन कटं कदाचिद् वन्यद्विपेनोन्मथितात्वगस्य।। रघु.२-३६,७

गज पालित होते हैं और वन्य भी पालने के लिये वन्य गज शैशवावस्था में पकड़े जाते हैं। प्रौढ़ गजों का शिकार किरात लोग करते थे। गज कभी कभी मद से पागल हो जाते हैं। मदस्रावी जरठ हाथी के मस्तक में मुक्ता रहता है, यह विश्वास भी लोगों में है। इन दो कारणों से मत्त हाथी का शिकार करने की प्रथा किरातों में रही है। शिव स्वयं आर्द्र गज चर्म पहनते थे, विशेषतः नृत्य के प्रारम्भ में। कहा जाता है कि गजासुर के मर्दन के पश्चात् शिव ने उसी की कृत्तिपहन कर ताण्डव किया था। शिव का किरात वेषधारण करना अनेक पौराणिक कथाओं में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्णित है । इससे भी किरात लोगों में हाथी के शिकार की प्रथा का पता चलता है । इसीलिये मेघदूत का यक्ष मेघ से कहता है कि उज्जयिनी में सायंकाल के समय जब शिव ताण्डव नृत्य प्रारम्भ करें तो तुम उनकी भुजाओं के अन्तराल में समा जाना । उस समय तुम्हारे काले वर्ण पर अस्तमन बेला की लाल छाया पड़ेगी और तुम्हारा रंग ताजे खिले हुए जपा के फूल की तरह लाल हो जायगा औरशिव को लगेगा कि उन्होंने गज का आर्द्र चर्म पहन लिया है—

सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्प-रक्तं दधानः ।

नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द नागाजिनेच्छाम् ।। पू.मेघ३६

कालिदास ने शिव को अनेक बार कृत्तिवास या गजचर्मधारी कहा है (कुमार.१-५४ आदि) । पार्वती की परीक्षा लेते हुए बटु ने भी शिव के आर्द गजाजिन की बात कही थी-

त्वमेवतावत् परिचित्तय स्वयं कदाचिदेते यदि योगमर्हतः ।

वधू-दुकूलं कलहंस-लक्षणं गजाजिनं शोषित-बिन्दु-वर्षि च ।। कुमार.५-६१

चर्म के अतिरिक्त गज के दाँतों का बहुलता के साथ उल्लेख कालिदास ने किया है । उन्होंने कैलास को तुरन्त काटे गये हाथी दाँत के टुकड़े के समान सफेद बतलाया है- "सद्यः कृत्त-द्विरद-दशनच्छेद-गौरस्य-तस्य" ।पूर्व.मेघ.५९

जब उसका कट फूटता है तो—वह कलभ से गिज वन जाता है और विशेष शक्तिशाली भी (रघु.३-३२) किन्दु प्रौढ़ावस्था में वह बहुत दुःसह हो जाता है । (रघु ३-३६) गज शावक कोकलभ कहते है । कालिदास ने मेघ के छोटे खण्ड को कलभतनु (उत्तरमेघ१९) कहा है । वृद्ध गज के मस्तक से मदस्राव तो होता ही है, उसके शरीर पर लाल चकत्ते भी पड़ जाते हैं । ये पद्मक कहलाते है । भूर्ज के पत्र पर भी इसी प्रकार के बिन्दु रहते हैं । इसीलिये कालिदास ने भूर्जत्वक् को कुंजर बिन्दु के समान रक्तवर्ण कहा है । (कुमार १-७) ऐसे हाथियों के मस्तक से मुक्ता निकलते हैं जो गजमुक्ता कहलाते हैं । इस तथ्य की चर्चा कवि ने काव्योचित अतिशयोक्ति के साथ की है—

किरातों को पता रहता है कि रात को सिंह ने किस पशु का शिकार किया है । मृतपशु केरक्त बिन्दुओं केसहारे वे इस बात का पता लगाते हैं कि सिंह अपने शिकार को लेकर किधर गया है क्योंकि आहत पशु जिधर भागता है,सिंह उधर उसका पीछा करता है । रक्त बिन्दुओं के सहारे किरात इस बात का पता लगा लेते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं कि सिंह इस समय कहाँ होगा और मृत पशु कहाँ पड़ा होगा । इससे वे आत्मरक्षा के लिये सावधान हो जाते है और सम्भव हुआ तो सिंह का शिकार करलेते हैं अन्यथा मृतपशु के शृंग, दन्त, चर्म आदि उपयोगी अंग तो ले ही जाते हैं । जब हिमालय पर बर्फ गिरने लगती है तो तुषार सेढँक जाने के कारण रक्त दिखायी नहीं देता क्योंकि दिन में जब बर्फ पिघल कर वह जाता है है तो उसके साथ रक्त भी बह जाता है और सिंह के मार्ग का पता लगाना कठिन हो जाता है । मत्त गज के सम्बन्ध में यह कठिनाई प्राय: नहीं होती क्योंकि मस्तक फाड़ते समय सिंह के पंजे में जो मुक्ता फँस जाते हैं वे मार्ग में गिरते चलते हैं जिन्हें देखकर किरात सिंह के जाने का मार्ग जान लेते हैं । कुमार-संभव में कवि ने इस स्थिति कीओर ध्यान खींचा है—

पदं तुषार- स्त्रुतिधौत-रक्तं यस्मिन्नदृष्टाऽपिहतद्विपानाम्।

विदन्ति मार्गं नखरन्ध्र-मुक्तै र्मुक्ताफलैः केसरिणां किराताः ।। कुमार १-६

गज की सूँड को देखकर कवियों को युवती की वर्तुलाकार उरुओं का स्मरण आ जाता है । अनेक कवियों ने उरु की उपमा उससे दी है । यौवनारुढ पार्वती को देखकर एक बार कालिदास को भी नागेन्द्र हस्त का स्मरण आया किन्तु दूसरे ही क्षण उसकी कर्कशता देखकर उन्होंने उस ओर सेध्यान हटा लिया । भला कहाँ कान्त कोमल उरु और कहाँ कर्कश गजहस्त—

नागेन्द्रहस्तास्त्वचिकर्कशत्वा देकान्तशैत्यात् कदली-विशेषाः

लब्ध्वापि लोके परिणाहि रुपं जातास्तदूर्वोरुपमान-वाह्याः ।कुमार.१-३६

मादा गज को करेणु कहते हैं । गज और करेणु को जिन लोगों ने साथ साथ विहार करते देखा है, वे उनके हार्द स्नेह का अनुमान कर सकते हैं । कितनी ममता से वह नहलाता है करेणु कोउसकी पीठ पर पानी डाल डाल कर और कैसे स्निग्धभाव से वह सूँड में जल भर भर गज के मुख में डालती है और उसे पिलाती है और जल यदि कमल की रेणु से सुवासित हुआ तब तो कहना ही क्या? कालिदास ने यह दृश्य देखा था । तभी तो बसन्त के वर्णन में वह कहते है—

ददौ रसात् पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलंकरेणुः । कुमार ३-३६

दिग्गजों और सुरगज ऐरावत का उल्लेख कालिदास की कृतियों में अनेक बार हुआ है । मेघदूत में यक्ष ने मेघ को प्रस्थान केसाथ ही पहले दिङ्नागों के स्थूल हस्तावलेपों से बच कर आगे बढ़ने को कहा (मेघ १-१४) किन्तु कुमारसंभव में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिग्गजों को व्योमगंगा के पास बतलाया व्योम गङ्गाप्रवाहेषु दिङ्नागमद-गन्धिषु। (कुमार. ६-५) और कुमार संभव में जब कामदहन के प्रसंग में पार्वती रुद्र के क्रोध से डर कर मूर्छित हो जाती है और उसका पिता उसे दोनों हाथों में उठाकर घर ले चलता है तो कालिदास को एक उपमा सूझती है - सुरगज इवविभ्रत् पद्मिनीं दन्तलग्नाम्। कुमार.३-७६। उपमा बड़ी सुन्दर है। हिमालय आकृत्या विशाल और गौर वर्ण तोऐरावत भी विपुलकाय और धवल वर्ण। इधर दो हाथ तो उधर दो दन्त और उनके बीच इधर निश्चेष्ट पार्वती तो उधर कुम्हलायी हुई पद्मिनी। दिग्वारणों द्वारा मन्दाकिनी के जल को मलिन कर डालने की बात भी कवि कहा है- मन्दाकिन्या: पय: शेषं दिग्वारणमदाविलम्- कुमार २-४४।

गज का स्वभाव है वृक्षों को तोडकर गिराना। वृक्ष गिरते हैं तो उस पर फैली हुई बेल भी उनके साथ गिर जाती है—

अनपायिनि संश्रय-द्रुमे गजभग्ने पतनाय वल्लरी। कुमार.४-३१

कालिदास ने मानस सर के पास द्विरदों कीउपस्थिति बतलायी है जिसका प्रसन्न जल द्विरदों के मदजल से मिलकर दूषित होता है। उनका अवगाहन भी उसे दूषित बनाता है।

लक्ष्यते द्विरदभोगदूषितं सप्रसादमिव मानसं सरः। कुमार.६-६४

प्रश्न यह कि क्यामानसक्षेत्र में वन्य गज रहते हैं? उपमान वाक्य होने से उसकी सत्ता वास्तविक होना आवश्यक है? उसी प्रकार आकाश गंगा में दिग्गजों की उपस्थिति भी काल्पनिक मात्र है— रघु. १-७८।

हाथी के मस्तक परसुन्दर चित्र रचना करने की प्रथा बहुत पुरानी है। यह मस्तक से प्रारम्भ होकर सूँड के नीचे भाग तक रक्त श्वेत आदि वर्णकों से की जाती है। ऊँचे नीचे पर्वतीय स्थलों में जब चाँदनी पडती है तो वीच में अँधेरा भी बना रहता है। इसी से चित्रित हाथी की भक्ति के बीच मेंदिखता कालाचर्म—

उन्नतावनत-भाववत्तया चन्द्रिका सतिमिरा गिरेरियम्।

भक्तिभिर्बहुविधाभि रर्पिताभाति भूतिरिवमत्तहस्तिनः।कुमार८-६९

कालिदास ने ऐसे दन्ती की चर्चा की है जिसके पाँव में डाली गयी जंजीर आलान) उसे बहुत पीड़ा देती है। बाद में ढट्ठे पड़ जाने से वह सह्य हो जाती है—

अरुन्तुदमिवालानमनिर्वाणस्य दन्तिनः। रघु.१-७१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाथी के चलाने की क्रिया अस्फालन कहलाती है। बार बार आतोद या अंकुश के मस्तक में गड़ाने निकालने और मस्तक को ताडित करने वाले आधोरण की अंगुलियों की खाल कर्कश हो जाती है। कवि को इस बात की भी जानकारी थी—

सुरद्विपास्फालन-कर्कशाङ्गुलौ...भुजे...निचखानसायकम्। रघु. ३-५५

कालिदास को भारत में उन स्थानों कीसही जानकारी थी जहाँ उस समय हाथी प्रचुर संख्या में पाये जाते थे। उत्कल और कलिंग हाथियों के लिये प्रसिद्ध थे। दिग्विजयके प्रसंग में रघु जब कपिशा नदी को पार कर कलिड्ग की ओर बढ़ता है तो और उसकी कुश जब अपनी नयी राजधानी कुशावती से अयोध्या को प्रस्थान करता है तो मार्ग में उसकी सेना गजों का ही सेतु बनाकर गड्गा को पार करती है- "तीर्थे तदीये गजसेतु बन्धात् प्रतीपामुत्तरततोस्य गङ्गाम्" रघु.१६-३३। उत्कल लोग उसे मार्ग दिखलाते हैं और सीमा में प्रवेश करने पर कलिड्ग राज गज सेना लेकर उसका सामना करना है। (रघु. ४-४०) कलिंग और उत्कल के वीच उसे महेन्द्र पर्वत मिलता है जहाँ वह अपना प्रताप इस प्रकार स्थापित करता है जैसे चालक गम्भीरवेदी गज के मस्तक में अड्कुश गाड़ता है। यह उपमा तो श्रेष्ठ है ही। महेन्द्र पर्वत द्विरद है। उसका शिखर द्विरद का मस्तक है। पर्वत द्विरद के समान सामान्य प्रहार से क्षुब्ध नहीं होता। उस पर गाड़ा हुआ रघु का केतन नियन्त्रक अड्कुश है और रघु यन्ता।

कालिदास क्षिप्रवेदी औरगम्भीरवेदी द्विरद के अन्तर कोजानते हैं। प्रथम प्रकार के द्विरद की चाल को चालक मस्तक पर पादप्रहार के विविध प्रकारों से नियन्त्रित करता है किन्तु गम्भीर वेदी के मस्तक में गहरा अंकुश चुभोना पड़ता है। इसी बात को लक्ष्य कर वह कहते हैं—

स प्रतापं महेन्द्रस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णं न्यवेशयत्।

अड्कुशं द्विरदस्येव यन्ता गम्भीरवेदिनः॥ रघु. ४-३९

राजा लोग सामान्य वाहन के रुप में गज का प्रयोग करते थे। रघुद्विरद गामी है—

सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना

तेन सिंहासनं पित्र्यमखिलं चारिमण्डलम्॥ रघु.४-४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गज सेना के अनिवार्य अंग थे । रघु जब मलयाद्रि की उपत्यका में पहुँचता है और अश्व वहाँ के इलायची के वृक्षों को झकझोर डालते है तब एलाफलों की रेणु उड़कर मत्तगजों की मदस्रावी कनपटी पर जाकर जम जाती है । वे दोनों तुल्य गन्धी भी है—

ससञ्जुरश्व-क्षुण्णानामेलानामुत्पतिष्णवः ।

तुल्यगन्धिषु मत्तेभकटेषु फल-रेणवः ॥ रघु.४-४७

यहाँ के चन्दन वृक्षों में बड़े बड़े सर्पों के बार बारचढ़ने उतरने से जो मार्ग बन गये थे उनमें जब रस्से डाल दिये गये तो वे बिल्कुल ठीक फँस गये और ठीक तरह कस गये क्योंकि बड़े सर्प और रस्से की चौडाई एक सी हाती है । उन को जब हथियों के कण्ठ में डाल दिया गया तो वे अपनी जगह से सरके नहीं । जो गज त्रिपदी (तीन पैरों में पड़ी हुई श्रृंखला) को भी छिन्न कर डालते थे वे भी रस्से से बँध कर खड़े रहे—

भोगि-वेष्टन-मार्गेषु चन्दनानां समर्पितम् ।

नास्त्रसत् करिणां ग्रैवं त्रिपदी-छेदिनामपि ॥ रघु.४-४९

केरल में पुन्नाग (सुपारी) के वृक्ष बहुत है । उन पर भ्रमर बैठते हैं किन्तु यह हथियों की भी भूमि है । जब गज पुन्नाग वृक्षों के पास से निकलते है तो भ्रमर वृक्षों को छोड़कर गजों के मदवाही कपोलो पर जाबैठते हैं क्योंकि मद की गन्ध पुन्नाग फलों की अपेक्षा अधिक तीव्र होती है- रघु के गज पुन्नागों के पास खजूरों से बाँध दिये थे—

खर्जूरी-स्कन्ध-नद्धानां मदोद्गार-सुगन्धिषु ।

कटेषु करिणां पेतुः पुन्नागेभ्यः शिलीमुखाः । रघु.४-५१

चन्दन और खर्जूरी के समान अक्षोटो के स्कन्ध भी गजबन्धन के काम आते है । कम्बोज अक्षोटों की भूमि है । किन्तु अक्षोट हाथियों के बल से झुक जाते है- (कम्बोजाः) **गजालान-परिक्लिष्टै रक्षोटैः सार्थमानताः ॥** रघु. ४-६९

हिमालय पर देवदारु के वृक्ष गज बाँधने के काम आते हैं । कालिदास का कहना है कि देवदारु के वृक्षों में बँधे हाथियों के गले में पड़े हुए कण्ठों की चमक से समीपस्थ औषधियाँ चमक उठती है औररात्रि में बिना तेल के दीपक का काम करती है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरलासक्त-मातङ्ग-ग्रैवेय-स्फुरितत्विषः ।

आसन्नौषधयो नेतुर्नक्तमस्नेह-दीपिकाः ।। रघु.४-७५

प्राग्ज्योतिषपुर में कालागुरु के वृक्ष गजों की आलानता के काम आते हैं-

तद्गजालानतां प्राप्तैः सह कालागुरुद्रुमैः । रघु.४-९

कामरुप हाथियों के लिये प्रसिद्ध था। वहाँ केराजा ने रघु को मदस्रावी गजभेंट में दिये थे।

तमीशः कामरुपाणां. .भेजे भिन्न-कटैर्नागैः । रघु.४-८३

प्राचीन काल में गज सेना का महत्त्वपूर्ण अंग होता था। कंलिगराज ने रघु के आक्रमण का सामना गजसैन्य के सहारे ही किया था- "प्रति जग्राह कालिङ्ग स्तमस्त्रैर्गजसाधनः" रघु. ४-४०

कालिदास ने रघु के द्वारा महेन्द्र पर्वत के ऊपर अपना तीक्ष्ण प्रभाव जमा देने की उपमा गम्भीर वेदी गज के मस्तक पर महावत के द्वारा अंकुश चुभो देने से की है। महेन्द्र सात कुलपर्वतों में एक है। विष्णु पुराण का कथन है-"महेन्द्रो मलयः सह्यः शक्तिमानृक्षपर्वतः-विन्ध्यश्च परियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः" महेन्द्र कुलपर्वतों में प्रथम है। ऐसे ही गम्भीर वेदी गज हाथियों मेंश्रेष्ठ होता है। यह मदोद्वत होता है और किसी का नियन्त्रण नहीं मानता—

त्वग्भेदाच्छोणित-स्त्रावान्मांसस्य क्रथनादपि ।

आत्मानं या न जानाति सा स्याद् गम्भीर-वेदिता ।

चिरकालेन यो वेत्ति शिक्षां परिचितामपि

गम्भीरवेदी विज्ञेयः स गजो गजवेदिभिः ।

मद का क्षरण करने वाले गज गन्धद्विप कहलाते हैं। कोई गज उनसे लड़ने का साहस नहीं करता। उसके मद की गन्ध से डरकर ही वन्य गज दूर भाग जाते हैं। कालिदास इस तथ्य से भी परिचित थे—

प्रायः प्रताप भग्नत्वादरीणां तस्य दुर्लभः ।

रणो गन्ध-द्विपस्येव गन्धभिन्नान्यदन्तिनः । रघु. १७-७०

ऐसा लगता है कि कालिदास गजपालन की विद्या से परिचित थे। पाल काप्य में कहा है- निर्वाणोत्थान शयनानित्रीणि गज कर्माणि। नहलाना, उठाना सुलाना और बिठाना ये तीन बाते हस्तिपक के कर्तव्य में आती है ऐसा न करने पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाथी को अपना बन्धन-स्तम्भ (आलान) बड़ा पीड़ादायी लगता है वह उसे उखाड़ कर बन्धनमुक्त होना चाहता है यह बात कालिदास ने उपमा द्वारा कही है

असह्यपीडं भगवनृणमत्यन्तमवेहि मे

अरुन्तुदमिवालानमनिर्वाणस्यदन्तिनः । रघु.१-७१

हाथी की मज्जन क्रिया को निर्वाण कहते हैं । गज विद्या में यह पारिभाषिक शब्द है ।

ऊपर वन्य करी की चर्चा हुई है। वैसे साहित्यिक कृतियों में हम सामान्यतया विनीत गजों का ही वर्णन देखते हैं किन्तु कालिदास ने वन्य करी का चित्रण रघुवंश में किया है और वह भी नर्मदा के किनारे । ऋतु संहार और पूर्वमेघ के गज सम्बन्धी वर्णन इन्दुमती स्वयंवर के लिये विदर्भ यात्रा पर निकले ससैन्य गज से सम्बन्धित है । विदर्भ के मार्ग में नर्मदा के किनारे जब उसका सैन्य विश्राम कर रहा था तो रघु ने देखा कि नदी में एक स्थान पर भ्रमर मँडरा रहे हैं और तभी एक वन्य गज धारा के ऊपर निकला । उसकी कपोलपाली मद जल के धुल जाने से निर्मल दिख रही थी । ऋक्षवान् पर्वत पर वप्रक्रीडा करने के कारण उसके दाँत पत्थरों की चोट खाकर कुण्ठित हो गये थे । यद्यपि दाँतों में लगे धातुकण जल में धुल चुके थे तो भी दाँतों की उर्ध्व नील रेखा जिसका रंग शवल दिखायी दे रहा था, वप्र क्रीडा की सूचना दे रही थी । शीघ्रता के साथ जलतरंगों को चीरता तोडफोड मचाने की मुद्रा में सूँड को झटकता हुआ वह तीर की ओर बढ़ा । यद्यपि जल में देर तक डुबकी लगाये रहने से उसका मद्रस्राव रुक गया था किन्तु सामने बहुत से गजों को देखकर उत्तेजना के कारण वह पुनः स्रवित होने लगा । मद का जल संप्तपर्ण के दूध के समान कटु असह्य गन्ध वाला होता है । उसके उस मद की गन्ध पाकर अज की सेना के बड़े बड़े हाथी भी महावतों के आदेश की परवाह न करते हुए पीछे भागने लगे । रथों मे जुते घोड़ों और बैड़ों ने जूं (युग) की रस्सियाँ तोड़ डालीं । बहुत से रथों की धुरियाँ टूट गयी । सैनिक घबरायी हुई स्त्रियों को सम्हालने में लग गये । इस तरह सारा सेना-निवेश अस्त व्यस्त हो गया । रघुवंश में इसका विशद वर्णन है—

अथोपरिष्टाद् भ्रमरैर्भ्रमद्भिः प्राक्सूचितान्तः-सलिलप्रवेशः ।

निर्धौतदानामलगण्डभित्तिर्वन्यःसरित्तो गज उन्ममज्ज ।। रघु ५-४३

निःशेष-विक्षालित-धातुनापि वप्रक्रियामृक्षवतस्तटेषु ।

नीलोर्ध्वरेखा-शवलेन शंसन् दन्तद्वयेनाश्म-विकुण्ठितेन ।।वही ४४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संहार-विक्षेप-लघुक्रियेण हस्तेन तीराभिमुखः सशब्दम्।

वभौ स भिन्दन् वृहतस्तरंगान् वार्यगलाभङ्ग इवप्रवृत्तः ॥ ४५

तस्यैकनागस्य कपोलभित्त्यो र्जलावगाहक्षण-मात्र शान्ता।

वन्येतरानेकप-दर्शनेन पुनर्दिदीपे मद-दुर्दिन श्रीः ॥ ४७

सप्तच्छदक्षीर-कटु प्रवाहमसह्यमाघ्राय मदं तदीयम्।

विलङ्घिताधोरणतीव्र-यत्नाः सेना गजेन्द्रा विमुखावभूवुः ॥ ४८

स छिन्नवन्ध-द्रुतयुग्य शून्यं भग्नाक्षपर्यस्त-रथं क्षणेन।

रामापरित्राण-विहस्त-योधं सेनानिवेशं तुमुलं चकार ॥ वही ४९

वन्य गज के ऐसे आतंक का यथार्थ चित्रण अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। कोई प्रत्यक्षदर्शी ही ऐसा प्रभावकारी चित्र प्रस्तुत कर सकता था। उसे मारें, कि लोग चिल्लाये-युवराज ! राजा के लिये वन्य गज का वध वर्जित है। तब उसने अपना वाण वापिस करके धनुष को अधिक न खींचते हुए उसके कुम्भ पर हल्का सा प्रहार किया—

तमापतवन्तं नृपतेरवध्यो वन्यः करीति श्रुतवान् कुमारः।

निवर्तयिष्यन् विशिखेन कुम्भे जघान नात्यायतकृष्ट शार्ङ्गः ॥ रघु. ५-५०

यह सारा प्रसंग कालिदास की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति, गज-स्वभाव एवं राजधर्म के गूढ ज्ञान का परिचायक है। कालिदास ने गजों के प्रभातकालीन जागरण काएक और मनोरम चित्र प्रस्तुत किया है—

शय्यां जहत्युभयपक्षविनीतनिद्राः

स्तम्बेरमा मुखर श्रृंखल- कर्षिणस्ते।

येषां विभान्ति तरुणारुण-राग योगादि्

भन्नाद्रिगैरिक तटा इव दन्तकोशाः। रघु. ५-७२

रात बीत चुकी है। पक्षी चहचहाने लगे हैं। वृक्षों के तनों से बँधे हाथी उठकर पैरों में बँधी साँकल को खीचते हैं। साँकल झनझनाती है। प्रभातवेला की अरुण सूर्य की लाल किरणें हाथियों के दाँतों पर पड़ती हैं तो ऐसा लगता है जैसे पर्वत के किनारे से टूट कर गेरु के टुकड़े पड़े हुए हों। हाथी का शरीर अद्रि। शुण्डभाग निचला तट और दाँत उससे टूटे गेरुके दो लम्बे टुकड़े।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रातः काल जब गज जागते हैं और जोर जोर से कान फड़फड़ाते हैं तो उनके शब्द से समीपस्थ लोग जाग जाते हैं क्योंकि यह ध्वनि पटह की जैसी होती है—

उषसि स गजयूथ-कर्णतालैः पटुपटहध्वनिभिर्विनीत-निद्रः । रघु ९-७१

ऊपर कहा गया है कि नृपति के लिये वन्य गज का शिकार वर्जित है । अज तो उत्तेजना के क्षणों में भी बतलाने परउसके वध से तुरन्त विरत हो गये थे किन्तु उनके पुत्र दशरथ ने मृगया के कौतुक में जानबूझ कर वन्य द्विरद पर शब्दभेदी वाण फेंका । दुर्भाग्य से वहाँ गज नहीं था । एक तापस बालक तमसा नदी में पानी का घड़ा भर रहा था । उसकी घट् घट् ध्वनि से दशरथ को वहाँ द्विरद के वृंहित की भ्रान्ति हुई थी । इस वर्जित कार्य का फल उन्हें तुरन्त मिल भी गया—

कुम्भपूरणभवः पटुरच्चैरुच्चचार निनदोऽम्भसि तस्याः ।

तत्र स द्विरद-वृंहित-शङ्की शब्दपातिनमिषुं विससर्ज ।। रघु. ९-७३

नृपतेः प्रतिषिद्धमेव तत् कृतवान् पंक्तिरथो विलङ्घ्यतत् ।। वहीं ७४

वैसे घट-पूरण जन्यनिनद औरगज वृंहित में बहुत अन्तर है किन्तु भाग्य-प्रेरणा । वन्यकरी का वृंहित जितना भीषण होता है उतनी ही महान् शक्ति भी उसमें होती है । पर्वतीय शिखरों, बड़े वृक्षों और नदी के कूलों को गिराना उसका सहज व्यवसाय है - यह कालिदास ने स्वयं कही है—

रोधांसि निघ्नन्नवपात-मग्नः करीव वन्यः परुषं ररास ।। रघु. १६-७९

वन्य गन्धद्विप इतना भयंकर होता है कि अन्य गज उसे देखकर ही भाग जाते हैं । उसे उनसे लड़ने की आवश्यकता नहीं होती । इसीलिये तो जैसा ऊपर कहा है गज के सेना-निवेश के सारे गज वन्य द्विप को देखते ही भाग खड़े हुए थे । कहा है—

प्रायः प्रतापभग्नत्वादरीणां तस्य दुर्लभः ।

रणो गन्ध-द्विपस्येव गन्ध-भिन्नान्य दन्तिनः । रघु. १७-७०

इस सिंह को अरण्य में कोई दबा सकता है तो वह है वनराजसिंह । इसीलिये कालिदास ने सिंह को गजास्कन्द (रघु. १७-५२) कहा है ।

उन्होंने उजड़ी हुई अयोध्या का दयनीय चित्र प्रस्तुत करते हुए कहा है कि इसके राजभवन की विथिका में ऐसे चित्र अभिलिखित थे जिनमें द्विप पद्मवन मे विहार करते दिखलाये गये थे और करेणु मृणाल दण्ड तोड़ तोड़ करउन्हें खिला रही थी । हाथियों को कमलनाल खाना बहुत प्रिय है । किन्तु राजधानी के उड़ जाने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर राजभवन में सिंह मुक्त विचरण करते है और उन्होंने चित्रद्विपों को वास्तविक गज समझकर उन पर क्रोध में जो प्रहार किये तो उनके अंकुश जैसे तेज नखों से उन गजों के मस्तक फट गये -

चित्रद्विपाः पद्म-वनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्त-मृणालभङ्गाः ।

नखाङ्कुशाघात-विभिन्न-कुम्भाः संरब्ध-सिंह-प्रहृतंवहन्ति । रघु. १६-१६

विश्वामित्र ने राक्षस वध के लिये जब राम को माँगा तो दशरथ ने कहा -भगवन ! जो काम बड़े बड़े मातङ्गों के लिये भी दुष्कर है उसे मामूली कलभ कैसे कर सकता है ?

अव्रवीच्चभगवत् मतङ्गजैर्यद् वृहदिभरपि कर्म दुष्करम्।

तत्र नाहमनुमन्तुमुत्सहे मोधवृत्ति कलभस्य चेष्टितम्। रघु.११-२९

बाद में दशरथ की यह कल्पना निराधार सिद्ध हुई क्योंकि कलभ यदि गन्ध द्विप हो तो वह बड़े बड़े हाथियों को ठण्ढा करदेता है, यह बात कालिदास ने ही किसी अन्य प्रसंग में विक्रमोर्वशीय में कही है—

शमयति गजानन्यान् गन्धद्विपः कलभोपि सन्। ५-१८

गन्ध द्विप वन्य होता है जो देखने में उतना भारी भरकम तो नहीं, किन्तु शक्तिशाली बहुत होता है—

अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादक्ष्यं

गिरिचर इव नागः प्राणसारंविभर्ति। अभि.शा. २-४

ऐसा गज यदि विदक जाय तो क्या करेगा, इसका अनुमान भी कम्पकारी है। तब वह सामने के वृक्षों के तनों पर दाँतों से जोर जोर से चोट करेगा, भले ही इस साहसिक क्रिया से उसके दाँत टूट जायँ। पैरों से पास पड़ोस की वेलों को रौंदेगा, भले ही वे बैलें उसके पाँवों में लिपकर निगड़ पाश वन जायँ। मृग उसके डर के मारे दूर भाग जायँगे और सारा अरण्य पीडत हो उठेगा। शाकुन्तल में हमारा एक ऐसे ही गज से सामना होता है—

तीव्राघातादभिमुख-तरु-स्कन्ध-भग्नैकदन्तः,

पादाकृष्टव्रततिवलयासंग-संजात-पाशः ।

मूर्तो विघ्नस्तपस इव नोभिन्न सारङ्गयूथो,

धर्मारण्यं विरूजति गजः स्यन्दनालोक-भीतः । अभि. १-:०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसे द्विप यदि किसी के सामने दुम हिलाते दिखते हैं तो वे हैं करेणु। पुष्करिणी में उनके साथ जल विहार करते हैं, पद्म तोड़ कर उनके कन्धों पर रखते हो और सूँड में जलभर भर के उनके ऊपर डालते है-

(रेमे) स्कन्धावलग्नोद्घृतपद्मिनीकः करेणुभिर्वन्य इव द्विपेन्द्रः ॥

या फिर वे गिरि गुहा में आती सिंह गर्जन की प्रतिध्वनि सुनकर चक्कर खा जाते और दुम दबाकर भाग चलते है—

वसुधाधर-कन्दराविसर्पी प्रति शब्दोऽपि हरेर्हिनस्ति नागान्।विक्रमो.१-१७

सिंह के गर्जन से तो उसका सावका कभी कभी पडता है पर करेणु के साथ विहार उसका प्रतिदिन का काम है। करेणु उसे प्यार के साथ ताजे निकले पत्तों वाली सल्लकी तोड़ तोड़ कर खिलाती है सल्लकी के टुकड़े जिनमें से आसव की जैसी सुरभि गन्ध निकलती है—

अयमचिरोद्गतपल्लवमुपनीतं प्रियकरेणु हस्तेन,

अभिलषतु तावदासव-सुरभिरसं सल्लकी भङ्गम्।।विक्रमो.४-२२

गजयूथय या नागाधिराज कोई सामान्य प्राणी नहीं। वन में एक सिंह को छोड दे तो गजराज की प्रतिष्ठा सर्वोपरि है। पुरुरवा बड़े सुन्दर ढंग से उसकी महत्त्व का प्रतिपादन करता है। कहता है—

मामाहुः पृथिवीभृतामधिपतिं, नागाधिराजोभवान्।

अव्युच्छिन्न्-पृथु-प्रवृत्ति भवतोदानं, ममाप्यर्थिषु।

स्त्रीरत्नेषु ममोर्वशी प्रियतमा, यूथे तवेयं वशा,

सर्वंमामनु ते, प्रिया-विरहजां त्वं तु व्यथां माऽनुभूः ॥

मुझे लोग राजाओं का अधिराज कहते हैं तो तुम नागों के अधिराज हो। मैं याचक जनों को दान करने के करण दानी कहा जाता हूँ तो तुम सन्तत और आयत दान (मदजल) के प्रवाह के कारण दानी हो। मेरी प्रियतमा स्त्री-जनों में रत्न है तो तुम्हारी वशाओं (करेणुओं) में। सब कुछ मेरा तुम्हारा एक सा है। भगवान् करे, तुम्हें मेरे समान प्रिया-वियोग की पीड़ा न झेलनी पड़े।

और क्या पुरुरवा के मुख से कालिदास ही नागराज के लिये यह मंगल कामना नहीं कर रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संभवतः, गज अपने आलान-स्तम्भ को पसन्द नहीं करता । उसे उखाड़ फेंकना चाहता है कालिदास के मत में जैसे गज के लिये आलान वैसे ही कुलीनपुरुष के लिये अपकीर्ति । राम कहते हैं- सोहं न तत्पूर्वमवर्ण मीशे ह्यालनिकं स्थाणुमिव द्विपेन्द्रः । रघु. १४-३९

कटप्रभेद के वाद गज दु:सह हो जाता है । रघु के गजों के मस्तक से तो सात सात मदधारायें बहती थी । सप्त पर्ण का क्षीर कटु गन्ध वाला होता है । इस वृक्ष में सात सात पत्तों के गुच्छे होते हैं । उनकी ईर्ष्या से ही जैसे इनका मद सप्तधार हो गया था—

प्रसवैः सप्तपर्णानां मदगन्धिभिराहताः ।

असूययेव तन्नागाः सप्तधैव प्रसुस्त्रुवुः ।। रघु.४-२३

अश्व

अश्व वन्य पशु नहीं है इसलिये आरण्यक प्रसंगों मेंउसके लिये अवकाश नहीं है । हाँ, यदि कोई नागर उसे अपने साथ किसी रुप में वहाँ ले जाय तो दूसरी बात है । इसी कारण ऋतु संहार और मेघदूत में हमें उसके दर्शन नहीं होते । आशुगामी होने के कारण (उसका नाम ही अश्व इस कारण से पड़ा) उसका उपयोग रथ में किया जाता था । वह सेना के चतुरंगों में तो एक था ही साथ ही रथ-सेना का भी आधार था । राजा लोग हाथी या रथ पर यात्रा करते थे । दिलीप और सुदक्षिणा वसिष्ठ के आश्रम में रथ पर ही जाते है—

स्निग्धगम्भीर निर्षोषमेकं स्यन्दनमास्थितौ । रघु. १-३६

रथ है तो अश्वों की तीव्र गति के कारण धूल तो उड़ेगी ही पर भगवत्कृपा से पवन की गति अनुकूल थी इसलिये वह उनदम्पती के अलकों और शिरोवेष्टव कोधूलसरित नहीं कर पायी-

पवनस्यानुकूलत्वात् प्रार्थना-सिद्धि-शंसिनः

रजोभिस्तुरगोत्कीर्णैरस्पृष्टालक-वेष्टनौ ।। रघु. १-४२

रघु की विजय यात्रा में अश्वसेना साथ ही थी । अश्व जब मलयाद्रि की उपत्यका में पहुँचे तो उन्होंने इलायची के बगीचे अस्त-व्यस्त कर डाले । एला वृक्षों से उड़ी घूल ने गजों की मदसिक्त कनपटियों का सहारा लिया—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ससञ्जुरश्व-क्षुण्णानामेलानामुत्पतिष्णवः ।

तुल्य गन्धिषु मत्तेभकटेषु फलरेणवः ।। रघु. ४-४६

और वह जब पाश्चात्यों से लड़ने पहुँचे तो उनका सामना अश्वारोह योद्धाओं से हुआ । इस युद्ध में उभय पक्षीय भट अश्वों पर सवार थे । यह पता लगाना कठिन था कि कौन किस पक्ष् का योद्धा है । केवल धनुष की टंकार के आधार पर पक्ष-प्रतिपक्ष पहचाने जा सकते थे—

संग्रामस्तुमुलस्तस्य पाश्चात्यैरश्वसाधनैः ।

शार्ङ्गकूजितविज्ञेय-प्रतियोधे रजस्यभूत् ।। रघु. ४-६२

पक्ष प्रतिपक्ष के बीच भ्रान्ति का कारण था अश्वों के दौड़ने से उड़ने वाली रज । फिर उत्तर की ओर बढ़ते हुए उसके अश्वों ने वङ्क्षुनदी के किनारे लोट लोट कर मार्ग की थकावट दूर की और कन्धों पर लगे हुए कुङ्कुम के केसर झटके—

विनीताध्वश्रमास्तस्य वङ्क्षुतीर-विचेष्टनैः ।

दुधुवु र्वाजिनः स्कन्धांल्लग्न-कुङ्कुम-केसरान् ।। रघु. ४-६१

हारे हुए राजा विजेता को अश्व भी भेंट में देते थे । काम्वोजों ने रघु को ऊँची जाति के अश्व उपहार में दिये थे—

तेषां सदश्वभूयिष्ठास्तुङ्गा द्रविण-राशयः ।

उपदा विविशुः शश्वन्नोत्सेकाः कोशलेश्वरम् ।। रघु. ४-७०

वनायु (संभवतः सिन्धु का एक भाग - विलोचिस्तान) प्रदेश के अश्व प्रसिद्ध थे । अज की सेना में इनकी संख्या महत्त्वपूर्ण थी । ये लम्बी लम्बी पंक्तियों में उन्हीं के लिये बनाये गये विस्तृत शामियानों के नीचे बाँध दिये जाते थे और इनके सामने चाटने के लिये सैन्धवलवण के बड़े बड़े टुकड़े डाल दिये जाते थे । कवि ने कहा है कि प्रातः काल ये लवण शकल उनके मुख से निकलने वाली भाप से धूमिल दिख रहे थे—

दीर्घेष्वमी नियमिताः पटमण्डपेषु

निद्रां विहाय वनजाक्ष- वनायुदेश्याः ।

वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति पुरोगतानि

लेह्यानिसैन्धव-शिला-शकलानि वाहाः ।। रघु. ५-७३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये अश्व जब युद्ध में होते हैं तो उनका रुप में भिन्न हो जाता है। परस्पर भिड़ते हैं। उनकी टापों से उठी हुई धूल, स्यन्दन के पहियों की धूल से मिलकर सूर्य तक को प्रकाश के अवरुद्ध कर देती है। सब ओर अँधेरा छा जाता है और शस्त्रों की मार से छूटते हुए उसके खून के फव्वारे वालारुणका सा रुप ग्रहण कर लेते हैं। बड़ा लोम हर्षक चित्र प्रस्तुत किया है कालिदास ने अश्व युद्ध का—

पत्तिः पदातिं रथिनं रथेशस्तुरंगसादी तुरगाधिरूढम्।रघुः ७-३६

उत्थापितः संयति रेणुरश्वैः सान्द्रीकृतः स्यन्दनवंश-चक्रैः।

अनुक्रमेणोपरुरोध सूर्यम्।।७-३९

शस्त्र-क्षताश्व-द्विप वीर जन्मा वालारुणोभूद् रुधिर-प्रवाहः।। ७-४२

कभी कभी योद्धा के मूर्च्छित हो जाने पर अश्व रथों को और अपने सादी को युद्धभूमि से वाहर भी ले जाते थे। अश्व पर मूर्च्छित योद्धा के पुनः चेतना ग्रहण करने तक दूसरा अश्व सादी उस पर प्रहार नहीं करता था। अश्व वाहक सूत के मारे जाने पर रथी स्वयं सूत का काम करने लग जाता था। और अश्व के भी घायल या मृत हो जाने पर बाहुओं से ही शत्रु के साथ से भिड़ जाता था - (रघु ६-४४,४६,५२) राजा दशरथ की चमू को कवि ने जव-तीव्र हया (रघु ५-९०) कहा है, और यह अश्वों के बल पर ही था कि उन्होंने एक रथ से सारी मेदिनी पर विजय पा ली। "अजयदेकरथेन स मेदिनीम् (५-९०) अश्व मृगया के भी साथी थे। दशरथ जब कण्ठ में शरासन डाले, मृगवन के अनुरुप वेष में अश्व पर चढ़ कर मृगया के लिए निकलते थे तो अश्व की दुलकी चाल से उनके कुण्डल हिलते थे और पीछे पीछे चलने वाले अश्वों के खुरों की धूल आकाश में वितान (शमियाना) तानती चलती थी—

मृगवनोपगम-क्षम वेषभृद् विपुलकण्ठ-निषक्त-शरासनः।

गगनमश्व-खुरोद्धत रेणुभिर्नृसविता सविता नमिवा करोत्।। ९-५०

तुरग-वलान-चञ्चल कुण्डलो विरुरुचे रुरुचेष्टित-भूमिषु।५१

मृगया भूमि भी ऐसी चुनी जाती थी जिसमें अश्व सुभीते से ठहर सकें - "स्थिर तुरंगमभूमि"-रघु. ८-५३

राजा सब से अधिक तेज चलने वाले अश्व को मृगया के लिये चुनता था - "तत्प्रार्थितंजवन-वाजिगतेनराज्ञा" (रघु.९-५६) । कभी कोई कोई पक्षी, मृग या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मयूर अश्व के पास से ही सहसा भागता उड़ता मिल जाता था- "अपि तुरग- समीपा दुत्पतन्तं मयूरं न स रुचिर- कलापं वाणलक्ष्यीचकार" (रघु. ९-६७)। युद्ध में राजा लोग अश्ववाहित रथ पर ही चलते थे। राम के पास रथ नहीं था तो इन्द्र ने उन्हें दो अश्वों वाला एक रथ दे दिया था—

रामं पदातिमालोक्य लङ्केशं च वरुथिनम्।

हरियुग्यं रथं तस्मै प्रजिधाय पुरन्दरः। रघु. १२-८४

और अश्व मेध यज्ञ का तो नामकरण ही अश्व के आधार पर है। राजा जब स्वयं को चक्रवर्ती घोषित करनाचाहता था तो इस यज्ञ का अनुष्ठान करता था। इसमें एक श्यामकर्ण श्वेत अश्व मुक्त छोड़ा जाता था। वह यथेच्छ जाता था। रक्षा के लिये सेना उसकी पार्श्वचर रहती थी। राम ने भी अश्वमेघ का अनुष्ठान किया था—

तमध्वराय मुक्ताश्वं रक्षः -कपि-नरेश्वराः।

मेघाः सस्यमिवाम्भोभिरभ्यवर्षन्नुपायनैः॥ रघु. १५-५९

सीता को भी जब राम ने लक्ष्मण के द्वारा विप्रोजित किया तो इस वात की सावधानी वरती कि उसमें जुते अश्व भड़कने वाले न हों। साथ ही वाहक भी विश्वसनीय हो—

अथानुकूल-श्रवण-प्रतीतामत्रस्नुभि र्युक्त- रथं तरंगैः

रथं सुमन्त्र-प्रतिपन्न- रश्मिमारोप्य वैदेह सुतां प्रतस्थे।रघु.१४-४७

जब कोई सौ अश्वमेघ पूर्ण करता तो वह इन्द्र पद का भागी बनता था। दिलीप ने निन्यानवे यज्ञ पूर्ण कर जब सौवां प्रारम्भ किया तो युवराज रघु को यज्ञ तुरंग की रक्षा के लिये भेजा। उसके साथ और भी बहुत से राजपुत्र थे। अनर्गल अश्व स्वच्छन्द घूम रहा था कि इन्द्र अपना पद छिन जाने के भय से यज्ञ को विफल करने का उपक्रम करने लगा। वह छिप कर अश्व को चुरा ले गया। कालिदास ने विस्तार केसाथ इस घटना का वर्णन किया है—

नियुज्य तं होम-तुरंग-रक्षणे धनुर्धरं राजसुतैरनुद्रुतम्।

अपूर्णमेकेन शतक्रतूपमः शतं क्रतूनामपविघ्नधमाप सः॥ रघु. ३-३८

ततः परं तेत मखाय यज्वना तुरंगमुत्सृष्ट मनर्गलं पुनः

धनुर्भृतामग्रत एव रक्षिणां जहार शक्रः किल गूढविग्रहः॥ ३-३९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिर भी रघु ने पीत वर्ण के अश्वों के रथ को देखकर जान लिया कि अपहर्ता इन्द्र है। उसने यज्ञ के अश्व को अपने रथ की रश्मियों (डोर) से बाँध रखा है। अश्व रश्मियाँ तोड़ कर भाग जाना चाहता है किन्तु सूत उसे सम्हालने का यत्न कर रहा है—

सः पूर्वतः पर्वत-पक्ष-शातनं ददर्श देवं नरदेव-संभवः।

पुनः पुनः सूतनिषिद्ध चापलं-हरन्तमश्वं रथरश्मि-संयतम्॥ रघु. ३-४२

शतैस्तमक्ष्णामनिमेष-वृत्तिभिर्हरिं विदित्वा हरिभिश्चवाजिभिः। ३-४३

अश्व को लेकर रघु और शतक्रतु इन्द्र के बीच घोर युद्ध हुआ। रघु विजय तो प्राप्तनहीं कर सका फिर भी उसने इन्द्र के छक्के छुडा दिये। प्रसन्न होकर इन्द्र ने उसे वर माँगने को कहा, किन्तु अश्व को छोड़कर—

अवेहि मां प्रीतमृते तुरंगमात् किमिच्छसीतिस्फुटमाह वासवः।रघु. ३-६३

इससे प्राचीन भारत में अश्व की महत्ता का अनुमान किया जा सकता है। सगर के साथ भी यही हुआ था। उसका अश्व भी इन्द्र ने इसी प्रकार चुराया था और पाताल में ले जाकर तपोमग्न कपिल के पास बाँध दिया था जिन्होंनेउसके अन्वेषण में आये सगर के साठ हजार कदाचार उद्धत पुत्रों को नेत्राग्नि से भस्म कर दिया था। बाद में सगर के प्रपौत्र भगीरथ ने गंगा का अवतरण कर उन सब का उद्धार किया था। इतनी बड़ी घटना-गंगावतरण केमूल में भी यज्ञाश्व का अपहरण ही है। कालिदास ने इस पौराणिक कथा की ओर भी संकेत किया है—

स पूर्वजानां कपिलेन रोषात् भस्मावशेषीकृत-विग्रहाणाम्।

सुरालयप्राप्ति-निमित्तमम्भस्त्रैस्त्रोतसं नौलुलितं ववन्दे॥ रघु. १६-३४

कालिदास ने अश्वों की तीव्र गति का बड़ा प्रभावकारी वर्णन विक्रमोर्वशीय एवं अभिज्ञान शाकुन्तल नाटकों में किया है। पुरुरवा कहता है ! सूत ऐशानीं दिशं प्रति चोदयाश्वान्। और जब अश्व ऐशानी दिशा की ओर तेजी से भागने लगते है तो प्रसन्न होकर बोलता है—

साधु-साधु। अनेन रथ-वेगेन पूर्वप्रस्थितं वैनतेयमप्यासादयेयम्-मम

अग्ने यान्ति रथस्य रेणु-पदवीं चूर्णीभवन्तो धनाः,

चक्रभ्रान्तिररान्तरेषु वितनोत्यन्यामिवारावलीम्।

चित्रारम्भविनिश्चिलं हरि-शिरस्यायामवच्चामरं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यन्मध्ये समवस्थिततो ध्वजपटः प्रान्ते च वेगानिलात्।। विक्रमो.१-५

रथ की अर्थात् अश्वों की तीव्रगति का यह थोड़ा अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन भले हो किन्तु यथार्थ से अधिक दूर नहीं है। पुरुरवा को अपने अश्वों पर पूरा विश्वास है। वह उनके सहारे पूर्व- प्रस्थित गरुड तक को पीछे छोड़ देने का साहस करता है। यह स्वाभाविक है, क्योंकि जब उसके अश्व रथ को लेकर अन्तरिक्ष में उड़ते है तो चूर चूर हुए बादल रेणु की तरह रथ के आगे आगे चलते हैं। तेज घूमते हुए पहिए अरो के बीच में एक दूसरी अरावली की सृष्टि करने लगते हैं। अश्वों के सिर पर बँधा हुआ ऊँचा चमर चित्र में खचित सा लगता है और ध्वज का पट वायु के वेग से रथ के एक किनारे और ध्वज की छड़ी के आगे एक साथ लहरा रहा है।

और उधर दुष्यन्त के अश्व है जो मृगों को अपने से आगे निकलते देखना सहन नहीं कर पाते। लगाम ढीली की कि वे धड़ के अगले भाग को आगे लम्बा फैलाकर, कान ऊपर खड़े किये और चामर शिखा को स्थिर बनाये इतनी तेजी से भागने लगते हैं कि उनके अपने खुरों से उठी धूल तक उनसे आगे नहीं निकल पाती—

मुक्तेषु रश्मिषु निरायत-पूर्वकाया

निष्कम्प-चामर-शिखा निभृतोध्वर्णकर्णाः।

आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलङ्घनीया

धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्याः।। शकु. १-८

और तब वह प्रसन्न होकर कहता है-"अतीत्य हरितोऽपि हरीन् वर्तन्तेवाजिनः।" अर्थात् मेरे अश्व तो सूर्य औरइन्द्रके भी अश्वों से तेज दौड़ रहे हैं—

यदालोकेसूक्ष्मं व्रजति सहसा तद् विपुलतां,

यदर्धे विच्छिन्नं भवति कृतसन्धावन मिव तत्।

प्रकृत्या यद् वक्रं तदपि समरेखं नयनयो

र्न मे दूरं किंचित्क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात्। शाकु. १-९

रथ की गति इतनी तेज है कि जो वस्तु अभी सूक्ष्म लगती है वह अगले ही क्षण बड़ी बड़ी दिखने लगती है, जो अभी बीच से टूटी दिखती है वह क्षणान्तर में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जुड़ी मालूम होती है और स्वभाव से ही टेढ़ी है वह तुरन्त सीधी प्रतीत होती है। घोड़ों की चाल इतनी तेज है कि मेरे लिये न कुछ दूर रह गया है और न समीप।

और अश्वों के खुरों से उठी धूल जब सुखाने के लिये लटकाये गीले वल्कलों से युक्त आश्रम के वृक्षों पर पड़ती है तो लगता है जैसे अस्तमन वेला की लाली लिये टिड्डियों का समूह उन पर टूट पड़ा है—

तुरगखुरहतस्तथाहि रेणुर्विटप-विषक्त-जलार्द्रवल्कलेषु।

पतति परिणतारुणप्रकाशः शलभसमूह इवाश्रमद्रुमेषु॥ शाकु. १-२९

ऊपर श्लोक में कालिदास ने समतल भूमि पर दौड़ते हुए और ऊपर अन्तरिक्ष में भागते हुए अश्वों का वर्णन किया है जो कवि की विलक्षण प्रतिभा, अनुपम सूझ और सूक्ष्म अवलोकन- क्षमता का निदर्शन है। अब एक चित्र ऊपर से नीची भूमि पर उतरते हुए अश्वों का देखिये जो उससे भी अधिक सूक्ष्मता देखने वाली अन्तर्दृष्टि का सूचक है। रथ नीचे उतर रहा है। लगता है जैसे वे शैल जो दूर होने के कारण पहले अस्पष्ट दिखते थे अब उन्मग्न हो रहे हैं और मेदिनी शिखरों सेनीचे चली जा रही है। वास्तव में न शिखर ऊपर उठते हैं और न मेदिनी नीचे जाती है प्रत्युत रथवेग के कारण वैसा प्रतीत होता है। वृक्ष पहले पत्रपुञ्ज मात्र दिखते थे अब उनके तने और पत्ते अलग अलग दृष्टिगोचर होने लगे है। जो नदियाँ अभी तक पतलीं जलहीन दिखायी देती थीं अब साफ साफ और चौडी हो गयी हैं। लग रहा है जैसे कोई अदृश्य शक्ति भुवन को मेरे पास उठाये लारही है—

शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी,

पर्णाभ्यन्तर-लीनतां विजहति स्कन्धोदयात् पादपाः।

सन्धानं तनुभाग-नष्ट सलिल-व्यक्त्याव्रजन्त्यापगाः,

केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते॥ शकु. ७-८

यह है महाकवि की महती कल्पना-शक्ति और वर्णन कीयथार्थता।

वराह

वराह की कीचड़ या मिट्टी के नीचे से मुस्ता या भद्रमुस्ता की जड़ें खोद कर निकालता ह और उत्साहपूर्वक खाता है। ग्रीष्म ऋतु में तडागों का जल सूख जाता है तो उसे अपने पोत्र से गहरा खोदना पड़ता है। जिन लोगों ने वराह को अपने लम्बे पोत्र (मूख के पैने अग्रभाग से) से भूमि में गढ्ढे करते देखा है, वह इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृश्य को सरलता से हृदयंगम कर सकता है। शरीर में चर्बी अधिक होने से उसे गर्मी भी अधिक सताती है। ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की किरणों से वह इतना त्रस्त हो जाता है कि सूखे तडाग की मिट्टी खोदकर गीले तल में इसतरह घुसकर बैठ जाता है मानों भूतल के भीतर प्रवेश कर जाना चाहता हो—

सभद्र मुस्तं परिशुष्क कर्दमं सरः खनन्नायत- पोत्र- मण्डलैः।

रवे र्मयूरखैरभितापितो भ्रशं वराह-यूथो विशतीव भूतले॥ ऋतु. १-१७

पौराणिक कल्पना के अनुसार तो प्रलयवेला में यह पृथिवी वराह की टंष्ट्रा पर ही टिकी थी। दोनों भुजाओं से वराह को पकड़े ऊपर उठायी हुई पृथिवी की गुप्तकालीन मूर्ति विदिशा की गुफा में उत्कीर्ण है। कुमार संभव में कवि ने इस बात का उल्लेख किया है"—

आसक्त-बाहुलतया सार्धमुद्धृतया भुवा।

महावराह-दंष्ट्रायां विश्रान्ता प्रलयापदि॥ कुमार.६-८

वन्यवराह अपराह्ण वेला में धूप से पीडित होकर पोखरों में जा बैठते हैं और सायंवेला में उनसे वाहर निकल कर खुली स्थली में विचरण करते है। वसिष्ठाश्रम को जाते हुए दिलीप ने यह दृश्य देखा था और यह भी कि वराह वन में गजों के समान यूथबद्ध होकर विचरण करते हैं—

स पल्वलोत्तीर्ण-वराह-यूथानि. . . श्यामायमानानि वनानिपश्यन्।रघु. १-१७

वन्य वराह शिकार का प्राणी है। वन्य महिष और वराह दोनों पर मृगया-विहारी लोग प्रहार करते है। दशरथ भी उन्हें अपने इषु का लक्ष्य बनाते है। वराह पल्वल के पंक के बीच से निकलते हैं। उनके मुख में मुस्ता के अंकुरों के कवल हैं जो राह में मुँह से गिरते चलते है। साथ ही तुरन्त पल्लव से निकलने के कारण उनके गीले कीचड़-सने पाँवों के निशान मार्ग में उभरते जाते है। दशरथ उन्हें देखकर वराह यूथ का मार्ग जान लेते हैं औरअपने शरीर के ऊपरी भाग को वाहन पर झुका लेते हैं। वे वराहों पर प्रहार करने की चेष्टा करते हैं तो वराह भी उलट कर उन पर आक्रमण करने का यत्न करते हैं किन्तु तब वे वृक्षों के बीच छिप जाते हैं और उनकी जघनस्थली में वाण मारते हैं। वराहों को मारने वाले का पता ही नहीं चल पाता। कालिदास कहते हैं—

उत्तस्थुषः सपदि पल्वल- पङ्कमध्यान्मुस्ताप्ररोहकवलावयवानुकीर्णम्।

जग्राह स द्रुतवराह-कुलस्य मार्गं सुव्यक्तमार्द्र पदपंक्तिभिरायताभिः॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तं वाहनादवनतोत्तर- कायमीषद् विध्यन्तमुद्धतसटाः प्रतिहन्तुमीषुः ।
नात्मानमस्य विविदुः सहसा वराहा वृक्षेषु विद्धमिषुभिर्जघनाश्रयेषु ॥
रघु. ९-६०

वराहों के लिये कालिदास के पास एक ही मंगल कामना है—

विस्रब्धं क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ता-क्षतिः पल्वले ॥ शाकु.२-६

महिष

वराह के समान वन्य महिष भी शिकार के लक्ष्य थे । वराहों के समान महिष भी बड़े शक्तिशाली और भयंकर होते है । दशरथ उन परप्रहार करते हैं । महिष बड़े रभस के साथ उन पर दौड़ता है । वह वाण खींचकर उसके नेत्र-बिवर में मारते है किन्तु वाण शरीर को चीर कर इस प्रकार तेजी से बाहर निकल आता है कि उसके पुंख में रक्त तक नहीं लग पाता । महिष पहले भूमि पर गिरता है और सायक बाद में—

तेनराभिघातरभसस्य विकृष्यपत्री
वन्यस्य नेत्रविवरे महिषस्यमुक्तः ।
निर्भिद्य विग्रहमशोणित-लिप्त पुङ्ख-
स्तंपातयां प्रथममास पपातपश्चात् ॥ रघु.८-६१

उजड़ी हुईअयोध्या राजधानी की वावड़ियों के जल जो कभी स्नान करतीं प्रमदाओं से आस्फालित होकर मृदंग जैसी गम्भीर ध्वनि उत्पन्न करता था आज किलोल करते वन्य महिषों के सीगों से आहत होकर शब्द नहीं करता अपितु कोसता है—

आस्फलितं यत्प्रमदा कराग्रैर्मृदङ्गधीर-ध्वनिमन्वगच्छत् ।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः श्रृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम् ।।रघु.१६-१३

और वराहों के समान महिषों के लिये भी कवि की मंगल कामना—

गाहन्तां महिषाः निपान-सलिलं श्रृंगैर्मुहुस्ताडितम् ।। शकु. २-६

इससे यह भी स्पष्ट है कि महिषजल में सींग मार मार का विहार करते हैं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृष

वीर पुरुष की उपमा प्रायः वृष से दी जाती रही है। छोटा रघु बड़ा होने लगता है तो कवि कहता है-महोक्षतांवत्सतरः स्पृशन्निव. -पुपोषगाम्भीर्यमनोहरं वपुः ।रघु.३-३२। वह उसके अंगों की तुलना वृष से सम्बन्धित वस्तुओं से करता है। यथा-युगव्यायत-वाहुः परिणद्ध कन्धरः। रघु. ३-३४। राम वृष स्कन्ध है- रघु. १२-३४। महोक्ष मद के कारण उदग्र होता है। उसका कुकुद् या स्कन्ध का ऊपर उठा भाग बड़ा होता है। वह अपने सींगों से नदियों के कूल ढहाने का खेल करता है—

मदोदग्राः ककुद्मन्तः सरितां कूलमुद्रुजाः।

लीलाखेलमनुप्रापुर्महोक्षास्तस्य विक्रमम्॥ रघु. ४-२२

महोक्ष साँड होता है। वलीवर्द हल में जुतता है। नगरों में वह गाड़ी खीचता है। माल ढोता है और फिर मालढोकर बाजार में ही बैठ कर सो लेता है। इस स्थिति काउल्लेख 'अस्थाने' सोने वाले गौतम के लिये कवि ने उपमान के रुप में किया है—

एसो दुआरुद्देसे समुद्दयअस्स विपणिगदो विआ बलीवद्दो

अज्जगोदमो आसीणो एव्वणिद्दाअदि। माल ४-१५

ऊपर वृष द्वारा सरित केकूल ढाहनेंकी बात कही गयी है। वृष का स्वभाव ही सीगों से मिट्टी के ढूह उलटना है

वृषोत्खात पङ्कोपमेयाम्। मेघ. १-५२

अन्यत्र भी इसी बात की आवृत्ति कवि ने की है-

शैलादाशु त्रिनयन-वृषोत्खात कूटान्निवृत्तः। मेघ.२-५०

न वेद्मि तपः कृशामभ्युपपत्स्यते सखीं वृषेव सीतां तदवग्रहक्षताम्।

कुमार.५-६१

वृष की विशेषता है उसका ककुद्मान होना। ककुद उसके वीर्य का सूचक है। वह दर्पीला होता है। सिंह तक के गर्जन को सहन नहीं करता। उसे सुनकर जोर से दहाड़ता है और खुरों से मिट्टी खोदकर फेंकने लगता है। तब गवय उद्विग्न होकर उसे देखते है—

तुषार-संघात-शिलाः खुराग्रैः समुल्लिखन् दर्पकलः ककुद्मान्।

दृष्टःकथंचिद् गवयैः विविग्नैरसोढ-सिंहध्वनि रुन्ननाद॥ कुमार.१-६०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गवय

"गोसदृशोगवयः" यह तो संस्कृत का विद्यार्थी चिरकाल से पढता चला आया है किन्तु गो को देखकर गवय के केवल रुपाकार की ही कल्पना संभव है। वस्तुतः गवय वन्य गाय है और उसमें और हमारी परिचित गो में उतना ही अन्तर है जितना ग्राम्य और अरण्यक महिषों या वराहों में। ग्रीष्म ऋतुमें वे विन्ध्य की उपत्यका में जल की तलाश में इधर उधर घूमते हैं—

भ्रमतिगवययूथः सर्वतस्तोयमिच्छन्। ऋतु. १-२३

गर्मी के कारण वे गजों और सिंहों के साथ सुहृदों के साथ जल और शीतल स्थान की चिन्ता में एक साथ विचरते हैं।

गजगवयमृगेन्द्रा वह्नि-संतप्त-देहाः

सुहृद इव समेता द्वन्द्व भावंविहाय॥ ऋतु. १-२७

शिकार के लिये मृगयालु ऐसी वनस्थली ढूँढता है जो मृगों, पक्षियों और गवयों से भरी हो-"विवेश सः मृगवयो गवयोपचितं वनम्" रघु. ९-५२

उष्ट्र—अन्य पशुओं में **उष्ट्र** का कौत्स के प्रसंग में उल्लेख हुआ है जिसे रघु सैकड़ों ऊँटों और खच्चरों द्वारा ले जाने योग्य द्रव्य प्रदान करते हैं—अथोष्ट्रवामी शतवाहितार्थ-प्रजेश्वरं प्रीतमना महर्षिः—

शरभ—बहुत लम्बी गरदन वाला प्राणी अब लुप्त हो चुका है। शरभ बिना मुड़े सीधे ही कुएँ से पानी ले लेते थे, ऐसी प्रसिद्धि है-"शरभकुलमजिह्मं प्रोद्धरत्यम्वु कूपात्" ऋतु. १-२३। शरभों के विषय में यह मान्यता है कि मेघ ध्वनि सुनकर वे पूरी शक्ति से भागते है और कुएँ या खड्डे में गिर पर अपने हाथ पाँव तोड़ लेते और मर जाते है। कालिदास का यक्ष इन्हें निष्फल क्रिया करने वाला और आवेश में कार्य करने वाला मानता है। वह मेघ से कहता है कि यदि ये मूर्ख अपना ही अंग भंग करने के लिये तुमसे आगे निकलने या ऊँचा जाने के लिये उछलें तो उन पर ओले बरसा देना—

ये संरम्भोत्तनरभसा स्वाङ्ग-भंगाय तस्मिन्,

मुक्ताध्वानं सपदि शरभा लङ्घ्येयुर्भवन्तम्।

तान् कुर्वीथा स्तुमुल-करका-वृष्टि-पाताव-कीर्णान्

के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भ-यत्नाः। मेध १-५४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शरभ मृग जाति का अष्टापद प्राणी था ।

कपि

कपि कुल उन प्राणियों में है जो ग्रीष्म में विन्ध्य पर पीड़ित है और वह ताप से बचने के लिय आर्द्र के निकुंज का आश्रय लेता है- "कपि कुल मुपयातिक्लान्त मद्रेर्निकुञ्जम्" ऋतु. १-२३ । वर्षा काल में भी वे आश्रय स्थलों का सहारा लेते हैं ऋतु. २-१९

नक्र— समुद्र मथा जाता है तो नक्र पलटकर ऊपर आ जाते हैं—

तस्मात् समुद्रादिव मथ्यमानावुद्वृत्तनक्रात् सहसोन्ममज्ज। रघु. १६-७९

गोधा- संभवत: धीवर गोह को मारकर उसका मांस खाते थे इसलिये रक्षी लोग धीवर को विस्रगन्धी गोधादी (शाकु. ६-१) कहते हैं ।

विडाल-मूषक

एक मुहावरे में इनका उल्लेख हुआ है- "विडालग्गहीदो मूसओ विअ णिरोसोम्हिजीविदे संवुत्तो" (शाकु. ६-२१) विडाल पकड़े तो मूषक के प्राण कैसे बच सकते हैं ।

शिवा - श्रृगाली की बोली बड़ी कर्कश होती है और कालिदास ने इसी बात पर जोर देने के लिय उसका स्मरण किया है- "शिवा-घोरस्वनां पश्चाद् बुबुधे विकृतेतिताम्" रघु १२-३९ कवि ने यह वात शूर्पणखा के लिए कही है जो पहले तो कोकिला की तरह मंजु बोलती है किन्तु विप्रकृत होने पर शिवा के समान घोर राविणी प्रकट होती है । उजड़ी हुई राजधानी भी एक वार शिवाओं की भ्रमण-स्थली वन गयी थी । जिन राजपथों पर रात्रिवेला में नूपुरों के रुनझुन नाद के साथ अभिसारिकायें चंक्रमण करती थी उनपर भास्वत् नुपूरों के बदले आभिष चुनती हुई उल्का मुखी शिवायें घूमने लगी—

निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः संचरो भूदभिसारिकाणाम्।
नदन्मुखोल्का विचितामिषाभिः स वाह्यते राजपथः शिवाभिः॥ रघु. १६-१२

खड्ग - यह मृगों की बड़े सींगों वाली जाति है । दशरथ मृगया के प्रसंग में इनके लम्बे सींग तोड़करइन्हे हल्का कर देते हैं, पर इन्हें मारते नहीं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रायोविषाणपरिमोक्ष-लघूत्तमाङ्गान् खङ्गांश्चकार नृपतिर्निशितैः क्षुरप्रैः ।

शृङ्गं सदृप्तविनयाधिकृतः परेषामत्युच्छ्रितं न ममृषे न तु दीर्घमायुः ।।

रघु ९-६२

ऋक्ष - ऋक्ष मनुष्य पर आक्रमण कर उसे मार डालता है । वन्य ऋक्षचीते के समान भयंकर होता है । इसीलिये विदूषक शिकारी दुष्यन्त के विषय में कहता है—

तुमं दाव अडवीतो अडवीं अहिंडंतो णरनासिआ लोलुवस्स जिण्णरिच्छस्स कस्स वि मुहेपडिस्ससि (शाकु. २-५) ।रीछ का पंजा सीधे मुँह पर पड़ता है ।

सर्प

कालिदास के काव्य में सर्वप्रथम सर्प को दयनीय स्थिति में पाते है । वह ताप से व्याकुल है ।ऊपर सूर्य की जलती किरणें और नीचे उससे भी अधिक परितापक धूल । बेचारा सर्प जलती धूप में टेढ़ा टेढ़ा रेंगता, लम्बी साँसें खींचता छाया की तलाश में इधर उधर घूमता है किन्तु जब कहीं छाया दिखायी नहीं तो विवश होकर मयूर के विस्तृत पंखों की छाया में जा बैठता है, यह जानते हुए भी कि मयूर उसका जन्म शत्रु है और मयूर स्वयं इतना पीड़ितं है कि पंखो के भीतर तक मुँह घुसेड़ देने वाले सर्प को नहीं मारता । कैसी उत्कट जिजीविषां होती है प्राणियों मे—

रवेर्मयूखैरभितापितो भृशं विदह्यमानः पथि तप्तपांसुभिः ।

अवाङ्मुखोजिह्मगतिः श्वसन् मुहुः फणी मयूरस्य तलेनिषीदति ।।

ऋतु.१-१३

(कलापिनः) न भोगिनंघ्नन्ति समीप वर्तिनं कलाप-चक्रेषु निवेशिताननम् ।।

वही १६

सर्प का दूसरा नाम जिह्मगति भी है । वह टेढ़ी चाल चलता है । वर्षा में पानी का पहला रेला अपने साथ की, रज और तृणादि लेकर बहता है तो टेढ़े मेढ़े मार्ग के कारण वह सर्प जैसा दिखता है । ऋतु. २-१३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्पों में वासुकि अग्र गण्य है। पौराणिक मिथकों के अनुसार वह पाताल वासी सर्पराट् है। उनके सिर पर देदीप्यमान मणियों की शिखा है-"ज्वलन्मणि शिखाश्चैनं वासुकि- प्रमुखा निशि—भुजंगा: पर्युपासते" कुमार २-३९। भुजंग भगवान् शिव के साथ सतत संवृद्ध हैं। वे उनके जटा जूट बाँधने की रस्सी का काम देते हैं- भुजंगाधिपति किसी प्रकार अपने फणों की नोक से पृथिवी को सम्हालते हैं अन्यथा वह विकम्पित हो जाय, ऐसी पौराणिक मान्यता है—

ततोभुजंगाधिपतेः फणाग्रैरधः कथंचिद् धृतभूमिभागः।

शनैः कृतप्राण-विमुक्तिरीशः पर्यङ्क-वन्धं निविड़ं विभेद॥ कुमार ३-५९

पाताल के द्वार पर भुजंग ही पहरा देते हैं- भुजंग-पिहित-द्वारं पाताल मधितष्ठति॥ रघु. १-९

सर्प चन्दन के वृक्षों में लिपटे रहते हैं। इससे उसके अंग का विषताप शान्त रहता है। बार-बार सर्पों के चढ़ने उतरने से चन्दन वृक्षों में मार्ग बन जाता हैं। कालिदास ने इन्हें भोगिवेष्टन मार्ग कहा है- रघु. ४-४८। सर्प बूढा होता है तो केंचली बदल कर नया सा बन जाता है" उस पर नयी त्वचा आ जाती है- "न तु सर्प इव त्वचंपुनः प्रतिपेदे व्यपवर्जितांश्रियम्" रघु. ९-१३। सर्प का एक नाम आशीविष भी है क्योंकि उसकी दाढ (आशी) में विष रहता है। कुछ सर्प पंख वाले भी होते हैं जो बहुत अधिक भयंकर माने जाते है-"गरुत्मदाशी- विष-भीमदर्शनैः"—रघु. ३-५६। सर्पविद्या के विशेषज्ञ मन्त्र और औषधि के बल से सर्प को निर्वीर्य कर देते हैं। तब यह समीपस्थ को भी काट नहीं पाताऔर अपनी विवशता पर भीतर ही भीतर क्रोध से फड़फड़ाता है। सर्प की इस स्थिति का चित्रण कवि ने सुन्दर ढंग से किया है दिलीप के संदर्भ में—

बाहुप्रतिष्टम्भ-विवृद्ध- मन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः।

राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधि-रूद्ध-वीर्यः।रघु.२-२३

चन्दन वृक्ष पर सर्प आरोहण की बात कवियों में बहुत ख्यात रही है और उन्होंने बार-बार इसका काव्योचित उपयोग भी किया है। यथा—

अत्मारूढ़ं रिपोः सोढं चन्दनेनेव भोगिनः। रघु. १०-४२

तथा- "स द्विजिह्व इव चन्द्रन द्रुमः" रघु ११-६४। तथा- "दूष्यते कृष्णसर्प शिशुनेव चन्दनः" शाकु. ७-१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामान्यतया सर्प किसी को नहीं काटता जब तक उसे छेड़ा न जाय। छेड़े जाने पर वह उग्र हों जाता है। परशुराम ने अपने क्रोध का कारण राम को सर्प के माध्यम से ही समझाया था—

क्षत्रजातमपकारवैरि मे तन्निहत्य वहुशः शमं गतः।

सुप्तसर्प इव दण्डघट्टनात् रोषितोस्मितव विक्रमश्रवात्॥ रघु. ११-६१

सर्प का मयूर से कहीं बढकर शत्रु है गरुड़ पक्षी जिसे वैनतेय भी कहते है। सर्प कद्रू की सन्तान है और गरुड़ विनता की। कद्रू और विनता सगी बहने थी पर परस्पर शत्रु। मातृपक्ष की शत्रुता के आधार पर नागों और गरुड़ों में ठन गयी। गरुड़ों को विष्णु का आशीष प्राप्त है। अतः वे सर्पों को मारने में समर्थ है। इस पौराणिक मान्यता का उपयोग कालिदास में कियाहै। वह कहते हैं—

लक्ष्यतेस्मतदनन्तरं रविर्वद्ध-भीमपरिवेश-मण्डलः।

वैनतेय-शमितस्य भोगिनो भोग-वेष्टित इवच्युतो मणिः। रघु.१०१-५९

आकाश में छाये हुए ववण्डर के कारण सूर्य के चारों और भयंकर परिवेष बन गया है जिसके बीच सूर्प ऐसा दिखता है जैसे गरुड द्वारा मारे गये सर्प के कुण्डलीकृत शरीर के बीच उसकी फन-मणि चमक रही है। सर्प के इस रुप की तुलना महाकवि के ही वश की बात है।

कई बार प्रहार करने वाला समझता है कि उसने सर्प को आक्रान्त कर लिया किन्तु सर्प जब क्षण भर को अवकाश पाकर अपना जहरीला दाँत अक्रान्ता को मार देताहै तो उसकी स्थिति कैसी दयनीय हो जाती है इसका उदाहरण उपमेयभूत दशरथ है। कवि के शब्दों में देखिये—

दिष्टान्तमाप्स्यति भवानपि पुत्रशोका

दन्त्ये वयस्यहमिवेति तमुक्तवन्तम्।

आक्रान्तपूर्वमिव मुक्त-विषं भुजङ्गं

प्रोवाच कोसलपतिः प्रथमापराद्धः॥ रघु. ९-७९

ब्राह्म अस्त्र की भयंकरता को स्पष्ट करने के लिये भी कवि ने उरग का आश्रय लिया है। बाह्म अस्त्र अन्तरिक्ष में जाकर सैकड़ों खण्डों में बिखर जाता है जिनमें प्रत्येक का अग्रभाग चमकता रहता है महोरग महान् सर्प-वासुकि या शेष का कराल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फनो वाला शरीर भी एक दण्डाकार दिखता है । किन्तु जब वह सारे फन एक बार उठाता है तो वे अलग अलग ब्राह्मास्त्र के शकलों जैसे दीप्तिमान दिखते हैं—

तद्व्योम्नितशतधा भिन्नं ददृशे दीप्तिमन्मुखम् ।

वपुर्महोरगस्येव करालफणमण्डलम् ।। रघु.१२-९८

शिव सर्पों को भूषण की तरह धारण करते हैं, यह बात ऊपर कही जा चुकी है । उनका भस्मभूषित श्वेत वपु कृष्ण सर्पों के संयोग से ऐसा दिखता है जैसे गङ्ग की धारायें यमुना सेमिलकर—

क्कचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्मांगरागा तनुरीश्वरस्य ।

पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्न-प्रवाहा यमुनातरंगैः ।। रघु. १३-५६

शिव यदि सर्पों को शिर, कण्ठ, कटि और करों में बाँधे रहते हैं (कुमार.५-७९) तो विष्णु सर्प पर आसीन है । उनका विग्रह सर्प के फणा-मण्डल की चमकीली मणियों से चमकताहै । ये दोनों पौराणिक मान्यतायें कालिदास में भी मुखर है—

भोगिभोगासनासीनं ददृशुस्तंदिवौकसः ।

तत्फणामण्डलोदर्चि- मणिद्योतित-विग्रहम् । रघु. १०-९

सर्प के फन पर मणि के प्रकाश की चर्चा कई कवियों ने की है । सर्प डसता है तो क्रोध में आकर । किसी प्राप्ति के लिये नहीं न रक्त ही पीता है वह । हाँ असहनशील है वह, इसलिये काटता है—

अमर्षण. शोणित-काङ्क्षया किं पदास्पृशन्तं दशति द्विजिह्वः ।। रघु. १४-४१

केंचुल वह स्वाभाविक रुप से उतारता है पर कभी उसका अच्छा काम्य उपयोग भी होता है । प्राचीन काल में निर्मोक प (चुन्नी) पहनने का शौक था बड़े लोगों में । आज भी उसके अनुकरण परनारियों के उपयोग के वस्त्र बनाये जाते हैं । कालिदास ने पट्ट के रुप में निर्मोक का अच्दा उपयोग बतलाया है—

स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम् ।

स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संगान्निर्मोक-पट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः ।। रघु. १६-१७

राजधानी अयोध्या उजड़ चुकी है क्योंकि लवकुशादि सारे राजकुमारों ने अपनी अलग अलग राजधानियां बना ली है । राजभवन मरम्मत के अभाव में जीर्ण हो चला है । चित्र शाला के चित्रों के ऊपरी पर्त उखड़ने लगे है और रंग छूट रहे हैं । ऐसे में नारियों के भव्य आलेख्य कई स्थानों पर नग्न से दिखने लगे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकिउनके परिधानों का रंग उड़ गया। भवन बड़े बड़े सर्पों की क्रीडा स्थली बनही चुका था। सर्पों के निर्मोकों (केचलियों) ने पट्ट के रुप में उन नारी शरीरों की लज्जा ढकने का काम किया।

सर्पदर्शन का एक मनोरंजक दृश्य मालविकाग्निमित्र के चतुर्थ अंक में है। विदूषक सर्प दंश काअभिनय करता है। कहता है - " असोअत्थवअ कालणादो पसारिदो दक्खिण हत्थो। तदो को उर णिग्गदेण सप्प रुवेण कालेण दट्ठोम्हि। णं एदाणि दुबे दंसण पदानि।" तब परिव्राजिका कहती है-"तेनहिदंशच्छेद: पूर्णकर्मेति श्रूयते । स तावदस्य क्रियताम्—

छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतेर्वा रक्त मोक्षणाम्।

एतानि दष्ट-मात्राणामायुष्याः प्रतिपत्तयः ।। माल. ४-४

अशोक घना, छायादार और शीतल होता है। उसमें सर्प की संभावना की जा सकती है। सर्प के काटने में दो दाँत गड़ते हैं और रक्त ऊपर आ जाता है। यह सर्प के काटने की पहचान है। उसका प्रभाव भी बड़े सुन्दर शब्द से कालिदास ने व्यक्त कराया है " सिमसिमाअन्ति मे अंगा इं। यह विदूषक बतलाता है कि। मेरे अंग सिमसिमा रहे है। शायद सर्प विष का वेग बतलाने के लिये यह सर्वोत्तम शब्द है। सर्प दंश का पता चलते ही तीनों में से कोई एक या तीनों वाले अविलम्ब की जानी चाहये । कवि ने इसीलिये दष्टमात्राणां शब्द का प्रयोग किया है। कालिदास के द्वारा संकेतित तीनों उपाय आज भी गाँवों मेंप्रचलित है-१- जहाँ सर्प ने काटा हो उस स्थान को काटकर छोड़ा मांस निकल देना- उक्त स्थान को तपे हुए लोहे की करछुल से जला देना - उससे ऊपर के स्थान को कस कर बाँधना और दवा कर रक्त निकाल देना। ये उपाय कवि के समय में भी प्रचलित थे। यह सर्प दंश की प्राथमिक चिकित्सा थी। वैसे इसके उपचार के लिये पृथक् विष- वैद्य होते थे। मालविकाग्नि- मित्र का ध्रुवसिद्धि विषचिकित्सक है। वह इलाज बतलाता है -"उदकुंभविहाणेण सप्प मुद्दिअंपि कप्पिदवं।" इसमें इतना ज्ञान तो विदूषक को भी था कि उसने यज्ञोपवीत कासदुपयोग करते हुए(मृच्छकटिक में शर्विलक ने भी संकटकाल में यज्ञोपवीत का सदुपयोग कियाहै) अपना अंगूठा उससे बाँध लिया था, यद्यपि वह संभ्रान्तथा। घबराना तो सर्वथा स्वाभाविक ही था। चिकित्सा विधि अष्टांग हृदय में भी दी है—

दष्टमात्रो दशेदाशु तमेव पवनाशिनम्,

तेन सर्पं विषं याति यतो नु दशने विषम्।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतप्तै र्हेम लोहाद्यै दहेदाशूल्मुकेनवा

करोति भस्मसात्सद्यो वह्निः किंनाम न क्षणात्।।

ये दोनों चिकित्सायें काटते ही करने पर फलदायिनी होती है जब तक विष अन्य अंगों में प्रविष्ट न हो पाये । उदकुम्भ विधान जिसकी चर्चा ऊपर हुई है भैरव-तन्त्र के अनुसार इस प्रकार है—

घटमेकं समादाय मृन्मयं चाव्रणं शुभम्।

कन्याकर्तितसूत्रेण वेष्टनं तद्गले चरेत्।

नमः पुरुषसिंहाय नमो नारायणाय च।

यथासौ नाभिजानाति रणे कृष्णः पराजयम्।।

अर्थात् एक पूरा बिना छेद का घट लेकर उसके कण्ठ में कन्या द्वारा कता हुआ सूत लपेटे । उसे जल से भरकर हाथ में ले या हाथ उस पर रख कर "नमः पुरुषसिंहाय" इस मन्त्र का जप करे और नाग मुद्रा से अंकित अँगूठी पहने । रस रत्नावली के अनुसार नागमुद्रा करके घट का पूजन करे और भगवान् का स्तवन । "नागमुद्रां ततः कृत्वा पूजयेत् संस्तुवीत च ।" सर्प निर्विष भी होते हैं । सविषसर्प का दंश भी विशेष अवस्था में निर्विष हो सकता है । इसीलिये राजा कहता है- "अविषाअपि कदाचिद्दंशोभवेत्" । उदकपूर्ण कुम्भ के द्वारा सर्प विष चिकित्सा की विशेष पद्धति थी जिसमें नागमुद्रा से अंकित किसी वस्तु की आवश्यकता होती थी । यहाँ हमारा उद्देश्य इस विषय पर विचार करना नहीं है । इतना स्पष्ट है कि सर्प के काटे लोग प्रायः मर जाते थे । इसलिये सामान्य जनों में सर्प का भयव्याप्त था । आज भी है ही । मिथ्या सर्प दंश के वाद विदूषक सचमुच भुजंग भीरु हो गया था इसलिये निपुणिका ने उसे डराने के लिये उस पर भुजंगवत् कुटिल दण्ड काष्ट फेंक कर उसे डरा दिया था - इमंभुअंगभीरुअवह्मवंधुं इमिणा भुअंग कुडिलेण दंड कछेण खंभंतरिदाभाअइस्सं ।" माल. ४-१५

सर्प की विशेषता यह है कि वह चाहे युवा हो या शिशु दोनों का दंश समान रुप से घातक होता है - "भवति सुतरां वेगोदग्रं भुंजग शिशोर्विषम्"—विक्रमो. ५-१८ । फिर सर्प अनायास तो किसी को नहीं काटता । यदि वह फन उठाता है तो प्रतिकार में ही—

विप्रकृतः पन्नगः फणांकुरुते—शाकु. ६-३१

यो मुनियों के इर्द गिर्द न केवल सर्प घूमा करते थे, कभी कभी उनके ऊपर केंचुल तक छोड़ जाते थे । कालिदास के मारीच मुनि ऐसे ही है-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वल्मीकाग्रनिमग्नमूर्तिरुरसा संदष्ट-सर्प-त्वचा। शाकु. ७-११

भुजंग में शरीर बल भी बहुत होता है। वासुकि तो पृथिवी भर का भार फनों पर सम्हाले है। इसीलिये चक्र वर्ती नृप की भुजा भी भुजंगेन्द्र- समान- सार कही गयी है। वह भी तो भूका भार उठाती है—

भुजे भुजङ्गेन्द्र-समान-सारे भूयः स भूमेर्धुरमाससञ्ज। रघु. २-७४

लता-पादप

कालिदास को प्रकृति से विशेष अनुराग था। वह मानव और प्रकृति के बीच समन्वय के कवि हैं। पुष्पों से उन्हें इतना प्यार है कि उनके सारे के सारे महत्त्वपूर्ण नारी पात्र पुष्पों से ही अपने शरीर का शृङ्गार करते हैं। ऋतु संहार में तो कालिदास ने प्रत्येक ऋतु के मनोरम पुष्पों और उनकी लताओं का सादर उल्लेख किया है। उनके द्वारा वर्णित प्रत्येक ऋतु के पुष्प और उनके पादप इस प्रकार हैं—

ग्रीष्म—चन्दन, भद्रमुस्त, मृणाल, वंश, शाल्मलि, कमल, पाटल।

वर्षा—नीलोत्पल, कन्दली, इन्दीवर, विम्वा, नलिनी, सितोत्पल, कदम्ब, सर्ज, अर्जुन, केतकी, केसर, कुङ्कुम, कालागुरु, वकुल, मालती, यूथिका।

शरद्—काश, कुमुद, शालि, कुमुद, सप्तच्छद, वन्धूक, कमल, कोविदार, कुष्ट, नीप, शेफालिका, कह्लार, श्यामा लता, कङ्केलि, वन्धुजीव (वन्धूक)।

हेमन्त—लोघ्र, कुङ्कुम, कालीयक, प्रियङ्गु।

शिशिर—ताम्बूली, अगुरु, कनककमल, किसलय, इक्षु।

वसन्त—चूत, कुसुम्भ, कर्णिकार, अशोक, मल्लिका (हेमाम्वुरुह) कुरवक, किंशुक, आम्र-मञ्जरी, अतिमुक्त।

अनेक अन्य काव्यों और नाटकों में भी इसी प्रकार पद पद पर किसी न किसी वृक्ष, वनस्पति, लता और पुष्प की चर्चा है। नीचे वर्णानु कम से उनकी चर्चा की जा रही है—

अतिमुक्त

छोटी-सी अतिमुक्त लता के झुके मुलायम पल्लव वायु के झकोरों से इधर उधर घूमते हैं और भ्रमर उनके पुष्पों का चुम्बन करते हैं। तब उन्हें देखकर युवा कामियों के मन में नयी अभिलाषा जाग्रत होती है। देखिये ऋतु. ६-१७—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मत्त-द्विरेफ-परिचुम्बित-चारुपुष्पा

मन्दानिलाकुलित-नम्रमृदु-प्रवालाः ।

कुर्वन्ति कामिमनसां सहसोत्सुकत्वं

वालातिमुक्तकलताः समवेक्ष्यमाणाः ।।

शाकुन्तल के तृतीय अंक में प्रियंवदा कहती है—"कोदाणिं सहआरं अन्तरेण अदिमुत्तलदं, पल्लविदं सहेदि"। अर्थात् सहकार को छोड़कर और कौन पल्लिवित अतिमुक्त लता का भार सम्हाल सकता है ? और विक्रमों० के द्वितीय अंक में विदूषक-"एष मणि-शिलापट्ट-सनाथोतिमुक्तलता-मण्डपो भ्रमरसंघ-विघटितैः कुसुमैः कृतोपचार इवात्रभवतो वर्तते"।

अति मुक्तक का दूसरा नाम माधवी है और वासन्ती भी। अमर कोष (२-४) में कहा है—"अति मुक्तः पुण्ड्रकः स्याद् वासन्ती माधवी लता"। कालिदास ने मेघदूत (२-१५) में माधवी- मण्डप की चर्चा की है—"प्रत्यासन्नौ कुरवकवृते र्माधवी मण्डपस्य"। शाकु. २-८ में विरह क्षामा शकुन्तला की उपमा वायु द्वारा पत्तों के सुखा दिये जाने पर क्षाम माधवी से दी है—"पत्राणामिव शोषणेन मरूता स्पृष्टा लता माधवी"। विक्रमो. २-४ में माधवी का उल्लेख सरस ढंग से हुआ है—

निषिञ्चन् माधवीं लक्ष्मी लतां कौन्दीं च लासयन्।

स्नेह-दाक्षिण्ययोर्योगात् कामीव प्रतिभाति मे ।।

इस श्लोक में कवि ने पुरुरवा के मुख से दक्षिणानिल को कामी कहलाया है, जिसकी दो पत्नियाँ हैं। कुन्द या माघीलता बड़ी है। वह माघ और फाल्गुन में फूलती है। छोटी माधवी या वासन्ती है जो चैत्र वैशाख में फूलती है। वायु बड़ी को केवल बातों से वहला कर छोड़ देता है किन्तु छोटी के साथ प्रणय लीला रचता है। उसे निषिक्त अर्थात् पुष्पित करता है।

विक्रमोर्वशीय में इसी को वासन्तीलता कहा है—"ततोऽहं गुरुशापसंमूढ-हृदया देवता-समयं विस्मृत्य अगृहीतानुनया स्त्रीजन-परिहरणीयं कुमारवनं प्रविष्टा। प्रवेशान्तरमेव च काननोपान्तवर्ति-वासन्तीलताभावेन परिणतं मे रूपम्" ।। ४-४२ के ऊपर।

अतिमुक्तक नाम माधवी या वासन्तीलता की अपेक्षा प्राचीनतर है। गिरि काननों और वनस्थलियों के अतिरिक्त यह मदनोद्यानों, क्रीडोद्यानों, वाह्योद्यानों तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवालयों आदि के समीप भी लगायी जाती है। यह सदा हरित, पत्राढ्य, शीतल छायायुक्त और मण्डप के रूप में फैलायी मिलती है। तोरणाकार और मण्डपीलता गृह के रूप में यह प्रेमी युगलों के लिये बड़े काम की होती है। कवि ने इनके साथ लता शब्द इन्हें नायिका का स्वरूप प्रदान करने के लिये जोड़ा है। इसके पुष्प सुरभित होते हैं और शीघ्रपाती भी। ये भ्रमरों के संघट्टन से शीघ्र गिर जाते हैं। कवियों ने अतिमुक्त लता का नायक सहकार को माना है। यह केवल काव्य कल्पना न होकर यथार्थानुप्राणित तथ्य है क्यों कि यह दीर्घारोही और काष्ठीयलता होती है। अतः इसके आरोहणाधार के लिये पुष्प वाटिकाओं में आम्र का वृक्ष लगाया जाता है। इसकी दो प्रजातियाँ पाई जाती हैं—(१) आगे नोस्मा प्रजाति और हिप्टेज प्रजाति। प्रथम ग्रीष्म और वर्षा में तथा द्वितीय वसन्त में फूलती है। प्रथम आक्षीरी है। इसके डंठल तोड़ने पर कनेर के समान उनमें दूध निकलता है किन्तु हिप्टेज माधवी में नहीं।

अशोक

ऋतु संहार में कहा है कि स्त्रियाँ वसन्त में अपने केशों को अशोक पुष्पों से सजाती हैं—"चलेषु नीलेष्वलकेष्वशोकम्" ६-६ और नव यौवनायें जब अशोक को देखती हैं तो उनके हृदय में पीड़ा उत्पन्न होती है—"कुर्वन्त्य शोकाः हृदयं सशोकं निरीक्ष्यमाणा नव यौवनानाम्"। ६-१८ विक्रमोर्वशीय २-७ में कहा कि वसन्त का अवतरण होने पर रक्ताशोक की कलियों का रंग और भी चटकीला हो जाता है और वे फूट पड़ने की तैयारी में होती है—"रक्ताशोकमुपोढ- राग सुभगं भेदोन्मुखं तिष्ठति"। मालविका. १-५ में स्त्रियों के ओठों की प्रसाधन-लालिमा से रक्ताशोक की लाली को अधिक आकर्षक बतलाया है—"रक्ताशोकरुचा विशेषित-गुणो विम्वाधरालक्तकः"। मालविका. में ही कवि समय प्रसिद्ध अशोक दोहद का उल्लेख है। मान्यता थी कि यदि वसन्त में समय पर अशोक में पुष्पोदय न हो तो उसमें अलंकृता सुन्दरी से पाद प्रहार कराने पर पुष्प निकल आते हैं। मालविका. के तृतीय सर्ग में यह बात प्रमुख घटना के रूप में वर्णित है—

अनेन तनुमध्यया मुखरनूपुराराविणा
नवाम्वुरुह-कोमलेन चरणेन संभावितः।
अशोक यदि सद्य एव मुकुलैर्न संपत्स्यसे
वृथा वहसि दोहदं ललितकामि-साधारणम्॥ माल. ३-१७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रघुवंश (९-२८) में भी वसन्त का वर्णन करते हुए कहा है कि अशोक वृक्ष के आर्तव कुसुम ही स्मरदीपक नहीं थे, अपितु उसके किसलय भी जो नये नये फूटे थे स्त्रियों के द्वारा कानों में लगाये जाने पर लोगों को उन्मत्त बनाते थे—

कुसुममेव न केवलमार्तवं नवमशोकतरोः स्मरदीपनम्।

किसलय-प्रसवोपि विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितः ॥

मेघदूत में कहा कि अलका में यक्ष का गृह चलकिसलयों वाले रक्ताशोक से मण्डित था (२-१५) यहाँ भी दोहद की बात का उल्लेख है। कुमार संभव में कामदेव वसन्त की सहायता से जो असमय नवश्री का अवतरण कराता है उसमें भी सर्वप्रथम अशोक के पुष्पित होने का उल्लेख है—

असूत सद्यः कुसुमान्यशोकः स्कन्धात् प्रभृत्येव सपल्लवानि।

पादेन नापैक्षत सुन्दरीणां सम्पर्कमासिञ्जितनूपुरेण। ३-२६

अन्यत्र अशोक को पद्मरागों से अधिक आकर्षक बतलाया है—"अशोक-निर्भत्सित-पद्मराग-वसन्त-पुष्पाभरणं वहन्ती"। कुमार. ३-५३

इन वर्णनों से स्पष्ट है कि कवियों के लिये उस अशोक का जिसे रक्त किसलयों और आरक्त पुष्पों के कारण रक्ताशोक कहते थे, विशेष महत्त्व था। वह घरों और उद्यानों में आरोपित किया जाया था और इनमें वसन्त काल में नये किसलय और पुष्प निकलते थे। कदाचित् नवयुवतियाँ इस ऋतु में शृंगार कर इसके नीचे उत्सव भी मनाती थी। अशोक को कवि ने रक्ताशोक, तपनीयाशोक (माल. ३-१० के पास) भी कहा है। कालिदास ने एक स्थान (रघु. ७-२१) पर इसे अशोक लता भी कहा है। अज और इन्दुमती विवाह के समय जब एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए थे तो लग रहा था जैसे सहकार के नव पल्लव के साथ अशोक लता का प्रवाल आसञ्जित हो गया है—

हस्तेन हस्तं परिगृह्य वध्वाः स राजसूनुः सुतरां चकासे।

अनन्तराशोकलता-प्रवालं प्राप्येव चूतः नवपल्लवेन ॥

कुमार० में विलाप करती हुई रति कहती है कि अशोक में निकले नये प्रसूनों से अलक सजाने के बदले अव उन्हें तुम्हारे निवाप-माल्य के काम लाना पड़ेगा। दोहद की चर्चा यहाँ भी है। ऋतु (३-१८) में कङ्केलि को पुष्प-रुचिरा कहा है। यह भी अशोक एक नाम है। यहाँ इसे श्वेत पुष्प वाली लता कहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अशोक का सर्वप्रथम उल्लेख अष्टाध्यायी के चातुरर्थिक सख्यादिगणपाठ (४-२-८) में तथा ७-३-४६ के व्याकरण महाभाष्य में मिलता है। मध्यवर्ती काल के कोषों में प्राप्त कङ्केलि भी इसका पर्याय है। कवियों ने वसन्त ऋतु में फूलने वाले इस वृक्ष को शृङ्गार का सहायक माना है और वसन्त की नैसर्गिक सुषमा का प्रमुख अङ्ग। राम लंका से लौटते हुए जब सीता को पूर्व परिचित स्थान दिखलाते हैं तो पंचवटी में पुष्पित अशोक की ओर इंगित करते हुए सीता से कहते हैं—

इमां तटाशोकलतां च तन्वीं स्तनाभिराम-स्तवकाभिनम्राम्।

त्वत्प्राप्ति वुद्धया परिरब्धुकामः सौमित्रिणा साश्रुरहं निषिद्धः॥ रघु. १३-३२

यहाँ अशोक को लता कहा है और उसमें पुष्पों के स्तवकों का उल्लेख किया है जिनसे राम को सीता के स्तनों के भ्रम हुआ। अशोक लता पुष्प-स्तवकों के भार से उसी प्रकार झुकी थी जैसे तरुणी स्तनभार से होती है। हरविजय (१७-३१) में अशोक के पुष्पस्तवकों का ही उल्लेख है—"संस्पृष्टश्चरण-तलेन पक्ष्मलाक्ष्या संसक्तैः स्तवक शतैरशोकः"। शृङ्गारी सौष्ठव के साथ प्राचीन काल में यह पूज्य और धार्मिक वृक्ष माना जाता था। शीतल छाया के लिये भी इसकी प्रसिद्ध रही है। औषधीय गुणों के लिये भी इसका सम्मान होता है। उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में रावण की लंका तक सर्वत्र अशोक के वर्णन उपलब्ध हैं।

अशोक स्थूल स्कन्ध (Trunk) युक्त सदाहरित पुष्पी पादप है। इसके पुराने स्कन्ध कोटर युक्त भी हो जाते हैं। आम के समान पुष्पागम काल में यह प्रवाल, पत्रों एवं तीव्र रंग के पुष्प स्तवकों के कारण आकर्षक एवं उद्दीपक होता है। वाल अशोक भी प्रफुल्ल होने पर गाढ़े रक्तिम रंग के हो जाते हैं। वास्तव में पुष्प का दल-चक्र (Coralla) सफेद या स्वर्णिम-रक्त होता है और पुटचक्र (Calyx) प्रायः हरित बना रहता है। काव्यकारों ने अशोक को कड़ा और उन्नत (Stiff and erect) वर्णित किया है। यह मधुगन्धि-सौरभयुक्त तथा भ्रमरों के लिये आकर्षक होता है। इसके प्रवालों एवं स्तवकों की बहुकोटिक रक्त रागिता के कारण यह तपनीय या हेम (Golden), पद्मराग, विम्वाधर, पाटल (Pink) वालातप, पिंगल कहा गया है। कवियों ने सौकुमार्य तिषय की व्यञ्जना के लिये इसमें स्त्रीत्व की कल्पना कर उसे अशोक लता या कंकेलिवल्लरी और इसके स्तवकित पुष्प-समूह को स्तन का रूप दे दिया है। इसके प्रवालगुच्छ और स्तवक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्णपूर या कर्णावतंस के रूप में व्यवहृत होते रहे हैं—"एषोशोकशाखावलम्बी पल्लवगुच्छः अवतंसयैनम्"—माल. ३-१५ के ऊपर। किन्तु अशोक के पूर्व तपनीय या रक्त विशेषण लगाना निरर्थक है क्योंकि ये सब अशोक से भिन्न नहीं हैं।

असन

कालिदास ने केवल एक वार असन वृक्ष का उल्लेख किया है—रघु. ९-६३

व्याघ्रानभीरभिमुखोत्पतितान् गुहाभ्यः

फुल्लासनाग्रविटपानिव वायु-रुग्णान्।

असन को वीजासारभी कहते हैं। यह भवन-निर्माण के काम आने वाली लकड़ी और रक्त-निर्यास के लिये प्रसिद्ध है और वनस्थलियों, विशेषतः विन्ध्य स्थली में अधिकता से पाया जाता है। इसके पुष्प पीत वर्ण के बतलाये गये हैं शरद् ऋतु में फूलते हैं। ये मधुगन्धी तथा सुन्दर होते हैं।

अक्षोट

रघु. ४-६९ में कालिदास ने अक्षोट (अखरोट) वृक्षों की चर्चा की है और कहा है कि उसके हाथियों के आलानों से परिक्लिष्ट अक्षोट के वृक्ष नीचे झुक गये थे—

गजालान परिक्लिष्टैरक्षोटैः सार्धमानताः॥

अक्षोटों की उत्पत्ति कम्बोज देश में बतलायी गयी है। कम्बोज देश पाञ्चाल (पीरपंजाल) और म्लेच्छ देश वक्रान्त=मकरान और ऐराक=ईराक सहित खुरासान् के बीच अवस्थित था। कम्बोज के विषय में अन्यत्र विस्तार पूर्वक विचार किया गया है।

अर्जुन

ऋतु संहार मे कहा है कि शरद ऋतु में पुष्पों के विकास की शोभा अर्जुन को छोड़कर सप्तच्छदों के पास चली गयी है—(३-१३)

मुक्त्वा कदम्ब-कुटजार्जुन-सर्ज-नीपान्

सप्तच्छदानुपगता कुसुमोद्गमश्रीः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु वर्षा ऋतु में अर्जुन में फूल खिलते हैं और उनकी सुगन्ध वायु के साथ मिल कर चारों ओर फैल जाती हैं अर्जुन की छाल अनेक ओषधियों के काम आती है। "(समीरणः) कदम्ब-सर्जार्जुन केतकीवनं विकम्पयंस्तत्क्रसुमाधिवासितः"। ऋतु. २-१७

अर्क

अर्क का उल्लेख शाकु. २-९ में हुआ है—"अर्कस्योपरि शिथिलं च्युत मिव नव मालिकाकुसुमम्"। अर्क का पुष्प भी रूपाकार में मालिका के समान होता है। यदि मालिका का पुष्पवन्धन वृन्त से टूटकर मालिका पुष्प पर गिर पड़े तो उसे पृथक् पहचानना कठिन होता है। हाँ, मालिका सुरभित होती है किन्तु अर्क नहीं। हिन्दी में इसे मदार भी कहते हैं। वर्षा में इसके पुष्प झड़ जाते हैं।

आम्र

आम्र, आम्री, सहकार, चूत और रसायन ये सब पर्याय हैं। आम्री का प्रयोग केवल एक बार (ऋतु. ६-२८) मिलता है। आम्र का वर्णन सामान्यतया कामोद्दीपन के लिये किया गया है। वसन्त के प्रारम्भ होते ही इसमें नवकिसलय और पुष्प-मंजरियाँ फूट पड़ती हैं। मंजरियाँ बहुत सौरभ विखेरती हैं। अतः भ्रमर उनके ऊपर मँडराते रहते हैं। कोकिल आम्र पर बैठ कर बोलती है। उसका नाद विरहोद्दीपन का काम करता है। वह मानिनियों के मन को शान्त करता है। इसलिये कोकिल को मदन-दूती कहते है—"त्वां कामिनो मदन दूतिमुदाहरन्ति" (विक्रमो.)। विक्रमोर्वशीय में पुरुरवा कहता है कि काम पहले से ही मुझे पीडित कर रहा है, फिर पीले पत्तों के गिर जाने पर उपवनों के आमों में जव नये अङ्कुर निकलने लगे हैं, तब तो कहना ही क्या—

किमुत मलय-वातोन्मूलितापाण्डु

पत्रैरूपवन-सहकारै दर्शितेष्वङ्कुरेषु॥ विक्रमो. २-६

शाकुन्तल में वनज्योत्सना और सहकार का विवाह सम्पन्न कराने के उद्देश्य के शकुन्तला और अनसूया कहती हैं—अन० "इयं स्वयंवर वधूः सहकारस्य त्वयाकृतनामधेया वन ज्योत्स्ना नवमालिकेति।" शकु०—"रमणीये खलु एतस्य पादप मिथुनस्प व्यतिकरः संवृत्तः। नवकुसुम-यौवना वनज्योत्सना, स्निग्ध-पल्लवतया च उपभोग क्षमः सहकार।" (शाकु. १-१९ के नीचे)। आम्र का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उल्लेख प्राय: लताओं के वर के रूप में मिलता । प्रफुल्ल सहकार का सौरभ इतना मादक और तीव्र होता है कि भ्रमर उसे छोड़कर अन्य वृक्ष पर नहीं जाते—“नहिं प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदाली”। रघु. ६-६९ । और जब भ्रमरों का यह हाल है तो मनुष्यों का तो कहना ही क्या ! कलि-कामजित् लोग भी कलिकामयी (नवस्फुटित यौवना) सहकारलता (मुग्धा नायिका) को देखकर उन्मत्त हो उठते हैं—“अमदयत् सहकारलता मन: सकलिका कलिकामजितामपि”। (रघु. ९-३३) । यहाँ कवि ने सहकार को भी लता (रमणी) का रूप दे दिया है, यद्यपि सामान्यतया उसका उल्लेख पुरुष रूप में ही किया गया है । ऐसे ही कभी कभी अशोक भी लता रूप में वर्णित कर दिया गया है । भ्रमरों को चूत वृक्ष सर्वाधिक प्रिय है, यह वात रघुवंश के समान कुमारसंभव में भी कही गयी है—“अनन्त-पुष्पस्य मधोर्हिचूते द्विरेफमाला सविशेष संगा” १-२७ । कालिदास ने चूत के पल्लवों को वाण और उन पर बैठे भ्रमरों को कामदेव का नामाक्षर माना है—

सद्यः प्रवालोद्गम-चारुपत्रे नीते समाप्तिं नवचूतवाणे ।

निवेशयामास मधुर्द्विरेफान् नामाक्षराणीव मनोभवस्य ।। कुमार. ३-२७

और चूत वृक्ष के अङ्कुरों (पुष्पों) को कोकिल स्वाद के साथ खाता है । उससे उसका कण्ठ और भी खुल जाता है । तब वह जो खुल कर बोलता है, वह मदन का आज्ञा पत्र वनकर मनस्विनियों को मान का त्याग करने के लिये विवशकर देता है—

चूताङ्कुरास्वाद-कषाय-कण्ठः पुंस्कोकिलो यन्मधुरं चुकूज ।

मनस्विनी-मान-विघातदक्षं तदेवजातं वचनं स्मरस्य ।। कुमार. ३-३२

कालिदास समान्य आम्रों तथा वन्य आम्रों में भेद किया है । उन्हें उन्होंने कामनाम्र (मेघ. १-१८) कहा है । इनके फल अपेक्षाकृत छोटे और कम मधुर होते हैं । ऋतु. (६-१) में उन्होंने आम्र-मंजरियों को काम के वाण और उन पर बैठी भ्रमर-पंक्ति को उसकी प्रत्यञ्चा कहा है—

प्रफुल्ल-चूताङ्कुर-तीक्ष्ण सायको द्विरेफमाला-विलसद्-धनुर्गुणः ।।

उन्होंने इसके प्रभाव से पुंस्कोकिल और कोकिला में भी राग-संवर्धन का उल्लेख किया है—

पुंस्कोकिलश्चूतरसासवेन मत्तः प्रियां चुम्वति राग-हृष्टः । ऋतु. ६-१६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिदास की अन्य रचनाओं में प्राप्त सहकार के प्रसंग में ये ही बातें कही गयी हैं।

अशोक में जहाँ पत्र स्तवकों में साधारण पत्र न होकर एक ही पत्र के पत्राकार खण्डित पत्रक (Leaflets) होते हैं वहाँ आम्र के प्रवाल साधारण पत्र (Simple Leaf) होते हैं। किन्तु कोमल और अधोलम्वि होने से वे मञ्जरी धारक पतली टहनियों पर आपाततः स्तम्बाकार दिखते हैं। इन अधोलम्वि प्रवालों से टहनी नीचे को झुक सी जाती है। आम्र प्रवालों की लालिमा की समता ताम्र रंग (Copper red) या करतल रक्तिमा से की जाती है—ताम्र-प्रवाल-स्तवका-वनम्रा (ऋतु. ६-१७)। आम्र मंजरी सशाख होती हुई भी स्तवकाभ होती है। रूप रेखा में यह तिलक-मंजरी के समान होती है जिसमें फूलों के हजारों दाने होते हैं। ये कपिशवर्णी होते हैं। विक्रमोर्वशीय में कहा भी है—"ईषद्बद्ध-रजः कणाग्रकपिशा चूते नवा वल्लरी" २-७। वसन्त श्री के अलंकार एवं शोभावृद्धि में सर्वाधिक योगदान का श्रेय तथा काम के अनन्य मित्र एंव सहचर होने का गौरव भी सहकार को ही प्राप्त है। कुमार. २-६४ में देखिये—

अथ स ललित-योषिद्-भ्रूलता-चारुशृङ्गं

रतिवलय-पदाङ्कं चापमादाय कण्ठे।

सहचर-मधु-हस्त-न्यस्तचूताङ्कुरास्त्रः

शतमुखमुपतस्थे प्राञ्जलिः पुष्पधन्वा॥

सामान्यतया आम्र का पुष्पागम काल वसन्त है। वासन्ती वायु से इसमें प्रवाल पल्लव फूटते हैं। फिर मंजरियाँ निकलती हैं। वर्षा प्रारम्भ होते ही आम्रफल पकने लगते हैं— मेघदूत(१-१८) में आम्रकूट को वर्षारम्भ में "छन्नोपान्तः परिणत फल-द्योतिभिः काननाम्रैः" कहा है। शृंगार में सहकार के महत्त्व का अनुमान इससे किया जा सकता है कि काम के मरने पर उसकी पत्नीरति पति के श्राद्ध में चूतप्रवाल एवं आम्रमंजरी से तर्पण करना चाहती है। वह वसन्त से कहती है—

परलोकविधौ च माधव स्मरमुद्दिश्य विलोलपल्लवाः।

निवपेः सहकार-मंजरीः प्रियचूतप्रसवोहिते सखा॥ कुमार. ४-३८

अर्थशास्त्र ने सहकार सुरा का उल्लेख किया है जो राजपेय होती थी। सम्भवतः आम्रमंजरी से अधिवासित होने के कारण सुरा इस नाम की अधिकारिणी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी। रघुवंश का राजा अग्निवर्ण सहकार एवं रक्तपाटलपुष्पों से अधिवासित कर सुरा का पान करता था जिससे उसका सुप्तकाम फिर से जाग उठता था—

यत् सलग्न सहकारमासवं रक्तपाटल-समागमं पपौ।

तेन तस्य मधुनिर्गमात् कृशश्चित्तयोनिरभवत् पुनर्नवः॥ रघु. १९-४६

इङ्गुदी

यह तापस वृक्ष है। तपोवनों में इनकी स्थिति प्रसिद्ध थी। इसके फलों से तेल निकाला जाता था जिसे तपस्विलोग अपने मुण्डित सिर पर मलते थे। शाकुन्तल में विद्षक राजा से कहता है कि इस आनाघ्रात पुष्प (शकुन्तला) को वचाइए। कहीं ऐसा न हो कि यह किसी इंगुदी तेल लगाए हुए चिकने सिर वाले तापस के हाथ लग जाय "तेनहिं लघु परित्रायतांभवान्। मा कस्यापि तपस्विन् इङ्गुदी तेल मिश्रचिक्कण शीर्षस्य हस्ते पतिष्यति"॥ शाकु. २-११ के नीचे। इंगुदी के बीजों से निकाला हुआ तेल दीपों में भी जलाया जाता था। निर्वासित सीता को रात्रि-वास के लिए उटज प्रदान करती हुई तापसियाँ उसमें इंगुदी तेल का दीप जला कर रखती है—

ताइङ्गुदीतेल-कृत-प्रदीपमास्तीर्णमेध्याजिन-तल्पमन्तः।

तस्यै सपर्यानुपदं दिनान्ते निवास हेतो-रुटजं वितेरूः॥ रघु. १४-८१

तपस्वियों द्वारा उपयोग में लाये जाने के कारण इसे तापसतरु भी कहते हैं। इसका लेटिन नाम Balanites aegyptiaca और हिन्दी में व्यहृत हिंगोट है। इसके फल स्निग्ध-उष्ण होते हैं। स्वाद में मधुर किन्तु कुछ दुर्गन्ध लिए होते हैं। भारत के शुष्क जलवायु वाले, विशेषतः काली मिट्टी वाले क्षेत्रों में पाये जाते हैं।

इक्षु

कालिदास ने शिशिर को इक्षु की ऋतु कहा है। इस काल में पृथ्वी शालि और इक्षु से भरी रहती है। शालि और इक्षु शिशिर में पक्व हो जाते हैं। इक्षु को काट कर उसका रस निकालने और उससे गुड़ बनाने की प्रथा बहुत पुरानी है। कवि ने इस से निकट परिचय व्यक्त किया है। शालि और इक्षु दोनों पर्याप्त वर्षा वाले प्रदेशों में ही उत्पन्न होते हैं। शालि की पौध का प्रत्यारोपण किया जाता है। इसे इसी कारण कलम भी कहते हैं। इस पौध के खेत में पानी भारा रहना आवश्यक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इक्षु को भी अधिक पानी की आवश्यकता होती है। ऋतु संहार में कालिदास की दृष्टि में ऐसा ही प्रचुरजलवाला प्रदेश रहा है। तभी वह कहते हैं–

प्ररुढशालीक्षुचयावृतक्षितिं. . वरोरु कालं शिशिराह्वयंश्रृणु। ऋतु०५-१

प्रचुर-गुड-विकारः स्वादु शालीक्षुरम्य शिशिर समयएष श्रेयसेवोस्तु। गावो में शालि के खेतों को पशु पक्षियों के वचाने के लिए प्रायः लडकियाँ गोफन ले कर इक्षु की मेड़ों पर बैठती हैं। इस समय तक इक्षु इतनी बड़ी हो जाती है कि वे उसकी छाया में बैठ कर धूप से अपनी रक्षा कर सकें—

इक्षुच्छाय-निषादिन्यस्तस्यगोप्तुर्गुणोदयम्।

आकुमार-कथोघातं शालिगोप्यो जगुर्यशः। रघु. ४-२०

ये दृश्य आज भी गाँवों में देखे जा सकते हैं जहाँ शालिगोपी स्त्रियाँ गाती गाती अपने खेतों की रखवाली करती हैं।

उदुम्बर

कालिदास ने मेघदूत में वर्षा की वायु को उदुम्वरों को पकाने वाली कहा है—शीतोवायुः परिणमयिता काननोदुम्वराणाम्। मेघ. १-४८। उदुम्वर (Ticus racemosa) को हिन्दी में गूलर कहते हैं। इसके फल शक्ति वर्धक, स्वादिष्ट और भोज्य होते हैं। चिकित्सा की दृष्टि से उदुम्वर का बड़ा महत्व है। इसके कच्चे फल शाक के काम आते हैं।

एला–

ससझुरश्व-क्षुण्णानामेलानामुत्पतिष्णवः।

तुल्य-गन्धिषु मत्तेभ-कटेषु फल-रेणवः॥ रघु. ४-४७

एला (Elattaria cardamon) छोटी इलायची का नाम है। इसके पौधे छोटे होते है और दक्षिण भारत में विशेषतः पाये जाते हैं।

असन

असन का उल्लेख रघुवंश में दशरथ के मृगया-प्रसंग में मिलता है जहाँ गुफाओं से निकलकर झपटते हुए व्याघ्रों की उपमा वायु द्वारा जोर के झकझोरे या उखाड़े जाते हुए असन वृक्षों से दी है— "व्याघ्रानभीरभिमुखोत्पतितान् गुहाभ्यः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फुल्लासनाग्रविटपानिव वायुरुग्णान्" कालिदास (रघु. ९-६३) के अतिरिक्त भारवि और माघ ने भी असन की चर्चा की है।

असन उत्तर, पश्चिम, विशेषत: मध्यप्रदेश के विन्ध्यक्षेत्र में पाया जाता था। वनों के अतिरिक्त राज-प्रमद-वनों में भी यह आरोपित किया जाता था। इसके पुष्प पीले होते हैं। तभी इनकी उपमा व्याघ्र के पीले धब्बोंदार चर्म से दी गयी है। इसके पुष्प और मजरियाँ देखने में सुन्दर, मधुरगन्ध वाले तथा मधु-स्रावी होते हैं। शरद् ऋतु में फूलते हैं। असन का एक नाम वीजासार भी है। यह रस-निर्यास तथा भवनोपयोगी लकड़ी के लिए प्रसिद्ध है।

अगुरु-कालागुरु

(Aquilaria Agallochum Aloe wood)-ऋतुसंहार में अनेक बार अगुरु और कालागुरु का उल्लेख हुआ है—

प्रकामकालागुरु-धूप-वासितं विशन्ति शय्यागृहमुत्सुकाः स्त्रियः ५-५

अगुरु-सुरभि-धूपामोदितं केशपाशं गलित-कुसुम-मालं केशपाशं वहन्ती। ५-१२

शिरांसि कालागुरुधूपितानि कुर्वन्ति नार्यः सुरतोत्सवाय॥ ४-५

अगुरु के वृक्ष हिमालय पर पाये जाते हैं। इसकी लकड़ियाँ और छाल सब सुगन्धित होते हैं। अगुरु और तगुरु का काष्ठ चूर्ण-अग्नि में डालने पर सुगन्धित धुँआ निकलता है। धूपदान तथा होम में इसका उपयोग होता है। प्राचीन काल में स्त्रियाँ इस के धूम से अपने केशों को वासित करती थीं। शयन कक्षादि को सुगन्धित वनाने में भी इसका उपयोग होता था।

ककुभ

ऋतु सं. २-२१ में कवि ने ककुभद्रुम का उल्लेख करते हुए कहा है कि इसकी मंजरियों से स्त्रियाँ अपने कर्णों को अलंकृत करती हैं। इतना ही नहीं वे उनसे इच्छानुकल अन्यअवतंसों की भी रचना करती हैं। ककुभ (Teminalia Ajuna) सीधा, बड़ा, ऊँचा वृक्ष होता है जो वर्षा ऋतु में फूलता है। इसके पुष्प-गुच्छ मसृण और सुगन्धित होते हैं। यह औषधि वृक्ष है। इसकी छाल बहुत गुणकारी होती है। इससे आसब और अरिष्ट भी बनते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कदम्ब

कदम्ब कवियों का प्रिय वृक्ष है। यह वर्षा ऋतु में फूलता है। फूल मधुर सुगन्धयुक्त होते हैं। भारत में कदम्वपुष्पों की माला स्त्रियों को बहुत प्रिय रही है। कदम्व सघन पत्तों और मध्याकार वाला होता है जिसकी छाया में ताप निवारण किया जा सकता है। कदम्व (Anthocephalus Cadambes) के फलों (Pseudocarps) का उपयोग फल तथा शाक के रूप में होता है। आयुर्वेद ग्रन्थों में इसे विशद, गुरु, शीत और अभिष्यन्दि कहा है। स्त्रियाँ कदम्व पुष्पों की माला सिर में धारण करती थी—माला: कदम्व-नवकेसर केतकीभिरायोजिता: शिरसि विभ्रति योषितोऽद्य (ऋतु. स. २-२१) कदम्व रक्त और श्वेत पुष्पों वाले भी होते हैं। विक्रमोर्वशीय में पुरुरवा ग्रीष्मात्यय काल में कुछ खिले रक्त कदम्वों को देख कर कहता है कि इनके असमग्र केसरों वाले निम्नोन्नत रक्त पुष्पों से मेरी प्रिया अपनी वेणी को सजाती थी—

रक्त-कदम्बः सोऽयं प्रियया धर्मान्तशंसि यस्येदम्।

कुसुममसमग्रकेसर-विषममपि कृतं शिखाभरणम्॥ विक्रमो. ४-६०

मेघदूत में कहा है कि वन प्रदेश पुष्पों सेलदे और वायु वेग से चलित शाखाओं वाले कदम्व वृक्षों से नाचते दिख रहे हैं—मुदितइव कदम्वैः जातपुष्पैः समन्तात् पवनचलित-शाखैः शाखिभिर्नृत्यतीव। ऋत २-२४

कदम्व के प्रौढ पुष्पों में ऊपर काँटे से होते हैं। इसी को लक्ष्य कर यक्ष मेघ से कहता है—

नीचैराख्यं गिरिमधिवसे स्तत्र विश्राम-हेतोः।

त्वत्-संपर्कात् पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः। मेघ. १-२५

कदम्ब पुष्पों को कवियों ने उनके कण्टकित होने के कारण रोमाञ्च का उपमान बनाया है—

विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरत्बालकदम्ब कल्पैः। कुमार. ३-६८

कदली

यह सुप्रसिद्ध और मांगलिक वृक्ष है जिसके स्तम्भ गौरोज्वल वर्ण के होते हैं और नारी उरुके उपमान के रूप में काव्य में समाघृत है—

यास्यत्यूरुः सरसकदली-स्तम्भ-गौरश्चलत्वम्। मेघ. २-३३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कदली वृक्षा (Musa Paradisiaca) का फल भी कदली (Moca) कहलाता है जो मधुर. शीत और स्निग्ध होता है। कदली अत्यन्त शीत प्रभावकारी होती है। इसीलिए पार्वती के उरुका वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

नागेन्द्रहस्तास्त्वचिकर्कशत्वादेकान्तशैत्यात् कदली-विशेषाः।

लब्ध्वापि लोके परिणाहि रूपं जाता स्तदूर्वोरुपमान-वाह्याः॥ कुमार. १-३६

कन्दली

चौड़े बड़े पत्तों वाली और चारों ओर फैलाने वाली कन्दली वर्षा के प्रारम्भ में फूलती है। यह जलीय प्रदेश में विपुलता से पायी जाती है "आविर्भूत प्रथम-मुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम्"। मेघ. १-२१। इसे सुदर्शन (Crinum Species) भी कहते हैं। श्राद्ध में इसका उपयोग वर्जित है। इसके पुष्प अनेक कोशों में स्फुरित होते हैं। श्वेत, पीत और प्रमुखतः रक्तकन्दल कोशों को दृष्टि में रखकर कवि ने राम के मुख से कहलाया है—

आसार-सिक्तक्षितिवाष्य योगाद् मामक्षिणोद् यत्र विभिन्न-कोशैः।

विडम्व्यमाना नवकन्दलैस्ते विवाहधूमारूण-लोचन-श्रीः। रघु. १३-२९

कन्दली के नीलश्याम पत्र धूम के और नवोर्दित कन्दल धूम से रक्त नेत्रों के उपमान है। ठीक ऐसी ही बात पुरुरवा अपनी प्रिया के विषय में कहता है—

आरक्त-राजिभिरियं नवकन्दली सलिलगर्भैः।

कोपादन्तर्वाष्पे स्मरयति मां लोचने तस्याः। विक्रमो. ४-१५

उभयत्र कालिदास की दृष्टि रक्त कन्दली पर रही है।

कमल

कमल संस्कृत कवियों का परमसखा और काव्योपकरण रहा है-चाहे नेत्र हों या मुख, कर या चरण-नलिन, शतदल, इन्दीवर, अम्भोज, पङ्कज आदि इसके अनेक नाम हैं। हैम, रक्त, नील आदि उसके विविध वर्ण भी हैं। ऋतु (२,९) में नीलोत्पोल, २-१४ में नलिनी, २-१५ मे विमलोत्पल, २-१६ में सितोत्पल, २-१७ में नील कुवलय, १-२८ में कमल वन, विक्रमोर्वशीय १-२० में मृणाल सूत्र, ४-१ में तामरस, मालिविका. २-१० में पंकज केसर, शाकुन्तल १-१९ में नीलोत्पल १-१८ में सरसिज ३-८,९ में अरविन्द, मृणालवलय ३-१२ में शुकोदर-सुकुमार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नलिनीपत्र, ३-१९ में नलिनीदल तालवृन्त, ६-१८ में मृणाल सूत्र, ६-१९ में कमलोदर रघुवंश ६-६९ में अरुणांशुभिन्न सरसिज, ६-१३ में उपगूढ़-नाल लीलारविन्द, ८-४५ में हिमसेक-विपन्न नलिनी, कुमार संभव १-४६ में प्रवात-नीलोत्पल-विप्रेक्षित, १-३३ में स्थलारविन्द, २-४४ में हेमाम्भो रुह, ३-३७ में पंकज रेणु तथा विस, ३-४९ में मृणाल सूत्र, ८-३५ में विसावुंर मेघदूत १-११ में विस किसलय, १-३३ में कुवलयरज, १-३९ में नलिनीकमल वदनगत आलेयासु २-२ में लीलाकमल, २-२७ में स्थलकमलिनी और ऋत संहार ३-१ में विकचपदम्, ३-१७, १९, २६ में नीलोत्पल ६-८ में हेमाम्वुरुह, ६-१६ में अम्वुज, विक्रमो. ४-४३ मे वालातप रक्त कमल आदि का उल्लेख कालिदास ने किया है। और ये तो निदर्शन मात्र हैं। इनके अतिरिक्त भी अनेक स्थानों पर कमल और उससे सम्बन्धित वस्तुओं की चर्चा उनकी रचनाओं में मिलती है।

कमल मांगलिक नाम है। यह तडागों पुष्करों और वापियों में रोपित किया जाता है। इसके अनेक नाम और भेद हैं। इसके पुष्प हलके लाल, पूर्णरक्त, श्वेत, नील और सुनहरे भी होते हैं। कालिदास ने आवश्यकतानुसार इन सब रूपों का उपयोग किया है। इसके पत्र गहरे श्याम होते हैं। प्राचीन काल में इनका उपयोग प्रणयपत्र लेखन और तापित, विरहव्यथित शरीर पर रखकर ताप निवारण के लिए भी किया जाता था और व्यजन के रूप में भी। इसके सूत्र या तन्तु अत्यन्त कोमल होते हैं। इन्हे विस कहते हैं। ये कमल दण्ड (मृणाल) में नसों के समान व्याप्त रहते हैं। धारणा है कि हंस मृणाल में से इन्हें निकाल कर खाता है— "सूत्रं मृणालदिव राजहंसी" (विक्रमों०) इसका फल (कमलगट्टा) शाक के रूप में व्यवहृत होता है। आयुर्वेद में इसे रक्तपित्तहर, कषाय, मधुर और मधुर-विपाक कहा है।

स्थलारविन्दकमल से भिन्न पुष्प होता है। यह पंक या जल में नहीं, अपितु भूमि पर उत्पन्न रक्तवर्ण का होता है और दल कमल के ही समान कोमल।

कलम

कलम शालि उन धानों को कहते हैं जिनकी पौध प्रत्यारोपित की जाती है। इसके पौधे पानी में बढ़ते हैं। और जलपूर के वेग को झुक कर सहन कर लेते हैं। पानी में डूबने पर जल्दी सड़ते नहीं। रघु की विजय यात्रा के प्रसंग में कवि ने कमल (शालि) के इन गुणों का वर्णन किया है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपादपद्म प्रणताः कलमा इव ते रघुम्।

फलैः-संवर्धयामासुरूत्खात-प्रतिरोपिताः। रघु. ४-३७

आम्रादि फलों का कलम लगाया जाता है। इससे उसके फलों के आकार और स्वाद में वृद्धि होती है। कलम धान शरद के अन्त तक पकते हैं। तब सारी भूमि उनकी पीत मंजरियों और पीतपत्रों के कारण पीताम्बर दिखायी देती है—

वप्राश्च पक्वकलमावृतभूमिभागाः

प्रोत्कण्ठयन्ति न मनोभुवि कस्य यूनः। ऋतु. ३-५

कल्हार

कल्हार का उल्लेख केवल एक वार कवि ने किया है– "कह्लार पद्म कुमुदानि मुहुर्विधुन्वन्नुत्कण्ठयत्यतितरां पवनः प्रभाते" (ऋतु. ३-१५) यह उत्पल का ही एक भेद है। आयुर्वेद ने कह्लार कन्द को शाकश्रेणी में माना है।

कङ्केलि

कालिदास ने केवल एक वार ऋतु में संहार कङ्केलि का उल्लेख किया है— "दन्तावभास विशद स्मितचन्द्र कान्ति कङ्केलिपुष्परुचिरा नवमालती च" (३-१८) इसमें मालती और कङ्केलि दोनों के पुष्पों को कान्ताओं के स्वच्छदाँनों की शुभ्रिमा से मण्डित स्मित की शुभ्रिमा को जीतने वाली वतलाया है। मोनियर विलियम्स के अनुसार यह एक पुष्पी पादप (jonesia Asoka) का नाम है। इसके पुष्पमालनी के समान श्वेत होते हैं। बालरामायण में इसका उल्लेख है।

कर्णिकार

कर्णिकार की चर्चा कालिदास ने कईवार की है। हिन्दी में इसे कनेर भी कहते हैं। इसके पुष्प लाल, पीले और श्वेत भी होते हैं। कुमार संभव में कहा है—

वर्ण-प्रकर्षे सति कर्णिकारं दुनोति निर्गन्धितयास्म चेतः। ३-२८

अन्यत्र उन्होंने इसके पुष्पों को हेमद्युति अर्थात् पीतवर्ण वाला बतलाया है। यथा—

नीलालक मध्यशोभि विस्त्रंसयन्ती नव कर्णिकारम्। कुमार ३-६२

तथा—

आकृष्ट हेमद्युति-कर्णिकारं वसन्त पुष्पामरणं वहन्ती। कुमार ३-५३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्णिकार के पुष्पों को अलकों में पहनने की प्रथा का संकेत इस श्लोक से मिलता है। विक्रमोर्वशीय में कहा है कि मध्याह्न में भ्रमर कर्णिकार के मुकुलों के भेद कर उनके भीतर सो जाते हैं— "निर्भिद्योपरिकर्णिकार-मुकुलान्याशेरते षट्पदाः" २-२२। विक्रमो. में ही कर्णिकार के पुष्पों की पीत वर्णीदीपिकाओं से उपमा दी है। इससे कर्णिकार के पुष्पों का आकार बड़ा और वर्ण का पीत होना स्पष्ट है। साथ ही यह भी कि यह वन्य पादप भी है और इसका तना (सकन्ध) लम्बा पतलां और यष्टिवत् सीधा होता है—

परिजन-वनिता-करार्पिताभिः परिवृत एव विभाति दीपिकाभिः।

गिरिरिव गतिमाननपक्षसादादनुतट-पुष्पित-कर्णिकार यष्टिः ।।विक्रमो. ३-३

ऋतु संहार में कर्णिकार-पुष्प को कर्णावतंस बतलाया है— "कर्णेषु, योग्यं नव कर्णिकारम्" ऋतु ६-५

कवि ने कर्णिकार-कुसुमों को विरहोद्दीपक और काम-प्रवर्धक बतलाया है। कर्णिकार कुसुम वसन्त की रम्यता के साधक हैं। कवि का कथन है— "किं कर्णिकार कुसुमैर्न कृतंन दग्धम्" ऋतु. ६-२२ तथा "कुसुमित सहकारैः कर्णिकारैश्च रम्यः" वही २९।

कर्णिकार या कनियार वनचम्पा को कहते हैं। यह एक प्रकार का अमलतास होता है जिसे लेटिन में Peros Permum Acerifalium कहते हैं। कमल की बोडी (वीजकेशिका) को भी कर्णिकार कहते हैं। कर्णिकार वसन्त में फूलता है। इसके पुष्प हैमवर्ण के निर्गन्धकिन्तु आकर्षक होते हैं।

कालीयक

कालीयक की चर्चा कवि ने शीतकाल में स्त्रियों के शरीर पर किये जाने वाले सुगन्धित लेप के साधन के रूप में की है। स्तन-लेप के उपकरण के रूप में भी इसका उल्लेख हुआ है—

प्रियङ्गु कालीयक-चर्चितानि सपत्रलेखानि मुखाम्बुजानि। ऋतु ४-५

तथा

प्रियङ्गु कालीयक कुङ्कमाक्तं स्तनेषु गौरेषु विलासिनीभिः। वही ६-१२

चन्दन की एक जाति कालीयक कहलाती है। केसर और विशिष्ट हरिद्रा जाति के रूप में भी इस शब्द का प्रयोग मिलता है। संभवतः यह पीली जाति का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चन्दन (Agallochum) है जिसे केसर के साथ मिला कर लेप तैयार किया जाता है।

काश

यह तृण जाति है जो कुशों के काम आती है। आसन तथा पवित्री बनाने एवं अनेक धार्मिक कार्यों में कुशों का उपयोग होता है। (Sachharum Spontaneum) नामक तृणों का उपयोग छप्पर बनाने में भी होता है। नदियों के किनारे या ग्राम्य क्षेत्रों और वनों में शरद ऋतु में जब काश फूलते है। तो दूर दूर तक पृथ्वी चादर ओढ़े नववधू सी दिखाई देती है—

कालिदास ने शरद की कल्पना नववधू के रूप में करते हुए काशों को उसका रेशमी दुपट्टा बतलाया है जो सिर से लकर कटि के नीचे तक शरीर को ढँके रहता है। वह कहते हैं—

काशांशुका विकचपद्म-मनोज्ञवक्त्रा. .

प्राप्ता शरन्नववधूरिव रुपरम्या। ऋतु. ३-१

तथा– काशैर्मही शिशिरदीधितिना रजन्यः . . .

शुक्लीकृतान्युपवनानि च मालतीभिः। वही २

इसी बात को उन्होंने सर्ग के अन्त में फिर दोहराया है—

विकसित-नवकाश-श्वेत वासोदधाना. .

प्रतिदिशतु शरद्वश्चेतसः प्रीतिमग्ग्राम्। वही २६

किंशुक

किंशुक या पलाश (Butea trondosa) श्रृंगारी कवियों का अतिप्रिय वृक्ष है। यह वसन्त में ही फूलता है। तब इसके सारे पत्ते झड़ जाते है और डालें अंगारों के समान लाल पुष्प गुच्छों से लद जाती है। पलाश वन्यवृक्ष है। इसके वन होते है जिनके फूलने पर लगता है जैसे वन में आग लग गयी है। पलाश की लकड़ी यज्ञ समिधा के रूप मे काम आती है। पत्तों को गूँथ कर उनकी पत्तलें और दोने बनाए जाते हैं जो भोजनपात्रों के रूप में उपयोग में आते हैं। कवि इनके पुष्पों का विरहोद्दीपक के रूप में वर्णन करते हैं। कालिदास की दृष्टि में यह ऋतुराज का धनुष है,— "सत् किंशुकंयद्धनुः" ऋतु. ६-२८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊपर कवि ने शरदवधू को काशांशुका अर्थात् शुभ्रदुकूला कहा है। तो वसन्त के प्रसंग में किंशुकों से आदीप्त भूमि को रक्तांशुका। वायु के वेग से ये इधर उधर नाचते, जलती अग्नि के समान दिखते हैं। और कुसमों के भार से नीचे झुके किंशुक वृक्षों के कारण भूमि रक्तदुकूल ओढ़े नम्रमुखी नव वधू सी दिख रही है—

आदीप्तवह्नि-सदृशै मरुतावधूतैः सर्वत्र किंशुकवनैः कुसुमावनम्रैः।
सद्यो वसन्त-समयेन समाचितेयंरिक्तांशुका नववधूरिव भाति भूमिः।

ऋतु६-२१

कवि ने किंशुक पुष्पों को शुक-मुख की छवि से मण्डित रूप में देखा है—

किं किंशुकैः शुकमुखच्छविभि र्न भिन्नम्। वही ६-२२

कीचक

कीचक वे वेणु या वाँस होते हैं जो भीतर पोले होते हैं और वायु के आघात से वाँसुरी की सी ध्वनि करते हैं। कालिदास ने कईबार इनकी चर्चा की है—

यः पूरयन् कीचक-रन्ध्रमार्गान् दरीमुखोत्थेन समीरणेन

उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तान प्रदायित्व मिवोपगन्तुम्।।कु. १-८

तथा —

स कीचकैर्मारुत-पूर्ण-रुन्ध्रैः कूजद्भि रापादित वंश कृत्यम्। रघु. २-१३

यहाँ कीचकों को संगीत क्रिया की वाँसुरी का काम करते हुए बतलाया है। मेघदूत में भी कवि ने इस बात को दोहराया है—"शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्णमाणाः" १-५६

कुङ्कुम

काश्मीर देश में उत्पन्न पादप विशेष तथा उसका पराग भी कुङ्कुम कहलाता है। कुंकुम् (Saffron) या (Crocussativus) पीले रंग का होता है। स्त्रियों को शिशिर ऋतु में कवि ने स्तनों पर कुंकुम का लेपकिये बतलाया है। उसने उनके स्तनों को भी कुंकुम के समान पीत वर्ण कहा है- "पयोधरैः कुङ्कुमराग पिञ्जरैः" ।ऋतु ५-९। इसी बात को उसने ६-१४ में भी दोहराया है— "प्रियङ्गु कालीयक कुङ्कुमाक्त स्तेनषु गौरेषु विलासिनीभिरालिप्यते चन्दनमङ्गनाभिः"। कुङ्कुम के विस्तृत खेतों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में जब अश्व लोट लगाते हैं तो उसके कंधों में कुंकुम के पराग केसर लिपट जाते हैं—

विनीताध्वश्रमास्तस्य सिन्धु-तीर-विचेष्टनैः ।

दुधुवुर्वाजिनस्तस्य लग्न कङ्कुम-केसरान् ।। रघु. ४-६७

कुन्द

कालिदास को कुन्द से बहुत प्यार था। उन्होंने दशपुर की वधुओं के कौतूहल-चलित नेत्रों की उपमा ऐसे कुन्द पुष्पों से दी है जिनके इधर उधर भ्रमर मँडराते है। पुष्प वायु-वेग से हिला कि मधुकर भी उसके पीछे हो लिए।

कुन्द क्षेपानुगमधुकर-श्रीमुषामात्मविम्बं

पात्रीकुर्वन् दशपुर-वधू-नेत्र-कौतूहलानाम् । मेघ. १-४७

यहाँ उपमा की व्याख्या करना नहीं, केवल कुन्दपुष्पों की सुगन्ध की आकर्षकता की ओरध्यान खींचना मात्र मेरा उद्देश्य है। कुन्द चमेली (Jasmine) का एक प्रकार है जिसे Jarminum Multiforum या Pubescems) कहते हैं। यह करवीर (एक सुगन्धित विषैली वनस्पति) का भी नाम है। कवियों का प्रिय कुन्द माघ फागुन में फूलता है। इसकी कलियाँ नुकीली होने से दाँतों की उपमान वनी है। इसके पुष्प बहुत कोमल होते हैं और फूलने के बाद बहुत शीघ्र झड़ जाते हैं। कालिदास ने इस ओर संकेत किया है। यक्ष मेघ से शीघ्र लौटने का अनुरोध करता हुआ कहता है - "प्रातः कुन्द-प्रसव- शिथिलं (मम) जीवितं धारयेथाः"। मेघ २-५०। स्त्रियाँ कुन्द से अपने केश सजाती थीं— "हस्ते लीला कमलमलके वालकुन्दानुविद्धम्"-मेघ. २-२। चैत्र लगते ही कुन्द (मोतिया) में पुष्प आना कम हो जाता है और जो कलियाँ उद्गत होती है वे भी आतप को न सह पाने के कारण झुलस जाती है। इस स्थिति को लक्ष्य कर कहा है—

माधव-परिणत-पत्रा कतिपयकुसुमेव कुन्दलता ।।मालविका. ३-८

वसन्त में माधवी फूलती है और कुन्द मुरझाते हैं। इस बात को बड़े दाक्षिण्य से कवि ने कहा है—

निषिञ्चन् माधवीं लक्ष्मीं लतां कौन्दीं च लासयन्,

स्नेह-दाक्षिण्ययोर्योगात् कामीव प्रतिभाति मे ।। विक्रमो. २-४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुटज

कुटजवर्षा ऋतु में फूलता है और शरद् में उसकी श्री मालिन पड़ जाती है। यह बात कवि ने ऋतुसंहार में कही है— "मुक्त्वाकदम्ब-कुटजार्जुन-सर्ज-नीपान् सप्तच्छदानुपगता कुसुमोद्गमश्रीः"। ३-१३

वर्षारम्भ में ही कुटज फूलते लगते हैं। यह बात मेघदूत की निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है—

स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै,

प्रीतः प्रीतिप्रमुख-वचनं स्वागतं व्याजहार॥ १-४

रघुवंश में भी वर्षा के ही प्रसंग मे कुटज का उल्लेख हुआ है। अग्निवर्ण कुटजके पुष्पों की माला पहन कर प्रावट् ऋतु में कृत्रिम अद्रियों पर विहार करता था। रघु. १९-३७। यहाँ अग्निमित्र को 'अंसलम्वि-कुटजार्जुनस्रक्' कहा है। यह छोटा पौधा (Holarrhena antidysenterica) औषधि के भी काम आता है।

कुमुद

कुमुद (White water lilly) अन्य सब बातों में कमल के तुल्य है। औरहै भी यह कमल जातीय, अन्तर यह है कि एक तो इसका रंग श्वेत होता है और दूसरे कमल के ठीक विपरीत यह रात्रि में चन्द्र के प्रकाश में खिलता है और प्रातः काल में मुकुलितवन जाता है। कहा है—

कुमुदान्येव शशाङ्कः सविता बोधयति पङ्कजान्येव॥ शाकु. ५-२८

यह बात शाकु ३-१४ में भी दोहरायी गयी है। रघुवंश में भी कालिदास उपमा के रूप में इस स्थिति काः चित्रण करते हैं—"उषसि सर इव प्रफुल्लपद्मं कुमुदवद् प्रतिपन्ननिद्रमासीत्"॥ ६-८६। ऋतु संहार में 'कह्लारपद्म कुमुदानि मुहुर्विधुन्वत् तत्संगमादधिक शीतलतामुपेतः. . . उत्कण्ठयत्यतितरां पवनः प्रभाते (३-१५), शरदि कुमुद सङ्गाद् वायवो वान्ति शीताः (३-२१) से कुमुदो का स्पर्श कर वहते हुए वायु में शैत्य का संचार बतलाया गया है और कहा है कि कुमुद भी चन्द्र के अस्त हो जाने पर उसी प्रकार विलीन हो जाता है जैसे प्रिय के परदेश चले जाने पर पत्नी का हास—

कुमुदमपि गतेस्तं लीयते चन्द्र-विम्वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हसितमिव वधूनां प्रोषितेषु प्रियेषु ॥ ऋतु. ३-२५

कालिदास ने कुसुम के सौन्दर्य की ओर ध्यान नहीं दिया। भ्रमर की चर्चा तो इसलिये नहीं की होगी कि जब तक पद्म कोश से बाहर आकर भ्रमर गुंजारना प्रारम्भ करते हैं तब तक कुमुद फिर निमीलित हो जाता है। फिर भी उन्होंने शरद के सौन्दर्य में कुमुद की सहभागिता बतलायी है—"कुमुद-रुचिर-कान्ति कामिनी वोन्मदेयम्"। वही ३-२८

कुरवक

अशोक और वकुल के समान कुरवक भी शृंगारी कवियों का प्रियवृक्ष है। पद्मचन्द्र कोष में इसे लाल फूलों वाली और कुरण्ट या कुरण्टक को पीले फूलों वाली कटसरैया या सदाबहार बतलाया है। काव्यों में यह शृंगारी एवं उद्दीपक रूप में चित्रित किया गया है जो सुरुप, प्रिय दर्शन तथा कामिनियों द्वारा अलंकरण एवं पूजा के निमित्त व्यवहृत होता था। कवि समय के अनुसार यह दोहद वृक्ष है जो युवती के आलिंगन से फूलता है। ऋतु संहार में इसे कुरवक द्रुम कहा है जिससे प्रतीत होता है कि यह पीपल आदि के समान बड़ा भले न हो पिर भी अन्य पुष्पी पौधों से बड़ा और शाखा-प्रशाखावान् होता होगा क्योंकि इसके पुष्पों का मंजरी रूप में वर्णन है। पुष्प रक्त वर्ण के आकर्षक और उद्दीपक होते हैं—

कान्ता-मुख-द्युतिजुषामचिरोद्गतानां शोभां परां कुरबक-द्रुम-मञ्जरीणाम्।

दृष्ट्वा प्रिये सहृदस्य भवेन्न कस्य कन्दर्पवाण-पतन-व्यथितं हि चेतः ॥

ऋतु. ६-२०

यह श्लोक कुरबक के रूप और प्रभाव को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त है। मेघदूत के अनुसार देवस्त्रियाँ इस के ताजे फूलों को अपने जूड़े में लगाती थीं—चूडापाशे नव कुरबकम्—मेघ. २-२। यक्ष के माधवी मण्डप में कुरबकों की वाड़ लगी थी—

रक्ताशोकश्चल-किसलयः केसरश्चात्र कान्तः,

प्रत्यासन्नौ कुरबकवृते र्माधवी-मण्डपस्य। मेघ. २-१५

सुदर्शन होने के साथ साथ कुरबक के पुष्प सुगन्धित एवं मधुस्त्रावी भी होते थे। इसी कारण भ्रमर उनके इर्द गिर्द मंडराते रहते हैं—"महुलिहां मधुदान विशारदा कुरबका रव-कारणतां ययुः"। रघु. ९-२९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुरबक वसन्त के प्रारम्भ में फूलता है । शाकु. में वसन्तागम में विलम्ब की सूचना देता हुआ कंचुकी कहता है—

चूतानां चिर-निर्गतापि कलिका वध्नाति न स्वंरजः ।

सन्नद्धं यदपि स्थितं कुरवकं तत्कोरकावस्थया ।। शाकु. ६-४

विक्रमो. में ही वसन्तावतार की सूचना देने वाले विदूषक से राजा कहता है—"अग्रे स्त्री नखपाटलं कुरबकम्" २-७ । यह भी कुरबकपुष्पों के रक्त होने का प्रमाण है । मालविका. में भी उपर्युक्त दोनो रूपकों के समान प्रमदवन में ही कुरबक की स्थिति स्थिति बतलायी है और कहा है कि उसके श्याम श्वेत और रक्त वर्णो के योगवाले पुष्पों के सामने स्त्रियों का विशेषक (बहुवर्ण पत्र-रचना) फीका पड़ गया है—

प्रत्याख्यात-विशेषकं कुरबकं श्यामावदातं मुखम् । माल. ३-५

और यहीं ३-९ में वायु को 'वोढा कुरबक रजसाम्' कहा है जो इसकी पराग-समृद्धि का सूचक है । मालविग्निमित्र में रानी इरावती लाल कुरबक राजा के पास भेजकर निपुणिका के द्वारा नववसन्तागमन की सूचना देती है और राजा के साथ दोलाधिरोहण की इच्छा प्रकट करती हैं—

विदूषकः-णं, अज्ज एब्ब पढमं वसंदावतार सूआणि रत्त कुरबआणि उवाअणं पेसिअ णववसंदावदार व्ववदेसेण इरावदीए णिउणिआमुहेण पत्थिदोभवं 'इच्छामि अज्जउत्तेण सह दोलाहि रोहणं अणुवहि' ति । ३-२ के नीचे

श्वेत-रक्त-पीत के अतिरिक्त प्रमुखतः रक्त कुरबक का वर्णन ही कवियों ने किया है । कुरबक श्वेत मन्दार को भी कहते हैं ।

कुसुम्भ

कालिदास ने एक बार उपमान के रूप में इस वृक्ष का उल्लेख किया है । दवाग्नि नये खिले कुसुम्भ के फूलों के समान सिन्दूरवर्ण है— "विकच-नव-कुसुम्भ-स्वच्छ-सिन्दूरभासा. . . दिशि दिशि परिदग्धा भूमयः पावकेन"—ऋतु. १-२४ । कुसुम्भ के फूलों से वस्त्र रँगने का रंग बनाया जाता है । कुसुम्भी रंग के वस्त्र साधु सन्यासी प्रायः पहनते हैं । इस ललछौहें पीले रंग को कात्यायन वार्तिक में 'महारजन' कहा है । ४-२-२ । महाभाष्य ४-१-१ में भी इसका उल्लेख है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केतकी

(pandanus Odoratissinus) जिसे केवड़ा भी कहते हैं, अपनी सुगन्ध के लिये विख्यात है। इससे इत्र भी बनाया जाता है। यह अण्डमान तथा अन्य समुद्री तटों पर सामान्यतया पाया जाता है। कालिदास ने भी समुद्रतट पर इसके होने की बात कही है और केतक रज की सुगन्ध को वस्त्रों में वसाने की प्राचीन प्रथा की ओर भी संकेत किया है—"मुरला-मारुतोद्धूतमगमत् कैतकं रजः—तद्योध वारवाणानामयत्न-पट वासताम्"। रघु. ४-५५। पटवास का उल्लेख मृच्छकटिक में भी मिलता है। रघुवंश में केतकवर्ह की भी चर्चा है और इसके पाण्डुरवर्ण की भी—"विलासिनी-विभ्रमदन्त-पत्रमापाण्डुरं केतकवर्ह मन्यः—विपाटयामास युवा नखाग्रैः"। रघु. ६-१७। केतकी वर्षारम्भ में ग्रीष्म की प्रचण्डता का शमन करती-सी फूलती है। इसमें गोभे जैसे काँटेदार पत्रों (वर्ह) वाले केतक निकलते हैं—"पाण्डुच्छायोपवनवृतयः केतकैः सूचिभिन्नैः"—मेघ. १-२३। ऋतुसंहार भी वर्षा ऋतु में ही स्त्रियों के द्वारा नये पुष्पित केतक की माला सिर पर पहने जाने का वर्णन करता है—मालाः कदम्ब नवकेसर-केतकीभिरायोजिताः शिरसि विभ्रति योषितोद्य। ऋतु. २-२१। ऊपर केतक पत्र को विलासिनी विभ्रमदन्त पत्र कहा है। ऋतु. में उसे वनान्त के दन्तावदात हसित का उपमान बताया है—उस हसित का जो नयी वर्षा से ताप की शान्ति हो जाने के कारण वनान्त के ओठों से फूट पड़ा है—"हसितमिव विधत्ते सूचिभिः केतकीनां-नव सलिल-निषेक-च्छिन्नतापो वनान्तः"। ऋतु. २-२४। केतकी का पराग शीतल और कामोद्दीपक होता है। वह प्रोषित जनों के मन को मोहित करता है—"जनित-रुचिर-गन्धः केतकीनां रजोभिः परिहरति नभस्वान् प्रोषितानां मनांसि"। वही २७। केतकी का फल भी खाद्य होता है। उसका फल-सत्त्व बनाया जाता है। चरक ने इसे विषहारक बताया है—(सुश्रुत० २७-१४५)। यह मधुर-तिक्त-कटु, उष्ण वीर्य और कफवात हर-होता है। (सुश्रुत ४६-१९४)। इसकी शाखायें बहुत घनी झाड़ीदार और प्रायः मुड़ी हुई (कदाचित् ही सीधी) होती है।

केसर

कुंकुम और केसर (Crocus) दोनों एक हैं। यह भी वर्षा काल में फूलता है और स्त्रियाँ इसके पुष्पों की माला सिर पर पहनती हैं। पीछे कुङ्कुम देखें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोविदार

(Bauhinia perpuria) यह शरद् में फूलता है। इसके कोमल पत्ते और फूल शाक के भी काम आते हैं। इसका औषध मूल्य भी है। इसके पुष्प दर्शनीय और मधुस्रावी होते हैं जिनके इर्द गिर्द भ्रमर गूँजते रहते हैं। इसीलिये ऋतु. संहार में कहा है—

मत्तद्विरेफ- परिपीत मधु- प्रसेकश्चित्तं विदारयति कस्य न कोविदारः। ३-६

कर्कन्धु

कर्कन्धु, जिसका उल्लेख शाकुन्तल ( ) में मिलता है, बदर या बेर की एक जाति है। शुश्रुत और चरक दोनों ने इसे बदर की चार जातियों में परिगणित किया है। इनमें बड़े आकार का, बदर मधुर और आरोपित बदर वृक्ष का फल होता है। कोल लगाये हुए और वन्य दोनों प्रकार के वृक्षों का फल होता है। यह मीठा और खट्टा तथा ग्राम्य और आरण्य दोनों प्रकार का होता है। तीसरा सौवीर वदर से भी बड़ा, पक्व और अपक्व दोनों अवस्थाओं में मधुर होता है। यह रेगिस्तानी क्षेत्र में उत्पन्न होता है। कर्कन्धु आरण्य सबसे छोटे प्रकार का और खट्टा होता है। आरण्य आश्रमों में इसे शाकों में मिलाकर पकाते थे। कर्कन्धु (Ziziphus nummularia) का चूर्ण वैद्यनाथ धाम (विहार) के शिवमन्दिर में प्रसाद के रूप में वितरित किया जाता है।

कल्पतरू

कालिदास ने अलकापुरी में एक ऐसे वृक्ष का उल्लेख किया है जो अकेला ही नारी के समस्त मण्डन द्रव्यों को उत्पन्न करता है। यथा—सुन्दरवस्त्र, मधु, पल्लव, पुष्प, आभूषण और लाक्षाराग आदि (मेघ. २-११)। यह पौराणिक काल की काल्पनिक सृष्टि है किन्तु वे इस सर्व-काम-पूरक वृक्ष का वर्णन सत्यवत् करते हैं। यह देव वृक्ष है। कालिदास ने इनकी स्थिति अलका पुरी में बतलायी है—

लाक्षारागं चरण-कमल-न्यास-योग्यं च यस्या—

मेकः सूते सकलमवला-मण्डनं यत्र वृक्षः। मेघ. २-११

विक्रमोर्वशीय में अर्धविक्षिप्त सा पुरुरवा कल्पतरु में नृत्य-व्यापार की कल्पना करता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गन्धुम्माइअ महुअर गीएहि-वज्जंन्तेहिं परहुअतूरेहिं।

परिअ पवणुव्वेल्लिअ पल्लवनिअरु

सुलिलअ विविहय आरेंहि णच्चइकप्पअरु। ४-१२

खर्जूर

रघुवंश के चतुर्थ सर्ग (श्लो. ५७) में खर्जूरी वृक्षों के तनों (स्कन्धों) में रघु के सैन्य गजों के बाँधे जाने की बात कही गयी है। यह वर्णन केरल के पास पड़ोस और पश्चिमी घाट के समुद्र के समीप स्थलों का है। यों खर्जूर का उल्लेख वैदिक साहित्य में भी मिलता है। खर्जूर (Phoenix sylvestris) की गणना मधुर-स्कन्ध, श्रमहर, महाकषायों में है। खर्जूर के फल शरीर-भार बढ़ाने वाले पौष्ठिक और वीर्य वर्धक होते हैं। ऐसा आयुर्वेद (चरक और सुश्रुत) का मत है। भारत में पिण्डखर्जूर, जो इसी का एक प्रकार है, बहुत प्राचीन काल से अरव देशों से आयातित होता रहता है। कालिदास ने पिण्डखर्जूर की चर्चा शाकु. २-९ (के नीचे) की है।

चन्दन

चन्दन को प्राय: हरिचन्दन नाम से कवि ने उल्लिखित किया है। प्राचीनकाल में पीत चन्दन में सुगन्ध द्रव्य मिला शरीर पर लगाने की प्रथा थी। चन्दन के वृक्ष प्रमुखत: दक्षिण में मलय पर्वत पर तथा उसकी उपत्यका में पाये जाते थे। वहाँ ताम्बूल, पूगा, एला और तमाल की उपज भी बड़ी मात्रा में होती थी। यह प्रदेश प्राचीन पाण्ड्य जनपद के अन्तर्गत था। इसीलिये इन्दुमती स्वयंवर के अवसर पर सुनन्दा उससे पूछती है कि क्या वह मलय स्थली की रानी बनना चाहती है?

ताम्बूल-वल्ली-परिणद्ध-पूगा स्वेला-लतालिङ्गित चन्दनासु।

तमाल-पत्रास्तरणासु रन्तुं प्रसीद शश्वन्मलय-स्थलीषु॥रघु.६-४०

इस प्रदेश का शासक पाण्ड्य राज हरिचन्दन का अङ्गराग शरीर पर लगाता था।

पाण्डयोऽयमंसार्पित-लम्बहार: क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन। वही ६०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वही नहीं, स्वयं इन्द्र भी हरिचन्दन से अपनी भुजाओं को अलंकृत करता था। रघु उसके चन्दनाङ्कित प्रकोष्ठ पर ही वाण मारता है—"ततः प्रकोष्ठे हरिचन्दनाङ्किते शरासन-ज्यामलुनाद् विडौजसः"। वही ३-५९

ग्रीष्मकाल में स्त्रियाँ स्तनों पर चन्दन का लेप करती थीं क्योंकि चन्दन दाह और ऊष्मा का शमन करत है—"स्तनैः सहाराभरणैः सचन्दनैः स्त्रियो निदाघं शमयन्ति कामिनाम्"। ऋतु. १-४। प्रावृट् काल में स्त्रियाँ कालागुरु मिलाकर चन्दन का उपयोग करती थीं। सोने से पहले वे उसका लेप कर शय्यागृह में जाती थीं—

कालागुरु-प्रचुरचन्दन-चर्चिताङ्ग्यः-

शय्यागृहं गुरुगृहात् प्रविशन्ति नार्यः। वही २-२२

शिशिर ऋतु में चन्दन का उपयोग बन्द कर दिया जाता था क्योंकि वह शीतल होता है—

न चन्दनं चन्द्र-मरीचिशीतलं. . जनस्य चित्तं रमयन्ति साम्प्रतम्।।वही ५-३

और वसन्त ऋतु में जब शीत का प्रकोप समाप्त हो जाता था, स्त्रियाँ सफेद चन्दन में भिगोये हुए हार वक्ष पर पहनने लगती थीं। कालिदास ने सफेद, रक्त और पीत तीनों प्रकार के चन्दनों का उल्लेख किया है।

चूत

यह आम्र का पर्याय है। सहकार और चूत के लिये आम्र देखें।

जम्बू

जम्बू के वन कभी आम्रकूट के परिसर में रेवा के किनारे थे जो पत्र तत्र नदी का मार्ग अवरूद्ध करते ते। मेघदूत में यक्ष मेघ से कहता है—"जम्बूकुञ्ज-प्रतिहत रयं तोयमादाय गच्छेः" १-२०। जम्बू (जामुन) या (Syzygium Cumini) का ही एक भेद राज-जम्बू है जिसके फल सामान्य जामुन से अधिक बड़े, मीठे और अधिक गूदेदार होते हैं जिन्हें कलींदा या फलीदां कहते हैं। ये वर्षारम्भ में पकते हैं। कालिदास ने विदिशा के समीप राज-जम्बूद्रुमों का आधिक्य बतलाया है—"त्वय्यासन्ने परिणत फल-श्याम-जम्बूवनान्ताः"। मेघ. १-२३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विक्रमोर्वशीय में उन्मत्त राजा कोकिला को राजजम्बू का रसपान करता देखकर कहता है—"अधरमिव मदान्धा पातुमेषा प्रवृत्ता फलमभिनवपाकं राजजम्बू द्रुमस्य" । ४-२७

चिञ्चा या तित्तिणी

इसे देशी भाषा में इमली कहते हैं । संस्कृत में इसका पर्याय अमलिका भी व्यवहृत है । चिञ्चा (Tamarindus indica) का उल्लेख कालिदास ने अभि० शाकु० में किया है— "जह कस्सवि पिंडरवज्जूरेहिं उव्वेजिदस्सतिंतिणीए अहिलासों भवे, तह अंतेडर इत्थिआरुअण-परिभोइणो भवदो इअं अव्वत्थणा" । शाकु. २-९ (के नीचे) ।तिन्तिणी ग्राम्य और आरण्य दोनों प्रकार की होती है ।

ताली

ताल और उसके फलों से सब लोग परिचित हैं । ताड़ वृक्ष दक्षिण भारत, पूर्वाञ्चल और पश्चिम में समुद्र तटीय क्षेत्रों में अधिकता से पाये जाते हैं । इनके फलों (नारियल) का कच्चे (आम) और पक्व दोनों रूपों में प्रयोग होता है । इससे निकला रस ताड़ी के रूप में प्रयुक्त होता है—नारिकेलासवंयोधाः शात्रवं च पपुर्यशः । रघु. ४-४२ । रखा हुआ ताड़ रस मद्यवन जाता है । कवि ने दक्षिण भारत के प्रसंग में ताली द्रुमों का वर्णन किया है—आप तालीवनश्यामुपकण्ठं महोदधेः । रघु. ४-३४ । यह दक्षिण महोदधि का उपकण्ठ (पार्श्व प्रदेश) है जो तालीवनों के कारण श्याम ही श्याम दिखायी देता है । ताल के पत्र लेखन और व्यजन के काम आते हैं । कालिदास ने राज तालीवन का भी उल्लेख किया है—पवनोद्धूत राजतालीवन ध्वनिः । रघु. ४-५६ । राजताली वृक्ष और उनके फल अपेक्षाकृत बड़े होते हैं । तालीवनों का उल्लेख कलिंग के प्रसंग में भी हुआ है । वस्तुतः सारी सामुद्रिक पट्टी ताली वृक्षों से भरी है—अनेन सार्ध विहराम्वुराशेस्तीरेषु तालीवन मर्मरेषु । रघु. ६-५७ । तालीवन वायु के वेग से मर्मर शब्द करते हैं । लंका से लौटते समय राम सीता को समुद्र वेला को देखने के लिये प्रेरित करते हुए कहते हैं । कवि की कल्पना-प्रवणता भी देखिये—

दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमाल-ताली-वनराजि-नीला ।

आभाति वेलालवणाम्बुराशेर्धारा निवद्धेव कलङ्करेखा ॥ रघु. १३-१५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चरक संहिता में ताल (Borassus flabellifer) का मधुर स्कन्ध और सीरी वर्ग में परिगणित किया है। जिसका फल शक्ति वर्धक होता है।

तमाल

तमाल वृक्ष के पत्र गहरे हरे और छायादार होते हैं। इसकी छाल काली होती है। काला खैर भी तमाल कहा जाता है। तमाखू के पौधे भी तमाल कहलाते हैं। कालिदास ने रघु. १३-१५ मे समुद्र वेला को 'तमालताली वन राजि नीला' कहा है। यह सफेद फूलों और गहरे हरे पत्तों वाला Xanthochymus picbrius वृक्ष है।

ताम्बूली

पान की वेल या लता को ताम्बूली और उसके पत्रों को ताम्बूल कहते हैं। कालिदास ने कलिङ्ग भूमि में विशेषत: ताम्बूली का वर्णन किया है जो यथार्थ है। यहाँ रघु के सैनिकों ने ताम्बूल पत्र (पान के बड़े बड़े पत्ते बिछा कर) पान भूमि बनायी और वहाँ बैठ कर ताड़ी पी थी— "ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचितापान-भूमयः"। रघु.४-४२

तिलक

यह वृक्ष (Rubtaccae परिवार के Wendlandia exserta) का नाम है जिसका उल्लेख वैदिक काल से ही अविच्छिन्न रूप से मिलता है। संस्कृत काव्यों में तो इसका वर्णन सर्वमान्य मूर्धन्य पुष्पवृक्ष के रूप में मिलता है। इसे वसन्च श्री को तिलक के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। यह स्तवकों वाला, शृंगारोद्दीपक पुष्प वृक्ष है। पुष्पों के सुगन्धित होने के कारण यह भ्रमरों को प्रिय है। यह वन स्थलियों एवं कीडोद्यानों और उपवनों में भी पाया जाता है। हिमालय से लेकर विन्ध्याटवी और सुदूर दक्षिण तक इसकी उपस्थिति बतलायी गयी है। दशरथ की मृगया भूमि हो या शिव का तपोवन सर्वत्र इसकी सुषमा देखी जा सकती है। रघुवंश वनस्थली में इसकी स्थिति ऐसी ही शोभाधायिनी बतलाता है जैसी प्रमदा के शरीर में तिलक की। अञ्जन बिन्दु से प्रतीत होते भ्रमर उन पर टूटे पड़ते हैं—

अलिभिरञ्जन-बिन्दु-मनोहरैः कुसुमपङ्क्ति-निपातिभिरङ्कितः।
न खलु शोभयति स्म वनस्थलीं न तिलक स्तिलकः प्रमदामिव ॥रघु. ९-४१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा—

उपचितावयवा शुचिभिः कणैरलिकदम्बकयोगमुपेयुषी।

सदृश-कान्तिरलक्ष्यत मञ्जरी तिलकजाऽलकजालक मौक्तिकैः॥ वही ४४

यहाँ तिलक की पुष्प मंजरियों की उपमा अलक जाल में गूंधे मोतियों से दी है। कुमार संभव में तिलक को मधु रूप युवती का तिलक बतलाया है। यहाँ भी पूर्ववत् श्वेत मंजरियों पर बैठे अलि समूह के कारण प्रमदा के मस्तक या कपोलों पर पत्र रचना से उसकी समानता वर्णित की है—

लग्न द्विरेफाञ्जनभक्ति-चित्रं मुखे मधुश्रीस्तिलकं प्रकाश्य॥ ३-३०

मालविकाग्निमित्र में भी इसी से मिलती जुलती बात कही गयी है—

आक्रान्ता तिलकक्रिया च तिलकैर्लीन द्विरेफाञ्जनैः। ३-५

स्त्रियाँ मस्तक पर जो तिलक लगाती थी उसमें श्वेत कृष्ण वर्णों का सह भाव रहता था।

इन वर्णनों से तिलक की मंजरियों का तिलकाकार, स्तवकित, श्वेत वर्ण के छोटे छोटे पाण्डुर पुष्पों से रवचित सुरभित तथा शाखाओं पर उर्ध्वाग्र रूप स्थित एवं मनोरम सुगन्ध विकिरक होना सिद्ध होता है। तिलक वसन्त में फूलता है।

नमेरू

नमेरू रुद्राक्ष या सुरपुन्नाग वृक्ष का नाम है (Elalocarpus ganitrus)। कालिदास ने इसकी स्थिति हिमालय पर बतलायी है। नमेरु वृक्ष ऊँचे ओर छायादार होने हैं। रघु के शके सैनिकों ने उनकी छाया में बैठकर विश्राम लाभ किया था—"विशश्रमुर्नमेरुणां छायास्वध्यास्य सैनिकाः" रघु. ४-७४। कुमार संभव में शिव के गणों को नमेरु के पुष्पों को शिर पर धारण किये बतलाया है—"गणा नमेरु प्रसवावतंसाः" (कुमार. १-५५)। नमेरु की शाखायें बड़ी बड़ी चारों ओर फैली और परस्पर संसक्त होती हैं जिनमें से अन्यों की दृष्टि वचा कर निकलना शक्य होता है। काम शिव पर प्रहार करने के लिये ऐसे ही स्थान पर गया था। ऐसे ही निविड़ स्थान में शिव तप करते थे—

प्रान्तेषु संसक्त-नमेरु-शाखं ध्यानास्पदं भूत-पतेर्विवेश॥ कुमार. ४-४३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवदारु

देवदारु सचमुच ही देवतरु है । यह हिमालय पर उत्पन्न होता है । इसकी लकड़ियाँ यज्ञ में समिधाओं के रूप में काम आती है और उसका काष्ठ चूर्ण हवन सामग्री में मिलाया जाता है । देवदारू में तेल रहता है जिससे वह तुरन्त, आग पकड़ता है और सुगन्ध को निःसृत करता है । देवदारू की वायु क्षय रोग नाशक होती है । देवदारू (Pinus Devadaru) या (Abbaria Longifolia) देवतरु बहुत ऊँचा, सीधा और ऊपर जाकर शाखाओं में फैलने वाला वृक्ष है । हिमालय या देवभूमि के सर्वश्रेष्ठ वृक्ष होने तथा देवार्चन में काम आने के कारण इसकी यह संज्ञा है । हिमालय में सर्सराहट के साथ जब वायु तीव्रता से बहता है तो देवदारू वृक्षों तक को झकझोर डालता है—

भागीरथी-निर्झर-सीकराणां वोढा मुहुः कम्पित-देवदारुः । कुमार. १-१५

स देवदारु-द्रुमवेदिकायां. . . त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श कुमार. ३-४४

नलिनी

कमल का पौधा या उसका पुष्प । यह कमल का पर्याय है और कालिदास की कृतियों में अनेक वार इसी अर्थ में प्रयुक्त हैं ।

नारिकेल

नारियल को कहते हैं । इसके वृक्ष समुद्र तटों पर बहुतायत से होते हैं । कच्ची अवस्था में इसके फल के भीतर मधुर रस होता है जो मधुर एवं पौष्टिक भी होता है । नारियल धार्मिक फल है । कालिदास ने नारिकेल रस के पान की चर्चा की है । कलिंग पर आक्रमण करने पर रघु के योद्धाओं को ताम्बूल पत्रों और नारिकेल के उपयोग का सुयोग मिला था—"नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः" । रघु. ४-४२

निचुल

कालिदास ने अमरकण्टक के क्षेत्र को सरस निचुलों वाला कहा है—"स्थानादस्मात् सरस-निचुलादुत्पतोदङ्मुखःसन्"—मेघ. १-१४ । यह नडया नरकुल की एक जाति है जिसे स्थल-वेतस भी कहते हैं । निचुल इक्षु के पौधे के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वरावर लगभग ६-७ फीट ऊँचा और पेन्सिल के बराबर या उससे कुछ मोटा होता है।

नीप

यह संस्कृत कवियों, विशेषत: कालिदास का प्रिय पुष्प है। जैसा कि पीछे कहा है, नीप और स्थलकदम्ब पर्याय हैं। नीप वर्षारम्भ में फूलता है। तब इसके प्रथमोद्गत केसर हरित-कपिश या कृष्णवर्ण के होते हैं—"नीपं दृष्ट्वा हरित कपिशं कैसरैरर्धरुढै:" मेघ. १-२१। वर्षा ऋतु में अमराङ्गनायें तक नीप से अपने सीमन्त को सजाती हैं—"सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम्" ॥ मेघ. २-२। विक्रमोर्वशीय (१४-४२ के नीचे) में राजा करेणु के साथ गज को देखकर कहता है—"अये ! करेणु-सहायो नागाधिराजो नीप-स्कन्ध-निषण्ण इत एव तिष्ठति"। शरद में नीपों की पुष्प-श्री क्षीण हो जाती है—"मुक्त्वा कदम्ब कुटजार्जुन सर्जनीपान् सप्तच्छदानुपगता शरदागम-श्री:"। ऋतु. ३-१३

सुश्रुत के अनुसार इसके फल (Pseudocarps) तरकारी और फल दोनों रुपों में काम आते हैं।

पलाश

यह किंशुक का (जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है) दूसरा नाम है। कुमार० में इसके पुष्पों और उनके वर्ण का बड़े ही मार्मिक ढंग से वर्णन किया गया है—

वालेन्दु-वक्राण्यविकास भावाद् वभु: पलाशान्यति लोहितानि।

सद्यो वसन्तेन समागतानां नख-क्षतानीव वनस्थलीनाम्।। कुमार. ३-२९

नये उद्गत पलाश के पुष्प शुक्ल पक्ष के प्रारम्भिक दिनों के चन्द्र के समान वक्र होते है। अभी खिल न पाने के कारण नुकीले भी किन्तु अति लोहित। ऐसे लगते हैं जैसे वसन्त पति ने संभोग काल में अपनी प्रिया वनस्थली के शरीर पर नखक्षत अंकित किये हों। यह बात कवि ने अन्यत्र भी कही है—

सुरभिसङ्गमजंवन मालया नवपलाशमधार्यत भङ्गुरम्।

प्रणयिदत्तमिवार्द्रनखक्षतं प्रमदया मदयार्पित-लज्जया।। रघु. ९-३१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उभयत्र एक ही दृश्य है।

पाटल

पाटल (Stereospermum suaveolems) ग्रीष्म में फूलने वाला सुरभिमय पुष्प है। इसीलिये कवि ने ग्रीष्म को 'पाटलामोदरम्यः' (ऋतु. १-२८) कहा है। कामोद्दीपन के लिये रक्त पाटल से सुवासित आसव पीने की प्रथा उच्चवर्ग में थी—

यत् स लग्न-सहकारमासवं रक्त-पाटल-समागमं पपौ।

तेन तस्य मधुनिर्गमात् कृशश्चित्त-योनिरभवत् पुनर्नवः॥ रघु. १९-४६

कच्चे आम्र का रस आसव में मिलाया जाता था। यह बात भी प्रस्तुत श्लोक से ज्ञात होती है। कालिदास ने अन्यत्र भी पुराने मद्य, आम्रखण्ड और नवपाटल का साथ बतलाया है। इनके सहकार से काम के प्रति औदासीन्य नष्ट हो जाता है—

मनोज्ञगन्धं सहकारभङ्गं पुराण-शीधुं नवपाटलं च।

संवध्नता कामिजनेषु दोषाः सर्वे निदाघावधिना प्रमृष्टाः॥ रघु. १६-५२

पाटल ग्रीष्म में फूलता है। इसके पुष्प सुगन्धित और ईषद् रक्त (Pink) होते हैं। कोमलता के कारण यह बहुत शीघ्र मुरझा जाता है और गन्धहीन हो जाता है। इसका गन्ध गुलाब के समान स्थायी नहीं होता। इसीलिये कवि ने इसके प्रभाव को व्यक्त करने के लिये 'नव' विशेषण का प्रयोग किया है।

पुन्नाग

पुन्नाग (Rottelaria Tincoria) का उल्लेख कालिदास ने एक बार किया है—"कटेषु करिणांपेतुः पुन्नागेभ्यः शिलीमुखाः"। रघु. ४-५७। यह जायफलनाम से प्रसिद्ध है और दक्षिण भारत में प्रचुरता से पाया जाता है। इसके पुष्प और फल सुगन्धित हैं किन्तु गज के मदजल के बराबर नहीं। इसीलिये भ्रमरों के द्वारा पुन्नागों को छोड़कर हाथियों की गण्डस्थली पर जा बैठने की बात कही गयी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूगा

कवि ने मलयस्थली मे ताम्बूल वल्ली, एलालता, तमाल, चन्दन और पूगा इन पाँच वृक्ष वनस्पतियों की प्रचुरता एक साथ बतलायी है ।

ताम्बूल-वल्ली-परिणद्ध-पूगास्वेलालतालिङ्गित चन्दनासु ।

तमालपत्रास्तरणासु रन्तुं प्रसीद शश्वन्मलयस्थलीषु ।। रघु.६-६४

पूगा (Areca Catachu) सुपारी लता है जिसमें ताम्बूली लता गुँथी रहती है । सुपारी धार्मिक कार्यों के अतिरिक्त पानों के साथ प्रयोग में आती है ।

प्रियङ्गु

कालिदास प्रियङ्गु से विशेष परिचित मालूम होते हैं । उन्होंने ऋतुसंहार में कहा है प्रियङ्गु लता हेमन्त के हिम का शैत्य पाने से परिपाक को प्राप्त होती है । अर्थात् हेमन्त में उसेक पत्ते पीले पड़ जाते हैं और इस ऋतु की वायु के तेज झोके उसे कँपाते हैं तो उसकी स्थिति प्रिय से वियुक्त विलासिनी के समान होती है—

पाकं व्रजन्ती हिमजात-शीतैराधूयमाना सततं मरुद्भिः ।

प्रिये प्रियङ्गुः प्रिय-विप्रयुक्ता विपाण्डुतां याति विलासिनीव ।। ऋतु. ४-११

मालविका. में भी अशोक के पादमूल में बने शिलापट्ट को प्रियङ्गु लता से आवृत बतलाया है—"आम्हे विपिअंगु लदा परिक्खित्तं असोअ सिलापट्ट अंपविसम्ह" । ३-१२ के नीचे । ऋतु. में कहा है—

प्रियङ्गु-कालीयक-कुङ्कुमाक्तं स्तनेषु गौरेषु विलासिनीभिः ।

आलिप्यते चन्दनमङ्गनाभिर्मदालसाभिर्मृगनाभि-युक्तम् ।। ६-१४

वसन्त ऋतु में अलसायी हुई कामिनियाँ प्रियङ्गु, कालीयक, कुङ्कुम, चन्दन और कस्तूरी को मिलाकर बनाया हुआ लेप अपने गोरे गोरे स्तनों पर लगात हैं ।

प्रियङ्गु का एक नाम फलिनी भी है । कालिदास ने इसका उल्लेख कुमार सम्भव में किया है—

पश्य फक्व-फलिनी-फलत्विषा विम्व-लाञ्छित-वियत्सरोम्भसा ।

विप्रकृष्ट-विवरं हिमांशुना चक्रवाक-मिथुनं विडम्ब्यते ।। ८-६१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस श्लोक से दो बाते स्पष्ट होती हैं—प्रथम यह कि फलिनी का पक्व फल चन्द्रबिम्व जैसा दिखता है और दूसरी यह चक्रवाक उसे भक्षणार्थ पकड़ना चाहता है। रघुवंश से यह भी विदित होता है कि समाज में कुछ लोग सहकार और फलिनी का विवाह वसन्त में रचाया करते थे। तुलसी, पीपल, अश्वत्य, आदि पवित्र वृक्षों का विवाह रचाने की प्रथा आज भी प्रचलित है ही। अज अपनी मृत पत्नी को उद्दिष्ट कर कहते हैं—

मिथुनं परिकल्पितं त्वया सहकारः फलिनी च नन्विमौ।

अविधाय विवाहसत्क्रियामनयोर्गम्यत इत्यसाम्प्रतम्॥ रघु. ८-६१

श्यामा भी प्रियङ्गु का पर्याय है। गौर वर्ण और सौकुमार्य को दृष्टि में रख मेघदूत का यक्ष अपनी पत्नी के अङ्ग मार्दव की झलक श्यामा लता में देखता है—

श्यामास्वङ्गं चकित-हरिणी-वीक्षणे दृष्टिपातं

उत्पश्यामि प्रतनुषु नदी-वीचिषु भ्रूविलासान्॥ मेघ. २-४१

प्रियङ्गु संज्ञा का प्रयोग क्षुद्रधान्य (कोदों, कँगनी) के लिये भी होता है। यह नीवार के समान ही भोजन के काम में आता रहा है। नीवार सफेद होते हैं और प्रियङ्गु या श्यामाक पीले वर्ण के—दूसरे अर्थ में यह शब्दलता-विशेष के लिये भी होता है जिसका कारण दोनों में आकार प्रकार एवं रंग-रूप की समानता है। Verbenaceae परिवार की यह (Callicarsa macrophylla) लता कवियों में आदृत रही है, यह बात उपर्युक्त उद्धरणों से प्रमाणित है। अर्थ शास्त्र तथा आयुर्वेदीय ग्रन्थों में धान्य प्रियङ्गु और गन्ध प्रियङ्गु दोनों का पृथक् उल्लेख मिलता है। गन्धप्रियङ्गु वन्य रूप में पर्वत स्थलों में शिशिर-हेमन्त की शोभा वर्धक के रूप में तथा क्रीडोद्यानों और पुष्प वाटिकाओं में शृंगारी फल-समृद्ध वनस्पति के रूप में आरोपित (Planted) मिलती है। यह शिशिर हेमन्त में फूलती है। यह इसके फलागम और फल परिपाक का समय है। इसके फलों के दाने भी प्रियङ्गु धान्य (काँगनी) के आकार प्रकार और रंग-रूप में मिलते हैं। प्रियङ्गु का पुष्पागम काल वर्षा ऋतु है। इसके फूल भी गुलाबी (Pale rosecolour) तथा छोटे छोटे और फलों की भाँति सुरभित होते हैं। इसकी शाखायें नम्य तथा फैलने वाली होती हैं तथापि गुल्म खड़े (Erect shrub) होते हैं फिर भी कवियों ने इसे लता रूप में संबोधित किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रियाल

(Buchanania Lanzan spreng) यह चिरौंजी का नाम है। आयुर्वद मे इसे शीतवीर्य कहा है। मगध तथा मध्य प्रदेश में प्रचुरता से पाया जाता है। यह ५० फीट तक ऊँचा और चार फीट तक व्यास वाला मध्याकार वृक्ष है। इसकी छाल घड़ियाल की खाल सी दिखती है। इसका फल काला एक वीजीय १/२ इंच घेर वाला होता है। कालिदास ने हिमालय पर प्रियाल वृक्ष की मंजरियों और उनसे झरने वाले पराग की चर्चा की है—

मृगाः प्रियाल-द्रुम-मञ्जरीणां रजः- कणैर्विघ्नित-दृष्टिपाताः ।कुमार. ३-३१

वन्धूक

Pentapetes phoenicea या वन्धूक को गुलदोपहरिया भी कहते हैं। यह आकर्षक रक्तवर्ण पुष्पों के लिये प्रसिद्ध है। यह संस्कृत काव्यों का प्रिय पुष्प है। ऋतु संहार में कवि ने इसे प्रियाधर का उपमान कहा है—अधर रुचिर शोभां वन्धुजीवे प्रियाणां (लक्षयित्वा) पथिक जन इदानीं रोदिति भ्रान्तचित्तः- ऋतु. ३-२६। यहाँ कवि ने वन्धुजीव का पुष्पकाल शरद को माना है। रघुवंश में विश्वामित्र की यज्ञवेदि पर राक्षसों के द्वारा वरसाये रक्त बिन्दुओं को कवि ने वन्धुजीव पुष्पों के समान बतलाया है—

वीक्ष्य वेदिमथ रक्त विन्दुभि र्वन्धुजीव पृथुभिः प्रदूषिताम् ।रघु. ११-२५

इससे वन्धूजीव पुष्पों का आकार और वर्ण बड़े आकार के रक्त बिन्दु के वरावर सूचित होता है। एक स्थान पर कवि ने पश्चिमा दिक् को कन्यका मानकर सायंकाल में स्वल्प किरणों वाले भानु को उसके मस्तक पर लगा केसरवान् वन्धु जीव का तिलक बतलाया है—

दूरमग्र-परिमेयरश्मिना वारुणी दिगरुणेन भानुना।

भाति केसरवतेव मण्डिता बन्धुजीव तिलकेन कन्यका॥ कुमार. ८-४०

वन्धूक के पुष्प गहरे लाल होते हैं और शरद् में फूलते हैं। इसीलिये ऋतु. संहार में कहा है—बन्धूक- पुष्प-रजसारुणिताच भूमिः। ३-५। शरद् ऋतु की समाप्ति के साथ बन्धूकों की श्री भी विनष्ट हो जाती है। कवि के अनुसार वह अपनी कान्ति नारी के अधरों पर छोड़कर चली जाती हैं—

बन्धूक-कान्तिमधरेषु मनोहरेषु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्वापि प्रयाति सुभगा शरदागमश्रीः। ऋतु. ३-२७

वन्धूक और वन्धूजीव एक ही हैं—पर्याय है।

विम्बा

Coccinia cordifolia या विम्वा लता को लोक भाषा में कुँदरु कहते हैं। इसका फल विम्व (नपु०) कहलाता है और साहित्य में अधरों का उपमान माना जाता है क्योंकि पकने पर इसका रंग लाल हो जाता है। पक्व विम्ब ही ओष्ठों का उपमान होता है। कालिदास ने तो स्पष्ट ही कहा है—

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वविम्बाधरोष्ठी। मेघ. २-१९

यहाँ यक्ष ने पत्नी के ओष्ठ विम्व के समान बतलाये हैं। कुमार० में पार्वती का अधरोष्ठ बिम्ब के समान बतलाया गया है—उमामुखे विम्वफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि। कुमार. ३-६७। मालविका० में अग्निमित्र भी अपनी प्रिया को विम्वोष्ठी कह कर सम्बोधित करता है—

दाक्षिण्यं नाम विम्वोष्ठि! विम्वकानां कुलव्रतम्। ४-१४

प्रावृट् वर्णन के प्रसंग में कहा है—

विलोचनेन्दीवर वारि बिन्दुभिर्निषिक्त विम्वाधर-चारु-पल्लवाः। २-१२

मृणाल-कमल देखें।

भूर्ज

भूर्ज (Birch tree) का वृक्ष शाल के समान लम्बा बड़ा होता है और हिमालय पर पाया जाता है। इसकी छाल जिसका ऊपरी पर्त, लाल चकत्तेदार होता है और जिसे भूर्ज पत्र कहते हैं, प्राचीन काल में कागज के समान लेखन के काम आता था। आज भी भूर्जपत्र पर लिखी अनेंकों प्राचीन पोथियां उपलब्ध हैं। कालिदास ने "भूर्जत्वचः कुञ्जर-विन्दु-शोणाः" कहकर इससे न केवल निकट परिचय व्यक्त किया है, प्रत्युत उसके उपयोग का भी वखान किया है—

न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुञ्जर-बिन्दु-शोणाः।

व्रजन्ति विद्याधर-सुन्दरीणामनङ्गलेख-क्रिययोपयोगम्॥ कुमार.१-७

यहाँ कवि ने धातुरस (गेरु द्रव) से भूर्जपत्रों पर प्रणयलेख लिखे जाने की बात कही है। अभिज्ञान. शाकुन्तल में यह कार्य कमलपत्र पर सम्पन्न हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विक्रमोवर्वशीयम् में तो उर्वशी द्वारा पुरुरवा को भूर्जपत्र पर लिखित प्रणयलेख ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है—उर्वशी—ता पहाव णिम्मिदेण भुज्जवत्तेण लेहं संपादिअ अंतरा खिविदुं इछ्छामि । विक्रमो. २-११ के नीचे । भूर्जत्वक् कोमल होने के कारण वल्कल वस्त्र के समान पहनी भी जाती थी । यह अन्य वल्कलों की तुलना में सुविधा जनक होती थी । शिव के गण इसे पहनते थे । कालिदास ने प्रमथ गण को नमेरु के पुष्प की माला, भूर्जत्वक् का परिधान और मनःशिल (मैनसिल) की रेणु का अनुलेप लगाये शिलाजतु (शिलाजीत) से भरे शिलातलों पर बैठे हुए बतलाया है—

गणाः नमेरु-प्रसवावतंसा भूर्जत्वचः स्पर्शवतीर्दधानाः ।

मनः शिलाविच्छुरिता निषेदुः शैलेय-नद्धेषु शिलातलेषु ।। कुमार. १-५५

हिमालय पर मुक्त प्रवाहित होने वाला वायु भूर्ज-वृक्षों का आलिङ्गन करता है तो उनमें मर्मर ध्वनि उत्पन्न होती है—

भूर्जेषु मर्मरीभूता मरुतस्तं सिषेविरे । रघु. ४-७३

पारिजात

पारिजात की गणना देववृक्षों में की गयी है । अन्य देव वृक्ष हैं—पारिजात, सन्तान, कल्पवृक्ष और हरिचन्दन । इस प्रकार मन्दार और पारिजात दो भिन्न वृक्ष होने चाहिये किन्तु वनस्पति विज्ञानी इन्हें एक ही मानते हैं । पारिजात की पहचान शेफाली या हर सिंगार से की जाती है जिसके पत्ते जून में झड़ जाते हैं और फिर सारा वृक्ष (Nyctanthes artor tristis) आधे श्वेत और आधे लाल मखमली फूलों से भर जाता है । ये फूल अत्यन्त कोमल, क्षणों में मुरझा जाने वाले और मधुर मोहक सुगन्ध लिये होते हैं । इसके पत्तों का रस ज्वरौषधि के रूप में व्यवहृत होता है । पारिजात पुष्पों की कोमलता का प्रमाण यह कथन है जिसमें उर्वशी अपनी मनोदशा का वर्णन भूर्जपत्र लेख के द्वारा करती है—

सामिअ संभाविया जहा अहं तुए अणुमिआ

तह अणुरत्तस्स जइ णाम तुह उवरि अहं ।

किं मे ललिअ पारिआअ सणिज्जअंम्मि होन्ति

णं दणवण वादा वि अच्चुणहआ सारीर ए ।। विक्रमो. २-१२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पारिजात के ललित शयनीय की कल्पना पारिजात पुष्पों की कोमलता शीतलता और मादक सौरभ की सूचक है । दिव्य वृक्ष होने के कारण ही कुश और कुमुद्वती (पति पत्नी) की मृत्यु के उपरान्त कवि ने कुश को इन्द्र के सिंहासनार्ध तथा कुमुदती को शची के पारिजात की अर्धाशांधिकारिणी कहा है—

द्वितीयापि सखी शच्याः पारिजातांश-भागिनी । रघु. १७-७

कुमार सम्भव (सर्ग १३) में इन्द्र के वैजयन्त भवन को पारिजात मालाओं से समृद्ध कहा है—

निसर्ग कल्पद्रुम-तोरणंतं स पारिजात-प्रसव-स्त्रगाढ्यं ।

कुमार. में ही शिव पार्वती के संभोग प्रसंग में कहा है कि शिव पारिजात कुसुमों से पार्वती का शृंगार करते थे—

तां पुलोमतनयालकोचितैः पारिजात-कुसुमैः प्रसाधयन् । ८-२७

तथा—

स पारिजातोद्भव-पुष्पमय्या स्त्रजा ववन्धामृत-मूर्ति-मौलिः ।९-२१

कालिदास ने देवतरुओं के मध्य पारिजात को श्रेष्ठ माना है । उन्होंने इन्दुमती स्वंयवर के प्रसंग में कहा है सारे राजकुमारों में अज ऐसे ही सर्वाधिक शोभित हो रहे थे जैसे कल्प द्रुमों के बीच पारिजात—

तेषां महार्हासन-संस्थितानामुदार-नेपथ्यभृतां स मध्ये ।

रराज धाम्नारघुसूनुरेव कल्पद्रुमाणामिव पारिजातः ॥ रघु. ६-६

यहाँ कवि का अभिप्राय पारिजात कुसुमों से है ।

मन्दार

देव वृक्षों में मन्दार और पारिजात का पृथक् उल्लेख होने ये दोनों स्वतन्त्र प्रतीत होते हैं यद्यपि वनस्पति विज्ञानी इन दोनों तथा कुरवक को एक ही बतलाते हैं । कालिदास ने भी जिस प्रकार इन तीनों का उल्लेख किया है, उससे भी अनुमान होता है कि वह इन तीनों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते थे । ऋतु. संहार में उन्होंने 'चूडापाशे नव कुरवकम्' कहा है किन्तु शेफाली या पारिजात चूडा में नहीं बाँधा जाता, न बाँधना संभव ही है । मन्दार का अपभ्रंश मदार सामान्यतया अर्क या आक का बोधक है । मदार के पुष्पों की माला शिव पर चढ़ाई जाती है तथापि मन्दार को उससे अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त है । फिर अर्क छोटा, लगभग तीन फीट ऊँचाई वाला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षीरी ओषध वनस्पति है। सुगन्ध और सौन्दर्य की दृष्टि से भी आकर्षक नहीं। कालिदास ने पारिजात के समान मन्दार को भी हिमालय का वृक्ष माना है। उनकी ऊर्वशी मन्दार की माला उर पर धारण करती है—मन्दार-कुसुम-दाम्रा गुरुरस्याः सूच्यते हृदय-कम्पः। विक्रमो. १-७। इसी नाटक में पुरुवा उर्वशी की शिखा (चूडा) को मन्दार-पुष्पों से अधिवासित कहता है—

मन्दार पुष्पैरधिवासितायां यस्याः शिखायामयमर्पणीयः। वही ४-६३

शाकुन्तल में भी द्युलोक के अधिशासक इन्द्र के द्वारा पिरोयी और दुष्यन्त को पहनायी गयी मन्दार माला की चर्चा है। दुष्यन्त के वक्ष पर हरिचन्दन का लेप था।

आमृष्ट-वक्षो-हरिचन्दनाङ्का मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा॥ अभि. ७-२

शची केशों या अलकों में मन्दार पुष्प धारण करती थी—उन अलकों में जो कपोल तक लटका करते थे—

शच्याश्चिरं पाण्डु-कपोल-लम्बान् मन्दार-शून्यानलकांश्चकार॥ रघु. ६-२३

इन समस्त उल्लेखों में मन्दार की चर्चा केवल हिमालय और देवों के प्रसंग में हुई है। शाकुन्तल में मारीच के आश्रम में मन्दार वृक्ष के रोपित और परिवर्धित होने की सूचना मिलती है—

मातलिः— "महाराज! एतावदिति परिवर्धित-मन्दारवृक्षं प्रजापतेराश्रमं प्रविष्टौ स्वः"। ७-११ के नीचे।

किन्तु यह स्थान तो स्वर्ग से भी बढ़कर है राजा—"स्वर्गाधिकतरं निर्वृति स्थानम्"। वही

मेघदूत में भी अलका पुरी में ही मन्दार के दर्शन होते हैं। यक्ष की पत्नी ने अपने घर में वाल मन्दार वृक्ष लगाया है जो मन्दार की ही वामन या हृस्व जाति का है—

यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे

हस्त-प्राप्य-स्तवक-नमितो बालमन्दार वृक्षः। मेघ. २-१२

वामन जाति का होने के कारण उसके पुष्प-गुच्छ हस्त-प्राप्य हैं। गृहों में लगाये हुओं के अतिरिक्त अलका में मन्दाकिनी के किनारे वन्य मन्दार भी हैं जिनकी छाया में बैठ कर देवकन्यायें बाल क्रीडायें करती हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन्दाराणामनुतटरूहां छाययावारितोष्णाः,

संक्रीडन्ते मणिभिरमर-प्रार्थिता देवकन्याः ।। मेघ. २-४

पारिजात की चर्चा जहाँ सामान्य भारत भूमि पर पुष्पित वृक्ष के रूप में हुई है, वहाँ मन्दार की केवल हिमालय की देवभूमि और देवलोक के देववृक्ष के रूप में । यह भी इन दोनों में भेद है ।

मन्दार, पारिजात एवं कुरवक के सम्बन्ध में विशेष जानकारी डॉ. आर.एस. सिंह लिखित 'संस्कृत काव्य में विशिष्ट वनस्पतियाँ' नामक पुस्तक से प्राप्त की जा सकती है ।

मधूक

(Bassia Litipolia या Madhuca Indica) या मधूक वृक्ष सुप्रसिद्ध महुए का नाम है । चरक संहिता में इसका वर्णन मधुर फलों के साथ किया गया है । इसके बीजों से तेल निकाला जाता है । फल जिनका रंग श्वेत-पाण्डु होता है खाने के काम आते हैं । अनेक प्रदेशों में इसके फलों को सुखाकर उनसे शराब बनाते हैं । सुश्रुत के अनुसार इसके पुष्प प्यास, गर्मी और रक्त प्रवाह में लाभकारी हैं । इनका परिगणन द्राक्षा और खजूर के साथ हुआ है । मधूक फलों से आसव बनाने की प्रथा भारत में बहुत पुरानी है फिर भी कालिदास ने इसका उल्लेख माला बनाने के प्रसंग में किया है । दूर्वा के साथ मधूक गूँथकर वालों को सजाने की प्रथा कालिदास के समय में थी । इसमें हरित और पाण्डुर वर्णों का मेल रहता था । विवाह के अवसर पर पार्वती के केश धूपद्रव्यों की ऊष्मा से सुखाये गये । फिर केशों में पुष्प गूंथे गये । अन्त में दूर्वायुक्त कच्चे मधूक-पुष्पों की माला से रम्य बन्ध के साथ बाँध दिये गये थे—

धूपोष्मणा त्याजिमार्द्रभावं केशान्तमन्तः- कुसुमंतदीयम् ।

पर्याक्षिपत् काचिदुदारबन्धं दूर्वावता पाण्डुमधूक-दाम्ना ।। कुमार. ७-१४

रघुवंश में भी कवि ने राजकुमारी इन्दुमती को ऐसी ही माला से अलंकृत वर्णित किया है—

विस्रंसि-दूर्वाङ्क-मधूक-माला प्रत्यादिदेशैनमभाषमाणा ।। ६-२५

लगता है, मधूक-कुसुम-माला विवाहादि मंगल कार्यों में पहनी जाती थी । इसीलिये उसमें बीच बीच में मगंल की प्रतीक दूर्वा भी गूँथ दी जाती थी ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मल्लिका, मालिका, मालती

मालिका का उल्लेख शाकुन्तल में हुआ है—अर्कस्योपरि शिथिलं च्युत मिव नवमालिका-कुसुमम्- २-९ । यहाँ अर्क का पुष्प अनाकर्षक और निर्गन्ध कह कर अनादृत किया गया है जबकि मालिका पुष्प को सुन्दर और सुरभित बताकर समादृत । मालिका और मल्लिका संभवत: एक ही हैं । मल्लिका (Jasminum sambac) वेला का दूसरा नाम है जिसके पुष्प अत्यन्त सुगन्धित होते हैं । मल्लिका रात्रि में फूलती है और दिन में मुरझा जाती है। कवि ने मल्लिका को पल्लवाधर-संगता कहा है क्योंकि इसके पुष्प किसलयों में आवृत्त रहते हैं । वे स्मित के समान शुभ्र और कलिका रूप में नुकीले भी रहते हैं । इसकी लता फूलती है तो पुष्पों से भर जाती है—

अमदयन् मधुगन्ध-सनाथया किसलयाधर-संगतया मनः ।
कुसुम-संभृतया नवमाल्लिका-स्मितरुचा तरु चारु-विलासिनी ॥ रघु. ९-४२

मल्लिका वसन्त में फूलती है। कवि ने कहा है—फुल्लं च पुष्पं नवमल्लिकाया: प्रयाति कान्ति प्रमदा-जनानाम् । ऋतु. ६-५ । सामान्य भाषा में मल्लिका को मोया और मोंगरा भी कहते हैं । यह अपने चारो ओर भ्रमरों को आकृष्ट करती हैं मल्लिका के स्वरूप का वर्णन कवि ने निम्नश्लोक में बड़े सुन्दर ढंग से किया है—

वनेषु सायन्तन-मल्लिकानां विजृम्भणोद्गन्धिषु कुडमलेषु ।
प्रत्येक-निक्षिप्त-पदः सशब्दं संख्यामिवैषां भ्रमरश्चकार ॥ रघु. १६-४७

तथा—

विन्यस्त-सायन्तन-मल्लिकेषु केशेषु लेभे वलमङ्गनानाम् । वही ५०

इससे मल्लिका की कामोद्दीपकता स्पष्ट है । यह शीतभीरू तथा ग्रीष्म- प्रेमी लता है फिर भी आतप इसे असह्य है । इसीलिये इसकी कलिकायें सायंबेला से पूर्व उन्मिषित नहीं होतीं । कालिदास उसे सायन्तल मल्लिका कहते भी हैं जो इस बात को संकेतित करता है कि कदाचित् मालिका की कोई अन्य प्रजाति भी थी जो प्रातः वेला में फूलती थी ।

मालती (Jasminum Grandiflorum) वर्षा तथा शरद् ऋतु में फूलती है । यह भी सुग्धित और सुदर्शन होती है । स्त्रियाँ इसकी माला को शिर पर गजरे के रूप में पहनती हैं—"शिरसि वकुल मालां मालतीभिः समेताम"—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋतु. २-२५ तथा—"दन्तावभास-विशदस्मित-चन्द्र-कान्ति-कङ्केलि-पुष्प-रुचिरा नव मालती च" वही ३-१८ एवं—"केशान् नितान्त घननीलविकुञ्चिताग्रानापूरयन्ति वनिता नवमालतीभिः" वही १९ । इस श्लोक की कङ्केली भी सुगन्धित सुन्दर पुष्पों वाली (Janesia tree) वनस्पति है । मालती और जाति पर्याय हैं । जाति को हम चमेली के नाम से जानते हैं ।

माधवी

माधवी (Goertnera Racemosa) वसन्त ऋतु का पुष्प है जो इसी नाम की लता पर फूलता है । जब यह फूलता है तो सारा वृक्ष श्वेत पुष्पों से लद जाता है और लगता है कि सारा आकाश पृथिवी पर उतर आया है । वसन्त में कुन्दलता मुरझाने लगती है तो माधवी पर यौवन आता है । वायु के द्वारा इन दोनों के साथ क्रीडा को लक्ष्य कर कहा है—

निषिञ्चन् माधवीं लक्ष्मीं लतां कौन्दीं च लासयन् ।

स्नेह-दाक्षिण्योर्योगात् कामीव प्रतिभाति मे । विक्रमो. २-४

माधवी के पत्ते भी गहरे हरे और छायादार होते हैं । वाह्योद्यानों में माधवी लता के मण्डप बनाये जाते थे जिनके नीचे प्रेमी-युगल शान्ति लाभ करते थें । कालिदास ने शकुन्तला के कार्श्य की समता माधवी के पत्रों के शोषण से की है—

पत्राणामिव शोषणेन मरुता स्पृष्टा लता माधवी । शाकु. ३-८

मुस्ता या भद्रमुस्त

कालिदास को वराह के साथ मुस्ता का स्मरण अनिवार्य रूप से हो आता है । कण्व से आश्रम के पास पहुँचकर पुरुरवा जिन पशुओं की चर्या में विघ्न न पहुँचने की भावना से रथ को रोक देता है उनमें महिषों और मृगों के साथ वराह भी हैं । मुस्ता पानी के नीचे कीचड़ में होता है । यह सुगन्धित तृणजातीय अङ्कुर जैसा वराहों का खाद्य है । वराह अपने पोत्र (थूथन) को पानी में डालकर मुस्ता निकालकर खाते हैं—"विस्रब्धं क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ता-क्षतिः पल्वले" । शाकु. २- । ग्रीष्म में जब न केवल जल, अपितु कदर्म तक सूख जाता है तो वराह अपने पोत्र से तडाग की मिट्टी ही खोदते हैं—इस आशा से इसके नीचे मुस्ता होगा—

सुभद्रमुस्तं परिशुष्क-कर्दमं सरः खनन्नायत-पोत्र-मण्डलैः ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रवेर्मयूखैः परितापितो भृशं वराहयूथो विशतीव भूतलम्॥ ऋतु. १-१७

लवङ्ग- लवली

लवंग (Syzygium aromaticum) या लौंग से सभी परिचित हैं। कालिदास ने कलिंग नरेश का वर्णन करते हुए कहा है कि इनका प्रासाद समुद्र के समीप है जिसमें ताली द्रुमों के पत्रों की मर्मर ध्वनि सदा सुनायी पड़ती है। जहाँ अन्य दीपों से उड़ाकर लाये गये लवङ्ग के पुष्प स्वेद का हरण कर लेते हैं—

अनेन सार्धं विहराम्बु-राशेस्तीरेषु तालीवन-मर्मरेषु।

द्वीपान्तरानीत-लवङ्ग-पुष्पैरपाकृत-स्वेदलवा मरुद्भिः॥ रघु. ६-५७

लवली लता (Lavunga scandens) भी लंवग से मिलती जुलती है। इसके फलों का उपयोग होता है।

लोध्र

लोध्र (Symplocos Recemosa) या लोध पर्वतीय वृक्ष है। इसके पुष्प पाण्डु (हलके पीत) वर्ण के होते हैं और देखने में सुन्दर भी। इनका ओषध रूप में भी प्रयोग होता है। ये मधुर कपाय और पित्तशामक बतलाये गये हैं। कालिदास को लोध्र से लगाव था। उन्होंने पाटलवर्णा गो की उपमा गैरिक धातु वाली अधित्यका और उस पर बैठे केसरी की उपमा फूले हुए लोध्र वृक्ष से दी है—

स पाटलायां गवितस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श।

अधित्यकायामिवधातुमय्यां लोध्र द्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम्॥ रघु. २-२९

मेघदूत में उन्होंने लोध्र रज (पराग) को नारियों के मुखराग का प्रसाधन कहा है—

नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः। मेघ. २-२

लोध्र हेमन्त की भयंकर ठण्ढ में फूलता है—

प्रफुल्ल-लोध्रः परिपक्व-शालिः हेमन्तकालः समुपागतोयम्। ऋतु. ४-१

वंश

वंश (Bambusa arundonacca) स्तम्बों में फैलता है। इसके करील विदाही और रुक्ष होते हैं। वंश (Bamboo Cane) या बाँस सुपरिचित है। यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कँटीला, बहुत ऊँचा, प्रतानों में फैलने वाला और दृढ़ यष्टिवाला वृक्ष है। बाँसों के जंगल विन्ध्य, हिमालययादि पर्वतों पर होते हैं। इनकी यष्टि भीतर से पोली और भरी दोनों प्रकार की होती है। पोली यष्टि वाले बाँस कीचक कहलाते हैं जिनकी चर्चा पीछे हुई है। इन्हें वेणु भी कहते हैं। वंश के कोये या अंकुर नीले होते हैं। कालिदास ने 'वंश-करीर-नीलैः' कहकर उन्हें उपमान बनाया है। उन्होंने विन्ध्य वनों में जलते बाँसों को देखा था। जलते समय वे तीव्र आवाज करते हैं—

स्फुटति पवन-वृद्धः शुष्क-वंश-स्थलीषु

ग्लपयति मृगवर्गं प्रान्त-लग्नो दवाग्निः ॥ ऋतु. १-२५

वकुल

(Bimusopop elengi) वकुल मौलिश्री वृक्ष और पुष्प के रूप में सुप्रसिद्ध है। कविं को इसकी सुगन्ध और सौन्दर्य दोनों अत्यन्त प्रिय हैं। वकुल के विषय में कवि समय, जैसा कि अशोक के विषय में भी है, यह है कि वकुल योषितों के आस्य मद्य से फूलता है। यों इसका पुष्पोद्भव काल प्रावृट् ऋतु है। वकुल, मालती यूथिका और कदम्ब चारों प्रावृट् पुष्प हैं। कालिदास ने उनका उल्लेख भी एक साथ किया है—

दधति वकुलमालां मालतीभिः समेतां

विकसित-नवपुष्पै र्यूथिका-कुड्मलैश्च।

विकच-नव-कदम्बैः कर्णपूरं वधूनां

रचयति जलदौघः कान्तवत् काल एषः। ऋतु. १-२५

रघुवंश ९-३० तथा १९-१२ में भी इसकी विशेषताओं का वर्णन है।

वानीर-वेतस

(Calamus Ratang) वानीर तृणवर्ग के अन्तर्गत आता है। इसकी पतली जाति वानीर है जिसे नरकुल कहते हैं—मेघ-यात्रा के प्रारम्भ में ही उसे गम्भीरा नदी के समीप वानीर के क्षेत्र के दर्शन होते हैं—

तस्याः किञ्चित् करधृतमिवप्राप्त-वानीर-शाखं

नीत्वा नीलं सलिल-वसनं मुक्त-रोधो नितम्बम्। मेघ. १-४१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पम्पासर के समीप भी वानीरों का वन था। लंका से लौटते हुए राम सीता को दिखाते हुए कहते हैं—

उपान्त-वानीर-नवोपगूढान्यालक्ष्य पारिप्लव-सारसानि।

दूरावतीर्णा पिवतीव खेदादमूनि पम्पा-सलिलानि दृष्टिः॥ रघु. १३-३०

तथा—

उपान्त वानीर गृहाणि दृष्टा शून्यानि दूये सरयू-जलानि॥ रघु. १६-२१

सरयू के भी किनारे न केवल वानीर वन थे, प्रत्युत वानीरों से बने गृह भी थे। वानीर सदा जलीय प्रदेश में बढ़ते हैं। वेतस पानी का पूर आने पर झुक जाते हैं और जलधारा उनके ऊपर से निकल जाती है। बाद में वे सीधे खड़े हो जाते हैं। जीवन में शक्ति शाली के सम्मुख झुकना और फिर अकड़ कर खड़े हो जाने की क्रिया को वैतसी वृत्ति कहते हैं। कालिदास ने सुह्म लोगों को वैतसी वृत्ति वाला बताया है—

आत्मा संरक्षितः सुह्मैर्वृत्ति माश्रित्य वैतसीम्॥ रघु. ४-३५

वेत्र

(Calamus tenius Roxb) यह भी Calamus की एक प्रजाति और वेत के रूप में प्रसिद्ध है। यों Calamus की ३० प्रजातियाँ हैं—"तां सैव वेत्रग्रहणे नियुक्तां राजान्तरं राजसुतांनिनाय"। रघु. ६-२६

सरल

सरल देवदारू का एक अन्य नाम है। इसका वृक्ष लम्बा, ऊँचा और सीधा बढ़ता है। क्षीरी वृक्ष होने से रगड़ खाकर जब इसकी छाल छिल जाती है तो इसमें से दूध निकलने लगता है किन्तु उसकी गन्ध इतनी तीव्र होती है कि सारा वातावरण सुगन्ध से भर जाता है। तने के मोटे होने के कारण हाथी प्रायः खुजली मिटाने के लिये अपनी कनपटी उससे रगड़ते हैं। कवि ने यह बात कही है—

कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरल-द्रुमाणाम्।

यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूतः सानूनिगन्धः सुरभिः करोति॥ कुमार. १-९

सरल वृक्ष इतने मोटे और दृढ़ होते हैं कि उनमें हाथी बाँधे जाने की प्रथा थी। रघु की सेना के हाथी भी हिमालय को सरलद्रुमों से ही बाँधे गये थे। तब उनकी कण्ठ रज्जु से सरल वृक्षों की त्वचा छिल गयी थी—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरलासक्त-मातङ्ग-ग्रैवेय स्फुरित त्विषः

आसन्नौषधयो नेतुर्नक्तमस्नेह-दीपिकाः ।

तस्योत्सृष्टनिवेशेषु कण्ठरज्जु-क्षत-त्वचः

गजवर्ष्म किरातेभ्यः शशंसु देवदारवः ॥ रघु. ४-७६

सर्ज

ऋतु. संहार में कदम्ब, कुटज, अर्जुन, सर्ज और नीप का पुष्पोद्गम प्रावृट् ऋतु में बतलाया है। शरद् काल में ये पुष्प हीन हो जाते हैं—"मुक्त्वा कदम्बकुटजार्जुन सर्जनीपान् सप्तच्छदानुपगता शरदागमश्रीः"। ३-१४। सर्ज शाल या साखू के वृक्ष का नाम है। यह सीधा तथा लम्बा होता है। पत्ते बड़े बड़े होते हैं। इसकी छाल में छेद कर एक प्रकार गुग्गुल निकाला जाता है। इसमें फूलों के छोटे छोटे गुच्छे लगते हैं। शाल अपनी लम्बाई के लिये प्रसिद्ध हैं। कवि रघु की ऊँचाई की उपमा शाल (शाल प्रांशुर्महाभुजः १) से दी है।

शमी

शमी (Prosopis spicigera) को लोकभाषा मे छोकर कहते हैं। प्राचीन याज्ञिक अग्नि-प्रज्वालन का काम जिन दो अरणियों (क़ाष्ठों) से करते थे उनमें निचली अरणि शमी की होती थी। वैदिककाल से ही यह वृक्ष पूजित माना जाता रहा है। इसके भीतर अग्नि रहती है, इस बात को कालिदास ने बार बार दोहराया है। गर्भवती सुदक्षिणा (रघु की माता) के लिये कवि ने 'शमीमिवाभ्यन्तर लीन-पावकाम्' यह उपमा दी है। इसी प्रकार गर्भवती शकुन्तला के लिये कहा है—"अवेहितनयां ब्रह्मन्नग्नि गर्भां शमीमिव"। शाकु. ४-४। शमी की यज्ञ समिधा श्रेष्ठ मानी जाती है। अन्तरग्नि और ज्वलन शील गुण-समृद्धि से पूर्ण होने के कारण यह क्षात्र का भी प्रतीक मानी गयी है। रघुवंश में पाणिग्रहण के समय लाजा और शमी पत्रों को मिलाकर होम का भी उल्लेख है—

हविः शमी-पल्लव-लाज-गन्धी पुण्यः कृशानोरुदियाय धूमः। ७-२६

शमीलता (द्रुम) कठोर होती है। शाकुन्तल में शकुन्तला के निसर्ग मनोहर शरीर को तप में लगाने वाले कण्व मुनि का व्यवसाय नीलोत्पल के पत्ते की धार से शमीलता को काटने जैसा है, यह बात दुष्यन्त ने कही है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इदं किलाव्याज-मनोहरं वपुः तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति।

ध्रुवं स नीलोत्पल-पत्रधारया समिल्लतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ।।शाकु.१-१७

सप्तच्छद

सप्तपर्ण या सप्तच्छद (Alstania scholaris) को कालिदास ने शरद ऋतु में पुष्पित होने वाला वृक्ष बतलाया है । इसके पुष्प धवल वर्ण के होते हैं और बहुलता से खिलते हैं—

सप्तच्छदैः कुसुमभार-नतैर्वनान्ताः शुक्लीकृतान्युपवनानिच मालतीभिः ।

ऋतु. ३-२

शरद में वनलक्ष्मी वर्षा प्रिय पुष्पी वृक्षों को छोड़कर सप्तच्छदों के पास चली जाती है—

मुक्त्वा कदम्ब कुटजार्जुन-सर्जनीपान् सप्तच्छदानुपगता शरदागमश्रीः ।।

ऋतु. ३-१३

सप्तच्छद पुष्पों की गन्ध बहुत तीव्र, यहाँ तक कि गजमद के समान कटु एवं शिरोवेदना-जनक होती है—

प्रसवैः सप्तपर्णानां मदगन्धिभिराहताः ।

असूययेव तन्नागाः सप्तधैव प्रसुस्त्रुवुः ।। रघु. ४-३३

सप्तपर्ण भारत के सभी भागों-वनस्थलियों, प्रमदोद्यानो, उपवनों आदि में पाया जाने वाला, विशेषतः शीत प्रधानभागों में पाया जाने वाला वृक्ष है । इसके एक एक गुच्छे में कई पत्ते (सात तक) एक साथ जुड़े रहते हैं । टहनियों से पत्तों को तोड़ने पर उनमे से दूध निकलता है जो बड़ा कटुक-गन्धि होता है । देशी भाषा में इसे छविवन कहते हैं । कण्व के तपोवन में सप्तपर्ण वृक्ष थे । घनी छाया वाले पत्रबहुल होने से इनके नीचे शीतलता अधिक रहती है । इसीलिये इसके नीचे विश्राम वेदिका बना ली जाती है । शाकु. में प्रियंवदा श्रान्त राजा से कहती है—"तेण हि इमस्सिं पच्छाअसीअलाए सत्तवण्ण-वेदिआए मुहुत्तअं उवविसिअ परिस्समविणोदं करेदु अज्जो (तेन ह्यस्यां सप्तपर्ण वेदिकायां मुहूर्त मुपविश्य परिश्रमविनोदं करोतु आर्यः)" शाकु. १-२२ के नीचे । सप्तपर्ण के पुष्प श्वेत-पाण्डुर, सघन, गन्ध प्रसारक गुच्छों में खिलते हैं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शाल्मलि

शाल्मलि का सेमल (Salmalia malabarica) विशालकाय, प्रोन्नत, पृथुस्कन्ध वृक्ष है । वनों और ग्रामों से सामान्यतया पाया जाता है । इसके पत्ते बड़े और पुष्प गहरे लाल होते हैं—शुक नासिका के समान । सेमल के फूल खाये भी जाते हैं । जब यह फूलता है तो इस पर शुकों का मेला लगा रहता है और प्राय: सायं वृक्ष की डालें तोतों से भरी रहती हैं । कुछ समय में पुष्पों के वन्द गोभे बन जाते हैं जो शुक वर्णी हरित होते हैं जिनमें रुई भरी रहती है । पक जाने पर इनकी रुई फूट निकलती है । कई बार तोते हरित फलों को खाद्य फल जानकर उन पर चोंच मारते हैं किन्तु रुई से निराश होकर उड़ जाते हैं । शाल्मलि शुक कोटरों के लिये प्रसिद्ध है—कालिदास ने दवाग्नि के सम्बन्ध में उल्लेख किया है—"बहुतर इव जात: शाल्मलीनां वनेषु" । ऋतु. १-२६

शिरीष

शिरीष या सिरस कालिदास द्वारा वर्णित पुष्पी वृक्षों में सर्वाधिक कोमल और सुरभि- प्रसारी वृक्ष है । महाभाष्य में 'शिरीष वनम्' शब्द मिलता है । हरियाणा में तो एक नगर का नाम ही सिरसा है । इसके पुष्प पीताभ और स्वल्प हरित होते हैं । शिरीष काफी ऊँचा और विपुलाकार होता है । इसके पुष्प मंजरियाँ या गुच्छों के रूप में रेशमी वालों के सदृश होते हैं, सुकुमारता और मादक गन्ध से सहृदयों को आकर्षित करने आये है । ये बहुत शीघ्र मुरझा जाते हैं । भ्रमर शिरीष पुष्पों के पीछे पगलाये रहते हैं । वसन्त के अन्त में ये वृक्ष पर मंजरियों के समान पूरी तरह लद जाते हैं और पास पड़ोस के वातावरण को सुरभित बनाते हैं । ग्रीष्म काल में भी इनकी बहार बनी रहती है । किशोरियाँ और प्रमदायें शिरीष पुष्पों को कानों में पहनती हैं—चूडापाशे नव कुरवकं चारु कर्णे शिरीषंम्-सीमन्ते चत्व दुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् । मेघ. २-२ । शाकुन्तल में ग्रीष्म समय को लक्षित कर प्रस्तावना में नटी गाती है—

ईतीसि चुम्बिआइं भमरेहिं सुउमार केसर सिहाइं,

ओदंसयंति दअमाणा पमदाओ सिरीस कुसुमाइँ ।। शाकु. १-४

पुष्पों की सुकुमारता का ध्यान रखते हुए भ्रमर तक उन्हें बिना भार डाले थोड़ा थोड़ा ही चूमते हैं । क्योंकि उनके केसरों की शिखा जिस पर बैठकर भ्रमर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसका रस पान करते हैं इनकी सुकुमार होती है कि वह उसके पदों का भार कठिनता से ही झेल सकती है । इसीलिये प्रमदायें भी बड़े कोमल स्पर्श के साथ सानुकम्पभाव से उन्हों कानों या केशों में पहनती हैं । इसीलिये कवि ने कहा—"पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीष पुष्पं न पुन: पतत्रिण:" । कुमार. ५-४ । भ्रमर पेलवता के साथ शिरीष पर पाँव रखता है । अपना भार उस पर नहीं पड़ने देता । अवतंस के रूप में धारण किये शिरीष कुम्हला कर गिर जाते हैं । कालिदास के ध्यान में यह तथ्य था । इसीलिये उन्होंने कहा—

स्त्रस्तं कर्ण-शिरीष-रोधि-वदनं धर्माम्भसां जालकम्। शाकु०

वृक्ष सींचने से शकुन्तला के मुख पर उद्‌गत होकर बहते स्वेद ने कुम्हला कर गिरने को प्रस्तुत शिरीष कुसुमों का गिरना रोक दिया है । इतने पर भी स्त्रियों से शिरीष से स्वयं को सजाने के प्रति तीव्र रुचि रही है । दुष्यन्त ने शकुन्तला को कानों से कनपटी तक लटकते हुए शिरीष पहने ही देखा था । इसीलिये शकुन्तला के चित्र को देखकर कहता है कि इसमें यह शिरीष कर्णावसंस से मण्डित क्यों नहीं ? 'कृतं न कर्णार्पित बन्धनं सखे शिरीषमागण्ड-विलम्वि-केसरम् । शाकु० ६-१८ । शिरीष पुष्प केसरों (तन्तुओं) का ही गुच्छ होता है । शिरीष कालिदास को अत्यन्त प्रिय है । इस बात को एक ही समस्त पद में उन्होंने दो बार कहा है—

शिरीष-पुष्पाधिक-सौकुमार्य: खेदं स यायादपि भूषणेन।

नितान्तगुर्वीमपि सोनुभावाद् धुरं धरित्र्या: विभरांवभूव।। रघु. १९-४२

यहाँ शिशु राजा सुदर्शन को शिरीष पुष्पाधिक सुकुमार कहा है और कुमार० में यही विशेषण उमा की बाहुओं के लिये दिया है—

शिरीष-पुष्पाधिक-सौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्क: ।

पराजितेनापि कृतौ हरस्य यौ कण्ठपाशौ मकरध्वजस्य।। कुमार. १-४१

सिन्दुवार

सिन्दुवार या श्वेत निर्गुण्डी (Vitex negund linn) का ही एक प्रकार है । इसके पुष्प श्वेत और नील दोनों प्रकार के वर्णित किये गये हैं । श्वेत सिन्दुवार की कलियाँ मोतियों जैसी दिखती हैं । इसीलिये कालिदास ने कहा है कि पार्वती ने मुक्तावतंसों के स्थान पर सिन्दुवार के पुष्प पहन रखे थे—

मुक्ता-कलापीकृत-सिन्दुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती। कुमार. ३-५३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पष्ट है कि सिन्दुवार वसन्त में फूलता है।

शल्लकी

शल्लकी या सल्लकी के पल्लव गजों का प्रिय भोजन है। इनमें आसव के समान सुगन्ध होती है। सुरभित पल्लव-रस के लिये गज इसे पसन्द करते हैं। विक्रमोर्वशीय में करेणु शल्लकी के ताजे कोमल तोड़कर अपने अग्रहस्त से गज को खिलाती है—

अयमचिरोद्गतपल्लवमुपनीतं प्रियतमाग्रहस्तेन।

अभिलेढुं तावदासवसुरभिरसं शल्लकी-भङ्गम्॥ विक्रमो. ४-४४

शल्लकी की तोड़ी हुई टहनी से बहता क्षीर या रस गज को प्रिय है। इसी बात को कुमार. संभव में भी कहा है

स्थानमाह्निकमपास्य दन्तिनः सल्लकी-विटपभङ्ग-वासितम्।

आविभात-चरणाय गृह्णते वारि-वारिरुह-वद्ध-षट्पदम्॥ कुमार.८-३३

रात्रि के समय भ्रमरों के कमल के केशों में बन्द हो जाने के कारण गजों को उनसे बाधा नहीं, अन्यथा वे सल्लकी की भग्न डाल से रस से वासित वारि पर न मँडराते।

कालिदास ने शालि और शैवाल की भी चर्चा की है। इनसे सभी परिचित हैं।

यूथिका

यूथिका (Jasminum auricul atum) हलके पीले, पीत और धवल पुष्पों वाली लता है। अपनी मादक सुगन्ध और सुदर्शन पुष्पों के कारण यह कवि प्रिय है। लोक में जूही नाम से अभिहित इस लता का उल्लेख मेघदूत में हुआ है जहाँ मेघ से इसको सींचने की प्रार्थना है—"सिञ्चन्नुद्यानानां नव-जलकणै यूँथिका जालकानि"। मेघ. १-२६। सचमुच जूही जाल बनाती फैलती है। ऋतु. संहार में वर्षा ऋतु. में इसमें नये नये पत्तों और कलियों का निकलना बतलाया गया है—"नव विकसित पत्रै यूँथिका कुड्मलैश्च"। ऋतु. २-२५। वह वर्षा का पुष्प है।

यूथिका के पुष्पों से स्त्रियाँ केश सजाती थीं। इसीलिये पुरुरवा उर्वशी को यूथिका-धवल-केशी कहता है—"मदकल-युवति शशि-कला गजयूथप यूथिका धवल-केशी"। विक्रमो. ४-४६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारत की भौगोलिक सीमाओं और सीमा के भीतर अवस्थित जनपदों, नगरों, नदियों और पर्वतों के साथ भारत की व्यापक भौगोलिक जानकारी प्रस्तुत की है और वह भी तटस्थ होकर नहीं, मात्रभूमि के सम्पूर्ण सौन्दर्य और सुषमा से अभिभूत भारतभक्त के समान अत्यन्त श्रद्धा के साथ। भारत के प्रमुख राजवंशों में भरतों और यदुओं में वह सूर्यवंश और चन्द्रवंश की परम्पराओं और उनके महापुरुषों के व्यक्तित्व और कार्यों के अधिकारी जानकार थे। भारतीय राजपरम्परा और राजप्रशासन के साथ मनुप्रतिपादित जीवन पद्धति, राजधर्म, वर्णाश्रम व्यवस्था, शिक्षा पद्धति, गुरुकुल जीवन के जो सन्दर्भ उनके ग्रन्थों में मिलते हैं वे अत्यन्त प्रमाणिक और शास्त्राधारित हैं। आर्थिक और न्याय व्यवस्था, सैन्य संगठन और सैन्य संचालन, युद्धनीति, राजनय आदि के सम्बन्ध में उनकी निश्चित मान्यताएँ उनकी कृतियों में उजागर हुई हैं। भारत के वृक्ष-वनस्पतियों, लता-वल्लरियों, पुष्पों और फलों, पशु-पक्षियों के प्रति जो स्नेह और आत्मभाव उन्होंने बिखेरा है वह अन्यत्र दुर्लभ है। नगरों और अरण्यों, राजप्रासादों और आश्रमों, पृथिवी और स्वर्ग, मानवों और देवों, पुरुषों और नारियों के बीच जो समन्वय और साहचर्य जो उनकी कृतियों में मिलता है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। वह पृथिवी और स्वर्ग के बीच कला और सौन्दर्य के दूत हैं। भारत के सांस्कृतिक निर्माताओं में वय व्याकरण की मुनित्रयी में पतञ्जलि के समान वाल्मीकि और व्यास के अनन्तर सर्वाधिक प्रमाणपुरुष हैं। वैदिक संस्कृति के इस उद्‌गाता ने बिना किसी धर्म, सम्प्रदाय या उसकी मान्यताओं पर उँगली उठाये विशुद्ध कला के माध्यम से वैदिक जीवन परम्परा का सम्पोषण किया है। विशुद्ध और मूर्धन्य कवि होने के साथ-साथ वह भारतीय संस्कृति के सर्वाधिक प्रामाणिक प्रवक्ता हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम परिशिष्ट

नामानुक्रमणिका

(ग्रन्थ में वर्णित विशिष्ट ग्रन्थों नाभों तथा पारिभाषिक शब्दों की अकारादिक्रम से सूची)

अ

अंग (जनपद) १८०

अधिकरणिक २१६

अङ्क्य (मृदंग) २७५

अंगराग १२३

अकृष्टपच्य ३११

अक्ष सूत्र १०९

अक्षोट ४०३

अगस्त्य ६९,११७

अग्निमित्र १११, १५१, २०३, २२७, २३४,२८३, ३५१

अग्निवर्ण ११२, १७१, २१३, २९३, ४०७

अग्नि शरण ६४

अगुरु ९७

अज (राजा) ८७

अतिमुक्त लता ३९८

अतिथि (राजा) ७०, ८८, १०५

अत्रि ११७, १७७

अथर्वाङ्गिरस संहिता ४६, ७६, १३२, ९८

अदिति ५६, ५७

अधिदेवता १४४, १४६, २५३

अध्वर्यु ६९

अनूप १८०

अन्तपाल २०३, २३४

अन्तदुर्ग २३५

अन्तरा (ध्रुवा) २८१

अपसर्ग २३५

अपरान्त १८९

अपर्णा १२४

अप्सरस्तीर्थ १४६

अब्भक्ष १२१

अभिसारिका २५७

अभिचार ४६

अयोध्या १५०, २९५, ३८८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्धमागधी २८२
अर्क (पादप) ४०४
अर्थ शास्त्र ४०६
अरुन्धती १६५, १७१, ७२, ९०
अर्जुन (वृक्ष)- ४०३, ४०९
अलका १७८, १८०. २५५
अलमोड़ा ३१२
अवभृथ ६९
अवलोमन ८२
अवन्ति १८०
अवरोध गृह २५६
अवनद्ध वाद्य २९४
अशोक २४२, ३१८, ४००
अश्वमेध ६७, १९४, २०५, ३८३
अश्मन्तक ८४
अश्वयुज १३४
अष्टाङ्गहृदय ३९६
असन (वृक्ष) ४०३

आ

आकाशवाणी १३६,
आलीढ़मुद्रा २२०
आचार्य भारत २९१,२३३
आथर्वणिक ६३,
आन्वीक्षिकी ८८
आनद्ध (वाद्य) २७९
आतोद्य २९१, २९२
आत्मोपसर्पण २८५,
आटविक २०४
आम्रकूट १७८
आर्यप्रदेश ३०६,
आयुर्वेद ४१३, ४३३
आपेक्षिकी ध्रुवा २८१
आरोहावरोह २७८
आलम्भन ७३
आलिङ्ग्य मृदङ्ग २७५
आश्वलायन श्रौत सूत्र ६३
आश्वलायन गृह्यसूत्र ८२, ८३, ९६
आसन २१०, २४५
आहवनीय अग्नि ६९

इ

इङ्गुदी ४९, ५४, ४०७
इक्ष्वाकु १०८,
इन्दुमती ९८, १४८,१५६, १६४, २९९, ३२३, ३२४
इन्द्रलोक १८०
इरावती २६३

ई

ईशावास्योपनिषद् ३६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उ

उदुम्बर ७०, ४०८

उदयवती १६८

उत्तरकोसल ८४,

उत्कल १८७

उत्सवसङ्केत १९२

उत्तर प्रदेश १९३

उदयगिरि २५१

उदकवाद्य २६९

उद्गान २७७

उपाध्याय सोमरात ५३

उपकार्या २५८

उमा १६४

उज्जयिनी १७५, १७९, २५०

उरगपुर १८३

उर्वशी ३७७

उष्ट्र ३९०

ऊ

ऊर्ध्व मृदङ्ग २७५

ऐ

ऐतरेय उपनिषद् १६, ३९

ऐरावत १९६, ३७०

ऐराक ४०३

एला ४०८

ऋ

ऋग्वेद १, २, ३, २५, २९२

ऋतूत्सव २७०

ऋतुसंहार २५०

ऋद्धापण २५७

ऋक्ष ३९२

ऋत्विक् २३४

औ

औडिवत २७८

और्ध्व दैहिकक्रिया ११२

औषधिप्रस्थ २९६

क

काकनाद १७८

ककुत्स्थ १८४

केका ३२३

कंकेलि ४०१, ४१३

कोकिला ४०५

ककुभद्रुम ४०५

कुंकुम ३८१, ४१६, ४३१

कर्कन्धु ४२१

क्रौञ्चद्वार ३३९,

क्रौञ्च ३५७

क्रौञ्चरन्ध्र ३५८

कञ्चुकी २२९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कीचक ४१६
कौटिल्य १९९, २०८, २३६
कौटिलीय अर्थशास्त्र २०४
कुटज ४१८
कूटनीति २०४
काटयवेम २८६
कोटद्वार ३१२
कठोपनिषद् १८, ४०, ४२, ४५
क्रीडाशैल २६०, ३२५
कर्णिकार ३३२, ३१३, ३४८
कर्णिरथ २३४
कृष्णसार ३०३
केतुमाला ३०३
केतकी ४२०
कस्तूरीमृग १२२, १९१, ४३१
कार्तवीर्य १८१
कार्तिकेय २७५, २७९,२९९
किन्दमत्रऋषि २३७
कद्रू ३९४
कुन्द ४१७
क्रोधजव्यसन २३७
कनखल १७९, ३१२
कल्पतरु ४२५, ४३५
कामधेनु ६८
कुम्भताल २८९
कुमारभृत्या ८२
किंपुरुष ५७
कपिशा १८७,
कामजदोष २०६, २३७
कुमुद १४५, १६६, २६०, ४१८
कामन्दक २३७, २३९
कामसूत्र २६०, २६७, २६९
कामरूप ३७४
कौमुदिका २६१
कश्यप ५६, ११४
कन्याशुल्क ८९, १००
कात्यायन ९९,
कार्यपालिका २३२
करण २९६, २९७
करेणु ३७०
कारापथ २३४
कारण्डव ३५९
किरात ३६८
कुरर ३५७
कुररी ३५८
कुरवक ४१९
कुरुक्षेत्र १७९
केरल २२३,३७३
कलहंस ३५९
कलम ४१२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कलिंग १८३, १८७, २२३, २४९
कलावतीवीणा २८०
कालिकापुराण १२
कालियनाग १८२
कालागुरू ३७५
कालीयक ४१४, ४३१
कुलपति ४५, १०३
कुलदेवता १६५
कुलपर्वत ३७४
कुल्लूक भट्ट २०५
कैलास १८०, ३३९
कण्व ४५, ५६, ६३, १३१, १६६
कण्वाश्रम १९८
कुवेर ५९, ७०, १३८, १८०, १९९
कोविदार ४२१
कम्बोज ३७३, ४०१
कुसुम्भ ४२०
केसर ३२५, ४१९, ४२१
कौत्स ५९, ५६, १४३
कोसल्या १३३
काश ४१५
काशिराज १७१,
काश्मीर २२७
किंशुक ३४८,४१५
कुश ७३, ८८, १४४, ३०८, ३६०
कुशावती ७३, १४४, २३४
कुशमेखला २३९
केशान्तरू ८६
केशी १९१
कैशिकी९६
कौशेयवस्त्र ९२
कौशिकी २८६
कल्हार ४१३
क्षुमा ८५
क्षौमवस्त्र१०४
क्षिप्रवेदी ३७२

ख

खदिर ८५
खड्ग ३९१
खर्जूर ४२३
खुरासान ४०३

ग

ग्रीक १९३,
गोकर्ण २९२
गजासुर ३६८
गंगा ९४, १३६
गंगावतरण ३८४
गढ़वाल ३१२
गणदास २७१, २८३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुप्तवंश १९३
गुप्तकाल ३८७
गीता ४०, ४१
गौतमी ९३, १५६, १७०
गौतमस्मृति १६१
गौतमवधू १४९
गोदान ८६
गोदावरी ११७, १७७
गन्धर्व १३७
गन्धमादन १६८
गन्धवतीनदी १७९
गन्धभृत १७९
गन्धद्विप ३७४
गान्धर्वविवाह ८९, १०१
गान्धार २७७, ३२१
गोधा ३९१
गृध्र ३६१
गर्भवेश्भ २५६
गम्भीरा १७९, ३४५
गम्भीर वेदी ३७२
गोमेय क्षेत्र १८७
गृह्यसूत्र (आथ) ८४
गेयबन्ध २८४
गरूड ३६०, ३९४
गिरनार ३१२
गोरोचना ९३, १०७
गौरीशिखर ८०
गालव ५८
गवय ३६३, ३९०
गवाक्ष २५३
गोविन्दराज ८५
गोवर्धन पर्वत १८२, ३२३

घ

घनवाद्य २७९

च

चक्रवर्तित्व २०५
चक्रवाक ३५४
चकोरी ३५७
चर्चरी २८९
चिंचा ४२४
चण्डीश्वर १७९
चाणक्य २३२
चूड़ाकर्म ८३
चतुर्व्यूह सेना २२४
चतुष्पदोत्थछलिक २८३
चातक ३५६
चन्दन ३९३, ४२३
चन्द्रगुप्त II २११
चन्द्रशाला २९५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चन्द्रकान्तमणि ३२३
चर्मण्वती ७३, १७९
चमरी १७९
चरक संहिता ४३८
चरक ४२३
चित्रकूट १७७, १७८, २२६
चित्रकला २६४
चित्रशाला २६०
च्यवन ५२, ५५
च्युतषड्ज २६९

छ

छलिकनृत्य २८२

ज

जातक १०१
जातकर्म ८३
जामित्रगुण ९१
जलाञ्जलि १११

त

तक्षक १४४
तक्षशिला २३४
ताडका १६, १६९
ताडन २९६
ततवाद्य २७९
तान २७८
तित्तिणी ४२५
तर्पणक्रिया १३०
तपनीयाशोक ४०१
तमाल ४२६
ताम्रवर्णी १८८
तमसा ६९, १७२
तूर्य २९८
तालीवन ४२५
तिलक ४२६
तिलोत्तमा २७७
तोरण २५९
तौर्यत्रिक ३०६
त्रिजटा १४३
त्रिपुरविजय ९५, १०८
त्रिष्टुप्छन्द ६३
त्रिकूट १८९
त्रिपुरावदान २८०
तुम्बुरु २८०
ताम्बूलवल्ली ४२३
ताम्बूली ४२६
तन्त्रकार २०४
तन्त्री २९२
त्वष्टा ९४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द

दण्डनीति ८८

दण्डचक्र २०३

दण्डकारण्य ३०३

देवगिरि १७९,-३२४

देवदारु १९१, ३२३,३७३,४२७

दशपुर ७३, १०९

दशरथ १३० १४०, १५४, २३७, २९९

दशार्ण १७८

दुर्वासा ११५, १४०, १४१

दुष्यन्त १२९, २४०

दलितक २८९

दक्षिणाग्नि ६९

दाक्षायणी ५८, ३२९

दुन्दुभि २९४, २९८

दिलीप १८४, १९६, १९७

दिग्वारण ३७१

दिवास्वप्न ३०६

दीर्घिका २५२, २५५

द्विचतुरस्रक २८९

द्विलय २८९

द्विपदिका २८२

द्वैधीभाव २१०

द्यौलोक १४३

ध

धर्मसभा २०८

धर्मशास्त्र ३३५

धर्ममित्र २१६

धर्मासन २१६

धर्माध्यक्ष २१६

धूमपायी १२१

धनुर्वेद ५२

ध्रुवदर्शन ९५

ध्रुवसन्धि २१३, ३६५

ध्रुवसिद्धि ३९६

ध्रुवागीति २८१

धारागृह २५६

धारिणी २१८

धृताची २७७

न

नक्र ३९१

नभस (राजा) ११०

नर्मदा ३१२

नन्दिकेश्वर ९४

नमेरू ४२७

नल (राजा) ११०

नलिनी ४२८

नन्दिनी ११४, १३३, १४१, १४८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नवमालिका ४९
नृत्यबन्ध २८५
नागमुद्रा ३९७
नागार्जुन १७५
नागाजिन २३८
नाट्यसन्धि ९६
नाट्यशास्त्र २७१, २८२
नान्दीगीत २८२
नारद ११८, २८०
निचुल ४२८
निपुणिका ३९७
नियतकालिक ११५
नियतोपदिष्ट (व्रत) ११५
निर्विन्ध्या १७९
नीचैःगिरि १७८
नीप ४२९
नीलकण्ठ २८६
नीवार ४८

प

पंचमहाभूत ११३
पंचवटी १७७, ४०२
पंचांगाभिनय २८६
पद्मराग १०६
पण्डिता कौशिकी १७०
पटह २९४, २९७, ३७७
परशुराम ११७, १८२
पम्पापुर १७७
पतञ्जलि १९४
पर्वतीयगण १९१, २२४
पशुपति १९५
पशुबलि ३१२
परातिसन्धान २०४
परिघ २२४
परन्तप २५४
परिव्राजिका २८३
परिवादिनी वीणा २९२
परभृत ३४९
परावत ३६२
पलाश ४२९
पण्यवीथी २५७
पाटलिपुत्र ६१
पातञ्जलयोगसूत्र १०९
पार्वती १२०, ३४०
पाण्ड्य १८३, १८४, १८८, २२३, ४२३
पारसीक १९०, २२३
पाण्डु २३७
पाणिनि २३७
पानभूमि २५६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पारिजात ४३५
पाञ्चाल ४०३
पाटिल ४३०
पारस्कर ८२
पाणिपीडन ९१
पावमान्य (साम) ७४
पुन्नाग ३७३, ४३०
पुरूरवा ५१, १२९, १९९, ३०९, ३४३, ३५५
पुष्कर ३२१
पुष्पपुर १८०
पुष्यमित्र १९३, २२७
पुष्कलावती २३४
पुष्कराध्याय २८२
पुष्पक विमान २९५
पुँस्कोकिल ३४९, ४०५
पुंसवन ८२
पूगा ४३१
पिण्डदान ८०, ११२, १३०
पौष्टिक कर्म ४६
पौराणिक संस्कृति १२७
पितृयान मार्ग १२६
पितृलोक १२६
प्रजापति ९५
प्रकृत्यमित्र २०३
प्रकृतिमण्डल २०६
प्रकरण २१६
प्रमथगण ९४
प्रतीप (राजा) १८२, २४९, २५४
प्रव्रज्या १०९, ११०
प्रवरसेन (द्वितीय) २२६
प्रागैतिहासिक २३८
प्राजापत्याग्नि ६९
प्राग्वंश ७०
प्राग्ज्योतिषपुर १९२, ३७४
प्रापोपवेशन १६१
प्रासाद २५१
प्रियङ्गु ४३१
प्रियालु ४३३
प्रियदर्शन (गन्धर्व) १३७
प्रियदर्शी ३१८
प्रेरण २८६

फ

फल्गुनी नक्षत्र ९२

ब

बङ्ग २०५
बङ्क्षु ३८१
बलाका ३३७
बलराम १७९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बालरवि ७३, २७७

बिद्धचित्र २६३

बिलोचिस्तान ३८१

बीजासार ४०९

बुद्ध १२१

बोधिसत्त्व ३१२,

बौद्धविहार ६२

बौद्धजातक ३१२

बृहतीवीणा २८०

ब्रह्मचर्याश्रम २३३

ब्रह्मवर्चस २३३

ब्रह्मेष्ठ (राजा) २१५

ब्रह्मशिरा (अस्त्र) १८३,

ब्रह्मा १४२

ब्रह्मास्त्र २२६, ३९५

ब्रह्मावर्त १७९

भ

भगीरथ ३८५

भगवद्गीता १०९

भद्रपीठ १०५

भद्रमुस्त ४४०

भवभूति १६६, १७१

भरत २८२, २८६, २९४

भृगुकच्छ २५०

भिन्दिपाल २२४

भूर्जवृक्ष १९१

भेरी १९४

भोजराज १६४

म

मगध १८०, २५४

मगधेश्वर २१५

मंगलतूर्य ३०३

मंजुघोषा २७७

मन्दार ४३६

मधुपर्क ९५, ९७

मधूक ४३८

मनःशिला ९४

मनुस्मृति ४२, ७६, ८३, ८४, ८५, ८६, १५७, १६१, २१९, २४८, ३०४

मनु ६८, ७६, १९३, २०५, २०६

मतङ्गऋषि १३७, १४०

मन्त्री २३२

मन्दाकिनी ३७९

मर्दल २९४, २९७

मन्दुरा २५८

मलयाद्रि ३७२

मल्लिका ४३९

मरीचि ५६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मलयगिरि १८८
मलय ४२३
मल्लयुद्ध २२२, ३३२
मध्यलय २०५
महेन्द्रनाथ २०५, २२३
महेन्द्रपर्वत १८३, १८७, ३७२, ३७४
महाकाल १४९,१८०, २५८
महोक्ष ३८९
महाभारत १२१, १७६
मध्यग्राम २७७
मयूरनृत्य २९०
महिषशृंग २९७
महतीवीणा २८०
महाबौद्ध ३१८
मणिबन्ध १५२
मागधीगीति २८२
मातलि ५७, १५०
माधवीलता ३९९, ४१७, ४४०
मानसह्रद् १८०
माधवलेन २०३
मानसरोवर २२७, ३३९
मार्गिक २३८
मायूरी मार्जना २७१, २९४, ३२१
मायूरिक २३८
मात्स्यिक २३८, ३४७
माल्यवान् १७७, ३२३
मारीच (महर्षि) ५३, ५६, १११, १६६, ३९७
मालविका १३५, २१८, २६१, २७१, २८६
मालवभूमि ३१२
मालती ४३९
मालिनी नदी २६६
मालिका ४३९
माहिष्मती १८२, २४९, २५४
मिराशी (डॉ.) २२६
मिनाण्डर २३४
मुण्डन ८३
मुरलानदी १८९
मुरजताल २७१
मुरज २९४, २९६
मूर्च्छना २७८
मूर्वा ८५
मेखला ८५
मेघदूत २५०
मेनका २७७,
मेधातिथि ८५
मैना १६४
मैत्रमुहूर्त ९२
मोहनगृह २५५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोहनजोदड़ो २५७
मोनियर विलियम्स ३५७
मौञ्जीमेखला १२३
मौर्य १९३
मौर्यशुंगकाल २०३
मौलपुरुष २१०
मृग ३९१
मृगरोचना १०४, १५१
मृगशृंग २३९, ३०३
मृच्छकटिक ११८, २१८
मृदङ्ग २९४, ३२१

य

यम १३८
यमसदन १२६
यवनी १९०
यमुना ९४, १८२, ३५५
यवाङ्कुर ९२, १०५
यज्ञयूप ६७, ७०
यज्ञोपवीत १०९
ययाति (राजा) २८३
युवराज २१४
यूथिका ४४८
यातव्य पक्ष २०३
यान २१०
यामतूर्य ३००
याज्ञवल्क्य ९६, १६१
योग १३०
योगसमाधि ११३

र

रघु १८६
रघुवंश १९४, २४१
रक्तकदम्ब ४०९
रक्ताशोक ३२५, ४१९
रन्तिदेव ७३, १७९
रम्भा २७७
रथन्तर साम ७४
रसानुकूल २८४
रक्षिकरण्डक १५२
रक्षिवर्ग २१८
राजपण्डित ७८
राजस्थान १९३
राजमहिणी २१८
राजतन्त्र २२९,
राजमुनि २३०
राजनीतिशास्त्र २४१
राजपथ २५३
राजमार्ग २५७
राजजम्बू ४२४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्याभिषेक १०५
राज्यसप्तांग ४८
राष्ट्रिय २२७
रामगिरि १७८, २२६
रामायण १७५, २७६
रुद्रधनुष १००
रुरुचर्म २३८
रुरुमृग ८५
रेवा १७८

ल

लङ्का १७८, २९५
लङ्केश्वर १८१
लव ३०८
लव कुश २७६
लवणासुर ७३, ११९, १४२
लवङ्ग ४४१
लवङ्गपुष्प १८३
लवली ४४१
लक्ष्मण ३०
लक्ष्मी ९६, १२०
लक्ष्मीस्वयंवर नाटक १३९
ललितराग ९६
लाजाञ्जलि ९५
लाजाहोम ९७
लाक्षारस १०४
लिपिग्रहण ८४
लोकतन्त्र २२९
लोकपाल ९५
लोध्र ४४१
लौहित्य १९२

व

वकुल ४४२
वकुलावलिका २१८, २६१
वटवृक्ष ८५
वर्णाश्रम २३०
वर्महर २३३
वनज्योत्स्ना ४०४
वनायु ३८१
वन्धूक ४३३
वप्रक्रीडा ३६७
वरतन्तु ५९
वलन्तिका २८९,
वलधि २५१
वल्लकी २९२, २९३
वसन्त ९६
वसिष्ठ ४६, ५६, ७२, ७६, १३१
वसिष्ठाश्रम १३५, २१२
वसुलक्ष्मी २६२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वंशवृक्ष ४४१

व्याकरणमहाभाष्य १३५, ३१२

व्यवहार २०८, २३३

वन्याम्र ४०५

व्योमगंगा ३७१

वन्यमहिष ३८८

वन्यकरी २३९

वृन्दावन १८२

वृषपर्वा २८३

वाकाटक २२६

वागुरिक २४२

वाचंयम ११०

वाजिनीराजनाविधि २०४

वार्ता ८८

वास्तुपूजन २४८

वास्तुकला २५५

वामदेव्य ७४

वायुभक्ष १२१

वानीर ४४२

वामक २८९

वात्स्यायन २६०

वारिमृदङ्ग २९६

वारयोषित् १३१

वाल्मीकि ५६, ८८, ११७, २७६, ३०९ ३१२

वाल्मीकि आश्रम १६७

वासुकि १४४, ३९२

वासन्तीलता ३९९

वासयष्टि ३२२

वासिष्ठीविधि ९२,

विक्रमादित्य २२७

विकङ्कत ६६

विकृतषड्ज २६९

विष्णुपुराण ७४, ३७४

विष्णु ७४, ९५, १२०, १४२

वितन्त्रीवीणा २९४

विग्रह २०९

विदर्भ २५८

विदर्भराज्य १३१

विहारिक २८९

विदिशा १७८, २५०. ३८७

विद्याधर १६८

विधायिका २३२

विनता ३९४

विनयाधान २२८

विप्रलम्भ शृङ्गार २८४

विपञ्ची २९२

विम्बा ४३३

विन्ध्य ३९०

विन्ध्यक्षेत्र ४०९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विन्ध्यपर्वत १७८

विन्ध्यमाला २१८, ३०१

विश्वामित्र ५८, ६६, १०१, ११७, १२०, ३७९

विश्वजित्यज्ञ ६७, ८६, १४३, १८४, २०५

विश्वावसु ९५, २८०, २९४

विशसन ७३,

विशाल १७९

वेणु २९३

वेणी २९४

वेतस ४४२

वेत्र ४४३,

वेत्रवती १७८

वेश्यावृत्ति १७५

वैखानस ५०, १०९

वैदिकसभ्यता ३११

वैराजसाम ७४

वैरूप्यसाम ७४

श

शकुन्तला ११६, १३२, १५६, १६६, २८६

शंकराचार्य ११०

शंकुनविद्या १३३,

शंख २९८

शंखस्मृति ८३

शंखवादन २७९

शंखवाद्य ३००

शची ६९

शचीपत्रविशेषक २२०

शतक्रतु ७१

शतघ्नी २२५

शततन्त्री वीणा २९२

शर्मिष्ठा २८३

शमी ६६

शमीपल्लव ९९

शरभ १७९, ३९०

शरभङ्गऋषि ७३, ११७, १७७

शरावती २३४

शम्बुक १२०, १७५, १७६, १७७

शल्लकी ४४७

शहनाई २९९

शाकुनिक २३८

शाकुन्तल २४१

शाकुन्तिक २३८

सातकर्णी २९५

शान्तिकर्म ४६, ६८

शाखायोनि २८६

शाल्मलि ४४६

शारङ्गरव १५६, १६७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिप्रा १७९,३९०
शिल्पिसंघ २४९
शिरीष ३३३, ४४६
शिलावेश्म २५१
शिव १८०, ३६८
शिवा २९१
शुक ३६१
श्वगणी २४२
शुङ्ग १९७
शुङ्गकाल २४८
शुद्धान्त २५६
शुद्धषड्ज २६९
शुद्धामूर्च्छना २७८
शुद्धानान्दी २८२
शुक्लागुरु ९३
शूद्र १७६
शूद्रक ११८
शूर्पणखा १४३, १६९
शूरसेन १८२, ३२३
श्रेष्ठी २१८
शैलगुहा २३८
श्रौतकल्प ६४
शौण्डिक २४७
शौनक ११३
शौनिक २३८
श्याल २१८, २३१
श्वेताश्वतरोपनिषद् ४५
श्रृंगतूर्य २९८

ष

षष्ठांशवृन्ति ५५, २१५, २३१
षड्विधव्रत २०५
षड्जस्वर २६८
षड्जग्राम ३७७,
षड्जसंवादिनी २६९
षाडवित २७८
षोडशसंस्कार ७९

स

सगर ३८५
संगमनीय मणि ३०९
संगीतार्थ २७५
सर्ज ४४४
संतूर २९२
संतान (वृक्ष) ४३५
सन्धि २१०
सप्तसाम ७४, २७७
सप्तजिह्वअग्नि ४७
सप्तसमुद्र ७४
सप्तलोक ७४
सप्तर्षि ९०, १७१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सप्तमातृका ९४
सप्तच्छद ४४५
संस्थान २९७
समाधि १३०
सम्मोहन अस्त्र १३८
संन्यास १०९
सह्य पर्वत १८९
सरस्वती नदी १२६, १७९
सरयू १४१, १७८, ३५५
सरल ४४३
संवादीस्वर २६९
सर्वदमन ३२६
सहस्त्रार्जुन १८१
सहकार ३४७
सहकारसुरा ४०६
साकेत २१८
सांख्यकारिका ४०, ४१
साँची १७८
सार्थवाह २१६, २५०
सानुमती २६५
सारमेय १२६
सारभाण्ड २१९
सारस ३५७
सारिका ३६२
सारंगिक २३८
सिकन्दर १७५
सिद्धलोक १८०
सिदुवार ४४७
सिंह ३६३
सिन्धु १९०, २३४, २९१
सीमन्तोन्नयन ८२
सीता ३०८, ३३३
सुकेशी २७७
सुतीक्ष्ण
सुतन्त्रीवीणा २९४
सुदर्शन (राजा) २१३, ३६५,
सुमन्त्र १५०
सुह्म जनपद १८७
सुनन्दा ९८, २५४, ३२३
सुरासाक्षिक २१८
सुशिरवाद्य २७९
सुषेण (राजा) १८२
सुश्रुत ४३७
सुश्रुतसंहिता ४३८
सूर्योपस्थान ११५
सैंधव लवण ३८९
सौध २५३
स्कन्द १७९,१८०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थविरमौल २१४
स्थलारविन्द ४१२
स्थानक २८६
स्वयंवर ८९
स्टडीज इन इण्डॉलॉजी ३४

ह

हरचरित २७८, २७९
हरिताल ९४
हरिचन्दन ४३५, ४२४
हविष्यान्न १७६
हंसपदिका २८६
हारीत ३६२
हारिणिक २३८
हिंगोट ४०७
हिमवान् ९०
हिमगिरि ३०३, ३६४
हिमालय १६४
हूण १९०
हेमांगद (राजा) १८३, २५०, ३००
हेमकूट ५७, १८०
होमतुरंग १४२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय परिशिष्ट

श्लोकानुक्रमणिका

(अकारादि-क्रम से)

श्लोक	सन्दर्भ	पृष्ठ संख्या
	अ	
अन्तर्गत प्रार्थनम्	शाकु.७-२	६
अद्याहं पुत्रिणामग्र्यः	विक्रमो.५-१४	८
अदः सुरेन्द्रस्य	विक्रमो.१-१९	८
अमेयो मितलोकः	रघु.१०-१८	२२
अजस्य गृह्णतो	रघु. १०-२४	२२,४२
अप्यन्यस्मिन् जलधर	मेघ.१-३४	२६
अन्योन्यमुत्पीडयत्	कुमार.१-४०	२९
अभ्यासनिगृहीतेन	रघु.१०-२३	४२,
अमीं वेदि-परितः	शाकु.४-८	४४,६३,१०४,१५२
अथ स विषय	रघु.३-७०	५१,
अप्यग्रणीर्मन्त्रकृताम्	रघु.५-४	६०
अपि प्रसन्नेन	रघु.५-१०	६१
अजिन दण्डभृतम्	रघु.९-२१	७१,
अवभृथ प्रयतो	रघु.९-२२	७१
अदः शरण्यं शरभङ्ग	रघु.१३-४५	७३,११८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथोपनीतं विधिवद्	रघु. ३-३९	७८,
अथ विश्वात्मने	कुमार.६-१	९०
अथाङ्गुलिभ्याम्	कुमार.७-२३	९४
अधरः किसलय रागः	शाकु.१-१९	१०१
अनाघ्रातं पुष्पम्	साकु.२-१९	१०२
अपरिक्षत कोमल	शाकु.३-२१	१०३
अकरोत् स तदौर्ध्व	रघु.८-२६	११३,१३०
अपशूलं तमासाद्य	रघु.१५-१७	११९
अवेक्ष्य रामं ते	रघु.१५-३	१२०
अथ धूमाभिताम्राक्षम्	रघु.१५-५०	१२१,१७६
अवचित वलिपुष्पा	कुमार.१-६०	१२२
अयाचितोपस्थितमम्बु	कुमार.५-२२	१२४
असह्यपीडं भगवन्	रघु.१-७१	१२८,३७५
अस्मात् परं वत	शाकु.६-२५	१२९,
अदूरवर्तिनीं सिद्धिम्	रघु.१-८७	१३३,
अवजानासि माम्	रघु.१-७७	१४१
अथ राम शिरः	रघु.१२-७४	१४३,१६८,
अथार्धरात्रे स्तिमित	रघु.१६-४	१४५,
अथ तस्य विशाम्	रघु.१०-५१	१४९,
अयोध्या देवताः	रघु. १७-३६	१५१,
अपि प्रसन्नेन	रघु.५-१०	१५८,
अथास्य गोदान	रघु.३-३३	१५८,
अर्थो हि कन्या	शाकु.४-२२	१६६,
अर्धाचिता	रघु.७-१०	१७०,
अशून्य तीराम्	रघु.१४-७६,	१७३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असौ शरण्यः	रघु.६-२१	१८०,
अवन्तिनाथोयमुदग्र	रघु.६-३२	१८१,
अस्य प्रमाणेषु	रघु.६-३३	१८१,
अथाङ्गदाश्लिष्ट	रघु.६-५३	१८३,
असह्य विक्रमाः	रघु.४-५२	१८९,
अवकाशं किलो	रघु.४-५८	१८९,
अनवरत धनुर्ज्या	शाकु.२-४	१९७,२४१
अधिकं शुशुभे	रघु.८-६	१९७,
अध्याक्रान्ता	शाकु.२-१५	२०१,२३०,
अचिराधिष्ठित	माल.१-८	२०३,
अनश्नुवानेन	रघु.१८-४८	२१३,
अन्योन्य दर्शन	रघु.१२-८७	२२५,
अयः शंकुचिताम्	रघु.१२-९५	२२६,
अमोघं संदधे	रघु.१२-८७	२२६,
अथाजिनाषाढधरः	कुमार.५-३०	२३८,
अजिनदण्डभृतम्	रघु.९-२१	२३९,
अथ यथासुख	रघु.९-४९	२४०,
अनुच्चनीच		२८४,
अङ्गैरन्तर्निहित	माल.२-८	२८५
अङ्कमङ्कपरिवर्त	रघु.१९-९३	२९४
अरण्यबीजाञ्जलि	कुमार.५-१५	३१४
अपिप्रसन्नम्	कुमार.५-३५	३१४,
अयमस्यान्तिक	विक्रमो.४-३१	३१६,
अपि तुरगसमीपात्	रघु.९-६७	३२०,
अध्यस्य चाम्भः	रघु.६-५१	३२३,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलिपंक्तिरनेकशः	कुमार.४-१५	३३०,
अथोपरिष्टाद्	रघु.५-४३	३३१,३७५,
अलिभिरञ्जजन	रघु.९-४१	३३२,४२६,
अपरिक्षत कोमलस्य	शाकु.३-२१	३३३,
अनसूयातिसृष्टेन	रघु.१२-२६	३३३,
असितनयनलक्ष्मी	ऋतु.३-२९	३३८
अमी शिरीष प्रसवा	रघु.१६-६१	३४६,
अत्रावियुक्तानि	रघु.१३-३१	३५५
अहं रथाङ्गनामेव	(माल ५-८)	३५५
अव्रवीच्चभगवन्	रघु.११-२९	३७८
अयमचिरोद्गत	विक्रमो.४-२२	३७९,४४८,
अथानुकूलश्रवण	रघु.१४-४७	३८३,
अग्रेयान्तिरथस्य	विक्रमो.१-५	३८४,
अनेन तनुमध्यया	माल.३-१७	४००
अथ सललित	कुमार.२-६४	४०६
अमदयन् मधुगन्ध	रघु.९-४२	४३९,
अनेन सार्धम्	रघु.६-५७	४४१

आ

आखण्डलसमोभर्ता	शाकु.७-२८	६,१६६,
आकीर्णमृषिपत्नीनाम्	रघु.१-५०	४७,३१६,
आतपात्यय	रघु.१-५२	४७,३१६,
आजन्मनः शाठ्यमाशिक्षितः	शाकु.५-२५	५६,२०४,
आधारबन्ध प्रमुखैः	रघु.५-६	६०,
आदिष्टवर्त्मा	रघु.१५-१०	७४,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलक्ष्यदन्त	शाकु.७-१७	१२९,
आलोकमार्गम् सहसा	रघु.७-६	१७०,
आर्याप्यरूधन्ती	कुमार.६-३२	१७१,
आद्येवद्धा विरह	मेघ.२-२९	१७४,
आपादपद्म	रघु. ४-३७	१८७,४१३,
आधोरणानाम्	रघु.७-४६	२२२,
आलोकयति पयोदान्	विक्रमो.४-८	२७०,३२२
आक्लिष्ट बालतरू	शाकु.६-२०	३३५,
आकम्पयन्	ऋतु.६-२४	३४७,
आकम्पितानि	ऋतु.६-३४	३४८,
आवर्तशोभानतनाभि	रघु.१६,६३	३५५,
आसक्तबाहुलतया	कुमार.६-८	३८७,
आस्फलितं यत्प्रमदा	रघु. १६-१३	३८८
आसारसिक्तक्षिति	रघु.१३-२९	४११,
आरक्तराजिभिरियम्	विक्रमो.४-१५	४११,
आदीप्तवह्नि	ऋतु.६-२१	४१६,

इ

इतिक्षितीशोनवतिम्	रघु.२-६९	१४,
इयमधिकमनोज्ञा	शाकु.१-१७	४९,
इत्यध्वनः कैश्चिद्	रघु.१६-३५	७३,
इदं किलाव्याज	शाकु.१-१७	१०१,४४५,
इति चापि विधाय	कुमार.४-३७	११२,
इति देहविमुक्तये	कुमार.४-४०,	१३६,३४६,
इक्ष्वाकुवंशप्रभवो	रघु.५-५५	१३७,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इक्ष्वाकुवंश्यः	रघु.६-७१	१८४,
इक्षुच्छायनिषादिन्यः	रघु.४-२०	२१५,२३०,२८०,४०८,
इत्थं जनातिरागासु		२३५,
इदमुच्छ्वसितालकम्	रघु.८-५५	३३१,

ई

ईसीसि चुंबिआइम्	शाकु.१-४	३३३,४४३,

उ

उरूमूल नख मार्ग	कुमार.८-८९	३३,
उपपन्नं ननु	रघु.१-६०	४८,
उद्घातः प्रणवो	कुमार.२-१२	७४,
उमावधूर्भवान्	कुमार.६-८२	९०,
उपेत्यमुनिवेषोथ	रघु.१५-९२	१४१,
उत्तिष्ठ वत्से ननु	रघु.१६-६	१६३,
उद्यतैकभुजयष्टिम्	रघु.११-१७	१६९,
उपगतोपि च	रघु.९-१५	२०७,
उत्थापित संयति	रघु.७-३९	२२१
उपान्तयोर्निष्कूजितम्	रघु.७-५०	२२३,
उन्मीलितं तूलिकयेव	कुमार.१-३२	२६३,
उत्संगे वा मलिन	मेघ.२-२५	१७३,२७७,२९२,
उपात्तवर्णे चरिते	कुमार.५-५६	२७९,
उन्नतावनत	कुमार.८-६९	३७१,
उत्तस्थुषः सपदि	रघु.९-५०	३८७,
उपचितावयवा	रघु.९-४४	४२७,
उपान्तावनीर	रघु.१३-३०	४४३,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊ

उधर्वं गतं यस्य न	रघु.६-७८	१८५,

ए

एकैश्वर्ये स्थितोऽपि	माल. १-८	२३,
एतावता नन्वनुमेय	कुमार. १-३९	२९
एवं वादिनि देवर्षौ	कुमार. ६-८४	९०
एहि विश्वात्मने	कुमार. ६-८८,	९१
एषा कुसुम निषण्णा	कुमार. ६-१८	३३६
एष वृक्ष शिखरे	कुमार. ८-८६	३२१
एषा मनो मे	विक्रमो. १-२०	३४२
एसो दुआरुद्देशे	माल. ५-१५	३८९

औ

औत्सुक्यमात्रम्	शाकु. ५-६	२०१

क

कम्पेन मूर्ध्नः	कुमार. ७-४६	३१
कलितान्योन्य	कुमार. ६-७६	३८
कः पौरवे वसुमतीम्	शाकु. १-२१	५०, १९८, २२८
कथं चक्रवर्ती	शाकु. ७-१६	१५२
कलत्रवन्तमात्मानम्	रघु. १-३२	१५७, १५८
कल्याण बुद्धेरथवा	रघु. १४-६२	१६७
कम्बोजाः समरे	रघु. ४-६९	१९१
कश्चित् कराभ्याम्	रघु. ६-१३	३३१
कर्तुयच्च प्रभवति	मेघ. १-११	३३९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कलमन्यभृतासु	रघु. ८-५८	३४२
कपोलकण्डूः करिभिः	कुमार. १-९	३६८, ४४३
क्रतुषु तेन	रघु. ९-२०	६९
कृतं न कर्णापित	शाकु. ६-१८	२६६
कृष्णसार कच्छ	विक्रमो ४-३०	३१६
कराभिघातोत्थित	रघु. १६-८३	१४६
कायेनवाचा	रघु. ५-५	७०
कामं जीवति मे	रघु. १२-७५	१४३, १६८
का त्वं शुभे कस्य	रघु. १६-८	१४५
कातर्यं केवला	रघु.८-४७	२०८, २३५
कामं प्रकृति	रघु. ८-५५	२०९
कालान्तरश्याम	रघु. १६-१८	२५०
कार्यासैकतलीन	शाकु.६-१७	२६६, ३४४
काशैर्मही शिशिर	ऋतु. ३-२	३३७,
काञ्चीगुणैः	ऋतु. ४-४	३३८
कारण्डवानन	ऋतु. ३-८	३५८
कान्तामुखद्युति	ऋतु. ६-२०	४१९
क्रिया प्रबन्धादयम्	रघु. ६-२३	१२, ६९,
किन्तावद् व्रतिनाम्		२३२
क्रिया निमित्तेष्वपि	विक्रमो ५-६	३१६
किंकिंशुकैः	ऋतु. ६-२२	३४८
क्रीडापतत्रिणोप्यस्य	रघु. १७-२०	१०६, ३६१
कुलेन कान्त्या वयसा	रघु. ६७९	१८५
कुतोधर्मक्रिया	शाकु. ५-१४	२०९
कुसुमैर्ग्रथिताम्	रघ. ८-३४	२९२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुसुम जन्म ततो	रघु. ९-२९	३५०
कुम्भपूरण भव:	रघु. ९-७३	३७७,
कुसुममेव न केवलम्	रघु. ९-२८	४०१
कौशिकेन किल स	रघु. १५-१	६६, १२०
क्वचिच्च कृष्णोरग	रघु. १३-५६	३-९५
	ख	
खनिभि: सुषुवे	रघु. ८-६६	२११
खर्जूरी स्कन्ध	रघु. ४-५१	३३१, ३७३
	ग	
गरुडापात विश्लिष्ट	रघु. १२-७६	२२५
गणा: नमेरु	कुमार. १-५५	४३५
गृहिणीसचिव:	रघु. ५६६	१५९
गृहीतप्रतिमुक्तस्य	रघु. ४-४३	१८८, २०५
गेये केन विनीतौ	रघु. १५-६९	२७६
गुणवत्सुतरोपित	रघु. ८-११	५२, १०८
गुरो: सदारस्य	रघु. २-२३	११५
ग्रामेष्वात्म	रघु. १-४४	६७
गुप्तंददृशुरात्मानम्	रघु. १०-६०	१३३
ग्रीवाभङ्गाभिरामम्	शाकु. १-७	३१५
गान्धर्वेण विवाहेन	शाकु. ३-२०	१०३
गोप्तारं सुख सैन्यानाम्	कुमार. २-५२	३५
गोरोचनानिकष	विक्रमो. ५-१९	११९
	घ	
घूर्णमाननयनम्	कुमार. ८-८०	३३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घ्राणकान्तमधु	रघु. १९-११	२४७

च

चन्दनेननाङ्गरागम्	रघु. मा. १७-२४	१०७
चमरान्परितः	रघु. ९-६६	३१७
चन्द्रपादजनितः	कुमार. ६-६१	३२४
चञ्चन्मनोज्ञ	ऋतु. ३-३	३४५
चलापाङ्गादृष्टिम्	शाकु. १-२९	३३५
चित्रगतायामस्याम्	माल. २-२	२६१
चित्रे निवेश्य	शाकु. १-२	२६३
चित्रद्विपाः	रघु. १६-१६	३६५, ३७८
चुम्बनेष्वधर	कुमार. ८-८	३२
चूताङ्कुरस्वाद	कुमार. ३-३२	२७२, ३४९, ४०५
चूतानां चिरनिर्गतापि	रघु. ६-४	४२०

छ

छेदोवंशस्यदाहो	माल. ४-४	३९६

ज

जगत्प्रकाशम्	रघु. २-४८	१३
जलानि या तीर	रघु. १३-६१	७०
जयश्रियः संवननम्	रघु. १६-७४	१४५
जातः कुलेतस्य	रघु. ६-७४	७१, १८५
जाने तपसो वीर्यम्	शाकु. ३-२	११८
जाने वो रक्षसाक्रान्ता	रघु.१०-३८	१२०
जालान्तर प्रेषित	रघु. ७-९	१७०
जाहोद्गीर्णैरूप	मेघ १-३२	२५०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीमूतस्तनित	माल. १-२१	२९४, ३२२
ज्योतिर्लेखावलयि	मेघ. १-४४	२४, ३२४

त

तस्मिन्नवसरे	रघु. ११-५	१०
तव हृतवतो	माल. ५-२	२१
तत्रव्यक्तं दृषदि	मेघ. १-५५	२७
तवप्रसादात्	कुमार. ३-१०	२९
तत्रस्कन्दम् नियत	मेघ. १-४३	३४
तस्यात्मा शितिकण्ठस्य	कुमार. २-६१	३५
तद्दर्शनादभूत्	कुमार. ६-१३	३९
तमर्चयित्वा	रघु. ५-३	५९
तमार्हतोनाभिगमेन	रघु. ५-११	६१
तस्मै सम्यग्घुतो	रघु. ४-२५	६८, १३४, २०५
तं गृहोपवन एव	रघु. १९-५४	७७, ११२, २१३
तयोर्जगृहतु:	रघु. १-५७	७७,
तमादौ कुलविद्यानाम्	रघु. १७-३	८९, १५७, १५८
तस्मात् प्रदेशाच्च	कुमार. ७-१२	९३
तस्मै जयाशी:	कुमार ७-४७	९४
तत्रार्चितो भोजपते:	रघु. ७-२०	९९
तस्य वीक्ष्य ललितम्	रघु. ११-३९	१००
तत्रैनं होमकुम्भेषु	रघु. १७-१०	१०५
तत: कक्ष्यान्तर:	रघु. १७-२१	१०६
तंधूपश्यान	रघु. १७-२२	१०६
तद्गतिं मतिमताम्	रघु. ११-८७	११०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तस्मैविसृज्योत्तर	रघु. १८-७	११०
तयोस्तस्मिन्नवीभूत	रघु. १२-५६	११२
तत्राग्निमाधाय	कुमार. १-५७	११३
तमाशु विघ्नं तपसः	कुमार. ३-७४	१२२
तथाभितप्तं सवितुः	कुमार. ५-२१	१२४
तस्य जातु मरुतः	रघु. ४-५८	१३४
तं नारदः कामचरः	कुमार. १-५०	१३७
तमापतन्तं नृपतेः	रघु. ५-५०	१३७, ३७६
तं विस्मितम्	रघु. २-६२	१४२
तत्रनागफणोत्क्षिप्त	रघु. १५-८३	१४४,
तमब्रवीत् सा	रघु. १६-९	१४५
ततः स कृत्वा	रघु. ११-७७	१४६
तस्मात् समुद्रादिव	रघु. १६-७९	१४६
तदङ्गनिष्यन्द	रघु. ३-४१	१४८
तं भावार्थं प्रसव	रघु. १९-५७	१५७
ततः समानीय स	रघु. २-६४	१५९
तमलभन्त पतिम्	रघु. ८-१७	१६३
तन्मातरं चाश्रु	कुमार. ६-९२	१६५
तत्राभिषेक प्रयता	रघु. १४-८२	१६८, १७३
तत्रहूणावरोधानाम्	रघु. ४-६८	१६९, १९३
तपस्यनधिकारित्वात्	रघु. १४-५१	१७६
तस्मिन् महीम्	रघु. ६-७६,	१८५
तत्रजन्यं रघोर्घोरम्	रघु. ४-७४	१९२
तमीशः कागरूपाणाम्	रघु. ४-८२	१९३
तपो रक्षन् स	रघु. ८-६५	२११, २३५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तमाहतौत्सुक्य	रघु. २-७३	२१४
तस्मिन् कुलापीडनिभे	रघु. १०-२	२१५
तपोरुपान्त स्थित	रघु. ३-५७	३२०
तस्यस्फुरति	रघु. १२-९०	२२५
तदव्योम्नि	रघु.१२-९८	२२६, ३९५
तमापतन्तं नृपतेः	रघु. ५-५०	२३९
ततः सपर्या	रघु. १६-३९	२४९
ततस्तदालोकन्	रघु. ७-५	२५३
तस्योपकार्या	रघु. ५-४१	२५८
तस्यायमन्तर्हित	रघु. १३-४०	२९५
तस्यापरेष्वपि	रघु. ९-५८	३१५
तन्मध्ये च स्फटिक	मेघ. २-१६	३२५
तद्वल्गुना युग	रघु. ५-६८	३३१
तत्र हंसधवलोत्तर	कुमार. ८-८२	३४१
तया व्याहत	कुमार. ६-२	३५०
तं मातरो देवमनु	कुमार. ७-२९	३५९
तदाननं मृत्सुरभि	रघु. ३-३	३६८
तस्यैकनागस्य	रघु. ५-४७	३७६
तमध्वराय	रघु. १५-५९	३८३
ततः परं तेन	रघु. ३-३९	३८३
तं वाहनादवनतोत्तर	रघु. ९-६०	३८८
ततोभुजंगाधिपतेः	कुमार. ३-५९	३९३
तामगौरवभेदेन	कुमार. ६-१२	३९
ता इङ्गुदीस्नेह	रघु. १४-८१	५४,४०७
तां प्राणमादर	कुमार. ६-८९	९१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तां लोध्र कल्केन	कुमार. ७-९	९२
तामर्चिताभ्य:	कुमार. ७-२७	९५, १६५
तां प्रत्यभिव्यक्त	रघु. ६-१२	९८
तामन्तिकन्यस्त	रघु. २-२४	११५
तां पुण्यदर्शनाम्	रघु. १-१-८६	१३३
तासांमुखैरासव	रघु. ७-११	१७०
ताम्बूलवल्ली	रघु. ६-६४	१८४, ४२३,४३१
ताम्बूलानां दलै:	रघु. ४-४३	१८८
तां शिल्पिसंघा:	रघु. १६-३८	२४९
तां हंसमाला:	कुमार. १-३०	३४०
तां सैव वेत्रगृहणे	रघु. ५-२६	३४१,
तिस्रस्त्रिलोक	रघु. ७-३	१६४
तृषा महत्या हत	ऋजु. १-१४	३६३
तीर्थेतोयव्यतिकर	रघु. ८-९५	१५५
तीरस्थली वर्हिभि:	रघु. १६-६४	२६९, २७५
तीव्राघातादभिमुख	शकु. १-१०	३७८
तुज्झ ण आने हि अं	शकु. ३-१३	१०३
तुरगखुरहस्त	शकु.१-२९	३८६
तुषार संघातशिला	कुमार. १-६०	३८९
तेऽस्यमुक्तागुणोन्नद्धम्	रघु. १७-२३	१०७
तेरामायवधो	रघु. १५-५	११९
तेषां सदश्व	रघु. ४-७०	१९१, ३८१
तेरेखाध्वजनकुलिश	रघु. ४-७८	२०५
तेनमन्त्रप्रयुक्तेन	रघु. १२-९९	२२६
तेषां महार्हसन	रघु. ६.६	४३६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तौ समेत्य समये	रघु. ११-५३	१०१,
त्वय्यावेशित	रघु. १०-२७	४२
त्वचं समेध्याम्	रघु. ३-३१	८४
त्याजितैः फलमुत्खातै	रघु. ४-३४	२२३
त्वामालिख्य प्रणय	मेघ.२-४२	२६४
त्यजतमानमलम्	रघु. ९-४७	२७२, ३५०
त्वां कामिनोमदन	विक्रमो. ४-११	३५२
त्वमेव तावत् परि	कुमार. ५-६१	३६९

द

दर्पणे च परिभोग	कुमार. ८-११	३२
दशरश्मिशतोपम	रघु. ८-२९	८७
दशानन किरीटेभ्यः	रघु. १०-७४	१५५
दुष्यन्तेनाहितम्	शाकु. ४-४	६५
दूरादयश्चक्र	रघु. १३-१५	४२५
दूरमग्रपरिमेय	कुमार. ८-४०	४३३
दिवो मरुत्वानिव	रघु. ३-४	८१
दिलीपानन्तरम्	रघु. ४-२	१८६
द्विषांविषह्य	रघु. ४-४१	१८८
दिने दिने शैवल	रघु. १६-४६	२५५
दिनेषु गच्छत्सु	कुमार. ३-८	३३०
दिष्टान्तमाप्स्यति	रघु. ९-७८	३९४
दीर्घाक्षंशरदिन्दु	माल.२-३	२६७, २८४
दीर्घेष्वमी नियमिताः	रघु. १-५२	३८१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ध

धूमधूम्रो वसागन्धी	रघु. १५-१६	११९
धूपोष्मणा त्याजित	कुमार. ७-१४	३३८
ध्रुवेण भर्त्रा ध्रुव	कुमार. ८-५	९६
धृतिरस्तमिता	रघु. ५-६७	१५९
ध्वनत्सु तूर्येषु	कुमार. ११-३६	२७५, २९९
धातारं तपसा	रघु. १०-४३	१४२

न

नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यम्	कुमार २-४	१३
नमो विश्वसृजे	रघु. १०-१७	४२
नानवाप्तमवाप्तव्यम्	रघु. १०-३१	४२
न मे ह्रियाशंसति	रघु. ३-५	८१
न चोपलेभे	रघु. १०-२	८७, १२७, १३०
न तथा नन्दयसि	विक्रमो. २-१४	१३५
न मृगयाभिरतिः	रघु. ९-७	२०७, २३७, २४६
न कृपणा प्रभवत्यपि	रघु. ९-८१	२०७
नन्दत्सु तूर्येष्वथ	रघु. ७-३८	२२१, ३००
नयनान्य रुणानि	कुमार-४-१२	२४८
न नमयितुमधि	शाकु. २-३	३१५
नाभिप्ररूढाम्बु	रघु. १३-३	२०
नागेन्द्रहस्तास्त्वचि	कुमार-१-३६	३७०, ४११
नियुज्य तं होम	रघु. २-३८	१३, ७२, २८३
निर्दिष्टां कुलपतिना	रघु. १-९५	४८
निवर्त्यते यैर्नियमा	रघु. ५-८	६०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निशम्य चैनाम्	कुमार ५-३४	१६४
नियमसि कुमार्गम्	शाकु० ५-८	२२९
निशासु भास्वत्	रघु. १६-१२	२५७
नितान्तलाक्षारस	ऋतु. १-५	३३६
निर्घातोग्रैः कुञ्जलीनान्	रघु. ८-६४	३६४
निःशेषविक्षालित	रघु. ५-४४	३७५
निषिञ्चन्माधवीम्	विक्रमो २-४	३९९, ४१७,४४०
नीवाराः शुक गर्भ	शाकु.१-१३	४९
नीवारपाकादि	रघु. ५-९	६०
नीलकण्ठ परिभुक्त	कु. ७-१२	१६५
नीचैराख्यं गिरिम्	मेघ. १-२५	१७५
नीपान्वयः पार्थिव	रघु.६-४५	१८२
नूनं मत्तः परम्	रघु. १-६६	८१, १२८
नूनं तस्याः प्रबल	मेघ. २ ११	१७३
नेत्रानीता सतत	मेघ. २-६	२६४
नृत्तं मयूराः	रघु. १४-६९	३१६, ३२७
न्यस्ताक्षराधातु	कुमार १-७	३३४

प

पत्युः शिरश्चन्द्र	कुमार ७-२९	३१,९३
पयोघटैराश्रमवाल	रघु. १४-७८	५३
परस्परेण स्पृहणीय	कुमार ७-६६	९५, १९२
परिग्रह बहुत्वेऽपि	शाकु. ३-१७	१०३, १५८
परलोकविधौ च	कुमार ४-३८	११२,१४७,४०६
परेषु स्वेषु च	रघु. ८-५१	२०९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परात्मनो: परिच्छिद्य	रघु. १७-५९	२०९
परात्तिसन्धान परम्	रघु. १७-७६	२१०
पत्तिः पदातिम्	रघु. ७-३७	२२१,
परिचयं चल लक्ष्य	रघु. ९-४९	२०७ २४०, ३१५
पश्चात्सर: प्रति	विक्रमो. ४-१५	३४५
पद्मच्छायासु हंसा:	माल.-२-१२	३४४
परभृतकल व्योहारेषु	माल. ५-१	३५१
पश्य पक्व फलिनी	कुमार. ८-६१	३५४,४३१
पदं तुषार स्रुति	कुमार. १-६	३७०
पवनस्यानुकूलत्वात्	रघु. १-४२	३८०
परिजन वनिता	विक्रमो. ३-३	४१४
पादन्यास क्वणित	मेघ. १-३०	१७४
पाण्ड्योऽयम्	रघु. ६-६०	१८३
पादपाविद्ध परिघः	रघु. १२-७३	२२४
पाकं व्रजन्ती	ऋतु. ४-११	४३१
पुत्रस्य मे	शाकु. ७-२४	९
पुरुहुतध्वजस्येव	रघु. ४-३	१२
पुराणस्य कवेस्तस्य	रघु० १०-३६	१६
पुराणस्य कवेस्तस्य	कुमार २-१७	१६
पुरुषायुषजीविन्य:	रघु. १-६३	७६, १५५, २३३
पुरोहित पुरोगास्तम्	रघु. १७-१३	१०६
पुरा सदर्भाङ्कुरमात्र	रघु. १३-३९	११७
पुत्रोरघुस्तस्य	रघु. ६-७७	१८५,
पुष्पासवामोद	ऋतु. ४-१२	२४४
पुरोपकण्ठोपवत	रघु. ६-९	२९०, २९९,३२१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुत्र जन्म प्रवेश्यानाम्	रघु. १७-७६	२९८, २९९
पूर्वं प्रहर्तान त्रद्यान	रघु. ७-४७	२२२
प्रशमादर्चिषामेतु	कुमार. २-२०	१०
प्रत्युवाच तमृषिर्न	रघु. ११-८५	१९
प्राहुर्द्वादशधा	शाकु. ७-२७	५८
प्राणानामनिलेन	कुमार. ७-१२	११४
प्रदक्षिणीकृत्य	रघु. २-२१	११४, १५४
प्रतिक्षणं सा कृत	कुमार. ५-१०	१२३
प्रसन्नदिक्पांसु	कुमार. १-२३	१३३
प्रत्यपद्यत चिराय	रघु. ११-३४	१४०, १४९
प्रात: प्रयाणाभि	रघु. ५-२९	१४५
प्रमदामनु संस्थित:	रघु. ८-७२	१६०
प्रसाधिकालम्बितम्	रघु. ७-७	१७०
प्रजानामेव भूत्यर्थम्	रघु. १-१८	२१५, २३१
प्राग्द्वारवेदि	रघु. ५-६३	२५८
प्रथममन्यभृताभि	रघु. ९-३४	२७३
प्रतियोजयितव्यम्	रघु. ८-४९	२९३
प्रवात नीलोत्पल	कुमार. १-४६	३१४
प्रतिपद्यमनोहरम्	कुमार. ४-१६	३५३
प्राय: प्रतापभग्न	रघु. १७-७०	३७४, ३७७
प्रसवै: सप्तपर्णानाम्	रघु. ४-२३	३८०, ४४५
प्रायोविषाणपरि	रघु. ९-६२	३९२
प्रियानुरागस्य	रघु. ३-१०	८२
प्रियङ्गुकालीयक	ऋतु. ६-१४	४३१
पौरेषु सोऽहम्	रघु. १४-३८	११४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पौरस्त्यानेवम्	रघु. ४-३४	१८७,
पौत्रः कुशस्यापि	रघु. १८-४	१९५
पृष्ठ नामान्वयो	रघु. १५-५०	१७७

ब

बद्धकोशमपि	कुमार ८-३८	३३०
बलैरध्युषिताः	रघु. ४-४६	३६२
बाहुप्रतिष्टम्भ	रघु. २-२३	३९३
बालेन्दु वक्राणि	कुमार ३-२९	४२९

भ

भवनेषु रसाधिकेषु	शाकु. ७-२०	५३, ५८
भर्तुः प्रणाशादथ	रघु. १४-१	१६३
भर्ताऽपि तावत्	रघु. ७-३२	१३२, १६४
भयोत्सृष्ट विभूषा	रघु. ४-५४	१६९, १८९
भल्लापवर्जितैः	रघु. ४-६३	१९०, २३४
भव्यमुख्याः		२३५
भरतस्तत्रगन्धर्वान्	रघु. १२-८८	२७९, २९२
भास्करश्च दिशमध्युवास	रघु. ४-६१	१३५
भानु सकृद्युक्त	शाकु. ५-४	१९९
भागीरथी निर्झर	कुमार १-१५	३२३
भुवं कोष्णेन	रघु. १-८४	६९
भुजमूर्धोरुबाहुल्य	रघु. १२-८८	२२५
भूत्वाचिराय	शाकु. ४-२०	५१
भूर्जेषु मर्मरीभूताः	रघु. ४-७१	१९१
भ्रूभेंदमात्रेण	रघु. १३-३६	११७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूयस्तपोव्ययो	रघु. १५-३७	३१६
भोगिवेष्टन मार्गेषु	रघु. ४-४९	३७३
भोगिभोगासनासीनम्	रघु. १०-९	३९५

म

मखांशभाजां प्रथमो	रघु. २-४४	१३, ७२
महाभागः कामम्	शाकु. ५-१०	५२
मनुष्यवाह्यम्	रघु. ६-१०	९८
महार्ह सिंहासन	रघु. ७-१८	९९
महार्हशय्या	कुमार. ५-१२	१२३
मत्परं दुर्लभम्	रघु. १-६७	८९, १३२
मतंगशापादवलोंप	रघु. ५-५३	१३७
मदनेनबिनाकृता	कुमार. ४-२१	१६०
महेन्द्रमास्थाय	रघु. ६-७३	१८५
मन्दोत्कण्ठाः	रघु. ४-९	२०३
मन्त्रः प्रतिदिनम्	रघु. ८-५०	२०९
मनोज्ञगन्धम्	रघु. १६-५२	२४७, ४३०
मनोभिरामाः	रघु. १-३९	२६८, ३२०
महोत्सवे तत्र	कुमार. ११-३४	२७९
मत्तानां कुसुमरसेन	विक्रमो. १-४	३३४
मधुरस्वरापरभृता	माल. ४-२	३५१
महदपिपरदुःखम्	विक्रमो. ३-१३	३५२
मदोदग्राः ककुदमन्तः	रघु. ४-२२	३८९
मत्तद्विरेफपरि	ऋतु. ६-१७	३९९
मिथुनं परिकल्पितम्	रघु. ८-६१	४-३२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मामाकाश प्रणिहित	मेघ. २-४३	१४६
मुक्तायज्ञोपवीतानि	कुमार. ६-६	१०९
मुरलामारूतोद्धूत	रघु. ४-५५	१८९
मुनिना भरतेन	विक्रमो. २-१७	२९१
मुक्तेषुरश्मिषु	रघु. १-८	३८५
मेरूमेत्यमरुदाशु	कुमार. ८-२२	३२
मेदश्छेदकृशोदरम्	शकु. ३-५	२४१
मैत्रे मुहूर्ते	कुमार. ७-६	९२
मृगवनोपगमक्षम	रघु. ९-५०	२४२, ३८२
मृग्यश्च दर्भाङ्कुर	रघु. ३-२५	३१३
मृदुपवनविभिन्ना	विक्रमो. ४-१०	३२३
मृगायलाक्षो मृगया	रघु. १८-३६	३६५

य

यस्य त्वया व्रण	शाकु. ४-१४	६२, ३१७
यदात्थराजन्य	रघु. ३-४८	७२
यज्वभिः संभृतम्	कुमार. २-४६	७६
यज्ञाङ्गयोनित्वमवेक्ष्य	कुमार. १-१७	७४
यदि यथा वदति	शाकु.५-२७	१४६,१६७
ययातेरिव शर्मिष्ठा	शाकु. ४-७	१६६, २८३
यस्यावरोधस्तन	रघु. ६-४६	१८२
यस्यात्मनःसद्मनि	रघु. ६-५६	१८३, ३००
यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः	रघु. ४-१२	१९५, २२८
यस्मिन् महीं शासति	रघु. ६-७५	२११
यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो	शाकु. २-१३	२१६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यस्यां यक्षाः	मेघ. २-३	२४५
यन्त्रप्रवाहैः	रघु. १६-४९	२५६
यद्यत् साधु न	शाकु. ६-१४	२६५
यत्रोन्मत्तभ्रमर	मेघ.२-३	२७०
यःसुप्तवान्	विक्रमो. ५-१३	३२७
यदि हंसगता	विक्रमो. ४-१६	३४७
यदालोके सूक्ष्मम्	शाकु. १-९	३८५
यत् सलग्न सहकार	रघु. १९-४६	४०७, ४३०
यः पूरयन्	कुमार. १-८	४१६
या सृष्टिः स्रष्टुराद्या	शाकु. १-१	२३
यास्यत्यद्य शकुन्तला	शाकु. ४-६	१७२
ये संरम्भोत्पनरभसा	मेघ. १-५४	३९०
यौवनोन्नत विलासिकी	रघु. १-९९	२५५
युवा युगव्यायत	रघु. ३-३४	१९७

र

रम्याणि वीक्ष्य	शाकु. ५-२	१५३
रम्यास्तपोधनानाम्	रघु. १-१२	१९६
रथो रथाङ्गध्वनिना	रघु. ७-४१	२२१
रणः प्रववृत्ते	रघु. १२-७२	२२४
रक्षसामृगरूपेण	रघु. १२-५३	२३९
रक्ताशोकश्चल	मेघ. २-१५	२४५
रवेर्मयूखैरभि	कुमार. १-१३	३१८,३९२
रत्नच्छायाव्यतिकर	मेघ. १-१५	३२०
रक्तकदम्बःसोऽयम्	विक्रमोः४-६०	३१०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राम इत्यभिरामेण	रघु. १०-६७	८८
रात्रिन्दिव विभागेषु	रघु. १७-४९	१९९,
रावणस्यापि	रघु. १२-९१	२२५
राघवो रथमप्राप्ताम्	रघु. १२-९७	२२६
रामं पदातिम्	रघु. १२-८४	३८४
रूपं तदोजस्वि	रघु. ५-३७	८७

ल

लतागृहद्वारगतो	कुमार ३-४१	३०
लक्ष्यते स्म तदन्तरम्	रघु. ४-५९	१३४, ३९४
लक्ष्मणः प्रथमं श्रुत्वा	रघु. १२-३९	१४३, ३५०
लब्धान्तरा	रघु. १६-५	१४५
लक्ष्यीकृतस्य	रघु. ९-५७	३१५
लब्ध प्रशमन	रघु. ४-१४	१८६
लोकान्तरसुखम्	रघु. १-६९	१२७

व

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्य	कुमार ५-७२	३०
वभूवभस्मैव	कुमार ७-३२	३९
वनान्तरादुपावृत्तैः	रघु. १-४९	४७
वत्सस्य होमार्थ	रघु. २-२६	५५,६५, २१६
वल्मीकार्ध निमग्न	शाकु. ७-११	५७, ११५
वसिष्ठस्यगुरोर्मन्त्राः	रघु. १७-३८	७८, १०७
वधूं द्विजः प्राह	कुमार ८-३	९६
नदद्भिः स्निग्ध	रघु. १७-११	१०५
वन्धच्छेदं स बद्धानाम्	रघु. १७-१९	१०६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वसिष्ठ मन्त्रोक्षणजा	रघु. ५-२७	१४८
वसने परिधूसरे	शाकु.७-२१	१७२
वंशानुत्खाय	रघु. ४-३६	१८७
वनेषु साम्यंतन	रघु. १६-४१	३३२,४३९
वन द्विपानां नव	ऋतु. २-१५	३६७
वागर्थाविव	रघु. १-१	२३
वापीष्वि वस्रवन्तीषु	रघु. ८-६४	२११
वापी चास्मिन्	मेघ. २-१३	२५९, ३३९
वामं सन्धिस्तिमित	माल. २-६	२६८, २८५
विद्वानपि तयोर्द्वास्थः	रघु. १५-९४	११६, १४१
विमुच्य सा हारमहार्य	कुमार. ५-८	१२३
विसृष्ट रागादधरात्	कुमार. ५-११	१२३
विचिन्तयन्तीयम्	शाकु. ४-१	१३९
विलोचनम् दक्षिणम्	रघु. ७-८	१७०, २५४
विनीताध्वश्रमाः	रघु. ४-६७	१९०, ३८३, ४१७
विपत्रपुष्पाम्	ऋतु. २-१४	३१९,३२८
विशुष्क कण्ठोद्गम	ऋतु. १-१५	३६७
वीक्ष्यराघवमुपात्त	रघु. १३-१४	२९०
वेदाभ्यासजडः	विक्रमो. १-१०	१५
वेदान्तेषु यमाहुः	विक्रमो. १-१	२४
वेणुना दशनपीडिता	रघु. १९-३५	२९३
वैखानसं किमनया	शाकु. १-२३	५०
वैवस्वतो मनुर्नाम	रघु. १-११	१९३
वैदर्भनिर्दिष्टम्	रघु. ६-३	३६४
वृन्दावने चैत्ररथाः	रघु. ६-४८	१८२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृक्षेशया यष्टि	रघु. १६-१४	३२५
व्याघ्रानभीरभिमुखो	रघु. ९-६३	३६५
व्यधुर्वहिर्मङ्गल	कुमार. ९-३२	२७९
व्यूढोरस्कः वृषस्कन्धः	रघु. १-१३	१९७

स

सर्वं सखे त्वय्युप पपन्नाम्	कुमार. ३-१२	११
संगमनीयो मणिरिह	विक्रमो. ४-३७	२५
स प्रियामुखरसम्	कुमार. ८-९०	३३
सखा दशरथस्यापि	रघु. १५-३१	५३, ८८
सतौ कुशलवोंन्मृष्ट	रघु. १५-३२	५३-८
स किलाश्रममन्त्य	रघु. ८-१४	५४
सप्तसामोपगीतम्	रघु. १०-२१	७४
स वभूव दुरासदः	रघु. ८-४	७६, ७८
स वृत्तचूलश्चल	रघु. ३-२८	८४
संचारिणी दीपशिखेव	रघु. ६-६७	९८
स राज ककुदव्यग्र	रघु. १७-२७	१०७
स गत्वा सरयूतीरम्	रघु. १५-९५	११६, १४९
स चानीतः प्रणतेन	रघु. ५-५४	१४०
स विद्धमात्रः किल	रघु. ५-५१	१४३, १४८
सतीमपि ज्ञातिकुलैक	शाकु. ५-१७	१५६, १६७
स तद्वक्त्रं हिम	रघु. १४-५२	१७६
स तीर्त्वा कपिशाम्	रघु. ४-३८	१८७
स निर्विश्य	रघु. ४-५१	१८९
संग्रामस्तुमुलः	रघु. ४-६२	१९०, ३८१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स वेलावप्रवलयाम्	रघु. १-३०	१९५, २४९
सर्वातिरिक्तसारेण	शाकु. १-२४	१९७
स हि सर्वस्य	रघु. ४-८	२०२
स गुप्तमूल प्रत्यन्तः	रघु. ४-२६	२०४, २२०
संशोध्यत्रिविधम्	रघु. ७-१८५	२०५
सत्रान्ते सचिव सखः	रघु. ४-७७	२०५
स गुणानां बलानाम्	रघु. १७-६७	२११
सन्तानार्थाय	रघु. १-३४	२१२
सरितः कुर्वती	रघु. ४-२६	२२०
सच्छिन्नमूलः	रघु. ७-४३	२२२
स स्वयं प्रहत	रघु. १९-१४	२९५
सदा मनोज्ञम्	ऋतु. २-६	३१९
सद्य प्रवालोद्गम	कुमार. ३-३६,	३२९, ४०५
समुद्धृताशेष	रघु. १-१९	३४५
सरसि नलिनी	विक्रमो. ४-२०	३५५
स प्रतापं महेन्द्रस्य	रघु. ४-३९	३७२
सममेव समाक्रान्तम्	रघु. ४-४	३७२
ससज्ञुरश्व	रघु. ४-४७	३७३,३८१, ४०८
सरासक्तमातङ्ग	रघु. ४-७५	३७४,४४४
संहारविक्षेप लघु	रघु. ५-४५	३७६
सप्तच्छदक्षीर	रघु. ५-४८	३७६
सछिन्नबन्ध	रघु. ५-४९	३७६
सःपूर्वतः पर्वत	रघु. ३-४२	३८४
स पूर्वजानाम्	रघु. १६-३४	३८४
सभद्रभुस्तम्	ऋतु. १-१७	३८७, ४४१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स पाटलायाम्	रघु. २-२९	४४१
सायन्तने सवनकर्मणि	शाकु. ४-२४	४४, ६६, १४९
साङ्गं च वेदमध्याप्य	रघु. १५-३३	८८
सा गौरसिद्धार्थ	कुमार.७-७	९२
साहं तपः सूर्यनिविष्ट	रघु. १४-६६	११६, १६७
सा वक्रनख	रघु. १२-४१	१४३
सा सीतामङ्कम्	रघु. १५-८४	१४४
सातिरेक मदकारणम्	रघु. १९-१२	२४७
सा तीरसोपान	रघु. १६.५६	२५६
सा हि प्रणयवत्यासीत्	रघु. १०-५१	३३४
सा राजहंसैरिव	कुमार. १-३४	३४०
सा वाण वर्षिणम्	रघु. १२-५०	३६१
सामिअ संभाविप्रा	विक्रमो. २-१२	४३५
स्रष्टुर्वरातिसर्गात्तु	रघु. १०-४३	१६
सिध्यन्ति कर्मसु	शाकु. ७-४	६
सुखश्रवामङ्गलतूर्य	रघु. ३-१९	१३१, १७४, २९९
सुवासितं हर्म्यतलम्	ऋतु. १-३	२४४, २५१
सुगन्धि निःश्वास	ऋतु. ५-१०	२४४, ३३४
सुरभिसङ्गमजंवत	रघु. ९-३१	४२९
संकान्ते मुनिकंन्याभिः	रघु. १-५१	४७
सोपान मार्गेषु च	रघु. १६-१५	३६५
स्त्री पुंसावात्मभागौ	कुमार. २-६	४२
स्वायम्भुवान् मरीचेः	शाकु. ७-९	५७
स्थितः स्थितामुच्चलितः	रघु २-६	११५
स्थितः क्षणं पक्ष्ममु	कुमार. ५-२४	१२४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वयं विशीर्णद्रुमपत्र	कुमार. ५-२८	१२४
स्त्रीणामशिक्षित	शाकु.५-२२	१५६
स्वसुखनिरभिलाषः	रघु. ५-७	२००
स्थित्यै दण्डयतो	रघु. १-२५	२०२
स्वर्गामिनस्तस्य	रघु. १८-३६	३१३
स्विन्नाङ्गुलिः	शाकु. ६-१५	२६५
स्वरेण तस्याः	कुमार. १-८५	२९४
स्त्रीणां विहाय	ऋतु. ३२६	३३८
स्तम्भेषुयोषित्	रघु. १६-१७	३९५
स्थानमाह्निकम्	कुमार. ८-३३	४४८

श

शब्दायन्ते मधुरमनिलैः	मेघ. १-५६	२७, २७५, २९६
शब्दादीन्विषयान्	रघु. १०-२५	४२
शममेष्यति मम	शाकु. ४-२१	५०
शब्दानि निर्विश्य	रघु. १८-३	१११, १३२
शशिना सहयाति	कुमार. ४-३३	१६०
शरीरिणां स्थावर	कुमार. १-२३	१६४
शरैरूत्सव	रघु. ४-७८	१९२
शशिनं पुनरेति	रघु. ८-५६	३५४
शशंस तुल्य	रघु. ४-७२	३७४
शय्यां जहत्युभय	रघु. ५-७२	३७६
शान्तमिदमाश्रमपदम्	शाकु.१-१४	१३५
शिरीष पुष्पाधिक	कुमार. १-४१	२९, ४४७
शिरीषपुष्पाधिक	रघु. १९-४२	४४७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिलाशया तामनिकेत	कुमार. ५-२५	१२४
शिलामुखोत्कृत्त	रघु. ७-४९	२२२
शिखरासक्त मेघानाम्	कुमार. ६-४०	२९६
शुचौ चतुर्णां ज्वलताम्	कुमार. ५-२०	१२४
शूलिनः करतलद्वयेन	कुमार. ८-७	३२
शैशवेऽभ्यस्त	रघु. १-८	८०
शैललः सम्पूर्णकामः	कुमार ६-८५	१६५
शैलानामवरोहतीव	शाकु. ७-८	३८६
शोचनीयासि वसुधे	रघु. १५-४३	१३८, १७६
श्लाघ्यस्त्यागोऽपि	रघु. १५-६१	७०
श्येनपक्ष परिधूसरालकाः	रघु. ४-६०	१३४
श्वगणि वागुरिकैः	रघु. ९-५३	२४२
श्यामास्वङ्गम् चक्रित	मेघ. २-४१	३२०

ह

हविरावर्जित	रघु. १-६२	६७, ७२
हविषेदीर्घ सत्रस्य	रघु. १-८०	६८
हंसैर्जिता सुललिता	ऋतु. ३-१६	३३७
हंस श्रेणीषु तारासु	रघु. ४-१९	३४
हंस प्रयच्छमे	विक्रमो. ४-१७	३४३
हरितारुण चारु	कुमार. ४-१४	३४९
हस्तेन हस्तम् परिगृह्य	रघु. ७-२१	४०१
हीनान्यनुप	रघु०१७-५८	२३५
हुताग्नि कल्पैः	ऋतु० १-६	३१९
हृष्टापि साह्री	रघु. ७-६९	२७०, ३२४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्ष

क्षत्रजातमपकार	रघु. ११-६१	३९४
क्षितिरिन्दुमती	रघु. ८-२८	८७, १६३
क्षौम केनचिदिन्दु	शाकु. ४-५	१५१

ऋ

ऋत्विजः स	रघु. १७-८७	७०,७८
ऋजुतां नयतः	कुमार. ४-२३	२४६

त्र

त्रस्तेन ताक्ष्यार्त्	रघु. ६-४६	१८४

श्र

श्रुतदेह विसर्जनः	रघु. ८-२५	११३
श्रेणी बन्धाद्	रघु. १-४१	३५७

113486

पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GURUKUL KANGRI LIBRARY

	Signature	Date
Access		
	RE	27.11.99
	RE	27.11.99
Tag etc	आर्य	5.11.99
Filing		29.11.99
E A R		1.12.99
Any other	RE	27.11.99
Checked		29.11.99

Recommended By.......

Compiled 1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

20 जुलाई 1914 को उत्तर प्रदेश के शाहजहाँपुर जिले में जनमे डॉ॰ प्रभुदयालु अग्निहोत्री की गणना देश के वरिष्ठतम और मूर्धन्य विद्वानों में की जाती है। वैदिक वाङ्मय, संस्कृतसाहित्य, नव्यव्याकरण, भाषाशास्त्र, भारतीय दर्शन, प्राचीन इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व आदि विषयों पर उनका असाधारण अधिकार है। पातञ्जल महाभाष्य पर आधारित उनकी कृति 'पतञ्जलि कालीन भारतवर्ष' अपने विषय की एकमात्र विशद् और गम्भीर रचना है। इसी प्रकार प्राचीन और आधुनिक मनोविज्ञान के तुलनात्मक पक्ष पर उनका 'अभिनव मनोविज्ञानम्' जिसमें उन्होंने अर्वाचीन मनोविज्ञान पांच सौ के लगभग नवीन शब्द गढ़े हैं। संस्कृत भाषा में इस विषय की एकमात्र कृति है। उनकी पुस्तक 'संस्कृत साहित्य चिन्तन' उत्तर प्रदेश शासन द्वारा रामचन्द्र शुक्ल पुरस्कार से सम्मानित हुई है। कुमारसम्भव, विक्रमोर्वशीय, ऋतुसंहार और मृच्छकटिक के व्यापक भूमिका और टिप्पणियों सहित अनुवाद काफी लोकप्रिय हुए हैं।

डॉ॰ अग्निहोत्री का स्नात्तकोत्तर अध्यापन और शोध-निर्देशन का पैंतीस वर्षों का अनुभव है। उनके निर्देशन में 40 से अधिक शोधार्थियों ने पी-एच.डी. और डी. लिट्. के लिए सफलतापूर्वक कार्य किया है। राष्ट्रीय महत्त्व की कई संस्थाओं ने उन्हें मानद की उपाधि प्रदान की है जिसमें अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रदत्त 'साहित्य वाचस्पति' भी एक है। सन् 82 में उ॰ प्र॰ संस्कृत अकादमी ने इन्हें तत्कालीन सर्वोच्च विशिष्ट सम्मान प्रदान किया। सन् 88 में उन्हें राष्ट्रपति द्वारा गम्भीर शास्त्रीय वैदुष्य के लिये सम्मानित किया गया।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी डॉ॰ अग्निहोत्री श्रेष्ठ वक्ता, समीक्षक और कवि होने के साथ राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी भी हैं। आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस की वैदिक शाखा के अध्यक्ष और कान्फ्रेंस के उपाध्यक्ष रहे हैं। कई विदेश यात्रायें की हैं। उनके प्रकाशित ग्रन्थों की संख्या 40 से भी अधिक है। वह आज भी युवा के समान सरस्वती-सेवा में रत हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

EASTERN BOOK LINKERS
(Indological Publishers & Book Sellers)
5825, New Chandrawal, Jawahar Nagar,
Delhi-110 0[illegible] Phone : 2520287

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar